मुझ में
देव जीवन का विकाश

•

श्री सत्यानन्द अग्निहोत्री

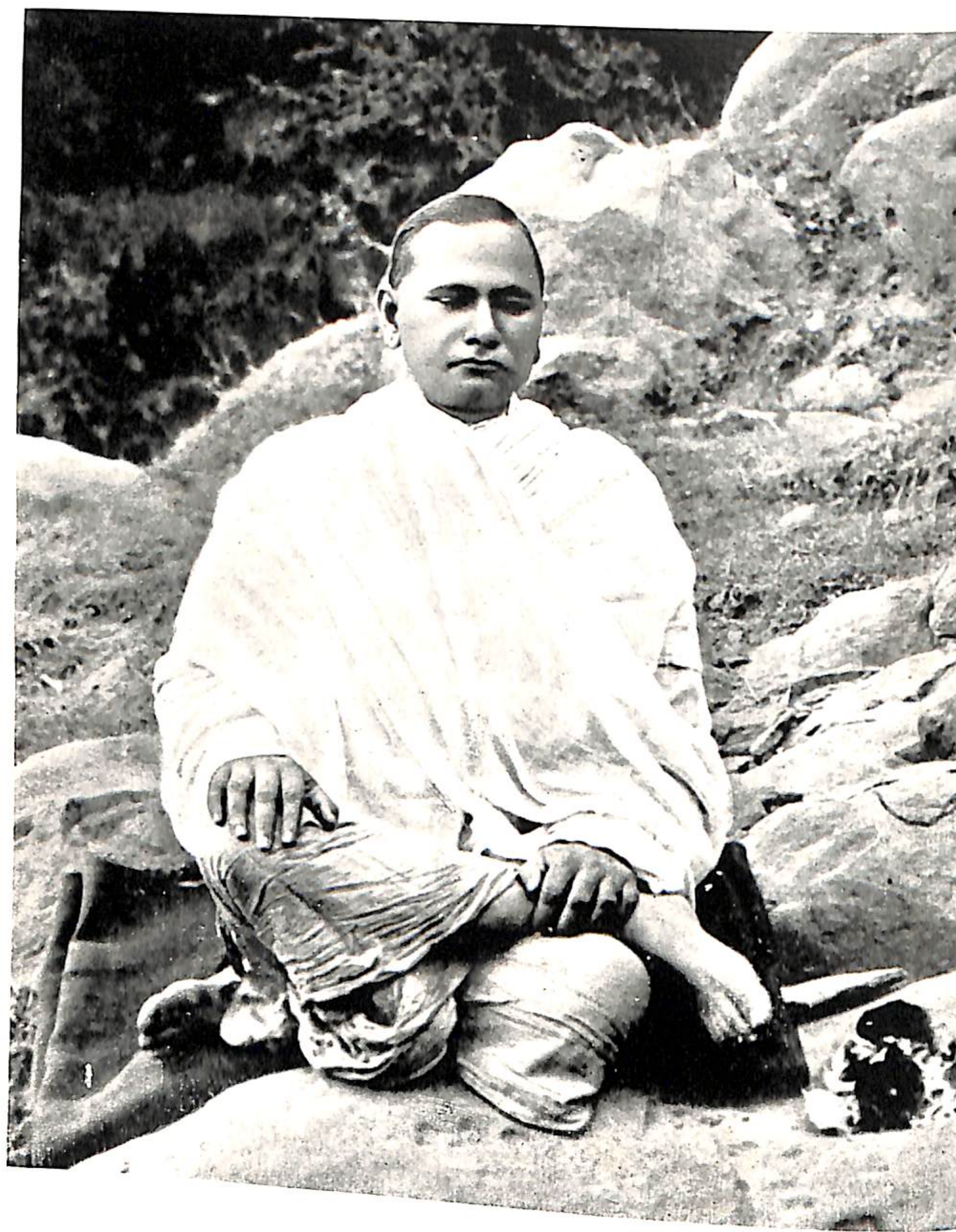
115
Prâl

Yol Camp

June 21, 1979

(Sold only for Rs 5/-)

(15)



श्री सत्यानन्द अग्निहोत्री

मुझ में
देव जीवन का विकाश

लेखक—
श्री सत्यानन्द अग्निहोत्री

देव समाज
मोगा (पंजाब)
१९६५ ई०

MUJH MEN DEV JIWAN KA VIKASH—Parts 1 & 2

(*Evolution of Divine Life in Me—Parts 1 & 2*)

By

Shree Satyanand Agnihotri

Rs. 2·50

Part I
First Edition 1909
Part II
First Edition 1918
First Reprint of Both Parts Combined 1965
(According to the First and Only Edition by the Author)

A Publication of Bhagwan Dev Atma Charities' Trust.

खण्ड १
प्रथम संस्करण —१९६६ विक्रमी
खण्ड २
प्रथम संस्करण —१९७५ विक्रमी

दोनों खण्डों का संयुक्त पुनर्प्रकाशन ... २०२२ विक्रमी
(पहले और एक मात्र संस्करण के अनुसार)
मूल्य—लेखक की पवित्र आज्ञानुसार लागत से चौथाई—२·५० रु०

प्रकाशक—
श्रीमान् ईश्वर सिंह जी, बी० ए०
मंत्री, देवसमाज,
मोगा, पंजाब

मुद्रक—
श्यामकुमार गर्ग,
राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स,
क्वीन्स रोड, दिल्ली-६

पहले खण्ड की भूमिका

कितने काल से मेरी यह दिली आकांक्षा थी, कि मैं विकाशवादी होकर अपने आत्मा के विकाश के सम्बन्ध में कोई पुस्तक लिखूं। यद्यपि मुझ पर देवसमाज के परिचालन सम्बन्धी नाना कामों का जितना अधिक बोझा था, और मेरी शारीरिक स्वास्थ्य जितने लम्बे काल से ख़राब चली आती थी, उससे मुझे कुछ बहुत उम्मेद न थी, कि मैं इस आकांक्षा को पूरा कर सकूंगा, तथापि एक अच्छे काल तक पहाड़ पर एकान्त रहने का अवसर मिल जाने से मेरी यह कामना पूर्णतः तो नहीं, पर एक सीमा तक अवश्य सफल हो गई।

देवजीवन सम्बन्धी जिन चार प्रकार की महान् शक्तियों का मेरे आत्मा में विकाश हुआ था, उनमें से दो प्रकार की शक्तियों अर्थात् (१) सत्य विषयक नाना अनुराग और (२) असत्य विषयक नाना विराग शक्तियों के क्रम २ से विकशित होने से मेरे आत्मा में जिस प्रकार का परिवर्तन होता गया था, उसे सन्मुख रखकर मैंने उसके विषय में बहुत से लेख लिखे, कि जो "जीवन पथ" में छपते रहे। पिछले साल मैंने इन लेखों के संशोधन, परिवर्द्धन और उनके भिन्न और कितने हि नए लेखों के तैयार करने में कई महीने ख़र्च किए। फिर इन सब को पुस्तक के आकार में छापने की ग़रज से मैंने उन्हें ५० परिच्छेदों में विभक्त करके श्रेणीबद्ध किया; और इस पुस्तक का नाम इसके विषय के अनुसार **"मुझ में देवजीवन का विकाश"** रक्खा। "मुझ में देवजीवन के विकाश" का यह अभी **पहला खंड** है, कि जो प्रकाशित होता है। उपरोक्त दोनों प्रकार की शक्तियों के भिन्न हित विषयक जिन नाना अनुराग और अहित विषयक जिन नाना विराग शक्तियों का मुझ में

विकाश हुआ है, उनके सम्बन्ध में भी यदि मुझे एक और पुस्तक के लिखने के लिए सुयोग मिल सका, तो वह "मुझ में देवजीवन के विकाश" का दूसरा खंड होगा।

मैं एक ओर काम के दबाव और समय के अभाव से इस क़दर संक्षिप्त लेखक बन गया हूं, कि मैं किसी बड़े से बड़े महत्त्व के विषय को भी बहुत विस्तार पूर्वक नहीं लिख सकता। दूसरी ओर प्रति वर्ष मेरा ज्ञान कोष इतना अधिक बढ़ जाता है, कि मैं उसके प्रकाश के लिए लेख के द्वारा तो कहीं रहा, मुख के द्वारा भी यथेष्ट अवसर नहीं पाता। इसीलिए यह पुस्तक मैं जितनी विस्तार पूर्वक लिख सकता था, उतनी नहीं लिख सका। मुझे बहुत शोक है, कि मैंने इसमें कितने हि विषयों को केवल स्पर्श मात्र किया है। यदि इस पृथिवी में रहते २ कभी इसके दूसरे संस्करण के छपने की नौबत आई, और मुझे अनुकूल हालात भी प्राप्त हुए, तो मैं इसे और भी उन्नत करने की आकांक्षा रखता हूं।

सभ्य जगत् में अब तक जीवन चरितों के लिखने की जो प्रणाली प्रचलित रही है, और अब तक नाना देशों में नाना जनों के जिस प्रकार के जीवन चरित लिखे और छापे गए हैं, उन सब की तुलना में इस पुस्तक की जिस प्रकार की विचित्रता और विशेषता है, उसका ज्ञान केवल उन्हीं जनों के लिए सम्भव है, कि जिन्होंने विकाश के क्रम में इसके नाना विषयों के भलीभान्त समझने और उनकी आवश्यक क़दर करने और अपने अधिकार के अनुसार उनसे लाभ उठाने की योग्यता लाभ की हो।

हिन्दी भाषा अभी तक इतनी उन्नत नहीं हुई, कि उसके द्वारा सब प्रकार के वैज्ञानिक और उच्च और उत्कृष्ट श्रेणी के विचार भली-भान्त प्रगट हो सकें। इस अभाव के भिन्न कितने हि पुराने शब्दों में काल के साथ २ उनके भावार्थ में (जैसा कि होना चाहिए था) इतना परिवर्तन हुआ है, कि इस काल के उच्च विचारों से सम्पन्न किसी नई पुस्तक के पाठ के समय उसके नाना पाठक अपनी भिन्न २ मानसिक और हार्दिक योग्यता वा अयोग्यता के अनुसार एक हि विषय का

स्वभावतः भिन्न २ अभिप्राय समझ सकते हैं। फिर किसी गूढ़ विषय के नाना सत्यों का देखना, उन्हें श्रेणी बद्ध करना और उन्हें संक्षिप्त परन्तु ठीक और स्पष्ट रूप में वर्णन करके किसी और के भलीभान्त उपलब्ध करने के योग्य बना देना कैसा कुछ महा कठिन काम है, उसका अनुमान किया जा सकता है। यद्यपि मैंने इस पुस्तक के नाना विषयों को संक्षिप्त रूप से वर्णन करते समय भी, जहां तक इस समय तक मेरे लिए सम्भव था, बहुत स्पष्ट रूप से वर्णन और यथा आवश्यक उचित रूप से श्रेणी-बद्ध करने की चेष्टा की है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता, कि उसमें मैं पूर्णतः सफलकाम हुआ हूं। इसीलिए यह सम्भव नहीं, कि उपरोक्त कारणों से इसके नाना पाठक इसके प्रत्येक विषय के अभिप्राय को एक हि रूप में उपलब्ध करें। फिर भी जिन लोगों का आत्मिक जीवन अपेक्षाकृत जितना अधिक उच्च होगा, वह लोग उतने हि अधिक रूप से इसके अभिप्राय को ठीक समझने में कृतकार्य होंगे।

यह पुस्तक अपने समय से इतने पहले लिखी गई है, कि उसके इस काल में समादृत होने की कुछ बहुत आशा नहीं की जासकती। हां, उपयुक्त समय के आने और सुयोग्य वा अधिकारी जनों के पैदा होने पर, धीरे २ यह अवश्य आदर लाभ करेगी।

इस पुस्तक का लगातार अध्ययन केवल ऐसे जनों के लिए हि एक अंश तक प्रिय और हितकर हो सकता है, कि जिनमें सत्य अनुराग सम्बन्धी किसी अंग के लिए **श्रद्धा** उत्पन्न हो चुकी हो, और जिनके हृदय भी बहुत मलीन न हों। किन्तु इसके विपरीत जिनके भीतर सत्य अनुराग सम्बन्धी किसी अंग के लिए एक ओर कोई श्रद्धा पैदा न हुई हो, और दूसरी ओर जिनके हृदय अपनी नीच प्रकृतियों के कारण बहुत मलीन और अन्ध बन चुके हों, वह इसके पाठ से केवल यही नहीं कि कुछ लाभ न उठा सकेंगे; किन्तु अपनी ऐसी शोचनीय अवस्था के कारण इस के कर्ता के प्रति अपने अयथा भावों को उत्तेजित करके और भी मलीन और अन्ध बन जाएंगे।

इस पुस्तक में मेरे पुराने लेखों में से जो २ लेख उद्धृत करके

सन्निविष्ट किए गए हैं, उनमें से जिस किसी लेख में किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई है, उसमें वांछनीय परिवर्तन किया गया है ।

इस ग्रन्थ के द्वारा इस और भविष्य काल में अधिकारी आत्माओं और उनके द्वारा और अस्तित्वों का जहां तक और जिस प्रकार का कल्याण होगा, वहां तक इसके कर्ता की हार्दिक कामना सफल होगी ।

लाहौर
१ दिसम्बर, १९०९

श्री सत्यानन्द अग्निहोत्री

सूची पत्र

पहला खण्ड

दूसरा खण्ड

पहला खण्ड

पहला परिच्छेद

देवजीवन क्या है ?

पूर्णाङ्ग देवशक्तियों के विकशित होने से मनुष्य आत्मा में जिस परम श्रेष्ठ और परम सुन्दर और सर्वोच्च जीवन की उत्पत्ति होती है, उसे **देवजीवन** कहते हैं।

इसी देवजीवन का दूसरा नाम **देवधर्म्म** है।

देवशक्तियां क्या हैं ?

सत्य और **हित** विषयक पूर्णाङ्ग नाना **अनुराग शक्तियां** और **असत्य** और **अहित** विषयक पूर्णाङ्ग नाना **विराग शक्तियां** देव शक्तियां कहलाती हैं।

सत्य विषयक अनुराग शक्तियां

सत्य विषयक पूर्णाङ्ग अनुराग शक्तियों को प्राप्त होकर आत्मा,

(१) विश्व के नाना विभागों में **हितकर** ज्ञान का जो असीम भंडार भरा हुआ है, उसके साथ **जुड़कर** जो कुछ सत्य हो, उसके जानने, देखने, ढूंढ़ने और ग्रहण करने की गाढ़ कामना और उसकी उच्च ज्योति से दिनों दिन अधिक से अधिक ज्योतिर्मान् और सत्यरूप में विकशित होने की योग्यता लाभ करता है।

(२) अपनी जीवनपथ-दर्शक ज्योति को फैलाकर सत्य का प्रचार और उसकी महिमा स्थापन करता है।

असत्य विषयक पूर्णाङ्ग विराग शक्तियां

असत्य विषयक पूर्णाङ्ग विराग शक्तियों को प्राप्त होकर आत्मा,

(१) विश्व के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में ज्ञान उपार्जन करने में जो कुछ असत्य वा मिथ्या प्रतीत हो, उसके **त्याग** की **पूर्ण आकांक्षा** और **सामर्थ्य** लाभ करता है। और जो कुछ असत्य वा मिथ्या जानता है, उसे कभी और किसी प्रकार प्रश्रय देकर अपनी जीवन-प्रद आन्तरिक ज्योति और अपने जीवन के उच्च पथ से अन्ध और भ्रष्ट होना नहीं चाहता।

(२) जहां तक जीवन विषयक **सत्य ज्ञान** की ज्योति फैलाकर **असत्य-ग्रस्त** जनों का **उद्धार** कर सकता है, वहां तक उनके उद्धार के लिए अपनी सामर्थ्य के अनुसार यत्न वा संग्राम करता है।

हित विषयक पूर्णाङ्ग अनुराग शक्तियां

हित विषयक पूर्णाङ्ग अनुराग शक्तियों को प्राप्त होकर आत्मा,

(१) विश्व के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में उसकी जो २ गति किसी के लिए शुभकर हो सकती हो, उसके जानने और पक्षपाती बनने की पूर्ण आकांक्षा और योग्यता लाभ करता है।

(२) ऐसे प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में जहां तक और जो कुछ **शुभ** उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है, वहां तक उसके उत्पन्न करने के लिए पूर्णतः यत्न व संग्राम करता है।

अहित विषयक पूर्णाङ्ग विराग शक्तियां

अहित विषयक पूर्णाङ्ग विराग शक्तियों को प्राप्त होकर आत्मा,

(१) विश्व के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में **अपनी ओर से** प्रत्येक **नीच गति** से **विरत** रहता है, और अपनी ओर से उसके किसी अस्तित्व को कोई अनुचित हानि नहीं पहुंचाता।

(२) अपने ज्ञान और अपनी सामर्थ्य के अनुसार जिस २ अस्तित्व की जहां तक किसी नीचगति वा अहित से रक्षा कर सकता है, वहां तक उससे उसकी रक्षा करने के लिए पूर्णतः यत्न वा संग्राम करता है।

देवात्मा क्या है ?

देवजीवन-प्राप्त आत्मा को **देवात्मा** कहते हैं।

देवजीवन से क्या लाभ होता है ?

देवजीवन को प्राप्त होकर आत्मा,

(१) अपनी गठन में पूर्णता लाभ करके सर्व्वाङ्ग सत्य-स्वरूप और शिव-स्वरूप होजाता है।

(२) आत्मिक सब प्रकार की **नीचगतियों** और उनके **दुःखों** से **मुक्त** होकर उच्च से उच्च जीवन में **विकशित** होने के योग्य बन जाता है।

(३) अपनी स्थूल देह के त्याग करने पर परलोक सम्बन्धी उच्च से उच्च लोकों में क्रमागत प्रवेश करने और वहां के पवित्र और उच्च जीवन-प्राप्त अन्य अधिवासियों के साथ परम शान्ति और आनन्द-पूर्वक वास करने की योग्यता लाभ करता है।

(४) विश्व के परम सुन्दर और परम श्रेष्ठ **विकाशकारी** भाग के साथ पूर्ण **मेल** वा **परम एकता** स्थापन करता है।
और सूर्य की न्याईं अपनी उच्च ज्योति की अमूल्य किरणों और उच्च शक्तियों के परम श्रेष्ठ प्रभावों को अपने चारों ओर फैलाकर विश्व के प्रत्येक विभाग में उच्चगति-प्रद परिवर्तन उत्पन्न और नीचगतियों को दूर करता है; और उसके विकाश के परम श्रेष्ठ कार्य्य में सर्वथा सहायक बन कर **परम पद** लाभ करता है।

दूसरा परिच्छेद

सत्य और असत्य ज्ञान

मनुष्य के लिए अपनी नाना वोधशक्तियों के द्वारा जहां तक और जिस २ प्रकार का ज्ञान सम्भव है, उसके विचार से इस विश्व की गठन में जो बात जैसी है, उसे वैसी हि जानना वा उसे वैसी हि बोध करना **सत्यज्ञान** कहलाता है। और उसके विरुद्ध इस विश्व की गठन में जो वात जैसी है, उसे वैसी हि न जानना, अथवा कुछ और बोध करना **असत्यज्ञान** कहलाता है।

ज्ञान प्राप्ति के लिए बोध शक्तियां

मनुष्य अपनी जिन २ शक्तियों के द्वारा किसी प्रकार के ज्ञान को प्राप्त हो सकता है, वह उसकी **बोधदायिनी शक्तियां** कहलाती हैं। यह शक्तियां सब मनुष्यों में एक हि **संख्या** वा एक हि **गहराई** में नहीं हैं, किन्तु विकाश के क्रम में नाना मनुष्यों में नाना रूपों में प्रगट हुई हैं। इसीलिए जिन मनुष्यों में जितने अंश में यह बोध शक्तियां औरों की अपेक्षा अधिक होती हैं, वह उतने हि अंश उनसे अधिक ज्ञान लाभ करने की सामर्थ्य रखते हैं।

मनुष्य अपनी गठन में दर्शन, श्रवण, घ्राण और स्पर्श आदि निम्न-बोधदायिनी शक्तियों को प्राप्त होकर उनके द्वारा एक सीमा तक ज्ञान वा बोध लाभ करता है, और मनुष्य के भिन्न पशु जगत् के जिन २ जीवों में जहां तक उपरोक्त बोध शक्तियां वर्तमान हैं, वहां तक वह भी उनके द्वारा उसी प्रकार का ज्ञान लाभ करते हैं।

इससे ऊपर विचार और तर्कमूलक नाना प्रकार के अन्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए जिन कई उच्च और उन्नतशील मानसिक शक्तियों की

आवश्यकता है, वह केवल मनुष्यों में हि (सब में नहीं) विकशित हुई हैं, और पशुओं में नहीं।

कुछ और ऊपर विशेष २ पशुओं और मनुष्यों में कुछ ऐसी पर-हितकारी शक्तियों का थोड़ा वा बहुत विकाश भी हुआ है, जिन्हें **सात्विक भाव** कहते हैं। इन भावों से विशिष्ट मनुष्य इन शक्तियों के द्वारा जो २ कुछ बोध रखता वा प्राप्त करता है, वह उन मनुष्यों में नहीं होते, जिन में यह भाव प्रस्फुटित वा विकशित नहीं हुए।

इस सात्विक कोष से ऊपर किसी विशेष मनुष्य में **देवकोष-**सम्बन्धी शक्तियों के विकशित होने से जहां एक ओर उसके आत्मा की गठन **पूर्णता** लाभ करती है, वहां दूसरी ओर वह सब प्रकार की नीच गतियों से **मोक्ष** और उच्च गतियों में **विकाश** लाभ करने के योग्य भी बन जाता है। इस कोष के विकशित होने से उसमें सत्य और हित विषयक नाना अनुराग, और असत्य और अहित विषयक नाना विराग शक्तियां प्रगट होती हैं, और उनके विकशित हो जाने से वह **देवात्मा** बन जाता है। इस देवत्व वा देवरूप को प्राप्त होने के विना कोई आत्मा विनाश से पूर्ण मोक्ष और उच्च विकाश का अधिकारी नहीं बनता। और यह देवात्मा नीच और उच्च जीवन-विषयक जिन नाना प्रकार के सत्यों के देखने और उपलब्ध करने की योग्यता प्राप्त करता है, वह योग्यता किसी और अवस्था के मनुष्य में नहीं होती, और नहीं हो सकती। इसीलिए आत्मा की नीच और उच्च गति अथवा उसके विनाश और विकाश के सम्बन्ध में **देवात्मा** के भिन्न और कोई आत्मा पूर्ण और **सत्य शिक्षा** नहीं दे सकता, क्योंकि विश्वगत प्रत्येक जगत् के सम्बन्ध में कर्तव्य और अकर्तव्य विषयक **जो २ कुछ और जितने बोध** वह अपने आत्मा में रखता है, वह और साधारण आत्माओं में वर्तमान नहीं होते।

मनुष्य को असत्य की ओर ले जानेवाली शक्तियां

पशु जगत् से मनुष्य जगत् के विकशित होने पर यद्यपि उसमें कुछ

नई मानसिक शक्तियां बीज रूप में उन्नत हुई, परन्तु उसकी गठन पूर्ण नहीं हुई। अर्थात् जैसे उस का शरीर अपने सब आवश्यक अंगों के विचार से पूर्णता को प्राप्त हो चुका था, वैसे उस का आत्मा उन सब आवश्यक शक्तियों को प्राप्त नहीं हुआ, कि जो उस की गठन को पूर्ण करके, उसे एक ओर सब प्रकार की नीच गतियों के विनाशकारी प्रभावों से रक्षा पाने और दूसरी ओर विश्व के प्रत्येक जगत् के सम्बन्ध में उच्चगति परायण बनाकर लगातार विकाश लाभ करने के योग्य बना सकें। इसीलिए अब तक मनुष्य जगत् के करोड़ों आत्मा, अपनी अपूर्ण गठन के विचार से जिस शोचनीय अवस्था में हैं, उसमें उनके लिए **सत्यानुरागी बनना ही असम्भव है**। ऐसे आत्माओं की गठन में केवल यही नहीं कि उच्चगति दायक नाना शक्तियों का हि पूर्णरूप से अभाव है, किन्तु ऐसी कितनी हि शक्तियां वर्तमान हैं, कि जो समय २ में उनके हृदय को **सत्य के विरुद्ध** असत्य की ओर जाने के लिए प्रबल-रूप से प्रेरणा करती रहती हैं। इन शक्तियों के अधीन रहकर, उनके लिए असत्य को चाहना और **असत्य परायण** बनना अवश्यम्भावी है। जिन लोगों के आत्माओं में कल्पना विषयक मानसिक शक्ति; धन, धरती, मान और प्रशंसा विषयक वासनाओं; दम्भ और घमंड विषयक अहं भावों; हिंसा, प्रतिशोध और ईर्षा आदि विषयक उत्तेजनाओं का आधिपत्य हो, उनकी हृदय-भूमि से सत्य का अनुराग उसी प्रकार प्रस्फु-टित नहीं हो सकता, जिस प्रकार मुर्गी के अंडे से कभी आदमी का बच्चा **नहीं** निकल सकता। उपरोक्त शक्तियों के अधीन आत्माओं के लिए (और करोड़ों हि आत्मा इन शक्तियों के अधीन हैं) असत्य की ओर स्वभावतः आकृष्ट होना, अनजाने वा जान बूझकर असत्य बोलना, असत्य मानना, असत्य का समर्थन और असत्य का प्रचार करना एक अवश्यम्भावी बात है।

कल्पना के दास नाना प्रकार की कल्पित परन्तु मिथ्या बातों और मतों को मानकर खुश रहते हैं। धन, धरती मान, प्रशंसा आदि वास-नाओं के दास, उनकी प्राप्ति के लिए झूठी गवाहियां देते हैं, झूठे मुक-

दमे लड़ाते हैं, झूठी कविताएं रचते हैं, अफसरों वा अमीरों, वा औरों की झूठी तारीफ़ करते हैं, झूठे कागज़ बनाते हैं, झूठे विज्ञापन देते हैं। दंभी और घमंडी बनकर नाना प्रकार से कपटता और झूठ का व्यवहार करते हैं। अन्य सम्प्रदायों की सच्ची और हितकर शिक्षा पर आक्षेप करके उसे उलटा प्रदर्शन करते हैं, और अपने सम्प्रदाय की झूठी और पाप-मूलक शिक्षा को भी समर्थन करते हैं। दीनता दिखाने के लिए अपने भीतर जो सच्चा गुण भी वर्तमान हो, उसका वर्तमान होना नहीं मानते। मन्दिरों, मसजिदों और गिरजाओं और पगोडाओं आदि पूजा के स्थानों में ऐसे भजन वा गीत गाते हैं, कि जिन के साथ उन के हृदय का कुछ भी मेल नहीं होता, और मुंह से ऐसी बातों की प्रार्थनाएं करते हैं, जिन को उनका हृदय कभी नहीं चाहता। प्रतिशोध लेने के लिए औरों पर जानबूझकर नाना प्रकार के मिथ्या दोष और अपराध लगाते हैं। धन, वा मान वा किसी सुख आदि की हानि के डर वा किसी उचित दंड से बचने के लिए झूठ बोलते हैं। ईर्षा के वश होकर, दूसरे की सच्ची तारीफ़ भी सुन नहीं सकते और उसकी झूठी निन्दा करके वा सुन के तृप्ति लाभ करते हैं। इत्यादि २

अब केवल उपरोक्त प्रकार की प्रकृति पाकर, वा रखकर अथवा पूर्वोक्त विविध शक्तियों के दास रह कर किसी मनुष्य के लिए भी, (चाहे वह किसी धर्म्म सम्प्रदाय वा समाज का हो) **सत्य का आकांक्षी वा अनुरागी बनना ही सम्भव नहीं** है; इसीलिए पृथिवी के सब देशों और नगरों और गांवों में जहां कहीं मनुष्य रहता है, वहीं नाना प्रकार से असत्य का प्रकाश और प्रचार पाया जाता है।

इधर एक ओर करोड़ों मनुष्यों के लिए उनकी आत्मिक अपूर्ण गठन और उसमें नाना ऐसी शक्तियों की वर्तमानता कि जो उसे नाना प्रकार से असत्य की ओर जाने, असत्य के ग्रहण करने और असत्य के पथ पर चलने के लिए **मजबूर** करती हैं; उधर असत्य के ग्रहण करने से उसे अपने नाना सम्बन्धों में कितनी ही वार कई प्रकार का सुख और लाभ भी दिखाई देता है; ऐसी अवस्था में केवल यही नहीं

कि उसे असत्य की महिमा नज़र आती है, वरन् अवसर २ पर उसकी अत्यन्त **आवश्यकता** भी प्रतीत होती है। यह आवश्यकता उसे अपने निज के लिए भी अनुभव होती है, और समाज वा सोसाइटी के लिए भी। इस लिए इस भाव से परिचालित होकर उस ने असत्य की आवश्यकता और महिमा को नाना प्रकार से प्रकाश किया है। यथाः——

"मैं तां झूठ अकट्ठे जम्मे, झूठ आवे मेरे सयां कम्मे।"

अर्थ——मैं और झूठ तो एक साथ जन्मे हैं। झूठ तो मेरे सैंकड़ों काम आता है। [एक पंजाबी कहावत]

"दरोग़ मसलहत आमेज़ वेह, अज़ रास्ती फ़ितना अङ्गेज़।"

अर्थ——जिस सत्य के प्रकाश से विपद् उत्पन्न हो, उसकी अपेक्षा झूठ का व्यवहार बेहतर है। [शेख़सादी]

"न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।"

अर्थ——अप्रिय सत्य न बोलना चाहिए।

[एक ऋषि का वचन]

"झूठ के बिना काम नहीं चल सकता।"

[विविध पेशे वालों का वचन]

ईसाइयों के एक बड़े फिरक़े में इस बात की खुल्लम खुल्ला शिक्षा दी गई है, कि अपने साम्प्रदायिक मत के फैलाने में मिथ्या का व्यवहार उचित और पुण्य कर्म्म है।

आर्य्य समाज के संस्थापक ने अपनी "सत्यार्थ प्रकाश" नामक पुस्तक में श्री शङ्कराचार्य्य के वेदान्त मत को मिथ्या बताकर यह लिखा है, कि यदि उन्होंने यह मिथ्या मत जैनियों को परास्त करने के लिए ग्रहण किया हो, तो "अच्छा" था।

हर देश के प्रायः सब राजनीतिज्ञ लोग प्रजा के शासन में यथा अवसर कुटिल नीति और मिथ्या का अवलम्बन आवश्यक और विधेय बताते हैं।

" Every thing is fair in war and love. "

अर्थ——लड़ाई और स्त्री-पुरुष सम्बन्धी प्रेम के मामलात में सब

कुछ जायज़ है।

असत्य ने प्रायः मनुष्य मात्र पर हि अपना मोहिनी मन्त्र डाल कर उन्हें अपना अनुगत वना लिया है। असत्य-परायण वन कर मनुष्य ने **धर्म्म के नाम से भी असत्य का बहुत बड़ा प्रचार किया है।** धर्म्म के नाम से उसने नाना प्रकार की **झूठी गप्पों** अथवा मिथ्या कल्पनाओं को फैलाया है—नाना प्रकार की मनो वांछाओं के पूर्णकर्ता देवी और देवतों, सेंट वा साधुओं और पीरों और उनकी करामातों आदि की सृष्टि की है। स्वर्ग और नरक सम्बन्धी नाना प्रकार की रोचक और भयानक परन्तु झूठी गप्पें घड़ी हैं। यह सव गप्पें पुस्तकों में लिखी गई हैं, और वह पुस्तकें धर्म्म पुस्तकें कहलाती हैं। एक ओर साधारण जनों में विचार, आलोचना और युक्ति आदि की अत्यन्त हीन अवस्था ने और दूसरी ओर उनमें कल्पना और विश्वास शक्ति की प्रबलता ने उपरोक्त सव प्रकार के मिथ्या के प्रचार में बहुत वड़ी सहायता की है। धर्म्म विषयक वातों में अन्ध-विश्वास (faith) की बहुत बड़ी महिमा प्रचलित की गई है। उसमें युक्ति वा तर्क का प्रयोग अनुचित समझा गया है। यहां तक कि वर्तमान काल में भी यदि एक "ब्राह्मो" प्रचारक, इस वाक्य को वहुत ज़ोर के साथ उच्चारण करता है, कि

"विश्वासो धर्म्म मूलं हि।"

अर्थात् ईश्वर नामक एक देवते में विश्वास हि धर्म्म का मूल है, तो उसी का एक आर्य्या, मुसलमान, या ईसाई भाई, उसमें कुछ और अधिक करके यह कहता है, कि ईश्वर नामक देवते के भिन्न उसकी रची हुई, इस या उस पुस्तक पर भी विश्वास करना जरूरी है। धर्म्म के नाम से भी केवल विश्वास, विश्वास और अन्ध-विश्वास की पुकार रही है। **धर्म्म की बुनियाद यही अन्ध विश्वास रहा है।** यह कुसंस्कार-मूलक, महा हानिकारक विश्वास मिथ्या कल्पना अथवा असत्य का साथी है, और इसी कारण करोड़ों कल्पना-प्रिय नर नारी गण, कि जो इस **अन्ध विश्वास** की प्रबल शक्ति के अधीन हैं, ऐसे किसी साक्षात् से साक्षात् असत्य के त्याग, और सत्य के ग्रहण करने के इच्छुक अथवा

योग्य नहीं, कि जिसे वह इसी पृथिवी में **परीक्षा** के द्वारा देख और जान सकते हैं। यह कुसंस्कार और कल्पना परायण लोग **परीक्षा** के महाहितकर नियम की हि कुछ महिमा नहीं देखते। वह **परीक्षा** की अपील ही नहीं सुनते। **परीक्षा** उन के निकट कोई चीज़ नहीं। अन्ध विश्वास के पक्षपाती डरते हैं, कि कहीं परीक्षा की कसौटी पर रखने से वह अपने पहले विश्वास को हि न खो बैठें। उन्हें किसी **विश्वास** की जरूरत है, **न कि सत्य** की। सत्य की महिमा उन से पूर्णतः **छिपी** हुई है। वह जैसे चोरी, व्यभिचार, रिश्वत आदि बहुत सी पाप क्रियाओं में कई प्रकार का सुख और लाभ अनुभव करते हैं, वैसे हि **असत्य-मूलक** नाना अन्ध-विश्वासों को रखना और उन का प्रचार करना अपने और सोसाइटी के लिए कई प्रकार से **लाभदायक** समझते हैं। ऐसे लोगों में से कितने ही जन धर्म्म को **भीतर** से ढकोसला मान कर भी उसका **बाहर** से स्वांग भरना और जान बूझकर भी किसी **मिथ्या विश्वास** का इक़रार और प्रचार करना आवश्यक समझते हैं और ऐसा करने से अपने हृदय में सुख और तृप्ति लाभ करते हैं।

सत्य ग्रहण करने की झूठी पुकार

अपूर्ण गठन-प्राप्त मनुष्य जब तक,

(१) कल्पना,

(२) धन, धरती, मान प्रशंसा आदि वासना,

(३) दम्भ और घमंड आदि अहं,

(४) हिंसा, प्रतिशोध और ईर्षा आदि उत्तेजना,

शक्तियों का दास रहता है, तब तक उस के लिए असत्य की ओर जाना, असत्य को चाहना और असत्य परायण बनना आवश्यक है—आवश्यक है इसीलिए प्रत्येक देश और प्रत्येक नगर और प्रत्येक गांव में वह उपरोक्त अवस्था में रहकर, असत्य का अनुरागी और प्रचारक बन रहा है। बिना कारण के कोई घटना वा क्रिया उत्पन्न नहीं होती, और

इसीलिए उपरोक्त कारणों के वर्तमान रहने से उपरोक्त क्रिया का होते रहना एक अवश्यम्भावी बात है। मुर्ग़ी के अंडे से जैसे आदमी का बच्चा पैदा नहीं होता, वैसे जिन मनुष्यों में (कि जिनकी संख्या करोड़ों की है) उपरोक्त प्रकार की शक्तियों का अधिकार है, उन की हृदय भूमि में से सत्य अनुराग का अङ्कुर कभी निकल हि नहीं सकता। ऐसी हृदय-भूमि सत्य विषयक अनुराग के विकशित करने के सर्वथा अयोग्य होती है। ऐसे हृदय में सत्य की कोई आकांक्षा हि नहीं होती। फिर जिस चीज़ की आकांक्षा हि वर्तमान न हो, उसका ढूंढ़ना वा ग्रहण करना कैसा ? इस लिए वर्तमान काल में उपरोक्त प्रकार के कुछ "ईश्वर उपासकों" की यह पुकार कि "हम जहां कहीं सत्य हो, उसे ग्रहण कर लेते हैं, और असत्य को त्याग देते हैं," **बिलकुल मिथ्या** है। वह उसी प्रकार **असत्य परायण** हैं जिस प्रकार उन्हीं जैसी प्रकृति रखने वाले, अन्य सम्प्रदायों के लोग। ऐसे सब लोगों की हृदय-भूमि में से सत्य अनुराग विषयक देवभावों के फूटने, और फिर प्रत्येक अंग में विकशित होकर पूर्णता लाभ करने की सम्भावना तो कहीं रही, किसी ऐसे अनुरागी की **महिमा** के देखने और उसके प्रति **श्रद्धावान्** बनने की योग्यता भी नहीं पाई जाती। प्रत्युत उसके विपरीत उनमें से कितने हि जन उससे अवगत होकर उसके प्रति अपने हृदय में घृणा और द्वेषभाव अवश्य अनुभव करते हैं।

तीसरा परिच्छेद

सत्य अनुराग के विकाश के लिए असाधारण हृदय और मस्तिष्क की आवश्यकता

सत्यज्ञान और सत्य अनुराग एक नहीं। सत्य अनुराग से सत्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है, परन्तु सत्यज्ञान से सत्य अनुराग की उत्पत्ति नहीं होती। कुछ थोड़े से विशेष २ पागलों को छोड़कर हर देश और हर गांव में कोई मनुष्य ऐसा नहीं, जिसमें निम्न बोध दायक कुछ इन्द्रियां वर्तमान नहीं, और जो अपनी इन इन्द्रियों के द्वारा एक वा दूसरे प्रकार का कुछ सत्य ज्ञान नहीं रखता। फिर मनुष्य के भिन्न लाखों पशु भी उपरोक्त इन्द्रिय-जन्य कुछ न कुछ सत्य ज्ञान रखते हैं, परन्तु उनमें सत्य-प्रियता पाई नहीं जाती। जैसे पशु-जगत् के करोड़ों जीवों में कुछ न कुछ सहज और सत्य-ज्ञान अवश्य पाया जाता है, परन्तु उनमें आलोचना आदि बुद्धि कोष सम्बन्धी उन्नतशील शक्तियां पाई नहीं जातीं, वैसे हि मनुष्य-जगत् के करोड़ों जनों में एक वा दूसरे प्रकार का सत्य-ज्ञान अवश्य विद्यमान है, परन्तु उनमें **सत्य-अनुराग** पाया **नहीं** जाता।

सत्य-अनुराग जिस प्रकार के हृदय से उत्पन्न और उन्नत हो सकता है, उस प्रकार के हृदय करोड़ों मनुष्यों को प्राप्त नहीं हुए। जैसे पशु-जगत् के परिवर्तन कार्य्य से लाखों बन्दरों को (कि जो मनुष्य से सादृश्यता रखते हैं) अपने पूर्वजों के क्रम में मनुष्य वनने का अधिकार नहीं मिला, और नहीं मिल सकता था, वैसे हि मनुष्य-जगत् के परिवर्तन में करोड़ों मनुष्यों में ऐसी उच्च अवस्था के हृदयों और मस्तिष्कों का विकाश नहीं हुआ, और नहीं हो सकता था, कि जिनमें से सत्य-अनुराग प्रस्फुटित और विकशित हो सके। ऐसी योग्यता हि

उनमें वर्तमान नहीं । कुछ अल्प लोगों को ऐसे हृदय अवश्य मिले हैं, कि जिन में आंशिक सत्याकर्षण के उत्पन्न होने की योग्यता आई है । **परन्तु सत्य-अनुराग का सर्वाङ्ग विकाश किसी ऐसे विशेष और असाधारण आत्मा के भिन्न कि जो अपने भीतर पूर्ण गठन की पूर्ण सामग्री को लेकर आविर्भूत हुआ हो, और किसी में सम्भव नहीं ।** "मनुष्य को असत्य की ओर ले जाने वाली शक्तियाँ" का हैडिंग देकर दूसरे परिच्छेद में जो कुछ वर्णन किया गया है, उस पर भली-भांति विचार करने से यह तत्व भलीभांत समझ में आ सकता है ।

यह मेरा घर है, यह मेरा खेत है, यह मेरा बाप है, यह मेरा बेटा है, यह मेरी बेटी है, यह लोहा है, यह पीतल है, यह गेहूं है, यह जव है, यह आलू है, यह पालक है, यह दूध है, यह पानी है, यह घी है, यह तेल है, यह गौ है, यह बैल है, यह घोड़ा है, यह गधा है, यह घास है, यह भूसा है, यह किताब है, यह सिल है, यह थाली है, यह बटलोही है, इत्यादि प्रकार का सत्य-ज्ञान दर्शन, श्रवण और स्पर्श आदि निम्न बोधों के द्वारा प्रायः प्रत्येक बालक वा बालिका को भी हो सकता है, और हो जाता है और उसके भिन्न विद्या का अभ्यास करने से मनुष्य को और भी कई प्रकार का सत्य-ज्ञान हो जाता है । और ऐसे जनों की तादाद भी लाखों की हो सकती है, परन्तु यह सत्य-ज्ञान **सत्य-अनुराग** नहीं है । सत्य का अनुराग न किसी साधारण आत्मा में पाया जाता है, और न उसमें से कभी उत्पन्न हो सकता है । इस विश्व की गठन में जो बात जैसी है, उसे मैं वैसी हि जानूं वा वैसी हि बोधऔर प्रदर्शन करूं—यह आकांक्षा किसी ऐसे साधारण मनुष्य के हृदय में क्योंकर उत्पन्न हो सकती है, कि जिसमें एक ओर असत्य की ओर ले जाने वाली प्रबल शक्तियां वर्तमान हों, और दूसरी ओर असत्य के अवलम्बन से उसे अपनी नाना वासनाओं और उत्तेजनाओं आदि की तृप्ति मिलती हो, और कई प्रकार का सांसारिक लाभ होता हो ? इसलिए ऐसे असाधारण और विशेष आत्मा के भिन्न, कि जिसमें मनुष्य-जगत् के लाखों वर्षों के विकाश-क्रम में,

(१) असत्य की ओर ले जाने वाली नाना शक्तियों का आधिपत्य न हो,

(२) आत्मा के अस्तित्व और उसके विकाश और विनाश के विषय में पूर्ण विवेक जाग्रत हुआ हो,

(३) आत्मा के विकाश की पूर्ण आकांक्षा उत्पन्न हुई हो, और उसका विकाश साधन मुख्य लक्ष्य हो, और उसके साधन के लिए नाना सात्विक भाव एक वा दूसरे रूप में वर्तमान हों, और

(४) यह तत्व स्पष्ट रूप से अनुभव होता हो, कि विश्वगत प्रत्येक जगत् के सम्बन्ध में सत्य और केवल सत्य के अधिक से अधिक ज्ञान और हितकर सत्य के अवलम्बन करने से हि हृदय में जीवनपथ-दर्शक ज्योति लगातार उत्पन्न और उन्नत हो सकती है, अन्यथा कदापि नहीं।

और किसी आत्मा में सत्य विषयक पूर्णाङ्ग अनुराग के उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं हो सकती है। कई प्रकार का सत्य ज्ञान बेशक करोड़ों मनुष्यों और पशुओं को हो सकता है, और है, परन्तु सत्य विषयक **अनुराग** उपरोक्त लक्षणधारी आत्मा के भिन्न और किसी जन में **पूर्णाङ्ग रूप से** विकशित नहीं हो सकता, और नहीं होता।

मेरा असाधारण हृदय और मस्तिष्क

मैं अपनी गर्भजात विशेषता के अनुसार एक असाधारण हृदय लेकर पैदा हुआ था। उसमें आत्मा की गठन को पूर्ण करने वाली सब सात्विक और देवशक्तियों के प्रस्फुटित और विकशित होने की योग्यता वर्तमान थी। मेरे मस्तिष्क की मानसिक शक्तियां भी असाधारण क्षमता लेकर जन्मी थीं, कि जिनमें मेरे असाधारण हृदय के विकाश में सहकारी बनने की पूर्ण योग्यता विद्यमान थी। इसीलिए जब मेरे हृदय में ज्ञान विषयक अनुराग जाग्रत हुआ, और इस अनुराग के अनुसार मेरे लिए अध्ययनशील बन जाना आवश्यक हो गया, तब क्या इस अध्ययन के समय, और क्या किसी विषय में विचार और आलोचना के समय

किसी तत्व केनिर्णय करने और समझने, और किस सिद्धान्त के निकालने के लिए जिन असाधारण मानसिक शक्तियों की आवश्यकता होती है, वह मुझ में भलीभांत विकशित होकर अपना कार्य करती थीं। इन मानसिक शक्तियों के विकाश ने थोड़े दिनों में हि जैसे एक ओर मुझे बहुत कूट तार्किक बना दिया, वैसे हि दूसरी ओर मेरे हृदय में **सत्य अनुराग** ने जन्म लेकर मेरी इन तर्कणा शक्तियों को अपने द्वारा परिचालित करना आरम्भ किया। मेरी इन तर्कणा शक्तियों की मुख्य परिचालक मेरी कोई धन, मान, प्रशंसा शारीरिक सुख आदि विषयक कोई वासना वा दंभ, कपट और घमंड आदि विषयक कोई अहं वा प्रतिशोध, और ईर्षा आदि विषयक कोई उत्तेजना शक्ति नहीं थी——हां अहं और उत्तेजना सम्बन्धी कितनी हि उपरोक्त शक्तियां तो मुझ में जन्म काल से हि नहीं आई थीं, और धन, मान, प्रशंसा और शारीरिक सुख आदि विषयक वासना शक्तियां जो वर्तमान भी थीं, उन का मुझ पर कोई **अधिकार** न था। धर्म्म अभिलाषा मुझ में बाल्य काल से हि बहुत प्रबल रूप में प्रगट हुई थी। उसकी तुलना में और कोई वासना इतनी प्रबल न थी, कि जो उसे दबा सकती वा दबा लेती। यही हृदय और मस्तिष्क सम्बन्धी सारी आत्मिक पूंजी मेरी असाधारण पूंजी थी। यही वह महत् और अमूल्य पूंजी थी, कि जो मैंने मनुष्य जगत् के विकाश क्रम में अपने पूर्वजों से लाभ की थी, और जिसकी मुझ में कुल मनुष्यों की तुलना में विशेषता थी।

मेरी गर्भजात विशेषता

अपनी पूजनीय माता के गर्भ धारण करने के दिन से मेरे आत्मा की विशेषता थी। मनुष्य जगत् में हजारों वर्ष के परिवर्तन कार्य से जैसे उसके किसी विभाग में अधोगति हुई है, वैसे हि किसी विभाग में उच्च गति हुई है। इसी उच्चगति मूलक परिवर्तन के द्वारा मेरे कई पूर्वजों में ऐसी कितनी हि शक्तियां आई थीं, कि जिन्होंने एक विशेष घटना के द्वारा एक विशेष समय में सम्मिलित होने का अवसर पाकर

मेरे अस्तित्व को **मातृगर्भ में हि विशेष बना दिया;** और अन्य करोड़ों आत्माओं की तुलना में उसमें वह विशेष योग्यता पैदा करदी, कि जिससे वह धीरे-धीरे विकशित होकर एक अपूर्व रूप और पूर्णाङ्ग गठन को प्राप्त हो गया। यह मेरी गर्भ अथवा जन्म जात विशेषता थी; और यह मुझे उसी प्रकार प्राप्त हुई थी, जिस प्रकार भौतिक जगत् के पदार्थों में परिवर्तन के अटल कार्य्य से इस पृथ्वी में कुछ अस्तित्व साधारण पत्थर, कुछ लाल पत्थर, कुछ संगमरमर, कुछ नीलम, कुछ माणिक और कुछ हीरा बन गए।

यह विशेषता जो मेरे आत्मा को प्राप्त हुई, वह किसी और को प्राप्त नहीं हुई—हां, और तो और मेरे अपने किसी भाई, बहिन वा मेरी सन्तान को भी प्राप्त नहीं हुई; इसलिए कि उसका प्राप्त होना प्रकृति के नियम के हि विरुद्ध था; और यह उसी तरह विश्व के नियम के विरुद्ध था, जिस तरह इस समय वानर जाति के किसी वंश में से मनुष्य जाति का प्रगट होना असम्भव है; क्योंकि पहले जिस २ के लिए जिस अनुकूल अवस्था में ऐसा होना न केवल सम्भव, किन्तु आवश्यक था, वह अवस्था बदल गई, और इस पृथ्वी से हमेशा के लिए चली गई।

मेरे आत्मा में सत्य अनुराग का विकाश

इस जगत् में धर्म्म और अधर्म्म के सम्वन्ध में जो कुछ मत और शिक्षाएं प्रचलित हैं, वह सब सत्य नहीं। इन सब मतों और शिक्षाओं में परस्पर भयानक **विरोध** मौजूद है। एक हि सम्प्रदाय के लोगों में भी कई प्रकार का मतभेद पाया जाता है। यह लीला हज़ारों वर्ष से जारी है। करोड़ों मनुष्य एक वा दूसरे मत के विश्वासी बने हुए हैं, परन्तु वह अपने भीतर अपने धर्म्म मतों के संबंध में सत्य बात के लिए कोई आवश्यकता वा आकांक्षा अनुभव नहीं करते। उनके चारों ओर असत्य फैला हुआ है, और वह आप भी असत्य मत पोषण करते हैं, और खुश रहते हैं। नीच लक्ष्य, मिथ्या विश्वास, मिथ्या चिन्ता, मिथ्या भाषण,

मिथ्या कल्पना और पापाचार में लिप्त रहकर करोड़ों जन ऐसे **मिथ्या-अनुरागी** बन चुके हैं, कि उन्हें अपने आत्मा के जीवन के सम्बन्ध में किसी सत्य ज्ञान वा सत्य ज्योति के लाभ करने की कभी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। शरीर के जीवित रखने और कुछ इन्द्रिय और वासना-मूलक सुखों आदि के ढूंढ़ने वा प्राप्त करने के भिन्न, उन्हें अपने आत्मा की रक्षा और पालना के लिए, किसी सत्य ज्ञान वा सत्य ज्योति के लाभ करने की कोई प्रेरणा नहीं होती। वह अपने आत्मा और उसकी भली वा बुरी गतियों के परिणाम के विषय में हि सम्पूर्ण रूप से **अन्धकार** में पड़े हुए हैं, और उन्हें इस बात का कोई ज्ञान नहीं, कि आत्मा का विनाश[1] क्या और विनाश से उसकी रक्षा और मोक्ष क्या? उसकी पूर्णाङ्ग गठन क्या, और उसका पूर्णाङ्ग विकाश क्या?

इस अन्धकार में रहकर उन्हें किसी प्रकार की कोई दिक्क़त वा तकलीफ़ मालूम नहीं होती। हाय! अपने सार अस्तित्व के हि सम्बन्ध में अन्धकार में रहना कितना भयानक दृश्य! कितना बड़ा दुर्भाग्य!!

जहां करोड़ों मनुष्य अपने जीवन के सम्बन्ध में घोर अन्धकार में पड़े हुए हों, जहां करोड़ों मनुष्य ऐसे अन्धकार में पड़कर विनष्ट होते हों, परन्तु वह अपने **विनाश** का बोध न रखते हों, वहां मनुष्य-जगत् में विकाश के महान् कार्य्य से किसी काल में एक ऐसे आत्मा का प्रगट होना, क्या अत्यन्त विस्मय-जनक और अलौकिक कार्य्य नहीं, कि जो इस महा भयानक अन्धकार का बोधी होकर उसमें किसी प्रकार रहना न चाहता हो? जिसके हृदय से यह गूंज निकलती हो, कि जो कुछ सत्य नहीं, उसके अवलम्बन से किसी जन के आत्मा के जीवन का कोई

---

१. करोड़ों आदमी तो यह झूठा विश्वास रखते हैं, कि आत्मा का कभी नाश हि नहीं होता।

कल्याण नहीं हो सकता ? जो अपने आत्मा के जीवन की रक्षा के लिए उसी प्रकार **सत्य की ज्योति** की आवश्यकता अनुभव करता हो, जिस प्रकार अपने शरीर की रक्षा के लिए हवा की ? जो अपने जीवन के प्रत्येक सम्बन्ध में सत्य का अनुरागी हो, सत्य की जीवन वर्द्धक ज्योति को पाकर हि अपना अधिक से अधिक कल्याण और परम सुख अनुभव करता हो ? अवश्य है। ऐसा सत्य अनुरागी पुरुष जो सत्य को केवल मुंह से प्रशंसा करने की चीज़ नहीं समझता, किन्तु उसकी ज्योति में वास करने और उसे अपने जीवन के पथ के लिए अधिक से अधिक लाभ करने, और उसे औरों के हित के लिए वितरण करने के योग्य बनने में हि अपना परम कल्याण अनुभव करता है, और उसके लाभ करने के लिए सब प्रकार का त्याग—धन का त्याग, सम्बन्धियों का त्याग, नाम का त्याग, यश का त्याग, घर का त्याग, वच्चों का त्याग, समाज का त्याग स्वीकार करता है, इस पृथ्वी के लिए कितने गौरव की वस्तु ! ऐसा आतमा मनुष्य-जगत् के लिए कितना अमूल्य रत्न !! और जिन २ सत्य अनुराग विषयक अंगों के विकशित होने से ऐसा अमूल्य रत्न प्रगट होता है, वह अंग कैसे महत्, कैसे अमूल्य, कैसे सुन्दर और कैसे हितकर !!

इसमें सन्देह नहीं, कि विश्व के विकाश क्रम में मनुष्य का आविर्भाव बहुत विचित्र है, परन्तु जब तक उसमें असत्य पथ की ओर लेजाने वाली नाना शक्तियां काम करती हैं—जैसे कि वह करोड़ों जनों में बराबर काम करती हैं—और सत्य अनुराग विषयक वह नाना शक्तियां वर्तमान न हों, कि जो उसे जीवन के असत्य-पथ से मुक्त करने और रखने और सत्य-पथ की ओर ले जाने की क्षमता रखती हों, तव तक उसकी अवस्था कैसी कृपापात्र ! सम्राट् होकर, राजा होकर, धनी होकर, बुद्धिमान् होकर, विद्वान् होकर, कवि होकर, शिल्पकार, होकर, किसी यूनीवर्सिटी की डिगरी-प्राप्त होकर, पदाधीश होकर और विख्यात होकर भी वह कितना बड़ा कृपापात्र !! जिस प्रकार वायु के

विना मनुष्य अपने फेफड़ों के द्वारा श्वास नहीं ले सकता, उसी प्रकार सत्य-अनुराग के नाना अंगों के विना वह अपने जीवन के सम्बन्ध में सत्य-ज्योति और सत्य-पथ को प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे अन्धकार की निवृत्ति के लिए ज्योति की आवश्यकता है, वैसे हि जीवन वा आत्मा विषयक अज्ञान की निवृत्ति और सत्य-ज्ञान की प्राप्ति के लिए सत्य-अनुराग विषयक नाना शक्तियों की आवश्यकता है।

बुद्धि-शक्ति निश्चय एक उपादेय शक्ति है, परन्तु वह जैसे मनुष्य को नाना पापों और अपराधों से **मुक्त** रखने की सामर्थ्य नहीं रखती और मनुष्य बुद्धिमान् होकर भी अपने हृदय के एक वा दूसरे **नीच भाव के वशीभूत** होकर पाप व अपराध की ओर जाता है, वैसे हि वह किसी मनुष्य को सत्य-पथ की ओर परिचालन करने की कोई सामर्थ्य नहीं रखती। और मनुष्य अपने नाना कुसंस्कारों और अपनी नाना नीच वासनाओं और उत्तेजनाओं आदि के वशीभूत होकर विवश असत्य की ओर जाता है——वह जानबूझकर भी असत्य को ग्रहण करता है और असत्य का साथी और मददगार वनता है, असत्य को पोषण करता है, और असत्य का प्रचार करता है, और ऐसा करके अधोगति को प्राप्त होकर अपने आत्मा के **अन्धकार** को दिनों दिन अधिक करके अपना **नाश** करता है।

तब इस सत्य अनुराग की और जिस आत्मा में उसका सर्वाङ्ग रूप में विकाश हुआ हो, उस आत्मा की कितनी महिमा! और जिसका हृदय उसकी अन्धकार विनाशक और सत्य-पथ-दर्शक, महा अद्भुत और विचित्र ज्योति से ज्योतिर्मान् हो, वह हृदय कितना महान्!!

मेरे आत्मा में क्रम २ से सत्य अनुराग विषयक जिन २ अङ्गों का विकाश हुआ है वह यह हैं :——

(१) सत्य-भाषण अनुराग।
(२) सत्यगत स्पष्ट कथन अनुराग।
(३) सत्य-ज्ञान-उपार्जन अनुराग।

(४) सत्य-ग्रहण अनुराग ।
(५) सत्य-प्रतिज्ञा पालन अनुराग ।
(६) सत्य-प्रचार अनुराग ।
(७) सत्य-समर्थन अनुराग ।
(८) धर्म-विषयक सत्य-अन्वेषण अनुराग ।

चौथा परिच्छेद

मेरा जन्म और मेरा प्रथम विकास

मातृगर्भ में प्राय: ४० सप्ताह में मेरी जीवनी शक्ति ने अनुकूल अवस्था और सामग्री पाकर मेरे छोटे से भौतिक आकार को पूर्णाङ्ग रूप में निर्म्माण कर दिया, और मैं पौषवदि प्रतिपदा सं० १९०७ विक्रमी के दिन कुशलपूर्वक प्रसव होगया। मेरे इस शिशु शरीर का पालन आरम्भ हुआ। अनुकूल सामानों में रहकर मेरा शरीर विकशित होने लगा; आत्मा में भी धीरे २ कुछ निम्न बोधों (ज्ञान इन्द्रियों) और भाषा शक्ति का विकाश हुआ। मैं कितनी हि चीज़ों को जानने पहचानने और अपने पिता माता की भाषा में उनके सांकेतिक नाम भी लेने लगा।

कल्पना शक्ति का विकास

प्राय: चार पांच साल की उमर में मुझ में कल्पना शक्ति जाग्रत हुई। मैं कुछ २ कल्पना प्रिय बन गया। यह कल्पना—प्रियता बढ़ने लगी, और सात आठ साल की उमर में पहुंचकर मैं कल्पित कहानियों के सुनने का बहुत शौक़ीन बन गया। इस उमर में, और इस के अनन्तर और कई साल तक मुझे कहानियां सुनना बहुत पसन्द था। मेरे पिता से उनका एक मकान गवर्नमैंट ने मुंसिफ की कचहरी के लिए किराये पर ले रक्खा था। उसमें जो चपरासी बारी २ से पहरा देते थे, उन में से एक चपरासी कहानियों के सुनाने का बहुत शौक़ीन था। मैं उसके पास बैठ कर बड़ी लगन के साथ कहानियां सुना करता था। इन कहानियों में ऐसी बहुत सी कल्पित गप्पें होती थीं, कि जो कहानी को बेशक मज़ेदार बना देती थीं; परन्तु यूं वह सत्य वा वास्तविकता के विरुद्ध थीं।

इस प्रकार की कल्पना-प्रियता मनुष्य के सब होश वाले बच्चों में पाई जाती है। मैं पहले २ कितने हि दिनों तक इस अवस्था में था, कि जो कहानियां मैं सुनता था, उनकी मिथ्या बातों को मिथ्या जानने की शक्ति हि नहीं रखता था, क्योंकि ऐसा जानने के लिए मुझ में जिस दरजे की **समझ** की ज़रूरत थी, वह समझ मुझ में उन्नत नहीं हुई थी।

मिथ्या विश्वासों की उत्पत्ति

इस बाल्यावस्था में मैं पृथिवी के अन्य करोड़ों बालक-बलिकाओं की न्याईं ऐसा दिमाग़ रखता था, कि जो निम्न-बोध-प्राप्त थोड़ी सी बातों के भिन्न अन्य सब प्रकार की ऐसी बातों के ग्रहण करने के लिए तैयार था, जिन पर उसके चौतरफ़ा जनों का **विश्वास** हो और जिनका वह उसके सन्मुख वर्णन वा दृष्टान्त प्रदर्शन करते हों। सात वर्ष की उमर में मैं अपनी बस्ती के सरकारी स्कूल में दाख़िल किया गया। वहां पर आठ नौ साल तक रहकर यद्यपि मैंने बहुत सी गणितविद्या सीखी, भूगोल और इतिहास की बहुत सी बातें याद कीं, और इन सब से मेरा ज्ञान कुछ अवश्य उन्नत हुआ और मेरी समझ की शक्ति भी कुछ अवश्य बढ़ी, परन्तु समझ की यह शक्ति इतनी उन्नत नहीं हुई, कि जो मुझे विचार वा आलोचना के योग्य बनाकर मेरे किसी मिथ्या विश्वास के सम्बन्ध में कोई सन्देह उत्पन्न कर सकती। सोलह वर्ष की उमर तक मेरा यही हाल रहा। मेरी बस्ती में पहले तो लिखे पढ़े आदमी हि बहुत न थे, और जो कुछ थे, वह सब ऐसे हि थे, कि जो नाना प्रकार के मिथ्या विश्वासों में ग्रस्त थे। मेरी बस्ती में उस समय कोई सभा वा सोसायटी ऐसी न थी, कि जिसमें कुछ लोग इकट्ठे होकर किसी हितकर विषय में कोई विचार वा आलोचना करते हों; और न ऐसा करने की उनमें कोई योग्यता हि वर्तमान थी। अपनी बस्ती के सैकड़ों और अन्य लाखों हिन्दू जनों की तरह मैं भी इस काल में नाना **कल्पित देवी देवतों** पर विश्वास करता था; और इन्हीं में से एक को मैं विष्णु वा ईश्वर वा भगवान्, और राम और कृष्ण आदि मनुष्यों को विष्णु वा ईश्वर का अवतार

मानता था। रामायण और प्रेमसागर की कथाओं के अनुसार मैं यह विश्वास करता था, कि राम और कृष्ण बड़ी सामर्थ्य रखते थे; वह ऐसी अलौकिक क्रियाएं करते और कर सकते थे, कि जिन्हें कोई मनुष्य नहीं कर सकता। पुच्छधारी हनुमान् नामक बन्दर राम के भक्त थे, वह लंका को जाते हुए समुद्र फलांग गए थे। वह बन्दर होकर भी सीता से मनुष्य की भाषा में बातचीत करते थे। एक ऋषि के शाप से एक स्त्री शिला (पत्थर) बन गई थी, और वह रामचन्द्र के पद-स्पर्श से फिर नारी बन गई। लंका के राजा रावण के दश सिर थे और इसी लिए उसका "दशानन" नाम था। उपवास आदि तप और बलि आदि के करने से देवते प्रसन्न होते हैं, और तरह २ के "वर" देते हैं। राक्षसों में यह सामर्थ्य थी कि वह क्षण भर में मनुष्य और क्षण भर में एक वा दूसरे प्रकार का पशु रूप धारण कर लेते थे। रावण का भाई कुम्भकरण सैकड़ों गज़ के डील डौल का राक्षस था; वह एक वर्ष में छै महीने तक सोता और छै महीने तक जागता था। राक्षस और हनुमान् आदि आकाश में उड़ सकते थे। लक्ष्मण की दवाई के लिए हनुमान् जी उस पर्व्वत को हि उठा लाए थे, जिस पर उस दवा की बूटी थी। कृष्ण ने एक वार अपनी अंगुली पर गोवर्द्धन पर्व्वत को उठा लिया था। उनके पिता वसुदेव, जब उन्हें कंस के हाथ से मृत्यु से बचाने के लिए रात के समय मथुरा से गोकुल को लिए जा रहे थे, तब रास्ते में यमुना नदी पहले तो उनके पद चूमने के लिए ऊंची होती गई और फिर झट नीचे होगई। ब्राह्मणों में शाप देने की क्षमता थी—इस शाप से वह जिस को चाहते थे, सब प्रकार की हानि पहुंचा सकते थे। मरने के बाद यमराज के पास हर एक मनुष्य के पाप और पुण्य का हिसाब होता है। गंगा आदि नदियों के स्नान और तीर्थ स्थानों में देवताओं की मूर्तियों के दर्शन से पाप क्षय होते हैं; अर्थात् उनके लिए दंड नहीं मिलता। किसी मन्त्रादि के जप, वा स्तोत्रादि के पाठ से कई काम सिद्ध हो जाते हैं। ब्राह्मण लोग पहले जिस पशु को मारकर खा जाते थे, उसकी हड्डियां इकट्ठी करके और मन्त्र पढ़कर उसे ज़िन्दा कर देते थे। राम नाम के

जप से भगवान् प्रसन्न होते हैं; मृत्यु के समय यदि भूल कर भी किसी के मुंह से राम का शव्द निकल जाए, तो वह महा पापी होकर भी वैकुंठ को जाता है। अपने वंश के भिन्न किसी मनुष्य के हाथ की वनी हुई पूरी वा रोटी आदि खाने से धर्म्म चला जाता है। मैं यह और इसी प्रकार के और कितने हि मिथ्या विश्वास रखता था। प्रायः सोलह वर्ष की उमर तक मेरे इस प्रकार के विश्वास वढ़ते रहे। इस काल तक मेरे आत्मा की मानसिक और अन्य शक्तियां की जो अवस्था थी, और मैं जिस प्रकार के **सम्बन्धियों और सामानों से घिरा हुआ था,** उनमें रह कर विश्व के नियम के अनुसार मुझ में ऐसे २ मिथ्या विश्वासों का उत्पन्न और उन्नत होना **लाज़मी** था।

विचार और आलोचना शक्ति का विकास

प्रायः सोलह वर्ष की उमर में मैं रुड़की कालेज में दाख़िल हुआ। यह अति आश्चर्य्य घटना थी। मुझ से पहले और मेरे वाद आज तक (प्रायः चालीस वर्ष में) और कोई जन मेरी बस्ती से इस कालेज में दाख़िल नहीं हुआ। रुड़की जाने से मेरी वस्ती के पहले कुल आवृत्त-कारी सम्वन्धी मुझ से छूट गए, और मैं अपेक्षाकृत एक नई दुनिया में पहुंच गया। यहां पर मेरे साथ के विद्यार्थियों में से प्रायः सव हिन्दू विद्यार्थी ऐसे थे, कि जो किसी कहलाने वाले एक वा दूसरे व्राह्मण रसोइए के हाथ का बना हुआ भोजन खाते थे, परन्तु मैं अपने विश्वास के अनुसार अपने वंश वाले मनुष्यों के भिन्न, किसी और के, यहां तक कि ब्राह्मण कहलाने वाले के हाथ की भी पकी हुई चीज़ का खाना धर्म्म के विरुद्ध समझता था, और इसी लिए चौके में अपने हाथ से हि अपना भोजन बनाता था, और ऐसा करने में कई बार वहुत कष्ट पाता था, और अपना वहुत सा समय नष्ट करता था कि जिससे मेरी शिक्षा के काम को हानि पहुंचती थी। इधर कोई नौ महीने तक मैं अपना खाना आप पकाता रहा, उधर अपने साथियों को "ब्राह्मण" रसोइए के हाथ

का पका हुआ खाना खाते भी देखता रहा; इस लगातार दृश्य ने मेरी विचार शक्ति को उगसाना शुरू किया, और मुझे सोचने से मालूम हुआ, कि जैसे इन रसोइयों के हाथ का खाना खाने से मेरे साथी विद्यार्थियों का कोई धर्म्म नहीं बिगड़ता, और वह खुद भी अपने आप को धर्म्म से भ्रष्ट नहीं समझते, वैसे हि किसी ऐसे रसोइए के हाथ का भोजन खाने से केवल यही नहीं, कि मेरी कोई हानि नहीं हो सकती, किन्तु ऐसा न करने से मेरे शिक्षा संबंधी काम की जो हानि होती है, वह दूर हो सकती है। विचार-शक्ति के थोड़े से परिचालन से मैंने इस सिद्धान्त पर पहुंचकर यह इरादा किया, कि इस प्रथम सेशन के बन्द होने पर जब मैं घर जाऊंगा, तब पहले अपने पिता से अपनी "पढ़ाई" के हर्ज का ज़िकर करके यह निवेदन करूंगा, कि वह मेरे किसी सम्बन्धी रसोइए का बन्दोबस्त कर दें, और यदि वह ऐसा न कर सकें, और मुझे अपना कोई रिश्तेदार रसोइया न मिला, तो मैं अपने साथी लड़कों की हि किसी रसोई में शामिल हो जाऊंगा। यद्यपि सुयोग से मुझे एक रिश्तेदार ऐसा मिल गया, जो दूसरे साल के "सेशन" में मेरा खाना बनाता रहा, परन्तु मेरी विवेचना शक्ति ने मेरे भीतर से खान पान के सम्बन्ध में कुसंस्कारमूलक मेरे मिथ्या विश्वास को नष्ट कर दिया। विश्वास के सम्बन्ध में यह मेरा पहला परिवर्तन था।

दूसरे साल के सेशन में और भी अधिक परिवर्तन लाने वाली घटनाएं पैदा हुईं। यह वही विशेष वर्ष था, कि जिसमें मुझे अपने भावी: गुरु के साथ परिचित होने का संयोग मिला था। यह भी अति आश्चर्य्य-घटना थी। इस घटना का वर्णन मैं अपने गुरु के जीवन-चरित में कर चुका हूं। इस साल एक विशेष दिन में हम दोनों एक जलसे में शामिल थे, जहां पर वह अपनी सात्विक प्रकृति के द्वारा मेरे प्रति आकृष्ट हुए। इसी दिन से हमारे परस्पर के परिचय और धीरे २ निकट होने का सूत्रपात आरम्भ हुआ। इस परिचय के थोड़े दिनों के बाद हि उन्होंने मुझे मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी की उर्दू में तरजुमा की हुई गीता की पुस्तक पढ़ने के लिए दी। इस में उन्होंने जगह २ अपने जो फुट-

नोट लगाए हुए थे, वह बहुत दिलचस्प थे। इस पुस्तक के पाठ से जहां एक ओर मेरे हृदय में श्री कृष्ण के प्रति बहुत आकर्षण और उनके रूप में विष्णु वा ईश्वर के अवतीर्ण होने का पहला विश्वास बहुत दृढ़ और वेदान्त मत की ओर हृदय का बहुत झुकाव हो गया, वहां उपरोक्त नोटों से कई एक पहले **कुसंस्कार** दूर हो गए। ब्राह्मणों की बहुत सी झूठी महानता आंखों से गिर गई। छूतछात सम्बन्धी कुसंस्कार और भी नष्ट हो गया। धर्म्म और सामाजिक विषयों पर विचार और आलोचना करने की शक्ति कुछ और भी जाग्रत हुई, और मैं कई छोटे-छोटे विषयों के संबंध में कई और जनों के साथ बहस वा वाद-विवाद करने के योग्य बन गया, और इस साल मेरी **विचार शक्ति** कुछ और भी उन्नत हो गई।

कालेज से पास होकर आठ नौ महीने के लगभग मैं आगरे की नहर पर नौकर रहा; फिर रुड़की कालेज में ही उस्ताद नियत हो गया। यहां पर अपने भावी गुरु की प्राय: दो वर्ष की संगत से उनके अच्छे जीवन के प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ती गई; और उससे मेरे सच्चरित्र को बहुत पुष्टता मिली। उनके वेदान्त मत का मुझ पर कुछ और अधिकार हो गया। गीता और योगवाशिष्ठ के पाठ ने इस मत के पुष्ट करने में विशेष सहाय की। मेरी संगत से मेरी पत्नी में भी यह कुल तबदीली आगई। ९ जुलाई, सन् १८७१ ई० को हम दोनों ने उनसे विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की। और हम दोनों हि उनके शिष्य बन गए। इसी साल मैंने निज के प्रबन्ध से अंगरेज़ी भाषा में उन्नति करके ओवरसियर का इम्तहान पास किया, और इसी साल के आख़िरी दिनों में रेल के काम पर ओवरसियर हो गया। नौ दस महीने के लगभग मैं इस काम पर रहने के बाद, फिर रुड़की कालेज में हि सर्वेइंग-मास्टर नियत हो गया। रुड़की पहुंचने पर मैंने अपने परम श्रद्धेय गुरु को बुख़ार से बीमार पाया। उनकी बीमारी बढ़ती गई। कुछ दिनों में उन पर फ़ालेज का हमला हुआ, और थोड़े दिनों में उनका देहान्त हो गया। इस काल में ज्ञान और विचार विषयक मेरी कुछ अधिक उन्नति नहीं हुई, क्योंकि उनकी उन्नति के लिए वहां पर कोई सामान न था।

पांचवां परिच्छेद

सत्य विषयक नाना अनुरागों का विकाश
सत्य अनुराग के पहले अंग का विकाश

सत्य भाषण अनुराग

प्राय: साढ़े बीस साल की उमर में मैं अपनी पत्नी सहित शिष्य बना था। हम दोनों की अपने गुरु पर बहुत बड़ी श्रद्धा थी। उनकी शिक्षा पर बहुत गाढ़ आस्था थी। उनका प्रत्येक वचन हमें बहुत प्यारा लगता था, और उनकी प्रत्येक आज्ञा हमें पालनीय और सुखकर प्रतीत होती थी। ऐसी अवस्था में दीक्षा देने से कुछ दिन पहले उन्होंने अपने एक पत्र के द्वारा हमें जो कई एक उपदेश दिए थे, उनमें से एक यह भी था :—

"झूठ कभी न बोलना, चाहे उससे कैसी हि तकलीफ़ और कैसा हि नुक़सान नज़र आवे।" (चौथा उपदेश)

इधर हमारी सात्विक भूमि इस उपदेश को ग्रहण करने के लिए भली भान्त तैयार थी; उधर वह ख़ुद सत्यवादी थे, और उनके हृदय में झूठ बोलने के लिए घृणा वर्तमान थी; इसीलिए उनके यह शब्द जीवन्त रूप रखते थे। उन्होंने हमारे हृदयों में अपने जीवन्त प्रभाव को पहुंचा कर उनमें सत्य कथन के प्रति आकर्षण और मिथ्या कथन के प्रति विकर्षण उत्पन्न कर दिया। यह सत्य और असत्य भाषण विषयक प्रथम प्रकार का बोध था, जो मुझ में और मेरी पत्नी में उस समय जाग्रत हुआ था। यह बड़ा अमूल्य बोध था। देवकोष सम्बन्धी विकाश के लिए सत्य विषयक जिन नाना अनुराग और असत्य विषयक जिन नाना विराग शक्तियों के लाभ करने का नेचर ने मुझे अधिकारी बनाया था, उनका इस बोध के साथ सूत्रपात आरम्भ हुआ। "तकलीफ़" और

"नुक़सान" किसी आदमी को पसन्द नहीं, फिर मेरे गुरु ने हमें यह क्या शिक्षा दी, कि "झूठ कभी न वोलना, चाहे उससे कैसी हि तकलीफ़ और कैसा हि नुक़सान नज़र आवे।" आत्मा के हिताकांक्षी होकर वह उस समय इतना वोध रखते थे कि किसी दुनयवी तकलीफ़ और नुक़सान से बचने के लिए जो लोग झूठ वोलते हैं, वह अपने आत्मा की अवश्य हानि करते हैं। इसलिए आत्मा के हिताकांक्षी के लिए झूठ बोलना उचित नहीं, चाहे ऐसा करने से उसे कोई दुःख व हानि भी पहुंचे। हम दोनों आत्मिक हित चाहते थे, इसलिए हम दोनों के हृदय में उनके इस उपदेश ने जगह कर ली, और असत्य भाषण के लिए घृणा उत्पन्न होगई। इस बोध के उत्पन्न होने पर हम दोनों का सत्य वोलने का अभ्यास शुरू हो गया, और दिनों दिन बढ़ने लगा। हमारे पूजनीय गुरु कभी २ तुलसी-दास जी का यह वचन भी हमें सुनाया करते थे :—

"सत्य बचन आधीनता, परतिय मात समान,
इतने में हरि ना मिलें, तो तुलसीदास ज़मान।"

रुड़की में रहकर हम इस आंशिक सत्य अनुराग से और आगे न वढ़ सके। रुड़की छोड़कर जब मैं भावलपुर की तरफ़ कुछ अरसे ओवरसियर रहा, तब भी और उसके वाद जब मैं फिर रुड़की में वापिस आकर सर्वेइंग मास्टर रहा, उस काल में भी, इससे अधिक इस सम्वन्ध में और कोई उन्नति न हुई।

सत्य अनुराग के दूसरे अंग का विकाश

सत्य विषयक स्पष्ट कथन अनुराग

सत्य अनुराग के उपरोक्त अंग के साथ २ मुझ में एक अंग और भी विकशित हुआ। यह सरल और स्पष्ट कथन विषयक अनुराग था। स्पष्ट कथन क्या ? साफ़गोई अर्थात् जो कुछ कहना आवश्यक हो, वह साफ़ २ कहना, लाग लपेट, वा हेर फेर रख कर न कहना। सत्य को **सरल रूप** में प्रकाश करना; और कुटिल और कपट रूप में न करना। एक ओर इस भाव के विद्यमान न होने से, और दूसरी ओर अन्य वासनाओं

आदि नाना शक्तियों का अधिकार होने से नाना देशों के नाना मनुष्यों में इसके विरुद्ध आचरण जारी है। इस अंग से ख़ाली रहकर, साधारण मनुष्यों के भिन्न, नाना सम्प्रदायों के स्थापकों ने भी कई प्रकार की मिथ्या से काम लिया है। अनेक समयों में जब किसी जन में ज्ञान विषयक कोई ऐसा परिवर्तन आया है, कि जिससे उसका धर्म्म मत उस के इर्द गिर्द के लाखों मनुष्यों की अपेक्षा भिन्न हो गया है, तब उसने अपने इस मत के प्रकाश वा प्रचार के समय असरलता वा **कपटता** का आश्रय लिया है; अर्थात् अपने ऐसे मत को उसने या तो औरों के सम्मुख ऐसे रूप में प्रकट किया है, कि जिसमें एक ओर सुनने वाले उसे असल रूप में न देख सकें, और दूसरी ओर उसकी बात भी प्रकट रूप में मिथ्या न मालूम हो; इसीलिए अनेक अवस्थाओं में सुनने वाले जिस किसी पुस्तक वा पुरुष के सम्बन्ध में कोई गाढ़ श्रद्धा वा विश्वास रखते थे, उसी पुरुष वा पुस्तक के विविध वचनों के अभिप्राय अथवा अर्थों को जानबूझकर उलट पुलट करके उन्हें अपने मत के अनुकूल प्रकट किया गया है। इस पृथिवी के नाना देशों में नाना धर्म्म मतों के प्रवर्तकों और सुधारक जनों ने इस **कुटिल वा कपट विधि** से जैसे पहले काम लिया है, वैसे हि कितने जन अब भी लेते हैं। नाना धर्म्म पुस्तकों के नाना प्रकार के परस्पर विरोधी प्रचलित भाष्य उनकी इस चाल का प्रमाण हैं। हमारे देश के पण्डितों में विशेष कर यह बात बड़े गौरव की समझी जाती रही है, कि किसी वाक्य के नाना प्रकार से नाना अर्थ करके अपनी विद्वत्ता दिखाई जाए। सितम्बर सन् १९०६ की सरस्वती नामक मासिक पुस्तक में महामहोपाध्याय पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न सी० आई०ई० का जो जीवन-चरित छपा है, उसमें उसके लेखक ने उनके पांडित्य के विषय में जो अल्प पंक्तियां लिखी हैं, उनका यहां पर पढ़ना दिलचस्पी से ख़ाली न होगा। उनकी वह पंक्तियां यह हैं :—

"एक वार इनकी संकलित एन्ट्रेन्स परीक्षा की संस्कृत सिलेक्शन्स की पुस्तक में कुछ भूलें होगई थीं। बहुतों ने इस पर आपत्ति उठाई। न्यायरत्न ने "प्रकृत कथा" नाम की छोटीसी पुस्तक लिखी, जिसमें

उन्होंने उन सब अशुद्धियों को शुद्ध सिद्ध कर दिया।"

"इस प्रकार की परिपाटी भारतवर्ष में प्राचीन काल से चली आती है। अथवा यों कहिए, कि भारत भूमि में हि यह विशेष गुण है, कि यहां के पण्डित लोग अपने पांडित्य-गौरव की रक्षा के लिए **अशुद्धियों को शुद्ध कर दिखाने में अपनी विद्वत्ता दिखाते आए हैं।** संस्कृत के "सारस्वत व्याकरण" आदि ग्रन्थों का निर्म्माण इस विषय का जागरूक प्रमाण है। न्यायरत्न भी उसी गौरव-प्रिय भारत की सन्तान थे। इससे यदि उन्होंने ऐसा किया, तो कुछ बुरा न किया।"

इस सत्य-अनुराग के न होने से धर्म्म मतों के प्रचार में मिथ्या भाष्यों की रचना के भिन्न नाना प्रकार की मिथ्या करामातों, पुण्य और पाप विषयक नाना प्रकार की मिथ्या कहानियों और अन्य नाना प्रकार की मिथ्या बातों की रचना से काम लिया गया है। पुराने सम्प्रदायों की धर्म्मपुस्तकों में इस मिथ्यापन की इतनी भरमार है, कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। राज्य-कर्म्मों में कुटिल नीति का अवलम्बन तो प्रत्येक देश में हि आवश्यक और उचित समझा गया है। परन्तु सारी पृथिवी के वैज्ञानिक जनों की छोटी सी श्रेणी में भी ऐसे लोग अधिकांश रूप से मिलते हैं, कि जो अपनी एक वा दूसरी "थिउरी" अथवा अपने एक वा दूसरे धर्म्म मत की पोषकता के लिए बहुत **कुटिल** रीति से विज्ञान को सहायक बनाने की चेष्टा करते हैं।

सत्य-अनुराग के उपरोक्त विविध अङ्गों के विकशित होने से जैसे एक ओर मुझे अपने इर्द गिर्द के उन लोगों से मिलने और और बात-चीत करने में बहुत टकराहट और अशान्ति उत्पन्न होने लगी कि जो उससे खाली थे, वैसे हि दूसरी ओर ऐसी सब धर्म्म पुस्तकों का पाठ भी बहुत कठिन और क्लेशदायक हो गया, कि जो मिथ्या गप्पों से भरी हुई हैं। मैं कई वार चाहकर भी ऐसी कई पुस्तकों को शुरू से अख़ीर तक नहीं पढ़ सका।

सत्य अनुराग के तीसरे अङ्ग का विकाश

सत्य ज्ञान उपार्जन अनुराग

मुझ में सत्य-अनुराग विषयक जिस तीसरे अङ्ग का विकाश हुआ वह **सत्य-ज्ञान उपार्जन अनुराग** था। प्रायः तेईस वर्ष की वयस में अर्थात् १८७३ के अख़ीर में मैं लाहौर में आया। रुड़की में मेरे एक मित्र थे, जिनके एक जन कभी सहपाठी रहे थे, और वह लाहौर में रहते थे। उन्होंने (मेरे मित्र ने) अपने लाहौर वाले सहपाठी से मिलने के लिए मुझे कहा। शायद उनके नाम एक परिचयकारी पत्र भी मुझे दिया। लाहौर पहुंचकर मैं उनसे मिला। उनका नाम (बाबू) नवीनचन्द्र राय था। वह लाहौर की ब्राह्म समाज के नेता समझे जाते थे और बहुत प्रतिष्ठित, धर्म्म अभिलाषी और भले पुरुष थे। उन से मिलने पर स्वभावतः मेरा हृदय उनके प्रति, और उनका हृदय मेरे प्रति आकर्षित हुआ। उनके घर पर कितने हि जन समय २ पर धर्म्म और सामाजिक विषयों पर चर्चा किया करते थे, और एक साप्ताहिक क्लब की सभाएं भी होती थीं। मैं बाबू साहब से मिलने और उन के क्लब की सभाओं में शामिल होने लगा। यहां पर मुझे पहले पहल वह अवसर प्राप्त हुआ कि जिस की मेरी आंतरिक प्रकृति अपेक्षा करती थी, और जहां नेचर के इन्तज़ाम ने मुझे पहुंचा दिया था। यहां पर ऐसी संगत, और कुछ उपरोक्त क्लब की सभाओं, और कुछ कभी २ "रंग महल" में जो लेक्चर होते थे उनके सुनने से थोड़े हि दिनों में मुझ में,

(१) सत्य-ज्ञान प्राप्ति विषयक बहुत स्पृहा जाग्रत होगई; और

(२) धर्म्म, आचार, समाज और राजनीति विषयों का अध्ययन और उन पर विचार और आलोचना करना मुझे बहुत प्रिय हो गया।

मैंने इस अनुराग के जाग्रत होने पर,

(१) एक पण्डित को नौकर रख कर उन से अपने घर पर कुछ देर तक प्रतिदिन संस्कृत पढ़नी आरम्भ की।

(२) अंगरेज़ी ज़बान में अधिक योग्यता लाभ करने के निमित्त

एक सुयोग्य विद्वान् से अंगरेज़ी पढ़नी शुरू की ।

(३) हिन्दी, उर्दू और अंगरेज़ी में जो २ अख़वार उस समय आसानी से हाथ आ जाते, वह पढ़ने शुरू किए ।

(४) प्रायः किसी और की सहायता के विना वंगला भाषा सीखनी आरम्भ की ।

मैं उस समय अपने स्कूल के जिस कमरे में लड़कों को पढ़ाता और नकशे (ड्राइंग) का काम सिखाता था, उसी में स्कूल की एक अत्यन्त छोटी लाईब्रेरी थी । जहां तक मुझे याद पड़ता है, केवल एक अलमारी में हि उस की सव किताबें वन्द थीं । मैं इसमें से भी कोई २ किताव पढ़ा करता था । इस तुच्छ पुस्तकालय की जिस महत् विषय वाली अंग्रेज़ी पुस्तक ने मेरे हृदय को उस समय वहुत आर्कपित किया, और जिसका उस समय मुझ पर बहुत असर हुआ, वह वकल की "हिस्टरी आफ़ सिवीलीज़ेशन आफ़ इंगलैंड" थी । फ़िलासफ़ी में मुझे एक विद्वान् मित्र से पहले पहल जो पुस्तक हाथ आई वह काम्ब की "मारल फ़िलासफ़ी" थी । यह पुस्तक मुझे उस समय अत्यन्त प्रिय मालूम हुई, और उसने मुझ पर वहुत उच्च प्रभाव डाले । ब्राह्मसमाज की पुस्तकों और उनके अख़बारों का पाठ खासकर मुझे बहुत प्रिय था, मैंने बंगला ज़वान हि पहले इसी मतलब के लिए सीखी थी, कि मैं इस समाज की अंग्रेज़ी पुस्तकों के भिन्न बंगला की पुस्तकें भी (जो अंग्रेज़ी पुस्तकों की अपेक्षा वहुत अधिक थीं) पढ़ सकूं । बंगला पुस्तकों में से जिन पुस्तकों ने उस समय मेरे हृदय को बहुत आर्कषित, और मुझ पर वहुत उच्च प्रभाव डाले, वह यह थीं :—

(१) धर्म्म विज्ञान, (२) श्लोक संग्रह, (३) हिन्दु धर्म्म नीति, (४) ब्राह्मधर्म्म, (५) जगतेर बाल्य इतिहास, (एक अंग्रेज़ी किताब का तरजुमा, जिसका नाम "चाइल्डहुड आफ़ दी वर्ल्ड" था) । मुझे यह पिछली पुस्तक विशेषकर प्यारी लगी थी ।

यह ज्ञान-स्पृहा मेरी दिनों दिन वढ़ती गई । शारीरिक भूख और प्यास की तरह यह भी प्रति दिन की भूख और प्यास बन गई, जिसकी

दैनिक तृप्ति चाहना मेरे लिए आवश्यक हो गया।

सत्य अनुराग के चौथे अंग का विकाश

सत्य-ग्रहण अनुराग

जब मैं लाहौर में आया, तव मैं वेदान्त मत के भिन्न और कितने हि भ्रान्त मतों का विश्वासी था। यहां पहुंच कर सत्यज्ञान विषयक प्रबल स्पृहा के जागने, और विचार और आलोचना शक्ति के उन्नत होने के साथ २ मुझ में सत्य-अनुराग विषयक जिस चौथे अंग का विकाश हुआ, वह सत्य ग्रहण अनुराग था। इस अनुराग के उत्पन्न होने से मेरे भीतर यह आकांक्षा उठने लगी, कि केवल यही नहीं, कि जो कुछ मेरा विश्वास हो, अथवा जो कुछ मुझे मालूम हो, मैं यथा-वश्यक उसे ठीक २ औरों के सन्मुख वर्णन करूं, और इस प्रकार सत्य कहने से मुझे यदि किसी प्रकार की कोई हानि पहुंचती हो, और कोई दुःख मिलता हो, तो उसे सहन करूं, किन्तु अव तक जो कुछ मैं औरों की शिक्षा वा उनसे संस्कार-प्राप्त होकर ठीक मानता वा विश्वास करता हूं, उस पर भी विचार वा आलोचना करूं, और उसमें जो कुछ सत्य हो, उसे जानूं और मानूं, और जो कुछ असत्य हो, उसे सत्य जान कर कभी विश्वास न करूं और न सत्य कह कर उसे किसी और को सिखाऊं।

इस आकांक्षा के अनुसार मैं सरल भाव से इस प्रकार की प्रार्थना किया करता था, कि जो कुछ सत्य हो, उसके पहचानने की मुझ में योग्यता उत्पन्न हो, मैं उसे जानूं और ग्रहण करूं; और जो कुछ असत्य हो, उसे भी देखूं और पहचानूं, और उसे त्याग करूं—मेरा प्रत्येक विश्वास सत्य-मूलक हो, असत्य-मूलक न हो।

सत्यज्ञान की प्राप्ति के सम्बन्ध में मेरी योग्यता दिनों दिन बढ़ने लगी। थोड़े काल में हि मेरे विश्वास में बहुत सा परिवर्तन आगया; अर्थात् मुझे मालूम हुआ कि

(१) मैं जिन देवतां पर विश्वास करता था, वह कल्पित और

मिथ्या हैं।

(२) जिसे इस विश्व का स्रष्टा और अनन्त ज्ञान और मङ्गल शक्तियों का भण्डार बताया जाता है, वही एक और अद्वितीय पुरुष अर्थात् "ब्रह्म" पूजनीय है।

(३) मैं ब्रह्म नहीं हूं, अन्य कोई मनुष्य वा पशु वा वृक्ष वा भौतिक पदार्थ भी ब्रह्म नहीं है।

(४) ब्रह्म वा ईश्वर कभी कोई मनुष्य वा पशु नहीं बना। ईश्वर-अवतार विषयक विश्वास मिथ्या है।

(५) ईश्वर किसी मनुष्य राजा वा मनुष्य न्यायकर्ता की तरह किसी खास दिन कोई दरबार वा कचहरी नहीं करता। क़यामत आदि के दिन ईश्वर के दरबार में फैसलों के होने का विश्वास मिथ्या है।

(६) ईश्वर किसी की सिफ़ारिश पर नहीं चलता। वह किसी से प्रतिशोध नहीं लेता। उसके सम्बन्ध में किसी पैग़म्बर की शफ़ाअत का विश्वास मिथ्या है।

(७) "नेचर" के भिन्न ईश्वर की रची हुई कोई पुस्तक नहीं है। पुस्तकें सब मनुष्यों की रची हुई हैं।

(८) वेदान्तमत असत्य और भ्रान्ति-मूलक है।

(९) किसी नदी वा अन्य जलाशय में स्नान करने वा उसका पानी पीने से किसी की पापों से मुक्ति नहीं होती और नहीं हो सकती।

(१०) किसी "तीर्थस्थान" में जाने, वहां की किसी मूर्ति के दर्शन करने, अथवा वहां पर वास करने से किसी की पापों से मुक्ति नहीं होती, और नहीं हो सकती।

(११) पाप और पुण्य कर्म्मों का फल अवश्य है, परन्तु इन फलों की प्राप्ति के लिए हिन्दुओं में जिस "पुनर्जन्म" का विश्वास प्रचलित है, वह सर्वथा मिथ्या है।

(१२) हिन्दुओं में खान पान, विवाह और व्यवसाय के सम्बन्ध में जो बहुत से मिथ्या भेद प्रचलित हैं वह बहुत हानिकारक हैं।

(१३) बाल्य विवाह का रिवाज बहुत हानिकारक है।

(१४) सब अवस्थाओं में जैसे भार्य्या-हीन पुरुष का पुनर्विवाह अनुचित नहीं, वैसे हि भर्ताहीन अथवा विधवा का भी अनुचित नहीं; किन्तु कितनी हि अवस्थाओं में दोनों के लिए हि उचित है।

(१५) धर्म्म और विद्या के उपार्जन में स्त्री और पुरुष दोनों समान अधिकार रखते हैं।

(१६) पारिवारिक और सामाजिक बहुत से प्रचलित अनुष्ठान और कितनी हि प्रचलित रीतियां बहुत कुछ असत्यमूलक और हानिकारक हैं। इत्यादि।

इस समय तक और इसके अनन्तर और कितने हि वर्षों तक ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में मैंने बाल्यकाल से जो विश्वास प्राप्त किया था, उसमें केवल यही नहीं कि कोई सन्देह उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु वह अपने चौतरफ़ा सामानों से दिनों दिन पुष्टि लाभ करके और भी बहुत मज़बूत होता गया।

सत्य अनुराग के पांचवें अंग का विकाश

सत्य-प्रतिज्ञा-पालन अनुराग

मेरे हृदय में सत्य-अनुराग विषयक जिस पांचवें अंग का विकाश हुआ, वह **सत्य-प्रतिज्ञा-पालन अनुराग** था। इस अनुराग के विकशित होने से मेरे लिए यह आवश्यक हो गया कि मैं अपने विविध सम्बन्धों में जिस २ जन से प्रति दिन जो २ प्रतिज्ञा वा अंगीकार करूं, उन में से प्रत्येक का उस समय तक, जब तक कि वह मुझ पर भ्रान्ति-मूलक अथवा अनुचित प्रमाणित न हो, अपनी सब वासनाओं और रुचियों आदि से ऊपर रहकर पालन करूं। इसके भिन्न जिस २ जन से जो २ बात जिस **नियत समय** में पूर्ण करने की आप प्रतिज्ञा करूं, अथवा किसी प्रतिज्ञा के बिना भी जहां कहीं किसी **नियत समय** में मेरे लिए किसी बात का पूरा करना आवश्यक समझा गया हो, उसे केवल यही नहीं, कि मैं पूरा करूं, किन्तु **ठीक समय** में पूरा करूं।

यथाः—राम से मैंने यदि यह प्रतिज्ञा की, कि मैं उससे अमुक दिन

तीन बजे दो पहर के बाद मिलूंगा, अथवा श्याम ने मुझे किसी ऐसी सभा में शामिल होने के लिए नोटिस दिया, कि जिसमें मेरा शामिल होना उचित और आवश्यक है, और उस का समय शाम के सात बजे रक्खा; तो मैं केवल यही नहीं कि किसी बहुत बड़ी विघ्नकारी घटना के भिन्न राम से अवश्य मिलूंगा, और श्याम की सभा में अवश्य शामिल हूंगा, किन्तु **समय से कुछ पहले** ऐसा करने के लिए तैयार रहूंगा। यह दोनों भाव विकशित होकर मुझ में पूर्ण रूप से काम करते रहे हैं। मैं अपनी प्रत्येक उचित प्रतिज्ञा के लिए सच्चा रहा हूं। क्या पारिवारिक जनों, क्या सामाजिक जनों, और क्या किसी अन्य मनुष्य से मैंने अपने दैनिक आचरण में जिस २ विषय में जिस २ बात वा कार्य्य के लिए **कोई प्रतिज्ञा** की है, उसे इस अनुराग के प्रवल होने के कारण केवल यही नहीं कि पूरा किया है, किन्तु **ठीक समय** में और उचित रूप से पूरा किया है। मुझे यदि किसी से तीन बजे मिलना था अथवा किसी सभा में सात बजे शामिल होना था, अथवा किसी को किसी नियत समय में धनादि कोई वस्तु देनी थी, अथवा किसी को उसके पत्र का उत्तर देना था, अथवा उसके लिए किसी प्रकार का कोई और काम पूरा करना था, तो मेरे निकट तीन बजे के मानी तीन हि बजे, और सात बजे के मानी सात हि बजे और मंगल वा बुधवार के मानी मंगल वा बुधवार हि रहे हैं––मैंने कभी तीन को सवा तीन, साढ़े तीन वा चार के बराबर और मंगल को बुध वा कोई और दिन नहीं समझा। मेरे हज़ारों स्वदेशी जन जिसको "नेटिव टाइम" कहते हैं, और चार बजे के मानी सवा चार, साढ़े चार वा पांच आदि समझते हैं, उनकी यह गणितविद्या कभी मेरी समझ में नहीं आई। मैंने किसी बात की जिस समय वा जिस दिन पूरा कर देने की प्रतिज्ञा की है, उसे उसी समय वा उसी दिन पूरा कर देने के लिए चेष्टा की है। किसी आलस्य, सुख वा अन्य प्रलोभन, वा काम काज, वा वासना वा रुचि ने मुझ पर आधिपत्य लाभ करके मुझे इस पथ से भ्रष्ट नहीं किया।

औरों के साथ प्रतिज्ञा-बद्ध होकर उसे पूर्ण करने के भिन्न मैं अपनी

ओर से भी जब कभी किसी काम को किसी ख़ास समय में पूरा करने को कामना करता रहा हूं, तब भी मेरी यह चेष्टा रही है कि मैं उसे, जहां तक सम्भव हो, उसी समय में पूरा करूं।

इस अनुराग के अभाव से क्या इस देश और क्या अन्य देशों के करोड़ों मनुष्य जिस प्रकार एक दूसरे के साथ प्रतिदिन के काम काज में प्रतिज्ञा-भंग वा वादाख़िलाफ़ी करते हैं उसे कौन नहीं जानता ? दैनिक व्यवहारों में नाना प्रकार के ज़बानी इक़रारों को तोड़ने के भिन्न हज़ारों लोग जो प्रतिज्ञा पत्र वा इक़रारनामे लिखते हैं, और उन पर कई २ जनों के सन्मुख अपने २ हस्ताक्षर करते हैं, वा मोहर लगाते हैं, वह भी किसी नीचता के वशीभूत होकर अपनी प्रतिज्ञा से मुकर जाते हैं। कितने हि बड़े २ देशाधिपति और शासनकर्ता तक सन्धि पत्रों पर दस्तख़त करके उन पर आरूढ़ नहीं रहते, अथवा उनके ठीक अभिप्राय को छोड़ कर उन्हें कुछ का कुछ बताने वा बनाने की चेष्टा करते हैं। भारतवर्ष में प्रत्येक क्लास के लोगों में उनके दैनिक व्यवहारों में जिस प्रकार की वादाख़िलाफ़ी जारी है, उसका हाल किसी से छिपा हुआ नहीं है—औरों के भिन्न एक २ मज़दूर वा कारीगर तक दिल में यह पक्का इरादा करके कि वह अगले दिन अमुक के काम पर हरगिज़ न लगेगा, बड़े ज़ोर से और बार २ दुहराकर उससे यह इक़रार करता है, कि मैं कल आपके काम पर ज़रूर लग जाऊंगा और ऐसा करके उसे जान बूझ कर धोखे में रखता है। ओह ! मनुष्य में किसी उचित और आवश्यक प्रतिज्ञा वा इक़रार के प्रति भी कितनी शोक-प्रद उपेक्षा और कितना शोचनीय अनादर वर्तमान है ! !

मुझे जब कभी किसी काम के किसी विशेष समय में पूरा करने में किसी और जन वा जनों से सहाय लेने की आवश्यकता हुई है, और उस जन वा उन जनों ने अपनी किसी नीचता के कारण उसमें एक वा दूसरे प्रकार से ढील डाल कर उसके पूरा होने में विघ्न डालने की कोशिश वा क्रिया की है, तब मुझे उनकी ऐसी चाल से जिस प्रकार का भयानक आघात मिला है और मुझ में अति दुःखप्रद झुंझलाहट पैदा

हुई है, और मेरे शरीर का सारा खून गरम होकर चक्कर खाने लगा है, उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता । इधर मैं अपनी प्रतिज्ञा में पूर्णतः सफल-काम होना चाहता हूं, उधर वह अपने नीच आचरण के द्वारा मुझे सत्य से भ्रष्ट करना चाहते हैं, इसीलिए स्वभावतः दोनों की गति में परस्पर विरोध उत्पन्न होने से निकटता के स्थान में परस्पर की दूरी पैदा हो जाती रही है । परन्तु मैं उन नीचों की परवाह न करके और अपने सत्य-अनुराग के बल से उन पर जय लाभ करके आखिरकार सफल-काम होता रहा हूं । मैंने सत्य-अनुराग के इस अंग से परि-चालित होकर और एक २ बार महा कठिन संग्राम में पड़कर भी जिस प्रकार अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन किया है, उसका हाल उन लोगों से छिपा हुआ नहीं, कि जिनका मुझसे पहले वास्ता पड़ा है, वा अब पड़ता है ।

सत्य अनुराग के छठे अङ्ग का विकाश

सत्य-प्रचार अनुराग

विचार, आलोचना और तर्क शक्ति की उन्नति और अध्ययन के द्वारा जब मेरे विश्वासों में नाना प्रकार का परिवर्तन आया, और सत्य की महिमा से हृदय उच्छ्‌वसित होकर उसके प्रकाश और असत्य के दमन करने के लिए प्रबल प्रेरणाएं करने लगा, तब मुझमें सत्य-अनुराग विषयक जिस छठे अंग का विकाश हुआ, वह **सत्य-प्रचार अनुराग** था । सहानुभूति और परोपकार विषयक सात्विक भाव मुझ में पहले हि जाग्रत हो चुके थे, इस लिए अपने चारों ओर लाखों जनों को नाना प्रकार के मिथ्या विश्वासों, वा मतों, और महा हानिकारक कुरीतियों में लिप्त देखकर मेरा हृदय बहुत ज़ोर से हिलने और प्रेरणा करने लगा, कि जहां तक मुझे सत्य विषयक ज्ञान मिला है, वहां तक उसका उनमें प्रचार करूं । इसी भाव से परिचालित होकर जून १८७५ ई० से मैंने दो मासिक पत्र जारी किए, जिनमें से एक उर्दू में और दूसरा हिन्दी में था । उनमें लेख लिखने के भिन्न मैंने ज़बानी उपदेशों

और लेक्चरों का सिलसिला भी शुरू किया। इसी सन् में मेरा सब से पहला लेक्चर लोहारी दरवाज़े के अन्दर "सत्सभा" के मकान में हुआ, जिस में मैंने अपने बयान की पोषकता में हिन्दू शास्त्रों के बहुत से वचन पाठ किए थे। शायद इसी साल हि मैं ब्राह्मसमाज का भी मेम्बर बना था, और उसका आचार्य्य नियत होकर मैंने ब्रह्म मन्दिर में भी उपासना और उपदेश का काम शुरू किया था। धीरे २ और स्थानों में भी मेरे उपदेश और व्याख्यान होने लगे।

मैंने पहले पहल "सत्य-महिमा-प्रदर्शक" नामक पुस्तक संकलित करके प्रकाशित की। इसमें मैंने हिन्दू धर्म्म की पुस्तकों में से ऐसे कितने हि वचन निकाल २ कर एकत्र किए, जिनका सत्य की महिमा से सम्बन्ध था। इन वचनों में से कुछ वचन इस प्रकार के थे :—

"सत्यमेव जयते नाऽनृतम्।"

—सत्य की हि जय होती है, मिथ्या की जय नहीं होती।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं, चौरेणात्मापहारिणा॥

—महाभारत। आदि०। ७४। ३०१४।

जो निज में एक प्रकार का होकर दूसरे के निकट अपने आपको अन्य रूप से प्रदर्शन करता है, उस आत्म-अपहारी चोर द्वारा कौन सा पाप नहीं हो सकता ?

नास्ति सत्यसमो धर्म्मो, न सत्याद्विद्यते परम्।
न हि तीव्रतरं किञ्चिदनृतादिह विद्यते॥

—म०। आदि०। ७४। ३०९७।

सत्य के समान और धर्म्म नहीं, एवं सत्य से प्रकृष्ट वस्तु भी और कोई नहीं। इस लोक में मिथ्या से परे तीव्र पदार्थ भी और कुछ नहीं है।

सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठान्तु, प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः।
सत्यमेव गरीयस्तु, शिष्टाचारनिषेवितः॥

—म०। वन०। २०६। १३७५७।

समुदाय प्रवृत्तियों को सत्य में हि स्थापन करके परिचालित करना कर्तव्य है, क्योंकि शिष्टाचार-सेवी जनों में एक सत्य हि श्रेष्ठ पदार्थ है।

आत्मज्ञानं परं ज्ञानम्, सत्यव्रतं परं व्रतम्।
सत्यस्य वचनं श्रेयः, सत्ये ज्ञाने हितं भवेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तं, तद्वै सत्यं परं मतम्॥

—म०। वन०। २५८। १३६८०।

आत्मज्ञान परमज्ञान, सत्यव्रत परमव्रत, सत्य वाक्य हि श्रेय, एवं सत्यज्ञान हि हितकर है। जिसमें प्राणिमात्र का अत्यन्त हित है, वह सब परम सत्य जानने के योग्य है।

सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं, सत्यं विसृजते प्रजाः।
सत्येन धार्य्यते लोकाः, स्वर्गं सत्येन गच्छति॥

—म०। शा०। १९०। ६६६८।

सत्य हि ब्रह्म, सत्य हि तपस्या, सत्य हि प्राणियों का सृजनकर्ता है, सत्य द्वारा हि सकल लोक धृत हो रहे हैं, एवं सत्य द्वारा हि मनुष्य स्वर्ग लाभ करता है।

तस्मात्सत्यव्रताचारः, सत्ययोग परायणः।
सत्यकामः समोदान्तः, सत्यनैवान्तकं जयेत्॥

—म०। शा०। १७५। ६६५५१।

अतएव सत्यव्रत आचरण करो; और सत्ययोग परायण हो; सत्य-काम, समदर्शी और जितेन्द्रिय होकर एक सत्य द्वारा हि मृत्यु को जय करो।

न हि सत्यात्परो धर्म्मो, न पापमनृतात्परम्।
तस्मात्सर्वात्मना मर्त्यः, सत्यमेकं समाश्रयेत्॥
सत्यहीना वृथा पूजा, सत्यहीनो वृथा जपः।
सत्यहीनं तपो व्यर्थमूषरे वपनं यथा॥

× × ×

सत्यमूलाः क्रियाः सर्वाः, सत्यात्परवरं न हि।

—महानिर्वाणतन्त्रम्। ४७०। ७३।

सत्य की अपेक्षा और श्रेष्ठ धर्म्म नहीं है, मिथ्या की अपेक्षा और पाप नहीं है, अतएव समुदाय हृदय सहित एक सत्य का हि आश्रय करो। सत्यहीन पूजा वृथा, सत्यहीन जप वृथा, सत्यहीन तप ऊषर भूमि में बीज बोने की न्याईं व्यर्थ है। सत्य और सत्यमूलक क्रिया की अपेक्षा श्रेष्ठ और कुछ नहीं।

सत्यमेव व्रतं यस्य, दया दीनेषु सर्वदा।
कामक्रोधौ वशौ यस्य, तेन लोक त्रयं जितम्॥

——महानि० ।८।६७।

सत्य ही जिसका व्रत है, सर्वदा दीन पर जिसकी दया, एवं काम-क्रोध जिसके वशीभूत हुए हैं, उसके द्वारा तीनों लोक जीते गए हैं।

इसके भिन्न मैंने अपने उर्दू मासिक पत्र, अर्थात् "बिरादरेहिन्द" में सत्य के विषय में अपनी ओर से जो वाक्यरचना करके "मोटो" के तौर पर लिखे थे, वह यह थे :–

"रास्ती को ढूंढ़ो, रास्ती को प्यार करो, रास्ती
की तक़लीद करो, रास्ती को अमल में लाओ।"

(जनवरी, सन् १८७६ के सरवरक़ पर)

"सिदाकत की हि फ़तह है, झूठ की नहीं। सिदाक़त को ढूंढ़ो, सिदाक़त को प्यार करो, सिदाक़त की तक़लीद करो, सिदाक़त को अमल में लाओ।"

(जुलाई, सन् १८८० के सरवरक़ पर)

"रास्ती (सत्य) को ढूंढ़ो, रास्ती को मानो, रास्ती को अमल में लाओ, आखिरकार रास्ती हि फ़तहयाब और धर्म्म की हि जय होती है।"

(जनवरी, सन् १८८२ ई० के सरवरक़ पर)

क्या लेख और क्या वाणी दोनों के द्वारा हि मैं पूर्ण उत्साह से सत्य के प्रचार में रत हो गया। यद्यपि यथेष्ट रूप से ग्राहकों के न मिलने से मुझे अपने हिन्दी पत्र को उन्नीस महीने के बाद बन्द करना पड़ा, परन्तु उर्दू पत्र सात वर्ष तक बराबर जारी रहा। फिर छै महीने के

अनन्तर मैंने "धर्म्म-जीवन" नामक मासिक पत्र निकाला कि जो धीरे २ साप्ताहिक पत्र होगया। इन पत्रों में लिखने के भिन्न कुछ काल तक मैं "रिफ़ार्मर" नामक उर्दू पत्र भी (जिसके मालिक पं० नवीनचन्द्र राय थे) सम्पादन करता रहा; और सन् १८८६ ई० के शुरू से एक साल तक "क़ौमी अख़बार" नामक साप्ताहिक पत्र का भी एडीटर रहा। "धर्म्म-जीवन" पत्र **दस** साल तक जारी रहा। फिर कुछ काल के बाद "जीवनपथ" नामक हिन्दी मासिक पत्र प्रकाशित किया गया। आठ वर्ष तक मैं उसका भी सम्पादक रहा। देवसमाज के "कांकरर" नामक अंगरेज़ी और "जीवनतत्त्व" नामक उर्दू पत्रों में भी कभी २ मेरे लेख छपते रहे। अपने पत्रों के भिन्न समय २ में और समाचारपत्रों में भी (कि जिनमें अंगरेज़ी पत्र भी थे) मेरे लेख प्रकाशित होते रहे।

नाना समाचारपत्रों के भिन्न, पुस्तकों के रचने और छापने का अलग सिलसिला था। इन सतरों को लिखते समय तक मैंने जितनी पुस्तकें आप रचना, वा संकलन, अथवा अनुवाद करके छापी होंगी, उनकी संख्या शायद दो सौ के लगभग होगी। इन सब के सिवाय उपदेशों, व्याख्यानों और सत्संग-मूलक बातचीत के द्वारा जहां तक सत्य प्रकाशन का काम हुआ है, उसका तो अनुमान करना भी असम्भव है।

सत्य अनुराग के सातवें अङ्ग का विकाश

सत्य-समथन अनुराग

मेरे आत्मा में सत्य-अनुराग विषयक जिस सातवें अंग का विकाश हुआ, वह **सत्य-समर्थन-अनुराग** था। इस अनुराग के विकशित होने से मेरे लिए यह आवश्यक हो गया, कि मैं जो कुछ सत्य जानूं उसे अपने जीवन के प्रत्येक आचरण से समर्थन करूं; अर्थात् एक ओर धर्म्म-विषयक जो २ मत असत्य हों, सामाजिक रीतियों वा अनुष्ठानों में जो २ बातें मिथ्या हों, दैनिक शिष्टाचार में जो २ बातें सत्य के विरुद्ध हों, और अन्य नाना व्यवहारों में जो २ बातें झूठ हों, उनमें से अपने आचार के द्वारा किसी का कुछ भी साथ न दूं। दूसरी ओर

अपनी वा अन्य किसी जाति के धर्म्म मत, संस्कार वा विश्वास, आचार वा अनुष्ठान, व्यवहार वा बर्ताव में जो २ बात मुझे सत्य मालूम हो, उसकी सदा पोषकता करूं। मैं सत्य के विचार से क्या भीतर और क्या बाहर से एक हि प्रकार का रहूं। मैं किसी शारीरिक सुख वा धन वा मान आदि के प्रलोभन और पारिवारिक जनों, बिरादरी वा समाज वा अन्य लोगों की ओर से बदनामी वा अन्य हानियों के भय से किसी सत्य को सत्य जानकर उससे बाग़ी न बनूं। मैं उस के लिए हमेशा सच्चा और वफ़ादार रहूं।

अब जो जन अपने प्रत्येक आचरण के द्वारा प्रत्येक सत्य को पोषण करता हो, और किसी प्रचलित किन्तु असत्य-मूलक मत वा विश्वास वा अनुष्ठान वा रीति आदि का साथ न देता हो, उसके लिए जैसे हरएक प्रकार की कपटता से पवित्र रहना लाज़मी है, वैसे हि उन हज़ारों जनों की घृणा का पात्र बन जाना और उनकी ओर से बदनाम होना भी लाज़मी है, कि जो इस प्रकार के उच्च अनुराग से विहीन और छल कपट आदि नीचगति परायण हों। फिर ऐसे लोगों में से भी जिन जनों ने केवल कपटता को आधार बनाकर उस पर अपने धर्म्म मत और उसके प्रचार की नींव रक्खी हो, और किसी मत प्रचार को केवल सांसारिक वा राजनैतिक वैभव की प्राप्ति हि मुख्य उपाय समझा हो, और जो ऐसे उद्देश्य की सिद्धि के लिए विदेशियों के सद्गुणों से अंधे रहकर उन्हें और अपने देश के अन्य सम्प्रदायों को अपनी नाना अनुचित क्रियाओं से हानि पहुंचाकर अपनी "उन्नति" साधन करना अपना कर्तव्य जानते हों, वह सब मुझे जिस महा द्वेष और घृणा की दृष्टि से देख सकते हैं, और मेरे उत्पीड़न और उच्छेदन के लिए जो २ चेष्टा कर सकते हैं, उसका अनुमान किया जासकता है।

सत्य समर्थनकारी होकर जहां तक मेरी दृष्टि पहुंच सकती थी, वहां तक जैसे अपनी जाति जनों के सद्गुणों का समर्थन करना मेरे लिए आवश्यक हो चुका था, वैसे हि विजाति और विदेशी जनों के सद्गुणों की पोषकता करना भी लाज़मी बन गया था। इसके विपरीत क्या

स्वजाति और स्वदेशी और क्या विजाति और विदेशी जनों के जिन धर्म्म मतों आदि को मैं मिथ्या देखता था, उन्हें मिथ्या हि प्रगट करना मेरे लिए आवश्यक हो चुका था। परन्तु कपटता की भित्ति पर जिनका धर्म्म मत स्थापित था और जो लोग अपने सम्प्रदाय की उन्नति के लिए अन्य सब सम्प्रदायों–विशेषतः विजातीय और विदेशीय सम्प्रदायों, का मिथ्या के प्रचार द्वारा भी उच्छेद साधन करना आवश्यक कर्म्म बना चुके थे, वह क्या मेरे द्वारा अपनी इस कपट और कुटिल पालिसी की क़लई खुलती देख कर और क्या विदेशियों के सद्गुणों की मेरी ओर से पोषकता को अवलोकन करके, मेरे भयानक **द्वेषी** और **शत्रु** बन गए। परन्तु जैसे उपरोक्त अवस्था में उनके लिए मेरा शत्रु बन जाना स्वाभाविक था, वैसे हि मेरे लिए सत्य समर्थनकारी अनुराग से परिचालित होकर जहां तक सत्य का मुझ पर प्रकाश होता था, वहां तक उसका स्वजाति और विजाति, और स्वदेशी और विदेशी के विचार के भिन्न समर्थन करना और उसके विरुद्ध असत्य को असत्य के रूप में हि प्रगट करना भी स्वाभाविक था।

सत्य-समर्थन के भाव से उद्वेलित होकर मैंने क्या नाना सम्प्रदायों के असत्य-मूलक धर्म्म मतों और क्या सामाजिक और अन्य विविध विषयों पर जैसे कुछ बेबाकाना आक्षेप किए हैं, और जिस २ बात को सत्य समझा है, उसकी पोषकता करने में जिस २ प्रकार का त्याग स्वीकार किया है, उसका यहां वर्णन नहीं हो सकता, और इस विषय की इतनी घटनाएं हैं कि उनकी ठीक गिनती भी नहीं हो सकती। इन घटनाओं में विशेष २ घटनाएं बहुत हि दिलचस्प हैं। इस लेख के लिखते समय ऐसी घटनाओं में से एक घटना मेरे सन्मुख आरही है। साधारण ब्राह्म समाज के एक विख्यात प्रचारक पंडित विजयकृष्ण गोस्वामी के धर्म्म मतों के सम्बन्ध में किसी अभियोग के उपस्थित होने पर, पूर्वोक्त समाज की ओर से उनके विषय में अनुसन्धान करने के लिए एक "कमीशन" नियत किया गया। इस कमीशन ने अपनी तहक़ीक़ात करने के अनन्तर पंडित विजयकृष्ण के कई मतों का उल्लेख करके यह बताया

कि उसके विचार में उनके अमुक २ मत अवश्य आपत्तिजनक हैं, और ऐसे मत रख कर वह ब्राह्म समाज के प्रचारक रहने के योग्य नहीं समझे जा सकते। इस रिपोर्ट पर वह बेचारे समाज से अलग किए गए। यह रिपोर्ट "तत्त्वकौमुदी" नामक समाज के बंगला पत्र में प्रकाशित हुई। मैंने उसे पढ़ा और मुझे मालूम हुआ कि उसमें पंडित विजय-कृष्ण के जिन मतों को आपत्ति-जनक बताया गया है, उनमें से कुछ को तो मैं ख़ुद भी ठीक मानता हूं। यह रिपोर्ट पढ़कर मेरे लिए चुप रहना असम्भव होगया। मैंने समाज के मन्त्री के नाम फ़ौरन एक चिट्ठी लिखी और उसमें मैंने पं० विजयकृष्ण के उन मतों की पूरे ज़ोर से पोषकता की, कि जिन्हें मैं उस समय तक ठीक समझता था। और यह भी लिखा कि यदि ऐसे मत रख कर पंडित विजयकृष्ण आपकी समाज के प्रचारक नहीं रह सकते, तो मैं भी उसके प्रचारक पद के योग्य नहीं ठहर सकता। इस चिट्ठी की एक नक़ल मैंने पंडित विजय-कृष्ण के नाम भी रवाना की। इसके बाद जो मज़ेदार और आश्चर्य्य-जनक घटना हुई, वह यह थी, कि मेरी इस अनोखी चिट्ठी को पाकर भी समाज की मैनेजिङ्ग कमेटी ने मुझे प्रचारक पद से अलग करने का फ़ैसला न किया।

सत्य अनुराग के आठवें अंग का विकाश

धर्म्म-ज्ञान-विषयक-सत्य-अनुसन्धान अनुराग

विकाश के क्रम में सत्य-अनुराग विषयक जिस आठवें अंग का मुझ में विकाश हुआ, वह **धर्म्मज्ञान-विषयक-सत्य-अनुसन्धान अनुराग** था। यह अनुराग जिस प्रकार महाश्रेष्ठ और अतिशय मूल्यवान् था, उसी प्रकार मेरे लिए महाकठिन और अतिशय संग्राम-जनक भी था। इसी अनुराग के क्रमागत उन्नत होने और मुझ पर अधिकार लाभ करने से, मैं धर्म्म विषयक उन नाना प्रकार के महा जटिल तत्त्वों की खोज में लगातार और बहुत वर्षों तक प्रवृत्त रहा, और महा कठिनाइयों और घोर संग्रामों में पड़ कर और अनेक बार निराशा के महादुखदाई अन्ध-

कार से आवृत होकर, और नाना प्रकार के क्लेश सह कर आख़िरकार उन **सत्य सिद्धान्तों** को जानने के योग्य हुआ, कि जो **विज्ञान-मूलक** हैं और जिनका इस पुस्तक के अंत में उल्लेख है।

इस अनुराग के उत्पन्न होने से मुझ में धर्म्म विषयक नाना बातों के सम्बन्ध में **क्या** और **क्यों** के प्रश्न उठने आरम्भ हुए। पहले सब अनुरागों के भिन्न मुझ में इस अनुराग के जन्म लेने पर यह प्रेरणा होने लगी, कि मैं धर्म्मगत नाना बातों के सम्बन्ध में आप अनुसन्धान करूं और प्रत्येक विषय को फाड़ २ कर और उसके अंशों को अलग २ करके युक्ति और तर्कणा के द्वारा तन्न २ करके देखूं, कि मेरे निकट कौनसी बात कहां तक सत्य वा असत्य प्रमाणित होती है। वस्तुतः धर्म्म जगत् के विषयों के सम्बन्ध में **तत्त्वज्ञान** लाभ करना हि मेरे इस अनुराग का लक्ष्य था।

इस **तत्त्व ज्ञान** की खोज के लिए अन्धविश्वासमूलक जिन अनुचित बन्धनों से मुक्त होने की आवश्यकता है, उन से मेरा आत्मा पूर्णतः मुक्त हो चुका था। मैं कभी किसी बात को, और किसी हालत में, केवल विश्वास के आधार पर सत्य मानने के लिए तैयार न था। मेरे निकट कोई बात इस लिए सत्य नहीं हो सकती थी कि वह अमुक प्राचीन वा नवीन शास्त्र वा पुस्तक में सत्य बताई गई है, वा अमुक प्राचीन वा नवीन जन उसे सत्य बतलाता है, किन्तु इस लिए कि **वह है सत्य**। मुझे यह मालूम था कि सत्य-अनुराग से विहीन जैसे प्राचीन काल के नाना ऋषियों, और मुनियों, पैग़म्बरों वा नबियों और धर्म्मशास्त्र के प्रचारकों आदि के द्वारा नाना प्रकार की मिथ्या बातों का जानबूझकर वा बेसुधि से प्रचार हुआ है, वैसे हि अब भी हो रहा है और नाना सम्प्रदायों के लोग और तो और ऐसी नाना मिथ्या बातों को भी सत्य कह कर प्रचार करते रहे हैं और अब भी करते हैं, कि जो **स्पष्ट मिथ्या** हैं, और जिनके मिथ्यापन को वह अपने दैनिक व्यवहारों में मिथ्या हि देखते हैं अथवा मिथ्या देख सकते हैं; परन्तु जिन का वह या तो **अन्धविश्वास** के आधार पर प्रचार करते हैं, अथवा धन, मान, प्रशंसा, सांसारिक सुख और

सामाजिक भय वा लाभ आदि के उद्देशों को सन्मुख रखकर **कपटता** से प्रचार करते हैं। ऐसी अवस्था में जब कि मैं एक ओर केवल विश्वास के द्वारा किसी बात को सत्य मान कर ग्रहण कर नहीं सक्ता था और दूसरी ओर धर्म्मज्ञान की स्पृहा से भरा हुआ था, तब मुझ में धर्मज्ञान-विषयक यह तत्त्व अनुसन्धान विषयक अनुराग विकशित हुआ और उसके द्वारा परिचालित होकर धर्म्म ज्ञान विषयक **तत्त्वों की खोज में प्रवृत्त हो जाना** मेरे लिए आवश्यक हो गया।

जीवन व्रत ग्रहण करने के अनन्तर अर्थात् सन् १८८३ ई० से इस तत्त्व-अनुसन्धान का काम भली भांत आरम्भ हुआ, और तव से सारी उमर बराबर जारी रहा है।

अपनी २ विशेषता के अनुसार मेरा यह तत्त्व-अनुसन्धान जिन चार बड़े भागों में विभक्त हो सकता है, वह यह हैं :—

पहला भाग—१८८३ ई० से लेकर सन् १८८६ ई० तक—ईश्वर के अस्तित्व को सत्य जान कर।

दूसरा भाग—सन् १८८७ ई० से लेकर १८९३ तक—ईश्वर के अस्तित्व को सत्य जान कर।

तीसरा भाग—सन् १८९४ ई० में ईश्वर विषयक मिथ्या विश्वास में सन्देह के उपस्थित होने पर।

चौथा भाग—सन् १८९५ ई० से लेकर सन् १८९८ ई० तक—केवल वैज्ञानिक विधि के अनुसार और एकमात्र विश्व को हि सत्य जान कर, इसी विधि से उसके अनन्तर भी।

इन चारों भागों के सम्बन्ध में इस सारे अनुसन्धान कार्य्य और उस के फलों का आगे चल कर अपने २ स्थान पर भिन्न २ परिच्छेदों में संक्षिप्त रूप से वर्णन होगा।

छठा परिच्छेद

मुझमें सच्चे और पूर्णाङ्ग वैराग्य का विकास

मुझ में सत्य विषयक नाना अनुराग शक्तियों के विकाश के साथ २ असत्य विषयक जिन नाना विराग शक्तियों का विकाश हुआ, वह यह थीं :—

(१) मिथ्या कथन विषयक पूर्ण विराग शक्ति।
(२) मिथ्या प्रतिज्ञा विषयक पूर्ण विराग शक्ति।
(३) मिथ्या ग्रहण विषयक पूर्ण विराग शक्ति।
(४) मिथ्या समर्थन विषयक पूर्ण विराग शक्ति।
(५) असरलता विषयक पूर्ण विराग शक्ति।
(६) असत्यजन्य अन्धता विषयक पूर्ण विराग शक्ति।
(७) असत्यजन्य प्रत्येक सुख विषयक पूर्ण विराग शक्ति।
(८) असत्यजन्य प्रत्येक लाभ विषयक पूर्ण विराग शक्ति।

वैराग्य क्या ? अनुराग के विरुद्ध घृणाभाव। सत्य वैराग्य क्या ? सच्चा वैराग्य; अर्थात् किसी मनुष्य के हृदय में अपनी ऐसी प्रत्येक चिन्ता और क्रिया की ओर से पूर्ण घृणा का उत्पन्न होजाना, और उससे दूर रहने के लिए आकांक्षी बन जाना, कि जो उस के आत्मा के जीवन के लिए हानिकारक हो। यह सच्चा वैराग्य किसी आत्मा में उस समय तक उत्पन्न नहीं हो सकता, और नहीं होता, जब तक उस में सत्य और हित-विषयक अनुरागों की उत्पत्ति न हो। इस लिए सत्य वैराग्य का पूर्णाङ्ग विकाश उसी विशेष आत्मा में सम्भव है, कि जो इन नाना प्रकार की शक्तियों के वीजों को लेकर आविर्भूत हुआ हो। इस सत्य वैराग्य के भिन्न इस पृथ्वी के नाना देशों के नाना मनुष्यों में जिस २ प्रकार का वैराग्य प्रचलित है, वह या तो पूर्णतः मिथ्या और इसी लिए महा हानि-

कारक है, और या केवल किसी अंश विशेष में सत्य है, परन्तु पूर्णतः सत्य नहीं है।

भारत वर्ष में जिस प्रकार के वैराग्य का प्रचार रहा है वह अधिकांश रूप से जैसे असत्यमूलक, वैसे हि महा हानिकारक भी रहा है। इस समय भारत वर्ष में प्रायः बावन लाख आदमी ऐसे वर्तमान बताए जाते हैं कि जो "साधु" कहलाते हैं। इन लाखों मनुष्यों की अवस्था क्या है? इन में से लाखों जन वह हैं कि जो केवल अपने पेट पालन के लिए भीख मांगने को पेशा बना कर जीवन व्यतीत करते हैं। हज़ारों ऐसे हैं कि जिन का कोई पारिवारिक सम्बन्धी नहीं रहा, धन और मान आदि भी नहीं रहा, और उन्हों ने औरों के टुकड़ों का सहारा लेकर और कुछ देर के लिए किसी प्रकार का पाठ, पूजन वा जप करने के ख़याली साधन में रहकर ज़िन्दगी के दिन काट देना पसन्द किया है; यही वह लोग हैं, जिन के संबंध में यह कहावत प्रचलित है:—"नार मरी घर सम्पद नासी, मूंड मुड़ाय भए संन्यासी।" कितने हि जन जो वास्तव में **मुजरिम** हैं, वह पुलिस की गिरफ़तारी से बचने के लिए फ़क़ीर बन गए हैं। कितने हि औरों को ठग कर अपना गुज़ारा चलाने के लिए "साधु" वेष में रहते हैं। कितने हि बड़े २ मठों और मन्दिरों के महन्त और पुजारी बनकर बड़ी २ जागीरों और जायदाद के मालिक बने हुए हैं। लाखों ने यह शिक्षा पाकर कि घर बार के बखेड़ों में पड़ कर आदमी बहुत क्लेश और दुःख में रहता है, और घर बार को त्याग कर और "साधु" बन कर, जगह २ की सैर करके और अकेला और आज़ाद अथवा फ़क़ीरों की मंडली में रह कर अधिक सुखी रहता है, घर बार त्याग कर दिया है। कितने हि यह मिथ्या शिक्षा पाकर कि राम, कृष्ण, भगवान्, वा शिव, आदि का भजन करने से मरने के बाद स्वर्ग वा वैकुंठ वा गोलोक वा शिवलोक, आदि किसी जगह में जाकर बहुत आनन्द मिलता है; इस मिथ्या सुख वा आनन्द की कल्पित चाट में पड़ कर अपना परिवार और वंश छोड़कर "साधु" वा "संन्यासी" बन गए हैं! कितने हि "योग" विषयक नाना अलौकिक कहानियों को सुनकर उसके

साधन के लिए "साधु" बने हैं; इत्यादि २। यह सब लाखों कहलाने वाले "साधु" केवल यही नहीं, कि आत्मा के जीवन संबंधी प्रकृत ज्ञान से शून्य रह कर अन्धकार में ठोकरें खाते फिरते हैं, किन्तु पारिवारिक और अन्य संबंधियों को छोड़ने के बाद, अपनी कई सुखदायक वासनाओं के चरितार्थ करने के लिए नाना प्रकार के नीच आचरण ग्रहण करके, पहले की अपेक्षा महा नीच और पिशाच भी बन जाते हैं। वह कई प्रकार के महा हानिकारक नशों का सेवन करते हैं; अप्राकृतिक कर्म्म, व्यभिचार, चोरी, ठग्गी, दम्भ, छल, कपट, आलस्य, आदि नाना पापों में लिप्त रहकर अपने अस्तित्व का नाश करते हैं; और अपने इन पाप कर्म्मों के द्वारा अपने देशवासियों वा अन्य लोगों को नाना प्रकार की हानियां पहुंचाते हैं। ऐसे लोग बाहर से विरक्तों और त्यागियों का झूठा वेष रख कर अपने और अन्य हज़ारों आत्माओं के नाश का हेतु बनते हैं। कल्पित मतों के लाखों विश्वासी ऐसे लाखों महानीच "साधुओं" को घृणा करने के स्थान में उल्टा उनकी तन, मन और धन से सेवा करके उनकी नीचता के बढ़ाने में सहायक बनते हैं।

इन में से शायद एक हज़ार में एक जन मुशिकल से ऐसा मिलेगा, कि जिस का मामूली आचरण भी ठीक हो, और जो किसी अच्छे भाव वा कार्य्य के लिए श्रद्धा भाजन होने के योग्य हो। फिर इन लाखों धूर्तों की संख्या में से वह थोड़े जन भी, जो किसी प्रचलित दुराचार में लिप्त नहीं हैं, और अपने किसी सात्विक भाव के लिए श्रद्धा भाजन बने हुए हैं, केवल उतने अंश तक वैराग्य भाव रखते हैं, कि जितने अंश में वह किसी पाप चिन्ता वा पाप क्रिया के बोधी होकर उससे आन्तरिक घृणा रखते हैं, अथवा किसी नाम वा यश आदि की वासना से ऊपर रह कर कोई शुभ काम करते वा कर सकते हैं, उससे अधिक नहीं। भारतवर्ष के बावन लाख साधुओं में इस पिछली प्रकार के आंशिक वैरागी भी कितने जन नज़र आते हैं, कि जो अपने वा अन्य देशवासियों की किसी सच्ची हितकर सेवा के काम में रत पाए जाते हों?

यूरोप और अमरीका में तो इस प्रकार के हज़ारों जन मिलते हैं,

कि जो औरों की भलाई में अपने एक वा दूसरे प्रकार के "स्वार्थ" को अर्पण करके कई अंशों में सच्चे वैरागी बने हुए हैं। वह अगर कोट, पतलून, और कालर, और नेकटाई पहनते हैं, और सफ़ा घर, और लिबास, और अन्य सामान रखते हैं, तब भी, और हमारे देश में आकर अगर कुछ गेरुवे वस्त्र पहन लेते हैं तब भी, जहां तक अपने स्वार्थ को त्याग कर औरों के किसी प्रकार के हित में व्यस्त रहते हैं, वहां तक वह अवश्य सच्चा वैराग्य रखते हैं। और हमारे देश में भी कुछ थोड़े से वह जन, कि जो इस वचन के अनुसार, "स्वार्थनाशस्तु वैराग्यम्" अर्थात् पर-हित के लिए स्वार्थ का त्याग हि वैराग्य है, वासनाओं से ऊपर किसी सात्विक भाव से परिचालित होकर, औरों के हित के लिए अपने स्वार्थ का त्याग करते हैं, अपने २ इस त्याग की अवस्था के अनुसार एक अंश तक वैरागी कहे जा सकते हैं। परन्तु यही जन सत्य और हित विषयक नाना भावों से विहीन रहकर, जहां तक अपने कल्पित मतों, अपने सम्प्रदाय और अपनी कई प्रकार की नीच रुचियों, मिथ्या संस्कारों आदि के पक्षपाती बन कर, और अहं, और ईर्षा, द्वेष आदि उत्तेजना सम्बन्धी नाना नीच गतियों के अधीन रह कर जिन २ असत् वा दुश्चिन्ताओं और पाप कर्म्मों को प्रश्रय देते हैं, किसी सच्चे श्रद्धाभाजन के सम्बन्ध में अश्रद्धा फैलाते हैं, सत्य का निरादर और असत्य का पोषण करते हैं, और इसी प्रकार अपने और अन्य मनुष्यों, पशुओं, वृक्षों और भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में अयथा और हानिकारक कर्म्म करते हैं, वहां तक वह वैराग्य सम्बन्धी उन नाना भावों से शून्य हैं, कि जो सत्य और हित अनुराग विषयक नाना भावों के उत्पन्न और उन्नत होने पर हि उत्पन्न और उन्नत होते हैं, और उनके पूर्ण अधिकार लाभ करने पर हि पूर्णता लाभ करते हैं।

इण्डिया में केवल यही नहीं, कि इन आंशिक परन्तु सच्चे वैरागियों का भी बहुत काल से बहुत बड़ा अभाव चला आता है, और अब भी है, और इसी लिए वह ऐसी शोचनीय अधोगति प्राप्त अवस्था में है, किन्तु अभी तक उसके केवल मूर्ख अधिवासी हि नहीं, वरन हज़ारों पढ़े-

लिखे और शिक्षित जन भी उन कुसंस्कारों में लिप्त हैं जिन्हें रख कर वह अपने किसी सच्चे, पूर्ण और सर्व्वाङ्ग त्यागी, और पूर्ण और सर्व्वाङ्ग हितकारी का तो एक ओर, अभी तक उन गिनती के आंशिक स्वार्थ-त्यागियों और हितकारियों को भी पहचानने और समादर करने की योग्यता नहीं रखते, जो उसमें प्रगट हो चुके हैं। किस कदर शोचनीय ! उसके प्रचलित नाना धर्म्मग्रन्थों, और उनके उपदेशों, और ऐसे उपदेश कर्ताओं का हज़ारों वर्षों का सारा प्रभाव कैसा शोकप्रद ! !

अनुराग और विराग भाव साथ २ चलते हैं। एक के प्रगट होने से दूसरा प्रगट होता है। जिस जिस बात के लिए किसी के हृदय में आकर्षण पाया जाएगा, उसीके ठीक विरुद्ध बात के लिए उसमें विकर्षण भी अवश्य मिलेगा। जो परिष्कारिता को प्यार करता हो, उसके लिए मलिनता को घृणा करना आवश्यक है। इसीलिए जब मुझ में सत्य और हित विषयक कई प्रकार के अनुराग उत्पन्न हुए, तब उनके विरुद्ध असत्य और अहित विषयक कई प्रकार के विराग भाव स्वतः उत्पन्न हो गए, और मैं उन लाखों और करोड़ों मनुष्यों की तुलना में, जिनके आत्माओं में यह सब आकर्षण और विकर्षण भाव वर्तमान न थे, सर्वथा एक अनोखा पुरुष बन गया। मेरी नाना चिन्ताएं और क्रियाएं उन से भिन्न हो गईं। मैं और वह एक थैले के चट्टे-बट्टे न रहे। वह मुझे अपने से बहुत कुछ विसदृश्य देखने लगे, और मैं अपने को उन से बहुत कुछ विसदृश्य अनुभव करने लगा।

सातवां परिच्छेद

मेरे आत्मा का अनोखा रूप और उसकी अनोखी गतियां

पूर्व्वोक्त उच्च शक्तियों के विकशित होजाने से मेरे आत्मा ने बिलकुल एक नया रूप ग्रहण किया, और उसकी गतियां बिलकुल निराली होगईं। नौकरी के थोड़े से घंटों के भिन्न (जिनमें भी किसी खाली वक्त में मैं बहुधा कोई न कोई परहित विषयक काम किया करता था) मेरा और सब समय उपासना, अध्ययन, ध्यान और विचार करने, लेख लिखने, उपदेश और व्याख्यान देने, और अपनी समाज और अन्य सभाओं आदि के सम्बन्ध में नाना प्रकार के हितकर कामों के करने में ख़र्च होने लगा। इन कुल साधनों से मेरी विविध उच्च शक्तियों ने बहुत उन्नति की। मेरे आत्मा की प्रत्येक वासना, उत्तेजना और अहं शक्ति पर इन शक्तियों का अधिकार होगया। और मैं इन शक्तियों से विहीन साधारण आत्माओं की दृष्टि में अपने धर्म्म सम्बन्धी ज्ञान और अपने धर्म्म सम्बन्धी आचरणों, और शुभ अनुष्ठानों, और नाना सामाजिक क्रियाओं की विभिन्नता के विचार से केवल यही नहीं, कि आकर्षण की वस्तु नहीं रहा, किन्तु विकर्षण अथवा घृणा की वस्तु बन गया। परन्तु सत्य और पर हित अनुराग विषयक कितने हि उच्च भावों के विकशित होजाने से मेरे भीतर जो असाधारण वाक् शक्ति उत्पन्न हो गई थी, और उसका जिस प्रकार विचित्र, सुललित, सतेज, और ज़ोरदार भाषा में प्रकाश होता था, उसके मुग्ध-कर प्रभावों ने मेरी वक्तृता के लिए हज़ारों आदमियों को शैदा बना दिया। —इस लिए और कितनी हि बातों के लिए मुझे घृणा करके भी मेरी वक्तृता के सुनने के लिए हज़ारों लोग उत्सुक रहते थे, और उन में से कितने हि लोग मेरे प्रति श्रद्धा भी

करते थे। मैं जब कभी किसी ऐसे पोलेटीकेल वा अन्य विषय पर वक्तृता करता, कि जिस में मत विषयक कुछ अधिक भेद न होता, तब तो सैकड़ों लोग मेरी ओर बहुत आकर्षण अनुभव करते। परन्तु प्रकृति ने मेरे आत्मा को जिस रूप में ढाल दिया था, उससे मुझे न किसी के आकर्षण की परवाह थी, न विकर्षण की। मैं इन दोनों से ऊपर था। मैं जो कुछ और जब कभी कहता वा करता था, वह सत्य और हित भावों से परिचालित होकर, और सत्य और शुभ की महिमा के लिए, न कि किसी मनुष्य की प्रसन्नता वा अप्रसन्नता के लिए। इसीलिए किसी सत्य के प्रकाश, वा शुभ कर्म्म के साधन में मुझे जिस किसी से जो कुछ पीड़ा वा हानि मिलती थी, उसके सहने के लिए मैं तैयार रहता था।

बत्तीस वर्ष की उमर तक मेरे आत्मा में उपरोक्त सत्य विषयक अनुराग शक्तियों के भिन्न परहित साधन विषयक भी कई अनुराग शक्तियां विकशित होगई थीं। और इन शक्तियों की विरोधी विराग शक्तियां भी वर्तमान थीं। इन शक्तियों के उत्पन्न होजाने से मैं जैसे एक ओर सत्य और हित के सौन्दर्य्य को उपलब्ध करता था, वैसे हि उन के विपरीत असत्य और अहित को अत्यन्त कुत्सित और घृणित रूप में देखता था—पुण्य वा शुभ कर्म्म मुझे स्वभावतः बहुत आकृष्ट करते थे, और पाप और अपराध कर्म्म बहुत घृणित और दुखदाई अनुभव होते थे।

मैंने इस उच्च प्रकृति के कारण बदनाम होने, गालियां खाने, कोसे जाने, झूठे इलज़ामों का शिकार बनने आदि के भिन्न एक २ विशेष घटना के समय जो २ दुःख और क्लेश पाया और सहा है, जिस २ प्रकार अपने आपको विपद-ग्रस्त और असहाय देखा है, उसका ज्ञान केवल अनुभव करने से हि होसकता है, किसी वर्णन से नहीं होसकता। एक ओर लाहौर में "आर्य्या समाज" के स्थापन होने पर, उसके बानी और उसके कितने हि साथियों की असत्यमूलक पालिसी, और मिथ्या शिक्षा और कुटिल नीति और आचरण के संबंध में घोर युद्ध के उत्पन्न होजाने पर, मुझ अकेले के लिए इतने संख्यक लोगों का लगातार मुकाबला

करना, दूसरी और ब्राह्म समाज में बाबू केशवचन्द्र सैन का अपनी सत्य प्रतिज्ञाओं को तोड़कर अपनी बेटी की महाराजा कुच्छ विहार के साथ शादी करना, और उसके संबंध में और कई असत्य और अन्यायमूलक कार्य्य करना और उससे ब्राह्म समाज में घोर आन्दोलन का पैदा होना, और उसमें लाहौर में मुझ अकेले का सत्य और न्याय के पक्ष को समर्थन करने के लिए उनके पक्षपाती नाना सामाजिक जनों के साथ संग्राम करना; लार्ड रिपन की ओर से "एड्यूकेशन कमीशन" के नियत होने पर मेरा सर्कारी दफ़तरों में हिन्दी अर्थात् देवनागरी अक्षरों के प्रचलन के लिए धुआंधार आन्दोलन करना, जगह २ लेक्चर देना, मेमोरियल भिजवाना, लेख लिखना, इससे मुसलमानों का मुझसे सख़्त नाराज़ और बरंगेख़्ता होना, और लाहौर के डिपुटी कमिश्नर के पास उनमें से कुछ रइसों की ओर से यह शिकायत पहुंचना कि यदि यह आन्दोलन जारी रहा, तो इस से आम अमन में फितूर आने का अन्देशा है, और मुझे मेरे अफ़सर की ओर से यह कहा जाना, कि जिस सर्कारी विभाग में तुम नौकर हो, उसके हेड तुम्हारे इस आन्दोलन को पसन्द नहीं करते, और ऐसा करके तुम आयंदा अपनी तरक़्क़ी की कोई आशा नहीं कर सकते, और मेरा उसकी कुछ परवाह न करना, और हिन्दी के पक्ष में बराबर काम किए जाना, सन् १८८० ई० के अन्त में मेरी पहली धर्म्म-पत्नी का स्थूल देह त्याग करना, और मेरा देहत्यागी के संबंध में किसी प्रचलित हिन्दू अनुष्ठान का सम्पन्न न करना, और अपने उस धर्म्म और दुःख-सुख के सच्चे साथी और अमूल्य मित्र से बिछड़ जाना, परन्तु कभी और किसी अवस्था में असत्य और अन्यायमूलक रीति को ग्रहण न करना, और समय आने पर अपने सत्य विश्वास के अनुसार दूसरी बार न केवल एक विधवा किन्तु बंगाली स्त्री के साथ विवाह करना, और अपनी बिरादरी आदि के लोगों की कोई परवाह न करना, इत्यादि; कितनी हि बड़ी २ और विशेष घटनाएं हैं, कि जो इस बत्तीस वर्ष की आयु तक उत्पन्न हो चुकी थीं, और जिन के आने पर मुझे सत्य और न्याय और हित का पक्ष

समर्थन करने में जिस २ प्रकार का घोर संग्राम और विपद का मुंह देखना पड़ा है, शोकातुर होकर तड़पना पड़ा है, उस को मेरा वह हृदय हि जानता है, कि जो उन में से गुज़रा है। परन्तु इस सारे संग्राम से, विकाश के अटल नियम के अनुसार, मेरा आत्मिक जीवन और बल बराबर उन्नत होता गया।

आठवां परिच्छेद

मेरा महाव्रत ग्रहण

ईश्वर के अस्तित्व में केवल यही नहीं, कि मेरा दृढ़ विश्वास था, किन्तु मैं यह विश्वास करके, कि वह सत्य स्वरूप और हित स्वरूप हैं, उनका **सच्चा अनुरागी और भक्त था**। मैं हृदय के विशुद्ध प्रेम के साथ प्रतिदिन उनकी उपासना करता था, और अपने चारों ओर असत्य और अहित को फैला देखकर, एक मात्र उन्हीं को अपना परमाश्रय, परम सहाय, परम बन्धु और परम रक्षक विश्वास करता था। सत्य और हित का साथी बन कर जब मैं एक वा दूसरे प्रकार के लोगों का घृणा-भाजन बन जाता था, जब मेरे विरोधी मुझे सताते और दु:ख देते थे, जब किसी का हित करने से उससे अहित मिलता था, जब मैं रोग-ग्रस्त और किसी अन्य विपद वा दुर्घटना के आने से, शोकातुर और विषाद-ग्रस्त होता था, जब मैं किसी मनुष्य को अपना सहायक नहीं पाता था, तब मैं अपने इस समय के अत्यन्त गाढ़ किन्तु मिथ्या विश्वास के अनुसार एक उन्हीं की सहाय पर भरोसा करता था। अपने हृदय की रुचि वा प्रसन्नता को छोड़कर एक उन्हीं की प्रसन्नता लाभ करना, और सबसे फट कर केवल उन्हीं की शुभ इच्छा के साथ **मेल** रखना अपना कर्तव्य अनुभव करता था।

मुझे इस समय तक अपने आत्मा के विषय में जो कुछ ज्ञान लाभ हुआ था, वह जैसे अत्यन्त अल्प और अपूर्ण था, वैंसे हि वह कई अंगों में सत्य भी न था। इसके भिन्न विकाश विद्या सम्बन्धी तत्त्वज्ञान के न होने से मैं ईश्वर के लाखों और करोड़ों विश्वासियों को एक ओर सत्य और हित-अनुरागी न पाकर, और दूसरी ओर असत्य और अहित-परायण देखकर, यह नहीं समझता था कि मैं करोड़ों मनुष्यों की तुलना

में जिन उच्च किन्तु नई गतियों के ग्रहण करने के लिए मजबूर होरहा हूं, उसका कारण **ईश्वर** नहीं, किन्तु मेरी अपनी उच्च-विकाश-प्राप्त प्रकृति, अथवा मेरा सत्य और हित-अनुराग सम्पन्न **उच्च जीवन** है। और इस उच्च जीवन अथवा सत्य और हित-अनुराग के वशीभूत होकर मेरे लिए किसी सत्य और हित का साथ देना उसी तरह लाज़मी है, जिस तरह इस उच्चजीवन से विहीन एक ब्राह्मो, वा आर्य्या, वा ईसाई, वा मुसलमान के लिए किसी वासना, वा उत्तेजना वा अहं सम्बन्धी शक्ति के वशीभूत होकर, असत्य और अहित की ओर जाना लाज़मी है। इसलिए मैं अपनी प्रकृति के अनुसार किसी सत्य और हित का साथ देने में जो २ कुछ अपने ऊपर मुसीबतें खड़ी कर लेता था, जो कुछ उत्पीड़न वा दुःख पाता वा सहता था, उससे ईश्वर के और लाखों विश्वासी जन न केवल मुक्त देखे जाते थे, किन्तु उनमें से कितने हि नीच हृदय मेरी ऐसी क्रियाओं को मूर्खता और पागल की बातें बताते और अनुभव करते थे। उच्चजीवन-विहीन साधारण मनुष्य इसके भिन्न मेरे सम्बन्ध में और क्या व्यवस्था (फ़तवा) दे सकते थे? कुछ नहीं।

धीरे २ मेरे इस उच्चजीवन और उसके प्रचार का मुझ पर इतना अधिकार होगया, कि फिर मेरे हृदय में यह प्रेरणा होने लगी, कि तुम किसी और काम के लिए नहीं, किन्तु जगत् को इसी जीवन के दान देने और उस में आप विकशित होने के लिए हो। यह प्रेरणा बढ़ने और ज़ोरदार होने लगी। मुझे उसका पूर्ण करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुआ, और मैंने उसके वशीभूत होकर और इसी लिए आयन्दा आने वाली सब आपदों और कठिनाइयों से उदासीन होकर, आख़िरकार १५ दिसम्बर, सन् १८८२ ई० को अपनी नौकरी के सम्बन्ध में त्याग-पत्र (इस्तेफ़ा) दे दिया और उसके चार दिन बाद अर्थात् २० दिसम्बर, सन् १८८२ को (जिस दिन मेरा जन्म दिन था) एक बहुत बड़ी साधारण सभा के सन्मुख विधिपूर्व्वक एक अति विचित्र और शुभ प्रभावशाली अनुष्ठान सम्पन्न करके अपना पूर्ण और महा त्यागमूलक

जीवन व्रत ग्रहण कर लिया। मैंने इस समय अपने जीवनव्रत सम्वन्धी अद्वितीय **परम लक्ष्य** को वर्तमान जनों के सन्मुख अपने रचे हुए गीत के जिस पद के द्वारा प्रकाश किया था, वह यह था :—

"सत्य शिव सुन्दर हि मेरा, परम लक्ष्य होवे;
जग के उपकार हि में, जीवन यह जावे।"

सोलह वर्ष की उमर तक मैं अपने घर और अपनी बस्ती में एक प्रकार की आवृत्तकारी अवस्था में रहा। वहां रह कर एक सीमा तक विकशित हुआ। फिर रुड़की में आया, जहां कि आवृत्तकारी अवस्था ने कुछ और उच्च परिवर्तन उत्पन्न किया। वहां सद्गुरू प्राप्त हुए। उनके पवित्र सम्वन्ध से मुझ में आत्म-हित की आकांक्षा उन्नत हुई, धर्म्म-साधन और सदाचार विषयक अनुराग गाढ़ हुआ, और सत्य-प्रियता के प्रथम अङ्ग का विकाश हुआ।

लाहौर पहुंच कर यह उच्च परिवर्तन लगातार बढ़ते २ बत्तीस वर्ष की उमर में कहां का कहां पहुंच गया और मैं अपने अद्वितीय जीवनव्रत के ग्रहण करने के योग्य बन कर क्या का क्या बन गया।

नवां परिच्छेद

देवत्व के नवजीवन का प्रचार—मेरे जीवन का मुख्य कार्य्य

महाव्रत ग्रहण करने के एक महीने के बाद मैंने एक पबलिक लेक्चर के द्वारा अपनी ज़िन्दगी के मिशन को ज़ाहिर किया। उसके दो ढ़ाई महीने के बाद मैंने "सच्ची खुशख़बरी" का हेडिंग देकर अपने "धर्म्मजीवन" पत्र में एक विज्ञापन प्रकाशित किया, और उसके द्वारा मैंने अपने देश के विविध मतावलम्बियों तक यह शुभ संवाद पहुंचाया, कि तुम चाहे मूर्ख हो, चाहे विद्वान्, चाहे साकारवादी बहुदेव-पूजक हो, और चाहे निराकारवादी एकदेवपूजक। परन्तु तुम जब तक अपनी नीच वासनाओं और उत्तेजनाओं के दास और संसारासक्त हो और "दुनिया-परस्त" रहकर अपने भीतर मोह और पाप-जीवन को उन्नत करते हो, तब तक तुम ईश्वर के मानने का इक़रार करके भी सचमुच उसे नहीं मानते; और इसीलिए जब तक तुम्हारे भीतर पाप का बोध जाग्रत न हो, और उससे पवित्रता और परोपकार आदि विषयक धर्म्म-भावों के लिए अनुराग उत्पन्न न हो, तब तक जैसे मोह और पाप और उसके दुःखों से तुम्हारा उद्धार नहीं होसकता, वैसे हि इस देश का भी सच्चा और बड़ा हित नहीं होसकता।

इन दिनों में मैं "ईश्वर" का परमभक्त और विश्वासी तो था हि; इस लिए इस समय तक मैंने अपने हि उच्च भावों के द्वारा अपने हृदय में जो प्रेरणाएं अनुभव की थीं, उन्हें मैंने (भ्रमवशतः) ईश्वर की ओर से समझा था। और विश्व के उच्च विकाश में जो जीवनदायिनी धर्म्मशक्तियां मेरे आत्मा में प्रगट हो चुकी थीं, उन सब को मैं ईश्वर की दी हुई जान कर पहले उन्हें **संजीवनी शक्ति** और पीछे से **देव-**

शक्ति के नाम से पुकारता था।

महाव्रत-ग्रहण के अनन्तर वर्षों तक मेरे कथन और लेखों में उप-रोक्त "संजीवनी शक्ति" का वाक्य व्यवहृत होता रहा। संजीवनी शक्ति का अर्थ है––जीवनदायिनी शक्ति। मेरी किसी धर्म्म-शक्ति के प्रभाव से जब किसी मनुष्यात्मा के हृदय में परिवर्तन उत्पन्न होता था, तब मैं उसे इसी **संजीवनी शक्ति** वा देवशक्ति का कार्य्य समझता था। और इस शक्ति के अद्भुत् कार्य्य से जब पापी आत्मा पाप और मोह आदि की विनाशकारी गति से फिर कर धर्म्म-जीवन के अभिलाषी बनते थे, तब उनके इस पवित्र परिवर्तन को मैं **नवजीवन** की प्राप्ति कहा करता था।

मैं ख़ूब समझता था, कि जब तक किसी मनुष्य के भीतर मोह और पाप का बोध उत्पन्न न हो, और पाप से मोक्ष और धर्म्म-जीवन में विकशित होने के लिए अनुराग जाग्रत न हो, तब तक चाहे वह हिन्दू हो, चाहे मुसलमान, चाहे ईसाई हो, चाहे बौद्ध और चाहे कुछ और, उसका धर्म्म के नाम से हरएक पूजन, पाठ और अनुष्ठान आदि करना सब वृथा और निष्फल है। इस **नवजीवन** की आवश्यकता की ओर हरएक मज़हब के आदमियों का ध्यान फेरने के लिए मैंने जो कितने हि गीत रचे थे, उनमें से एक यह था :—

अभी बचो तुम, अभी बचो तुम, अभी यहीं बच जाओ जी;
गुनह-आलूदा छोड़ ज़िन्दगी, **नई ज़िन्दगी** पाओ जी।१।
नई ज़िन्दगी के पाए बिन, गुनह से नहीं रिहाई जी;
ज़ाहिर में तुम रहो मुसलमां, हिन्दू या ईसाई जी।२।

इत्यादि।

देवत्व के इसी अनोखे नवजीवन का प्रत्येक सम्प्रदाय के लोगों के कल्याण के लिए प्रचार करना, मैं अपने **जीवनव्रत का मुख्य कार्य्य** समझता था। इसी कार्य्य में मैं पूर्णत: रत रहता था। इस महाव्रत पालन से जैसे एक ओर मेरे उच्च प्रभावों को प्राप्त होकर अन्य आत्माओं में नाना प्रकार का शुभ परिवर्तन उत्पन्न होने लगा, वैसे हि दूसरी ओर मेरा आत्मा दिनों दिन देवत्व के परम श्रेष्ठ जीवन में विकशित होने लगा।

दसवां परिच्छेद

जीवनव्रत ग्रहण करने के अनन्तर मेरा उसके लिए सच्चा रहना और मेरे विरोधियों की विरोधिता का अधिक से अधिक बढ़ना

ठीक ३२ वर्ष की उमर में मैंने अपना जीवनव्रत ग्रहण किया। मेरा यह कार्य्य प्रकृति के नियमानुसार मुझ से प्रतिकूल प्रकृति रखने वाले हज़ारों जनों के लिए बहुत विकर्षणकारी प्रमाणित हुआ। और इसी लिए अपने इस महात्याग और महाव्रत ग्रहण करने के समय मैंने जो अनुष्ठान संबंधी सभा की, उसमें सैकड़ों जनों ने, जहां तक होसकता था, विघ्न डालने की चेष्टा की। और मेरे ऐसे जीवन के प्रति श्रद्धा प्रकाश करने के स्थान में, उन्होंने बड़े उत्साह के साथ घृणा का प्रकाश किया। मैं इस जीवनव्रत के ग्रहण करने से उनकी दृष्टि में पहले की अपेक्षा भी बहुत घृणित होगया। परन्तु जैसे वह अपनी प्रकृति के विरुद्ध जाने की सामर्थ्य न रखते थे, वैसे हि मैं अपनी प्रकृति के विरुद्ध नहीं जासकता था। इधर मेरी यह सब से बढ़ कर उमंग थी, कि

"सत्य शिव सुन्दर हि मेरा,
परम लक्ष्य होवे;
जग के उपकार हि में,
जीवन यह जावे।"

उधर उनके निकट यह सब एक ऐसे जन की उमंग थी, कि जिसका सिर ठिकाने नहीं रहा। इसी लिए ऐसा करने पर उन्होंने मुझे ख़ब्ती, बेवक़ूफ़ और पागल समझा और प्रगट किया। तब से ऐसे जन (जो प्रायः सब ईश्वरवादी थे) मेरे विशेष रूप से विरोधी हो गए, और उनमें से बहुत से जन मेरे दमन करने के लिए कटिबद्ध होकर मेरे

पक्के उत्पीड़नकारी बन गए।

इस समय मेरे विरोधी जन अपनी प्रकृति के अनुसार एक प्रकार के भावों से भरे हुए थे, और मैं दूसरे प्रकार के भावों से। मुझ में एक ओर सत्य और शिव विषयक नाना भावों की उच्च-गति-दायिनी-आनन्द लहरें उठती थीं, और दूसरी ओर उनके विरुद्ध नाना विरागभाव अपना कार्य्य करते थे; और मेरे विरोधियों में मेरे प्रति कुसंस्कार ईर्षा, द्वेष और अन्यायमूलक नाना प्रकार के नीच और पाप-भाव उठते थे। इधर यह अन्धकार और कुसंस्कार-ग्रस्त मुझे अपने और अपनी जाति और देश के लिए महा हानिकारक अस्तित्व जानते और प्रगट करते थे, उधर मैं उन्हें अपना विरोधी और उनकी नाना पापमूलक क्रियाओं को अपने लिए दु:खप्रद और अपनी जाति और देश के लिए नाना प्रकार से हानि-कारक जानकर और उनसे नाना उत्पीड़न पाकर भी अपने जीवन-व्रत के अनुसार उनके, और अपनी जाति और अपने देश के सर्व्वोच्च हित के लिए निहायत टूट फूट कर प्रति दिन काम करता था। जैसे एक २ पक्का जुवारी वा शराबी अपनी सारी दौलत और जायदाद खोकर और अति दरिद्र और कंगाल होकर, दर २ का भिखारी बन कर भी जुवा खेलने से नहीं रुकता—राजा नल ने एक जुवे के व्यसन की बदौलत हि क्या २ तबाहियां नहीं उठाई थीं?—वैसे हि मैं सत्य और हित विषयक जिन २ महा अनुरागों के अधीन हो चुका था, और उनके विरुद्ध जिस प्रकार के पूर्ण वैराग्य विषयक भाव रखता था, उनके द्वारा परिचालित होकर सब कुछ खोने और अपने ऊपर सब प्रकार के दु:ख लेने के लिए मजबूर था। मेरा हृदय एक २ वार अपने उत्पीड़नकारियों के असत्य और अन्याय-मूलक आचार से जितना घायल और दु:खी होता था, जिस तरह तड़पता और बेचैन होता था, उससे एक २ बार मुझे अवश्य यह प्रतीत होता था कि वह फटकर चूर होजाएगा, और मैं नाना रोगों और अकाल-मृत्यु का अवश्य ग्रास होजाऊंगा। फिर भी मैं अपने इस कंटकमय और महा दु:खदाई पथ को त्याग नहीं सकता था। क्यों? इसलिए कि मैं जैसे सत्य और हित का पक्का अनुरागी

था, वैसे हि इस पक्के और प्रबल इश्क़ के अनुसार, और सब वासनाओं और उत्तेजनाओं, और अन्य अहं विषयक भावों का अधिपति भी बन चुका था, और अपने इस इश्क़ में यथा आवश्यक सब प्रकार के सुखों और सामानों को त्याग करके फ़ना होजाने के लिए तैयार था। मैं बड़े २ उत्पीड़न और दुःख के समय जब अपने आप को इस दुनिया में औरों की ओर से, एक ओर अपने आन्तरिक रूप के विचार से अज्ञात (unknown) और परित्यक्त (ignored) और अनादृत वा घृणित (hated) देखता और अनुभव करता था, और दूसरी ओर पूर्णतः सब तरफों से सहानुभूति की प्राप्ति से ख़ाली और असहाय अवस्था में पाता था, तब मेरे भीतर क्या क्या कुछ गुज़रता था, उस का वर्णन करना मेरी ताक़त से बाहर है। परन्तु इस महा असहाय और अकेली अवस्था में भी—चारों ओर से महा भयानक काली घटाओं से घिरे होने पर भी, मेरे भीतर विजली की न्यांई यह भाव कौंदता था, कि मेरे लिए इसके भिन्न और कोई उपाय नहीं, कि मैं अपने सत्य पर क़ायम रहूं, और इसी तरह चुपचाप ख़तम होजाऊं। मैं अपने इन भावों से बेवफ़ा नहीं बन सकता। मैं इस संग्राम में पीठ नहीं दिखा सकता। मैं अज्ञात, अनादृत, घृणित और परित्यक्त होकर भी यदि अपने जीवनव्रत के लिए वफ़ादार रहकर इस संग्राम में प्राण दे सकूं, तो मैं शान्तिपूर्वक मर सकता हूं, अन्यथा नहीं। हां, ऐसे समय में मेरे भीतर एक २ बार यह भाव तक उठा, कि यदि इस स्थूल शरीर के छोड़ने पर आगे के लिए मेरा कुछ भी अस्तित्व न रहे, अर्थात् मैं पूर्णतः विनष्ट होजाऊं, तो भी मैं अपने जीवन-व्रत के पथ से भ्रष्ट नहीं होसकता। नेचर के कार्य्य में हर अस्तित्व का कोई न कोई परिणाम है; और यदि मेरे अस्तित्व का परिणाम यही है, तो यही सही, मुझे उसी में सन्तुष्ट रहना चाहिए। सत्य और हित संबंधी नाना अनुरागों के साथ २ मेरा यही **अनोखा, परन्तु सत्य वैराग्य था,** कि जिसने मेरे जीवनव्रत विषयक महालक्ष्य के साधन और संग्राम में मुझे सदा तैयार और स्थिर रखा, और कभी और किसी अवस्था में बाग़ी और बेवफ़ा होने न दिया।

ग्यारहवां परिच्छेद

मुझ में ईश्वरप्रेम का विकाश

जीवनव्रत के ग्रहण करने के बाद से मेरे जीवन का एक और नया अध्याय आरम्भ हुआ। इस संसार में रहकर यहां के धन, मान, यश, वैभव, पद, शारीरिक वा कोई अन्य सुख आदि मेरे आत्मा का परम लक्ष्य नहीं रहा था। किन्तु परम सुन्दर सत्य और शिव का अनुरक्त होकर उस रूप में आप ढलना और विकशित होना, और उसी उच्च जीवन को औरों में संचार करना, और उसी की शिक्षा देना मेरा **परम लक्ष्य** बन गया था।

मैं क्या इस समय, और क्या उसके बाद और कितने हि सालों तक यह जानने के योग्य नहीं हुआ, कि मुझ में जो उच्च जीवन प्रगट हुआ है, वह मेरी गर्भजात विशेषता के अनुसार उन उच्च शक्तियों के बीजों के क्रम २ से प्रस्फुटित और उन्नत होने का फल है, कि जिन्हें मैंने प्रकृति (नेचर) के लाखों वर्षों के संग्राम के बाद मनुष्य के उच्च विकाश के सिलसिले में प्राप्त किया है। अन्यथा, यही जीवन उन लाखों आत्माओं में क्यों नहीं पाया जाता, कि जो ईश्वर के पुजारी बनकर भी केवल यही नहीं, कि मेरे इस जीवन की महिमा के देखने की कोई योग्यता नहीं रखते, किन्तु इसी जीवन के कारण मुझे अपने से विपरीत देख कर मुझे घृणा करते हैं, और मुझे उत्पीड़ित करके अपने "कांशंस" में ईश्वर की प्रसन्नता लाभ करते हैं। जैसे हिमालय का वह हिरन विशेष, जिसकी नाफ़ में मुश्क (कस्तूरी) विकशित होती है, यह नहीं जानता, कि यह उसकी अपनी प्रकृतिगत अवस्था, और आवृत्त-कारी प्राकृतिक सामानों की विशेषता का फल है, वैसे हि मैं भी तब तक इस सत्य को जानने के योग्य नहीं हुआ था। मैं उस समय यह नहीं

जानता था, कि जो शुभ प्रेरणाएं मुझ में उत्पन्न होती हैं, वह किसी अन्तर्यामी पुरुष की कानाफूसी (whisper) से नहीं, किन्तु मेरे अपने हृदय की विविध उच्च शक्तियों के कार्य्य से होती हैं; और मैं जो उनके पालन के लिए सब प्रकार के **त्याग** ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत रहता हूं, वह इसलिए कि मुझ में उनका **अनुराग** मौजूद है।

यह तत्त्व बहुत वर्षों तक मुझ पर प्रगट नहीं हुआ। इसलिए "ईश्वर" को प्रत्येक आत्मा के जीवन के लिए मोक्षदाता और विकाश-कर्ता परम सम्बन्धी जानकर उनके प्रति **प्रेम** बढ़ाना और इस प्रेम के प्रभाव के अनुसार उनकी शुभ इच्छाओं के पालन के लिए **आत्मसमर्पण** करना, और मनुष्य-मात्र को उनकी सन्तान जान उन्हें असत्य और अहित के पथ से **मुक्त** करने, और उन्हें **उच्च जीवन** की ओर लेजाने के लिए नाना प्रकार से संग्राम करना, और इस कार्य्य में असत्य और पाप अनुरागी जनों से नाना प्रकार के **उत्पीड़न** सहना, और परहित सम्बन्धी विविध कार्य्यों में **रत** रहना, मेरा प्रतिदिन का साधन था।

ईश्वर के प्रति **प्रेम** के उत्पन्न और उन्नत करने के लिए मैं प्रतिदिन **कई २ घण्टे**—अनेक बार तीन २ चार २ घण्टे—उपासना का साधन करता था, जिसमें उनकी स्तुति वा वन्दना करके, और उनकी महिमा सम्बन्धी एक वा दूसरे प्रकार की सुन्दर मानसिक छवि खैंचकर, अपने सन्मुख लाना, और इस छवि को लगातार सन्मुख रखकर उनके प्रति **प्रेम** भाव को उत्तेजित करना, उनके "दयालु" और "मङ्गल" रूप का ध्यान करके उनके प्रति अपने भीतर **कृतज्ञ** भाव को उद्दीपन करना, और उनसे अपने एक वा दूसरे अभाव के दूर, और उच्च भाव को उन्नत करने के लिए **प्रार्थना** करना, और ऐसे हि विविध भावों के बढ़ाने में सहायकारी भजनों का गान करना, और यदि इस साधन में कुछ और जन भी सम्मिलित हों, तो कितनी वार उनके हित के लिए आत्मिक जीवन के एक वा दूसरे अंग के सम्बन्ध में कोई **उपदेश** देना, मेरा काम होता था। दिन के भिन्न रात को भी अनेक वार ऐसे साधन होते थे। कितने काल तक प्रति बुधवार की रात्रि को ऐसे जलसे होते

थे, कि जो "इश्क़ इलाही" के जलसे कहलाते थे, और यह जलसे कभी २ प्राय: सारी रात तक रहते थे ।[1] इन प्रेमवर्द्धक साधनों में अनेक वार प्रेम और आनन्द के गहरे उच्छ्वास से परिचालित होकर, कभी मैं नृत्य करता, था, कभी हरिगुण गाता था, कभी हरिनाम की जयध्वनि करता था, कभी फूट २ कर रोने लगता था, कभी ज़ोर से हँस पड़ता था, कभी विह्वल होकर ज़मीन पर गिर जाता था, कभी उपस्थित जनों को उभारने के लिए उस समय के अनुकूल उन्हें कोई बात कहता वा उपदेश देता था । इत्यादि ।

यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व **कल्पित** हो तो मुझ में उपरोक्त प्रकार के भाव क्योंकर उद्दीपित होजाते थे ? इसका उत्तर यह है, कि केवल कल्पना के द्वारा भी कितने हि भाव उत्तेजित हो जाते हैं । यथा :— खट्टी चीज़ के स्पर्श से जिन के मुंह की गिलटियां उत्तेजित हो जाती हैं, उनके सन्मुख किसी खट्टी चीज़ का कल्पित ख़याल आजाने से भी उनके मुंह में पानी आ जाता है । जिन स्त्री-पुरुषों में कामवासना वर्तमान है, वह इस विषय में जब कोई कल्पित कहानी पढ़ते हैं, वा किसी कल्पित पुरुष वा स्त्री का ध्यान करते हैं, तब भी उनमें पूर्व्वोक्त वासना उत्तेजित होजाती है । जिन लोगों में सांप का भय मौजूद है, वह यदि भ्रम से किसी रस्सी के टुकड़े को सांप समझ लेते हैं, तब भी उनमें भय का उद्रेक होजाता है । "हव्वे" वा "जू जू" का कल्पित विश्वास भी एक २ लड़के वा लड़की को अँधेरी कोठरी में डरा देता है । जाग्रत अवस्था तो एक तरफ, स्वप्न में भी स्त्री-पुरुष विषयक कल्पित समागम से, सैकड़ों जनों को उसका सुख प्रतीत होता है, और शुक्रपात तक हो जाता है । स्वप्न में भी किसी सांप वा शेर के आक्रमण का कल्पित ख़याल भय उत्पन्न करके सोने वालों को गहरी नींद से जगा देता है । शत्रु की ख़याली मूर्ति भी सन्मुख आने से द्वेष रखने वाले मनुष्यों के भीतर द्वेषभाव को जाग्रत कर देती है । जिस जन में प्रशंसा की वासना वर्तमान हो, उसे यदि कोई झूठमूठ भी यह कहदे, कि अमुक जन

तुम्हारी बुराई वा निन्दा करता है, तो भी उसमें उस कल्पित जन के सम्बन्ध में घृणा वा द्वेषभाव उत्तेजित हो जाता है। सैकड़ों लोग इसी उपाय के द्वारा एक दूसरे को आपस में लड़ा देते हैं, और एक को दूसरे का शत्रु बना देते हैं।

इस कल्पना शक्ति का असर (१) मनुष्य के केवल एक वा दूसरे प्रकार के भावों (फ़ीलिंग) पर हि होता है, भावों के भिन्न किसी और शक्ति पर नहीं होता। (२) जिस मनुष्य में जो भाव वर्तमान हो, वही उत्तेजित होता है, और जो वर्तमान न हो वह उत्तेजित नहीं होता। राजा इन्द्र के अखाड़े की किसी कल्पित परी के कल्पित सौन्दर्य को सन्मुख लाकर उसी पुरुष के भीतर काम शक्ति उत्तेजित हो जाती है, जिसके भीतर वह शक्ति **वर्तमान** हो, और जो किसी स्त्री के सुन्दर मुखड़े को अपने ख़याल में लासकता हो। इसी प्रकार कल्पित ईश्वर के दयालु वा मंगल रूप आदि की कल्पित वर्णना वा वन्दना भी उन्हीं जनों के हृदयों में कुछ उच्छ्वास उत्पन्न करती है, कि जो इन गुणों के **सौन्दर्य्य** की कुछ न कुछ मानसिक छवि अपने सन्मुख लाने और उनके प्रति सात्विक **आकर्षण** अनुभव करने की शक्ति रखते हों, अन्यथा नहीं।

मैं कल्पित ईश्वर को सत्य समझ कर केवल यही नहीं, कि उनकी स्तुति वा वन्दना आदि के द्वारा, अपने उन प्रबल भावों के उत्तेजित होने से **मस्त** हो जाता था, किन्तु इन भावों के उत्तेजित होने से अपने हृदय को एक अपूर्व्व **सौन्दर्य्य** से परिपूर्ण देखता था। इस अद्भुत सौन्दर्य्य को मैं ईश्वर के रूप का प्रकाश जानता था, और यह समझता था कि वह मेरे हृदय में प्रकाशित होकर मुझे अपना **दर्शन** दे रहे हैं, और मेरे हृदय में **विहार** कर रहे हैं—मैं इस समय में इस भाव के अनुकूल जो कई गीत गाता था, उनमें एक गीत भी यों शुरू होता था:—"हृदय कमल में हरि करो विहार," इत्यादि। जब मेरा हृदय इन उच्च भावों के प्रकाश से भरा हुआ होता था, तब मैं मनुष्य के परमोच्च लक्ष्य, उच्च और नीच जीवन, और उन के फलों आदि के विषय में नाना प्रकार के **तत्त्व** देखता था। उन्हें देख कर और उस

समय के किसी उच्च भाव से परिचालित होकर उन्हें कभी **उपदेश** के रूप में, और कभी **बन्दना** और **प्रार्थना** आदि के रूप में **प्रकाशित** करता था। उस काल में "रूहानी ज़िन्दगी" नामक पुस्तक के पांच भाग, जो क्रम २ से छापे गए थे, उनके नाना उपदेश और उनके भिन्न प्रार्थना आदि सम्बन्धी कितने हि लेख प्राय: ऐसे हि समयों के अनुप्राणित वा भावापन्न हृदय का फल थे। इसके भिन्न मैं अपने हृदय में हित अनुराग विषयक कितनी ही शक्तियों के वर्तमान होने के कारण उनके द्वारा जब कोई शुभ प्रेरणा अपने भीतर अनुभव करता, तभी उसे उस समय के विश्वास के अनुसार यह समझता, कि वह **ईश्वर की तरफ़** से है और मेरे लिए उनका **आदेश** है, कि जिसे मैं अपनी **विवेक** (कांशंस वा ज़मीर) शक्ति के द्वारा सुन रहा हूं।

इस काल में एक ओर आत्मा की गठन के सम्बन्ध में अति अल्प और दूसरी ओर कई बातों के विचार से भ्रममूलक विश्वास के होने से, मैं इस विश्वास के अनुसार ईश्वर के रूप का **दर्शन**, उनके आदेशों का **श्रवण** और उन्हें अपने आन्तरिक योग के द्वारा सम्भोग करके उन्हें **स्पर्श** करता था। मैं इस अवस्था को अपने लिए परम वांछनीय "ईश्वर की प्राप्ति" समझता था। मैं इस अपूर्व ज्योति और शक्ति के प्रकाश से अपने हृदय को भरपूर देख कर अपने आप को धन्य २ और कृतार्थ समझता था। मैं उस के अपूर्व्व आनन्द और शान्ति और अभय-प्रद प्रभावों को संभोग करता था। मैं इस उच्च अवस्था की तुलना में पृथिवी के कुल राज्य और उसके ऐश्वर्य्य और सुखों और वैभव को अत्यन्त हेय और तुच्छ और आत्मा के लिए अति हानिकारक जानता था। इस सारी लीला में जो कुछ **वास्तविक सार और सत्य था,** वह मेरी सत्य और हित-अनुराग सम्बन्धी नाना **उच्च शक्तियां** और उनकी विचित्र **क्रियाएं** थीं; उनके भिन्न ईश्वर **दर्शन** और उनके आदेशों का **श्रवण** और उनका **स्पर्श** आदि सब विश्वास केवल **असत्य**मूलक थे।

परन्तु यह कल्पना शक्ति अत्यन्त विचित्र शक्ति है। यह जब किसी आत्मा में किसी अंश में भी सत्य-रानी की आमोदकारी, परन्तु

अनुगत सखी बनकर सेवा करती है, तब बहुत उपयोगी और कल्याणकारी प्रमाणित होती है। परन्तु इस के विपरीत चलकर बड़े २ हानिकारक और भयानक फल उत्पन्न करती है। मनुष्य-जगत् में भय और लोभ की साथी बनकर उसने आज तक बहुत हानिकारक लीला दिखाई है। पृथिवी के नाना मिथ्या मतों और मिथ्या-मत-मूलक सम्प्रदायों की सृष्टि में इसी का बढ़ चढ़कर हाथ रहा है। नाना प्रकार के मिथ्या देवी-देवतों, और नाना प्रकार के मिथ्या स्वर्गों और नरकों की उत्पत्ति में इसी ने सहायता की है। पाप और पुण्य विषयक नाना झूठी गप्पों के घड़ने में इसी ने बड़ी मदद दी है। मनुष्य-कृत पुस्तकों को ईश्वरकृत पुस्तकें बनाने और नाना प्रकार की झूठी करामातों के मिथ्या जाल के खड़े करने में इसी ने बहुतसा भाग लिया है। नाना खोटे और महा पाप-कर्म्मों को ईश्वर वा किसी अन्य देवता का **आदेश** और भला कार्य्य बताकर इसी ने लाखों मनुष्यों को महा अपराधी और पापी बनने के लिए बहुत कुछ तैयार किया है; इत्यादि। सत्य-अनुराग के सब अंगों के आवश्यक रूप में विकशित होने के बिना यह मनुष्य को नाना प्रकार के **मिथ्या** विश्वासों और **कुसंस्कारों** में लिप्त रखती है।

बारहवां परिच्छेद

मुझ में तत्त्वदर्शिनी ज्योति का प्रकाश

मेरे आत्मा में सत्य और हित विषयक विविध अनुराग और असत्य और अहित विषयक विविध विराग शक्तियों ने विकशित होकर केवल यही नहीं, कि मुझ में विशेष उच्च, पवित्र और उन्नतशील जीवन उत्पन्न कर दिया, किन्तु विकाश के नियम के अनुसार मुझ में उस विशेष ज्योति की उत्पत्ति भी आरम्भ कर दी, कि जो जीवन विषयक नाना प्रकार के तत्त्वों के देखने की योग्यता प्रदान करती है। यह बड़ी विचित्र ज्योति थी। इस ज्योति को पाकर मैं जो कितना धन्य २ हुआ, उसका वर्णन नहीं कर सकता। इस ज्योति के उत्पन्न और क्रमागत उन्नत होने से मैंने मनुष्य जीवन विषयक अत्यन्त जटिल और गूढ़ रहस्यों से पूर्ण राज्य में प्रवेश करने और उसके तत्त्वों के खोजने और देखने की एक विलक्षण शक्ति लाभ की। जैसे "एक्स" नामक किरणों को प्राप्त होकर उनकी ज्योति में मनुष्य अपने स्थूल शरीर के भीतर के चर्म्म और मोटे २ पट्ठों से आवृत अंगों को, प्रत्यक्ष रूप से देखने के योग्य बन गया है, वैसे हि मैं इस विचित्र ज्योति को प्राप्त होकर उसकी **मात्रा के अनुसार** जीवन विषयक नाना तत्त्वों के देखने के योग्य बन गया। एक ओर मुझ में तत्त्व ज्ञान के लिए आकांक्षा वर्तमान थी, दूसरी ओर उसकी सिद्धि में सहाय होने के लिए उपरोक्त ज्योति भी प्राप्त थी। फिर और क्या चाहिए। इधर तत्त्व ज्ञान की खोज जारी हो गई, उधर इस खोज विषयक संग्राम में मेरी आन्तरिक ज्योति की सहायता से मुझे तत्त्वदर्शन होने लगा। जिस प्रकार एक ज्योतिष-तत्त्व-अनुरागी अपनी दूरबीन लगाकर बाहर की ज्योति की सहायता से आकाश-विहारी तारों के देखने की चेष्टा करता है उसी प्रकार मैं मनुष्य

जीवन विषयक तत्त्व-ज्ञान का अभिलाषी होकर और अपनी विवेचना शक्ति की दूरबीन लगाकर, जब अपनी इस आन्तरिक ज्योति में उपरोक्त प्रकार के तत्त्वों के दर्शन के लिए न्यून वा अधिक चेष्टा करता तभी मेरे भीतर यह तत्त्व स्पष्ट वा धुंधले रूप में प्रकाशित होते।

मैं इस विचित्र ज्योति को प्राप्त होकर जैसे एक ओर तत्त्वदर्शी बन गया, वैसे हि दूसरी ओर मैं आत्मिक जीवन विषयक विविध अंगों के विषय में तत्त्वज्ञान की खोज के लिए संग्राम करने लगा।

तेरहवां परिच्छेद

मुझ में सत्य की जय पर विश्वास का विकाश

अगर किसी मनुष्य के बच्चे को कोई ऐसा बाप मिला हो, कि जिसने ऐसी प्रत्येक घटना के उपस्थित होने पर जब कि उस बच्चे पर किसी और ने अत्याचार किया हो, (चाहे वह अत्याचार करने वाले उसके भाई बहिन आदि सम्बन्धी हि क्यों न हों) उसका अपनी वफ़ादारी से बराबर साथ दिया हो, अथवा किसी जन को कोई ऐसा नौकर मिला हो, कि जो अपने मालिक से नाना प्रकार के अपमान, अनादर, दंड और क्लेश आदि पाकर भी उसका हिताकांक्षी रहा हो, और उसका नमक खाकर अपनी जान पर खेल कर भी उसका सेवक रहा हो, तो जैसे उस बच्चे वा मालिक के भीतर कितने हि दिन की ऐसी परीक्षा के अनन्तर अपने पिता वा नौकर पर भरोसा करने का भाव पैदा हो जाता है, अर्थात् वह बच्चा वा मालिक यह समझता है, कि किसी अत्याचार वा विपद के आने पर मेरा बाप वा नौकर अवश्य मेरा साथ देगा, अपने ऊपर क्लेश और दुःख लेकर भी, हां आवश्यक हो तो अपना जीवित शरीर भेंट करके भी, मेरी रक्षा और सहाय करेगा, वैसे ही सत्य और हित अनुराग के उत्पन्न और विकशित होने पर और उनके प्रेम से परिचालित होकर उन्हीं के अनुसार चलने, और वफ़ादारी से उन्हीं का साथ देने से, ज्यों २ मैंने अपने विरोधी जनों, और अपनी आवृत्तकारी प्रतिकूल घटनाओं पर जय लाभ करनी शुरू की, त्यों २ मेरा सत्य की जय पर विश्वास बढ़ता गया, और जब डेढ़ सौ रुपये माहवार की सरकारी नौकरी को छोड़ने और पर-सेवा के लिए अपने आपको पूर्णतः भेंट करने की मेरे हृदय में प्रेरणा आरम्भ हुई, और मेरे भीतर आनेवाली नाना प्रकार की विपदों और कठिनाइयों और अपनी सफलता

आदि के विषय में चिन्ता के चक्र चलने लगे, और संग्राम उपस्थित हुआ, तव इसी विश्वास के वल से मैंने उन सव पर जय लाभ की। मुझे अनुभव हुआ कि जिस 'ईश्वर' को मैं सत्य-स्वरूप विश्वास करता हूं, वह सत्य-स्वरूप होकर मुझ सत्यप्रिय की सत्य के महाकठिन पथ में **अवश्य रक्षा करेगा** और जब मैं अपने हित का सारा भार उस पर फैंकता हूं, तब वह हितस्वरूप होकर, मेरे लिए सव आवश्यक सामान पहुंचाकर **अवश्य** मेरी **सहाय** करेगा।

यह विश्वास मुझ में अत्यन्त वलिष्ठ था। उसके वल का मुझ पर पूर्ण अधिकार था। नीचे की मेरी एक ग़ज़ल मेरे इस विश्वास के वल को भली भांत प्रकाश करती है:—

ग़ज़ल

यहां देवराज आयगा, मुझ को यक़ीन है;
देवत हि फ़तह पायगा, मुझ को यक़ीन है। १
देवत जहां में आया है, पापों को मारने;
पापी का पाप जायगा, मुझ को यक़ीन है। २
देवत जहां में आया है, भारत को तारने;
भारत उद्धार पायगा, मुझ को यक़ीन है। ३
दुनियापरस्त लाख, मुक़ाबिल में खड़े हों;
आखिर शिकस्त खांयगे, मुझ को यक़ीन है। ४
देवत के लाने वाले हैं, ख़ादिम ख़ुदा के ख़ास;
हामी ख़ुदा जो उनका है, मुझ को यक़ीन है। ५

यह वह काल था, जब कि अभी मुझे विकाश विद्या विषयक महा गंभीर और परम हितकर और रसमय अध्ययन में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ था, जब कि मैं "ब्रह्मवादी" तो था, परन्तु **विश्व** वा "**विकाशवादी**" न था; जब कि मुझ पर विश्व के विकाश का यह परम सुन्दर और परम मनोहर रूप, और उसके लाने में जो अटल नियम काम करता है, उसका आश्चर्य्य दृश्य नहीं खुला था; जब कि मुझे यह ज्ञान न था, कि विश्व के उच्च विकाश में जो २ अस्तित्व

श्रृंखला-स्वरूप होकर प्रगट होते हैं, वह इस उच्च विकाश के कार्य्य में जहां तक श्रृंखला होने की योग्यता रखते हैं, वहां तक उनके लिए विश्व के इस विभाग सम्बन्धी **अटल नियम** के अनुसार उस महान् कार्य्य की **सिद्धि** के लिए न केवल **सुरक्षित** रहना, किन्तु आवश्यक और उचित रूप से **अनुकूल सामान** और **सहाय** लाभ करना एक **अवश्यम्भावी बात** है। इसलिए यद्यपि मैं विश्व के इस महानियम से अज्ञात था, और उस समय के गाढ़ विश्वास के अनुसार (जो कि सत्य-मूलक न था) एक कल्पित अस्तित्व अर्थात् ईश्वर को हि अपने जीवन के इस महा कठिन पथ में अपना परम रक्षक, और सहाय और जयदाता जानता था, तथापि वास्तव में मेरे आत्मा के विकाश और मेरी लगातार जय में एक ओर जैसे मेरी सत्य और हितप्रिय नाना शक्तियों का हाथ था वैसे हि दूसरी ओर उन विविध शक्तियों और घटनाओं का हाथ था, कि जिनका विश्व के विकाश सम्बन्धी उच्च कार्य्य में **सहायक** बनना, उसके अटल और अच्छिन्न नियमानुसार **लाज़मी** था।

चौदहवां परिच्छेद

गुरुतत्त्व का प्रकाश और प्रचार

ईश्वर सम्बन्धी कल्पित विश्वासों का यद्यपि मुझ पर बहुत वर्षों तक अधिकार रहा, फिर भी एक ओर अपने आत्मा में उच्च जीवन की उच्च शक्तियों को पाकर, और दूसरी ओर और आत्माओं के भीतर अपनी इन शक्तियों के द्वारा आश्चर्य्य परिवर्तन देखकर, मुझे यह स्पष्ट रूप से मालूम हुआ, कि मेरे भक्ति-भाजन ईश्वर भी **बिना किसी उच्च जीवन धारी आत्मा की सहाय के** आप किसी आत्मा में (जिसमें यह जीवन नहीं) कोई उच्च परिवर्तन **नहीं** ला सकते, और न उसे कोई उच्च जीवन विषयक **किसी सत्य की शिक्षा** दे सकते हैं। और जिस उच्च जीवन के आने से ईश्वर से प्रेम, और उनकी विविध इच्छाओं के पालन के लिए नाना प्रकार के त्याग की योग्यता आ सकती है, वह योग्यता भी तभी आती है, कि जब किसी आत्मा में उपरोक्त परिवर्तन आ चुका हो। और इसलिए धर्म्मदाता सत्गुरु के प्राप्त न होने से ईश्वर को मान कर, और उसकी सन्ध्या और उपासना करके, और नमाज़ पढ़के भी, लाखों जन **अधम** बन रहे हैं। और नाना पाप-कर्म्मों में रत रहकर दिनों दिन नीच बनते रहते हैं। इस सत्य के प्रगट होने पर मैंने **गुरुतत्त्व** का प्रचार आरम्भ किया, और अपनी आत्मिक उच्च शक्तियों के द्वारा मैंने जिन २ आत्माओं में उच्च परिवर्तन उत्पन्न किया था, उन्हें मैंने **शिष्य** रूप में ग्रहण किया। जीवनव्रत ग्रहण करने के कुछ दिन बाद हि मैंने जनवरी सन् १८८३ से अपने धर्म्म-जीवन के प्रचार में सहायक बनाने के लिए "धर्म्म जीवन" नामक जो पत्र जारी किया था, उसके कुछ परचों में मैंने **गुरु की आवश्यकता** पर दो लेख प्रकाशित किए। गुरुतत्त्व के इस प्रचार और विशेषकर उपरोक्त लेखों के प्रकाश

ने मेरे विरोधियों की विरोधाग्नि के भड़काने में घी का काम किया, और तब से यह अग्नि और भी बहुत प्रचण्ड होगई।

इस सत्य ने, इस सत्य से अन्ध और अयोग्य नाना आत्माओं में मेरे प्रति **घृणा** और **द्वेष** आदि भावों को और भी बढ़ा दिया।

पन्द्रहवां परिच्छेद

नियमतत्त्व का प्रकाश और प्रचार

नेचर नियम-बद्ध है। उसमें कहीं और कोई परिवर्तन किसी नियम के विना नहीं होता। उसमें प्रति मुहूर्त जो हज़ारों घटनाएं उत्पन्न होती रहती हैं, वह अटकलपच्चू और अनाप-शनाप नहीं होतीं, किन्तु किसी एक वा दूसरे नियम के अनुसार होती हैं। यह नियम **अटल** हैं। इसलिए जहां और जिस नियम के अनुसार जिस किसी घटना का प्रगट होना आवश्यक है, वहां वही घटना प्रगट होती और होसकती है; उसके भिन्न कोई और नहीं।

इस नियमतत्त्व को सत्य रूप से देख कर मैं उसका पूर्णतः पक्षपाती बन गया। "पाप और अमर जीवन के सुलहकुल और आलमगीर असूल" नामक पुस्तक में से (जो १८८६ ई० में छपी थी) आत्मिक जीवन के परिवर्तन आदि के विषय में जिन तत्त्वों को मैं ऊपर उद्धृत कर चुका हूं, उनके पाठ से मुझ पर इस नियमतत्त्व के प्रगट होने का भली भांत प्रमाण मिलता है। उसके अनन्तर मैंने इसी साल के अख़ीर में "दुनिया के एक आलमगीर और रूहानी मज़हब" पर जो लेक्चर दिया था और जिसका ख़ुलासा पीछे से एक पुस्तक के आकार में प्रकाशित हुआ था, उसके पढ़ने से भी बख़ूबी मालम होसकता है कि यह नियमतत्त्व विषयक ज्ञान मुझ में बराबर उन्नत हो रहा था। मैंने इस लेक्चर में बताया था कि,

(१) आत्मा के जीवन में **उच्च परिवर्तन** के आने से धर्म्म की उत्पत्ति होती है और इसलिए **धर्म्म का आत्मा के जीवन से सम्बन्ध** है और वह साधारण लोगों के ख़याल के अनुसार एक वा दूसरे प्रकार के **मत के मानने** और एक वा दूसरे प्रकार के वेश-भूषा, वा किसी रीति,

वा अनुष्ठान, वा उपवास वा तीर्थ-भ्रमण आदि की चीज़ **नहीं** है।

(२) जैसे भौतिक जगत् में कुल परिवर्तन एक वा दूसरे **नियम** के अनुसार होता है, वैसे हि आत्मा के जीवन में भी जो **भला** वा **बुरा परिवर्तन** होता है, वह किसी **नियम** के अनुसार होता है।

(३) धर्म्म-जीवन की शिक्षा जब विश्वव्यापी **अटल नियमों** के अनुसार हो, तब वह **विज्ञान-मूलक** कही जासकती है।

(४) विज्ञान-मूलक धर्म्मशिक्षा नाना मनुष्यों के लिए नाना प्रकार की नहीं होसकती, किन्तु जैसे गणित वा शरीर-तत्त्व की शिक्षा **सब मनुष्यों के लिए** एक है, वैसे हि **विज्ञान-मूलक धर्म्मशिक्षा** भी मनुष्य मात्र के लिए एक हि होसकती है।

मैं नियमप्रिय होकर विज्ञान का पूर्ण पक्षपाती था, और उसे आत्मिक जीवन विषयक बातों में भी उसी प्रकार तहक़ीक़ात का मौक़ा देना चाहता था, जिस प्रकार उसने धीरे २ नेचर के और कई विभागों में अपनी तहक़ीक़ात का सिक्का जमा लिया था। इस विषय में मैंने उसी पुस्तक में इस प्रकार वर्णन किया है :—

"विज्ञान ने चाहा, कि जैसे अब तक वह बेरोकटोक मनुष्य की शारीरिक वा मानसिक गठन की गवेषणा करता आया है, वैसे हि कुछ और आगे बढ़कर **आत्मिक जीवन** के विषय में भी अनुसन्धान करे; परन्तु आत्मिक जगत् के ख़ज़ानों की जो लोग पहले से हि कुंजियां लिये बैठे थे, उनमें निहायत घबराहट पैदा हुई। उन्होंने स्वभावतः अपने पुराने और 'पवित्र' घर के भीतर वैज्ञानिकों को घुसकर हरएक चीज़ के देखने और परखने में रोक पैदा की; और साफ़ कहा, कि धर्म्म की बातों में जांच और पड़ताल क्या ? और **विश्वास** की बातों में **तर्क** वा **युक्ति** का क्या काम ? तब वैज्ञानिकों ने उत्तर दिया, कि हम तो किसी बात को प्राचीन काल से प्रचलित होने वा ईश्वर की आज्ञा कहलाने के कारण ठीक मानकर स्वीकार नहीं कर सकते। हम केवल आदेश वा ईश्वर वा आप्त वाक्य के नाम से किसी बात को सत्य नहीं मानते। हम पर यह तत्त्व खुल चुका है कि यह सारा विश्व नियम और शृंखलाबद्ध

है। इसलिए यदि तुम्हारा आत्मिक जगत् ईश्वर की सारी सृष्टि से कोई अलग चीज़ नहीं है, तो फिर तुम्हें डरना न चाहिए, क्योंकि उसमें भी प्रकृति के नियमों का ठीक सिलसिला मिलेगा। नहीं तो हमें यदि किसी ऐसी अथारिटी वा किसी ऐसे रिवाज के अनुसार हि चलना होता, तो सूर्य्य और चन्द्रग्रहण आदि के सम्बन्ध में जो पुरानी कहानियां प्रचलित थीं, वह भी हमारे लिए ग्रहणीय हो जातीं। अतएव यदि तुम्हारा मज़हब नेचर के अन्दर है, तो उस की शिक्षा प्राकृतिक नियमों के अनुसार होनी चाहिए।"

"इस भयानक आपत्ति को सुन कर पुरोहितों और मौलवियों और पादरियों आदि मज़हब के पक्षपातियों ने कहा, कि यह कब हो सकता है कि पहले बुज़ुर्ग जो कुछ कह चुके हैं, वह ठीक न हो? वह विज्ञान की इस आपत्ति को सुन कर उसे हज़ार २ गालियां देने लगे, और वैज्ञानिकों को **नास्तिक** और **काफ़िर** आदि के नामों से पुकारने लगे।"......

कुछ और आगे चलकर मैंने यह कहा था :—

"अतएव आत्मा के विषय में उस सच्चे और ठीक ज्ञान[१] के न होने से जो उसकी अपनी गठन से सम्बन्ध रखता है, लोगों ने स्वभावतः मज़हब को कुछ का कुछ बना लिया और लोगों की इस विषय में यहां तक राय हो गई, कि परमेश्वर ने जिसको जिस सम्प्रदाय में पैदा किया हो, उसी सम्प्रदाय का धर्म्म वा मज़हब उसके लिए अच्छा है। परन्तु यह ख़याल न आया, कि धर्म्म ख़ुद क्या चीज़ है और आत्मा और आत्मिक जीवन से उसका क्या सम्बन्ध है? और यदि वह आत्मा वा उसके स्वभाव से कोई अलग वस्तु नहीं है, तो फिर वह **आत्मिक** नियमों के अधिकार में भी है या नहीं, वा नेचर के नियमों से केवल मनुष्य के शरीर और बाह्यक दुनिया का हि सम्बन्ध है; और मज़हब बिलकुल

---

[१] उस समय तक आत्मा के विषय में मेरा अपना सही ज्ञान भी बहुत थोड़ा था, परन्तु वह धीरे २ विकशित होने की बख़ूबी योग्यता रखता था।

एक अटकलपच्चू चीज़ है, कि जो हर सम्प्रदाय के संस्थापक और बाईबेल और क़ुरान, वेद और पुराण, और ज़िन्दावस्था आदि की शिक्षा के अनुसार भिन्न २ और जुदा २ है।"

फिर मैंने इस बारे में अपनी विशेषता का वर्णन करके आगे चलकर यह बयान किया था :—

"इस में सन्देह नहीं, कि यदि मैं अपनी उन्नति के मार्ग में किसी प्रचलित मत वा विश्वास वा रीति वा प्रथा आदि को अथारिटी समझ कर स्वीकार कर लेता, तो फिर वहीं रह जाता, और यहां तक कदापि न पहुंचता। इसलिए मैंने अपनी आन्तरिक प्रकृति के अनुसार कभी किसी बाह्यक अथारिटी को चाहे वह ईश्वर का वाक्य हि कहलाती हो, अपने लिए रहबर नहीं माना......मैंने अपनी प्रकृति के अनुसार अपनी ज़िन्दगी की गति में यह चाहा है, कि मैं ख़याली पैर न उठाऊं, किन्तु जो पांव धरूं, वह मज़बूत ज़मीन पर धरूं, और बोध करूं कि सचमुच मेरे पैर किसी ज़मीन की हि तह पर पड़ते हैं। जिस का अभिप्राय यह है, कि मैं अपनी ऐसी प्रकृति के कारण प्रत्येक सचाई की **साक्षी** का आकांक्षी रहा हूं, जिस का पता यदि मनुष्य की प्रकृति वा उसके वर्तमान जीवन में कुछ न मिले, तो उसे कहानी वा गप्प से बढ़कर कुछ अधिक नहीं समझता था।"

अपनी इस विशेषता का वर्णन करने के बाद आगे चल कर मैंने बतलाया, कि,

"ऐसे जन के लिए कब सम्भव था, कि वह साधारण जनों की न्यांई इसकी वा उसकी बातों को अक़ल और तजरबे की आंखों पर पट्टी बांध कर केवल यूं हि स्वीकार कर लेने की चीज़ बनाले ? इसी लिए इन असाधारण और विशेष शक्तियों के वश होकर मैं बहुत सी मंज़िलों के अन्दर से गुज़रा। कई बातें (सब नहीं) जो एक एक समय में मैंने **ठीक** समझ कर **परीक्षा** के लिए शुरू कीं, उन्हीं को फिर **ग़लत** पाकर, वा कई बार सही पाकर परन्तु आगे की मंज़िलों के लिए **ज़रूरी** न देख कर, छोड़ दिया, और आगे बढ़कर कुछ और परिवर्तन किया।

इसी प्रकार सिलसिला जारी रहा, और आगे भी जारी रहेगा।"

"जो जन आत्मिक जीवन से उदासीन रहते हैं, और संसारासक्ति और पाप में डूबे रहकर मज़हब को केवल कुछ बातों पर **विश्वास** करने की चीज़ जानते हैं......वह निश्चय यह नियम नहीं समझ सकते कि जहां कहीं **जीवन** है, वहीं उसमें हर समय हितकर वा अहितकर, भला वा बुरा **परिवर्तन** होता रहता है। इसलिए हज़ारों लोग स्वयं इस परिवर्तन के नियम के अधीन होकर भी (यद्यपि वह उलटी गति ग्रहण करके अवनति वा पाप की अवस्था में परिवर्तित हो रहे हैं) मेरी इस प्रकार की गति और अनोखे आत्म-त्याग से अचम्भे में आ गए। और कोई उन्हें मेरा पागलपन वा मेरी मूर्खता और कोई उन्हें मेरी चालबाज़ी और कोई कुछ और बताने लगे। और अपनी २ अवस्था के अनुसार नाना प्रकार की भली और बुरी रायें लगाते गए। परन्तु मेरे सम्बन्ध में किसी की अनुकूल वा प्रतिकूल राय कभी ऐसी प्रमाणित नहीं हुई, कि जिससे मैं जिस रास्ते का मुसाफ़िर था उससे फिर या रुक जाता।"

सत्य-अनुराग विषयक नाना अंगों ने जैसे मुझ पर अधिकार लाभ करके मुझे जीवन विषयक परिवर्तन के नाना **तत्त्वों** का खोजी बना दिया था, वैसे हि **नियम** तत्त्व विषयक सत्य ज्ञान ने उन्नत होकर मुझे धीरे २ आत्मिक जीवन के सम्बन्ध में नाना **नियमों** के ढूंढ़ने के लिए भी तैयार कर दिया था।

इस नियम तत्त्व को जानकर, जैसा कुछ और आगे चलकर मैंने बतलाया था :—

"मैंने साफ़ मालूम किया, कि नियम का सिलसिला केवल भौतिक वा शारीरिक, मानसिक वा नैतिक जगत् तक हि ख़तम नहीं होजाता, किन्तु उसका सिलसिला आगे भी जाता है........और अब तक लोग जैसा समझते रहे हैं, कि मज़हबी या आत्मिक बातें इस नियम के सिलसिले से पूर्णतः बाहर हैं, वह उनकी बहुत बड़ी भूल और नादानी है। वह बातें नियम से बाहर नहीं हैं। और जो बातें बाहर हैं, वह केवल गप्पें वा कहानियां हैं।"

"जबकि प्रत्येक मनुष्य के आत्मा में जो परिवर्तन होता वा हो सकता है, वह किसी नियम को छोड़कर नहीं होता और **नहीं** हो सकता, और **नियम हमेशा विश्वव्यापी होता है, और कभी एक जन वा देश के लिए कुछ और दूसरे जन वा देश वा जाति के लिए कुछ और नहीं होता;** तब यह सत्य भली भांत प्रकाशित होता है, कि एक २ किताव वा हादी वा पैग़म्बर को लेकर लोगों ने जो अलग२ मज़हब वना रक्खे हैं, वह अज्ञानता और अन्ध-विश्वास का फल हैं, नहीं तो आत्मिक जीवन के विचार से कुल दुनिया का धर्म्म वा मज़हब एक है।"

सोलहवां परिच्छेद

तत्त्व अनुसन्धान विषयक महाकठिन काम—उस की सिद्धि के लिए मेरा महा संग्राम

(सन् १८८३ ई० से लेकर सन् १८८६ ई० तक—ईश्वर के अस्तित्व को सत्य जान कर)

तत्त्व अन्वेषण महा कठिन काम। मैं उसका अनुरागी तो बन गया, परन्तु उसमें प्रवेश करते हि मुझे मालूम हुआ, कि यह पथ अत्यंत दुरूह और कंटकमय है। मैंने देखा कि मेरे चारों ओर लाखों और करोड़ों जन जो इस अनुराग से ख़ाली हैं, वह धर्म्म विषयक शिक्षा के सम्बन्ध में अन्ध विश्वास पर निर्भर करके निश्चिन्त होकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनके **नाना** और अनेक अवस्थाओं में **परस्पर विरोधी विश्वास सत्य हैं वा नहीं**, इस प्रकार का मानो उनके भीतर कोई **प्रश्न** हि उदय नहीं होता। और यदि किसी कारण से कुछ अल्प-संख्यक जनों का कभी इस ओर ध्यान जाता भी है, तो वह साधारणतः यह नहीं मानते, वा मान सकते कि उनका **अपना** कोई विश्वास मिथ्या होसकता है, किन्तु वह अपने विरुद्ध मत वालों के हि विश्वास को मिथ्या समझते हैं, और वह वा उनके साम्प्रदायिक नेता अपने विरुद्ध विश्वास को खंडन और अपने विश्वास के मंडन करने के लिए युक्तियां ढूंढ़ते और प्रकाश करते हैं। उनके हृदय में मिथ्या से निकलने के लिए केवल यही नहीं, कि कोई प्रेरणा नहीं होती, किन्तु मिथ्या की ओर लेजाने वाली जो शक्तियां उनमें विद्यमान हैं, वह उन्हें इन धर्म्म सम्बन्धी मिथ्या विश्वासों के भिन्न दैनिक व्यवहारों में भी बलपूर्वक **असत्यपरायण** रखती हैं, और वह इस दशा में पूर्णतः **सन्तुष्ट** रहते हैं। फिर इनमें भी कितने हि जन अनेक बार यह जानकर भी, कि उनका अमुक २ विश्वास निश्चय मिथ्या है, उसे औरों के सन्मुख किसी

न किसी तरह सत्य प्रमाणित करने की चेष्टा करना अति **आवश्यक** समझते हैं। उन्हें धन, सम्पद, मान, प्रशंसा, इन्द्रिय-जन्य सुखों आदि के भिन्न आत्मा और उसके जीवन के विषय में कुछ सोचने वा कुछ फैसला करने की कोई ज़रूरत मालूम नहीं होती। उपरोक्त विषयों के दास होकर, वह उन्हीं की चिन्ता, और उन्हीं की प्राप्ति में रत रहते हैं। उन्हीं की प्राप्ति उनका एकमात्र उद्देश्य होता है। और उन्हीं के लिए वह सदा उद्यम वा संग्राम करते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में मेरी आत्मिक प्रकृति ऐसे सम्प्रदायों के लाखों और करोड़ों जनों से पूर्णतः अलग थी। मेरे आत्मा की गठन उनसे बिलकुल भिन्न थी। मैं जैसे किसी अन्ध-विश्वास का पक्षपाती न था वैसे ही किसी इस वा उस सम्प्रदाय का भी पक्षपाती न था। मैं पूर्णतः सत्य अनुरागी था। मुझे किसी सम्प्रदाय वा उसके मत की आवश्यकता न थी; किन्तु धर्म्म तत्त्वों के विषय में **सत्य** और केवल **सत्य ज्ञान** की आवश्यकता थी। उसीके लिए मेरी आन्तरिक प्रकृति व्याकुल थी। उसीकी, क्या मुझे अपने और क्या औरों के हित के लिए, **सच्ची आवश्यकता** थी। इसीलिए धर्म्म-ज्ञान सम्बन्धी तत्त्व अनुसन्धान विषयक अनुराग के उत्पन्न होने पर, मुझमें इस प्रकार के प्रश्न उठने आरम्भ हुए। यथा:—

(१) इस पृथिवी के नाना सम्प्रदाय जिस धर्म्म के नाम से परस्पर भिन्न और कितनी हि बातों के विचार से पूर्णतः विरोधी शिक्षा देते हैं, वह धर्म्म क्या है ?

(२) मनुष्य के साथ धर्म्म का क्या सम्बन्ध है ? क्या धर्म्म मनुष्य की किसी विशेष प्रकृति का नाम है ? यदि ऐसा हो, तो उसकी वह विशेष प्रकृति क्या है ? और वह किन २ लक्षणों से पहचानी जासकती है ?

(३) धर्म्म-जीवन किसी ऐसे आत्मा में क्योंकर उत्पन्न होता वा होसकता है, कि जो उससे विहीन हो ?

(४) आत्मा क्या है ? क्या वह परिवर्तनशील है। मनुष्य-आत्मा में उच्च वा नीच परिवर्तन क्योंकर होता है ? क्या वह नेचर के नियमों

के अनुसार होता है ? यदि नेचर के नियमों के अनुसार होता है, तो वह नियम क्या हैं ? क्या नेचर के अटल नियमों के अनुसार धर्म्म और अधर्म्म विषयक शिक्षा नाना लोगों के लिए नाना प्रकार की और भिन्न २ होसकती है, वा मनुष्यमात्र के लिए एक हि प्रकार की ?

(५) ईश्वर-अनुप्राणन वा "इलहाम" क्या है ? क्या वह प्राचीन काल में हि होता रहा है, वा अब भी होता है ? क्या वह प्रत्येक मनुष्य को हो सकता है ? ईश्वरकृत पुस्तकों की असलियत क्या है ?

(६) ईश्वरपूजा क्या है ? उसकी क्यों ज़रूरत है। उससे क्या लाभ होता है ? सच्ची और झूठी पूजा की पहचान क्या है ?

(७) पाप क्या है? उसका मनुष्य के आत्मा से क्या सम्बन्ध है ? उसमें उसकी किस प्रकार उत्पत्ति होती है ?

(८) पाप से मोक्ष क्योंकर प्राप्त होती है ?

(९) पुण्य वा शुभ कर्म्म क्या हैं ? किसी आत्मा में उनकी उत्पत्ति कब और किस प्रकार होती है ?

०) पाप और पुण्य कर्म्मों का फल कब, किस प्रकार और कहां मिलता है ?

इत्यादि २

यह और इस प्रकार के अन्य प्रश्न मेरे हृदय को उद्वेलित करने लगे, और मैं उनके विषय में गहरी गवेषणा करने लगा।

(मेरी अनुसन्धान विधि)

उपरोक्त विषयों के सम्बन्ध में मेरी अनुसन्धान विधि इस प्रकार थी :—

(१) अपनी आन्तरिक ज्योति और बोध शक्तियों की मात्रा के अनुसार एकाग्रचित्त होकर ध्यान और विचार के द्वारा सत्य के देखने के लिए संग्राम करना;

(२) एक २ विषय के सम्बन्ध में जहां तक और जो २ सत्य मिल सकते हों, उन्हें एकत्र करना;

(३) एकत्रित सत्यों को श्रेणीबद्ध करना;

(४) युक्ति और तर्कणा के द्वारा श्रेणीबद्ध सत्यों में से किसी साधारण **तत्त्व** वा **नियम** के उद्घाटन की चेष्टा करना।

अपने सब अंगों के विचार से यह विधि ठीक अवश्य थी। परन्तु पूर्णतः अभ्रान्त नहीं थी, और न हो सकती थी। सावधानता रखने पर भी सत्य वा फ़ैक्ट के अवलोकन और नाना सत्यों के श्रेणीबद्ध करने और तर्कणा-मूलक सिद्धान्तों के निकालने में एक वा दूसरी भूल का होजाना जैसे **सम्भव** था, वैसे हि **सत्य** भी था। परन्तु जिस प्रकार किसी सड़क पर चलते हुए किसी मनुष्य के पांव बिलकुल एक सीधी रेखा पर नहीं पड़ते परन्तु वह इस प्रकार चलते २ एक मील पत्थर के बाद दूसरे मील पत्थर के निकट पहुंच कर अपने निर्दिष्ट स्थान पर जा उपस्थित होता है, उसी प्रकार मेरे अनुसन्धान का हाल था। मैं इस अनुसन्धान पथ पर चलकर और एक वा दूसरी भूल करके, और फिर सत्य को प्राप्त होकर जहां उस के दूर करने का मौक़ा पाता गया, वहां इन और इनसे आगे और तत्त्वों के ढूंढ़ने के लिए संग्राम करते २ आख़िरकार सत्य सिद्धांतों पर पहुंच कर सिद्ध काम भी होता गया। जो चलने की सामर्थ्य रखता है, और अपने लक्ष्य स्थान की ओर चलता है, और अपनी गति में ठहर नहीं जाता, वह एक न एक दिन अपने लक्ष्य पर पहुंच जाता है।

मैंने बहुत काल की गवेषणा के बाद पहले सन् १८८५ ई० में उर्दू में एक पुस्तक प्रकाशित की, जिस का नाम "पाप और मुक्ति" था। इसमें मैंने (१) "रूह और रूहानी ज़िन्दगी" (२) "पाप जीवन और उसका फल" (३) "पाप जीवन का बोध" (४) "पाप जीवन के बोध की पहचान" (५) "पाप जीवन से मुक्ति" (६) "मुक्तियाफ़्ता ज़िन्दगी की मोटी २ अलामतें" शीर्षक छै अध्याओं में ४६ वाक्य (पैरेग्राफ़) लिखकर प्रगट किए। मेरी मानसिक और हृदय शक्तियों की उन्नति जारी रही। मेरी आन्तरिक ज्योति और सत्यदर्शक और तत्त्वनिरूपण शक्ति और बढ़ी; और मैंने सन् १८८६ में "पाप और अमर जीवन के सुलहकुल और आलमगीर उसूल" नामक एक और पुस्तक उर्दू में प्रकाशित की। यह पहली पुस्तक की अपेक्षा बहुत चढ़

बढ़ कर थी। इसमें मैंने (१) "आदमी और उसकी ज़िन्दगी" (२) "पाप जीवन और उसका फल" (३) "पाप जीवन से ग़फ़लत और उसका बोध" (४) "पाप जीवन के ख़ौफ़नाक नतायज और उससे उद्धार पाने के उसूल" (५) "पाप की सज़ा यानी उसका कफ़ारा" (६) "नई ज़िन्दगी के हासिल करने की शरायत" (७) "नई ज़िन्दगी के शुरू होने की पहचान" (८) "नई ज़िन्दगी की तरक़्क़ी के सामान और साधन" (९) "पापियों के लिए संजीवनी शक्ति की तम्बीह और ख़ुशख़बरी" (१०) मुक्तियाफ़ता पाक और मक़बूल ज़िन्दगी की अलामतें" शीर्षक दस अध्यायों में ८५ वाक्य (पैरेग्राफ़) लिखकर प्रकाशित किए।

मैं अपनी इस समय की युक्तियों के अनुसार ईश्वर के गुणों और उनकी क्रियाओं आदि के विषय में मतभेद रखकर भी, उनके अस्तित्व पर पूर्ण विश्वास रखता था। ईश्वर के अस्तित्व को सत्य जानकर उसके आधार पर जो २ दार्शनिक तत्त्व मैंने अपने उस काल के अनुसन्धान के अनुसार इस पुस्तक के द्वारा प्रगट किए थे, उनका सारांश यह है :—

[मनुष्य की गठन]

(१) मनुष्य का अस्तित्व भौतिक शरीर और आत्मा विशिष्ट है। इन दोनों में आत्मा हि सार है।

(२) मनुष्य में दर्शन, श्रवण, स्पर्श आदि निम्न बोध दायिनी शक्तियां वर्तमान हैं।

(३) मनुष्य में स्मरण, विवेचना, अनुकरण आदि कितनी हि मानसिक शक्तियां पाई जाती हैं।

(४) मनुष्य में शारीरिक सुख, धन, मान, यश, हिंसा, द्वेष आदि कितनी हि वासना और उत्तेजना शक्तियां भी हैं।

(५) मनुष्य को उपरोक्त शक्तियों के भिन्न न्याय, दया, क्षमा, कृतज्ञता, सरलता, विश्वस्तता, दीनता, धैर्य्य और आशा आदि विषयक "दिल की हमीदा ख़सलतें" भी मिली हैं। इनके भिन्न उसे वह देवभाव भी बीजरूप में मिले हैं कि जिनके प्रस्फुटित होने से उसमें ईश्वर-

विश्वास, ईश्वर-ज्ञान, ईश्वर-प्रेम, पवित्रता, निर्भर, अभय, शान्ति और परमानन्द आदि की उत्पत्ति होती है।

[ईश्वर और उसके साथ मनुष्यात्मा का सम्बन्ध]

(६) ईश्वर सारे विश्व का सृष्टा है। वह पूर्ण ज्ञानमय, पूर्ण सत्य-प्रिय और पूर्ण मंगलस्वरूप है।

(७) ईश्वर हि मनुष्यात्माओं का एकमात्र परम सम्बन्धी, परम रक्षक, परम प्रतिपालक, मोक्षदाता और विकाशकर्ता है।

(८) ईश्वर के सत्य, न्याय और मंगल स्वभाव के विरुद्ध मनुष्य जो २ कुछ चिन्ता, कथन और कार्य्य करता है, उससे उसका आत्मा विकार-युक्त वा पापी बनता है।

(९) मनुष्य अपनी वासनाओं और उत्तेजनाओं के वशीभूत होकर ईश्वर की शुभ इच्छा के विरुद्ध जो २ कुछ चिन्ता, कथन वा कर्म्म करता है, उससे उसकी उपरोक्त हमीदा ख़सलतों और उसके देवभावों को उसी तरह हानि पहुंचती है, जिस तरह ज़हर के सेवन से शरीर को हानि पहुंचती है।

[मनुष्य-आत्मा में मोह और पाप विषयक बोधों की उत्पत्ति]

(१०) मोह और पाप-ग्रस्त आत्मा सांसारिक विषयों की नाना चिन्ताओं में लिप्त होकर अपनी ऐसी अवस्था से बेसुध रहता है। और उसके जगाने के लिए ईश्वर की ओर से कभी २ ऐसी घटनाएं आती हैं कि जिनमें पड़कर वह इस संसार को असार देखता है, और कुछ देर के लिए उससे उदासीन भी होजाता है। परन्तु जब तक "पूरी बेदारी" न हो, तब तक उसके उद्धार का मार्ग नहीं खुलता।

(११) उच्च जीवनधारी आत्माओं के द्वारा "पापियों को अपने पापजीवन से बेदार होने, और उससे फिर कर नई ज़िन्दगी पाने का मौक़ा बहुत जल्द और ज़्यादा मिलता है,"

(१२) पूर्ण रूप से जाग्रत होने और नव जीवन के मिलने पर पापी मनुष्य के हृदय में एक ओर अपने पाप के प्रति घृणा और दुःख वा अनुताप और दूसरी ओर मोह और नीच प्रवृत्तियों के दासत्व से निकल

कर ईश्वर के साथ मेल स्थापन करने के लिए संग्राम उत्पन्न होता है।

[पाप का दण्ड, पवित्रता और ईश्वर से मेल]

(१३) उपरोक्त दुःख हि पाप का सच्चा दण्ड है। यही आत्मिक दुःख सच्चा नरक है। इसके भिन्न कोई स्थान नरक नहीं।

(१४) इस सच्चे नरक-दुःख से "कोई पापी बच नहीं सकता, क्योंकि परमात्मा का इंसाफ़ कामिल है।"

(१५) ईश्वर की सन्तान होने से किसी न किसी दिन (चाहे इस दुनिया में, चाहे किसी और में) प्रत्येक पापी के लिए पापजीवन से फिरना, और नई ज़िन्दगी पाकर ब्रह्मराज में दाख़िल होना ज़रूरी है।

(१६) जब कि "परमात्मा की मंगल इच्छा के ख़िलाफ़ फ़िकर, कलाम और अमल करने से पापजीवन पैदा होता है, इसलिए जब तक बाग़ी रूह पापजीवन से फिर कर फिर परमात्मा की मरज़ी के साथ अपनी कुल ख़्वाहिशों और इरादे में एक न होजाए, और परमात्मा के साथ सच्चा मेल पैदा न करे, तब तक वह पापजीवन और उसके भयानक फलों से मुक्ति नहीं पा सकती।"

(१७) मुक्ति के बाद परमात्मा से पूर्ण मेल के होने पर आत्मा अमर हो जाता है, "क्योंकि परमात्मा अमर है" और अमर होकर और ईश्वर के आश्रित रहकर आत्मा अनन्त काल तक उन्नति करता है।

[मुक्ति और अमर जीवन के नियम]

(१८) "प्रेम और आत्म-समर्पण हि दो ऐसी चीजें हैं, कि जो मुक्ति और अमर जीवन की प्राप्ति के लिए विश्वव्यापी नियम हैं। विशुद्ध उच्च प्रेम की उत्पत्ति और उन्नति के साथ २ आत्म-समर्पण अर्थात् स्वार्थ का नाश, एक प्राकृतिक नियम है।"

(१९) "एक सच्चे प्रियतम की न्यांई परमात्मा हरएक पापी का पूरा दिल चाहते हैं। जो कुछ दिल ईश्वर को, और कुछ 'नफ़्स शैतान' को देना चाहता है, वह धोखेबाज़ और मक्कार है, और अपने आपको मुक्ति और अमर जीवन से वंचित रखकर अपने आत्मा को जान-बूझ

कर मृत्यु के हवाले करता है।"

[मोक्ष विषयक चार साधन]

(२०) पापी को पापजीवन के वोध के वाद उससे मोक्ष पाने के लिए चार साधनों की आवश्यकता है। यथा :––

(१) **त्याग**––अर्थात् जो चिन्ता, विश्वास और कार्य्य उसे असत् और पापमूलक मालूम हो, उसे त्याग करे, और उसके त्याग से धन, मान, शारीरिक सुख आदि की जो २ हानि पहुंचती हो, उसे ग्रहण करे।

(२) **भेंट**––अर्थात् अपने तन, मन, धन और पदार्थ आदि को ईश्वर की मंगल इच्छा के अनुसार उनकी सन्तान की सेवा और भलाई के लिए अर्पण करे।

(३) **विश्वास**––अर्थात् यह निश्चय करे, कि मैं पापजीवन से मोक्ष के लिए जब उनकी शरण लेता हूं, तब वह मेरे दिल को अपनी संजीवनी शक्ति के द्वारा परिवर्तित करके अवश्य मेरा उद्धार करेंगे।

(४) **प्रार्थना**––अर्थात् पाप-बोध के अनन्तर उससे उद्धार के लिए हृदय की सच्ची व्याकुलता से ईश्वर की संजीवनी शक्ति की आकांक्षा करे।

[आत्मिक उच्च परिवर्तन के लक्षण]

(२१) पापजीवन से फिर कर धर्म्म की नई ज़िन्दगी जिन २ लक्षणों से पहचानी जाती है, वह यह हैं :––

१––पाप के लिए दुःख वा अनुताप।

२––स्वार्थ-परायण जीवन के प्रति घृणा।

३––प्रवृत्तियों के आधिपत्य के साथ संग्राम।

४––सत्य और पवित्रता के लिए सब प्रकार के त्याग की इच्छा।

५––आत्मिक सार जीवन की आकांक्षा।

६––निष्काम भाव से औरों की भलाई अथवा परोपकार-साधन की आकांक्षा।

७––परमात्मा और धर्म्म के सम्बन्ध में उपदेश आदि श्रवण में

प्रीति और उनके विरुद्ध बातों से घृणा।

८—हृदय में धर्म्म-जन्य पवित्रता, शान्ति और आनन्द आदि भावों का अनुभव।

[धर्म-पथ प्रदर्शन के लिए मुक्ति-प्राप्त सत्गुरु और अन्य साधनों की आवश्यकता]

(२२) पाप बोध के बाद धर्म्म मार्ग की राह दिखाने और पाप-बोधों को स्थिर रखने और उन्नत करने, और हृदय में बल संचार आदि के लिए छै बातों की आवश्यकता है। यथा:—

१—मुक्ति-प्राप्त सद्गुरु।

२—साधु संग।

३—पहले महात्माओं के साथ धर्म्म-गत सम्बन्ध।

४—धर्म्म पुस्तकों का पाठ वा श्रवण।

५—उपासना।

६—निष्काम हितकर कर्म्म।

[धर्म्म-जीवन के विषय में मिथ्या विश्वास]

(२३) (१) किसी धर्म्म-मत, वा धर्म्म शिक्षा, वा धर्म्म पुस्तक, वा अवतार वा पैग़म्बर का मानना (२) किसी मज़हबी रसम का पूरा करना, (३) किसी सम्प्रदाय के विशेष चिह्नों को धारण करना, (४) किसी व्रत वा तप वा नफ़्सकुशी आदि के नाम से कोई शारीरिक कष्ट उठाना (५) लोगों में भलामानस कहलाना (६) किसी इबादत वा पूजा आदि के समय किसी शान्ति वा सुखप्रद प्रभाव को प्राप्त होना; धर्म्म सम्बन्धी **सच्चे नव जीवन की प्राप्ति का कोई लक्षण नहीं।** यह सब लक्षण ऐसे जनों में भी पाए जाते हैं, कि जो धर्म्मजीवन से पूर्णतः ख़ाली होते हैं।

[मोक्ष-प्राप्त और धार्मिक मनुष्य को पहचान]

(२४) जिन २ लक्षणों से मोक्ष-प्राप्त और धार्मिक आत्मा पहचाना जासकता है, वह यह हैं:—

१—हृदय से सब प्रकार की बुरी कामनाएं मर जाती हैं। और

कोई बुरी आकांक्षा उत्पन्न नहीं होती।

२—हृदय पवित्र रहता है। रात को सोने के समय परीक्षा करने पर किसी के सम्बन्ध में कोई ऐसा पाप वा अपराध दिखाई नहीं देता, कि जिसके लिए उसका "कांशंस" उसे भर्त्सना करता हो।

३—परमात्मा की संजीवनी शक्ति का हृदय पर अधिकार होता है, और देव भाव उन्नत होते हैं।

४—बड़े से बड़े पापी और अपने शत्रु के सम्बन्ध में भी हित करने की आकांक्षा रहती है।

५—ईश्वर से बढ़कर कोई चीज़ प्यारी नहीं रहती, और सब प्रकार की आन्तरिक और बाह्यक "बुत" वा "दुनिया-परस्ती" चली जाती है।

६—परमात्मा के लिए सब प्रकार की "क़ुरबानी" करने की आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है।

७—जीवन की राह में ईश्वर से आवश्यक आदेश मिलते हैं, और हृदय उन आदेशों को पालन करने के लिए तैयार रहता है।

८—हृदय परमात्मा पर निर्भर रखता है, और उनके दर्शन और योग से दिल शान्ति और आनन्द पाता है।

९—हृदय में निर्भीकता रहती है, और दुनियादार पापी की तरह वह अनुचित फ़िकर और भय से कष्ट नहीं पाता।

१०—सब प्रकार के कर्तव्य-कर्म्म प्यारे लगते हैं, और उन्हें पूरा करके हृदय मिठास और सुख पाता है।

११—मां बाप और सन्तान, भाई, पति, पत्नी, मित्र और बन्धु, मालिक और नौकर, गुरु और शिक्षक आदि सब सम्बन्धियों के साथ स्वार्थ से ऊपर **धर्म्म-गत सम्बन्ध** स्थापन होता है।

१२—वह मनुष्य और अन्य जीवों की भलाई में सदा रत रहता है।

सत्रहवां परिच्छेद

देवधर्म्म की घोषणा और देवसमाज स्थापन

मुझ में जो देवजीवन विकशित हो रहा था, और मैं देवत्व के जिस नवजीवन का प्रचार करता था, वह और सम्प्रदायों के लाखों लोगों के लिए तो पूर्णतः अनोखा था हि, किन्तु ब्राह्म समाज के लोगों को भी बहुत कुछ निराला मालूम होता था। इसीलिए पापबोध, पाप से मोक्ष, नव और अमर जीवन आदि विषयक मेरे नाना उपदेश (मेरे कुछ शिष्यों के भिन्न) उन्हें प्रहेलिका की न्यांई मालूम होते थे। और जिस तरह हंस की बोली कौवा नहीं समझता, उसी तरह वह मेरे इन उपदेशों के समझने में अपने आप को अयोग्य पाते थे। पाप-बोध विहीन, पाप-प्रिय, नीच-लक्ष्य-गामी और संसारासक्त आत्माओं के हृदयों में उच्च परिवर्तन, और उनमें धर्म्म विषयक नवजीवन के उत्पन्न और विकशित करने के लिए देवत्व-प्राप्त जिस सद्गुरु की आवश्यकता है, वह आवश्यकता केवल यही नहीं, कि उन्हें कुछ भी प्रतीत न होती थी, किन्तु गुरुतत्त्व के प्रकाशित होने पर मैं उसके विषय में जो कुछ प्रचार करता था, वह प्रचार उन्हें बहुत बुरा और हानिकारक मालूम होता था। इसीलिए वह मेरी ओर आकृष्ट होने के स्थान में उलटा दूर होते गए। और केवल यही नहीं, कि वह मेरे उपदेशों से कोई विशेष लाभ नहीं उठाते थे, किन्तु उलटा मेरे **विरोधी** होकर मेरे जीवनव्रत सम्बन्धी उच्च कार्य्य में प्रतिबन्धक बन रहे थे। मैं कितने काल तक इस प्रतिकूल अवस्था में भी काम करता रहा। परन्तु उनकी समाज और उनके संग रहकर जब और अधिक समय तक निर्वाह करना असम्भव हो गया, तब मैंने ६ फाल्गुण, सं० १९४३ वि०, अर्थात् १६ फरवरी, सन् १८८७ ई० को भूतपूर्व्व राजराजेश्वरी विक्टोरिया की

सुवर्ण-जुबिली के महोत्सव वाले दिन अपने घर के साधनालय में एक विशेष अनुष्ठान सम्पन्न करके **देव धर्म्म की घोषणा की, और इस घोषणा के प्रकाश में उसकी अलग एक जयपताका खड़ी की।** इसी दिन से देवसमाज का सूत्रपात हुआ। इस समय से मेरा जीवन-व्रत संबंधी सब काम पूर्णतः स्वतन्त्र रूप से होने लगा। इसी समय से मेरे जीवन का एक और युग आरम्भ हुआ। इस अनुष्ठान के विषय में एक संक्षिप्त नोट, जो २० फरवरी सन् १८८७ ई० के "धर्म्मजीवन" में प्रकाशित हुआ था, वह कुछ शब्दों के परिवर्तन के साथ नीचे दरज किया जाता है :—

"राजराजेश्वरी विक्टोरिया की सुवर्ण जुबिली के दिन, अर्थात् १६ फरवरी सन् १८८७ ई०, अथवा ६ फाल्गुण संवत् १९४३ वि० को, जबकि सारा भारतवर्ष ख़ुशी से गूंज रहा था, और जो दिन न सिरफ़ इस देश के इतिहास में किन्तु तमाम दुनिया में एक विशेष और मुबारक दिन समझा जाएगा, ब्रह्मवादी जी (श्रीदेवगुरु भगवान्) के साधनालय में एक ख़ास रस्म अदा की गई। जिस सार्वभौमिक देवधर्म्म के द्वारा देवराज स्थापन करने की ग़रज़ से संजीवनी शक्ति का उनके आत्मा में प्रकाश हुआ है,……उसी देवधर्म्म की जय के लिए उन्हें अपने पवित्र जीवन और आत्म-समर्पण के द्वारा सारी उमर के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध होकर जिस झंडे के खड़े करने और उसके नीचे पूरी वफ़ादारी के साथ खड़े रहने की ज़रूरत है, उसी के सम्बन्ध में यह अनुष्ठान था। इस अनुष्ठान के समय उपस्थित जनों के सन्मुख एक बड़ा **झंडा** रक्खा हुआ था। उसका बांस सुर्ख़ कपड़े से मढ़ा हुआ था, और उस पर सफ़ेद कपड़े का एक फरेरा लगा हुआ था। इस फरेरे पर लाल अक्षरों में "देवधर्म्म" के शब्द लिखे हुए थे। पहले ब्रह्मवादी जी ने एक अति प्रभावशाली उद्बोधन दिया, फिर एक उपदेश पढ़ा गया। जिसके अनन्तर एक भजन गाया गया। फिर ब्रह्मवादी जी ने अपनी प्रार्थना आरम्भ की। इस समय **संजीवनी शक्ति** का एक ऐसा अजीब और ग़ैरमामूली और निहायत ज़ोरदार प्रकाश हुआ, कि जिसका बयान नहीं होसकता। इस समय

ब्रह्मवादी जी की आंखों से आंसुओं की धार बह रही थी। और अन्य उपस्थित जन भी अश्रुधार बहाते हुए प्रार्थनाएं कर रहे थे। और इस प्रकार देवराज का एक जीवन्त दृश्य उत्पन्न हो रहा था, और साधनालय का स्थान देववाणी से गूंज रहा था। प्रार्थनाओं के अनन्तर आत्म-समर्पण करके और आत्म-समर्पण सम्बन्धी गीत गाकर **देवधर्म्म की जय** के लिए आशीर्वाद चाहा गया। जिसके बाद यह **झण्डा** प्रचार-आफ़िस की छत पर खड़ा किया गया।"

इस अनुष्ठान से प्रायः दो सप्ताह पहले, अर्थात् ३० जनवरी, सन् १८८७ ई० को इतवार के दिन दोपहर के दो बजे से कुछ पहले, पंजाब ब्राह्म-समाज की प्रबन्धकारिणी सभा के ग्यारह मेम्बरों का एक "डेप्यूटेशन" मेरे घर पर इस अभिप्राय से पहुंचा था, कि मैं उनके मन्दिर में जो उपदेश दिया करता था, उन्हें बन्द न करूं। मैंने उन्हें कहा, कि मैं एक "प्राईवेट जन" की न्यांई कभी २ आपके बुलाने और अवकाश मिलने पर, आपके मन्दिर में उपदेश दे सकता हूं, यदि मेरे ऐसा करने में आप लोग कोई विघ्न न डालें और मेरे जीवनव्रत सम्बन्धी कार्य्य में कोई रोक न बनें; अन्यथा नहीं। इस कथन के प्रसंग में मैंने उनके सन्मुख अपने अनोखे व्रत के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट रूप से जो कुछ कहा था, वह यह था :—

"आपकी यह समाज और बहुतसी समाजों की न्यांई एक ऐसी समाज है, कि जिसका साधारणतः केवल यही अभिप्राय है कि आप लोगों ने जो मन्दिर बना रक्खा है, उसमें आठवें दिन कुछ लोग आकर थोड़ी देर के लिए उसी तरह कुछ ईश्वर का भजन कीर्तन आदि सुन लिया करें, जिस तरह और ठाकुर और देवीद्वारों आदि में बहुतसे हिन्दू (किसी देवी देवता के सम्बन्ध में) किया या सुना करते हैं।......मैं इस प्रकार की अवस्था को ठीक नहीं समझता। मेरा मिशन कुछ और हि है। मैं इसलिए पैदा नहीं हुआ, कि लोगों को कुछ ऐसे स्तोत्र सिखला या याद करा दूं, कि जिनमें किसी देवी वा देवता के नाम के स्थान में एक परमेश्वर का हि नाम आया करे, या लोग संसार की दृष्टि में अपने

साधारण जीवन के विचार से नेक बनकर प्रातःकाल वा सन्ध्या को अपने मुंह से ईश्वर का नाम ले लिया करें। **किन्तु मेरा मिशन इस अवस्था को दूर करके आत्माओं में नवजीवन, मोक्ष और देवजीवन को उत्पन्न करना है, और उन्हें पापजीवन से निकाल कर इसी दुनिया में उनके कुल सम्बन्धों को पवित्र करके धर्म्मराज्य की बरकतों से माला-माल करना है।** इसी उद्देश्य को सन्मुख रखकर मैंने गत चार वर्ष तक आपके मन्दिर में बराबर उपदेश दिए हैं, यद्यपि आप लोगों ने मेरे इस उद्देश्य और मेरी शिक्षा से लाभ न उठाया हो, परन्तु और बहुतसे लोगों ने उससे नई ज़िन्दगी अवश्य पाई है।"

अठारहवां परिच्छेद

तत्त्व अनुसन्धान विषयक महा कठिन काम—उसकी सिद्धि के लिए मेरा महा संग्राम

[१८८७ ई० से १८६३ ई० तक—ईश्वर के अस्तित्व को सत्य जानकर]

महाव्रत ग्रहण करने के वाद सन् १८८६ ई० तक मैंने अपने तत्त्व अनुसन्धान विषयक संग्राम में जो कुछ सफलता लाभ की थी, उसका सारांश मैं इस पुस्तक के १६वें परिच्छेद में देचुका हूं। उसके अनन्तर अर्थात् १८८७ ई० से लेकर १८९३ ई० तक मैंने अपने आविर्भाव और धर्म्म के अन्य तत्त्वों के विषय में जो कुछ और गवेषणा की और उनके सम्बन्ध में जो २ कुछ और शिक्षा दी, वह यह थी :—

मेरी शिक्षा

(१)

मेरा आविर्भाव क्या है ?

[मेरी ज्योति और शक्ति की विशेषता—पिशाचत्व से मोक्ष और धर्म्मजीवन की प्राप्ति के लिए मेरे साथ सम्बन्ध की आवश्कता—मेरे साथ सम्बन्ध स्थापन करने के फल]

एक ओर मेरे सामने (इस समय के विश्वास के अनुसार) एक ऐसे पुरुष का रूप सन्मुख है, कि जिन्हें मैं "परमदेव" कहता हूं, जो देवत्व के अनन्त भण्डार हैं, जो पूर्ण सत्य, न्याय और हित प्रिय हैं, जो सब प्रकार के असत्य, अन्याय और अहित से रहित और इसी लिए पवित्र हैं, जो न केवल आप कभी किसी के सम्बन्ध में किसी प्रकार के असत्य वा

अहित अर्थात् पाप वा दुराचार का कोई बरताव नहीं करते, किन्तु जो जन ऐसा बरताव करते हों, उनके इस महा नीच अथवा अधम रूप को घृणा करते हैं। और दूसरी ओर संसार के वह लाखों और करोड़ों आदमी हैं कि जो क्या सत्य, क्या न्याय और क्या हित विषयक प्रत्येक अनुराग से केवल यही नहीं कि ख़ाली हैं, किन्तु अपनी नाना वासनाओं, उत्तेजनाओं, और अहं के वशीभूत होकर उनके विरुद्ध असत्य, अन्याय और अहित का साथ देते हैं, और उन्हें प्यार करते हैं, और उनके अनुसार अपने नाना सम्बन्धों में मनुष्य के भिन्न भी और कितने हि सम्बन्धों में नाना प्रकार का दुराचार और अत्याचार, पाप और अपराध करते हैं और अपनी इस नीच प्रकृति के द्वारा दूर के सम्बन्धों के भिन्न अपने निकट के पारिवारिक जनों के सम्बन्ध में भी नाना पाप और अपराध करने से नहीं रुकते, और नहीं रुक सकते। इन दोनों के बीच में मैं अपने आपको देखकर साफ़ अनुभव करता था, कि देवत्व वा देवजीवन के जो विशेष अंग मुझ में वर्तमान हैं, और पिशाच और देव जीवन और उनके फलों आदि के विषय में नाना तत्त्वों को दिखाने वाली जिस देव ज्योति से मेरा हृदय ज्योतिर्मान है, और मैं देवत्व के विविध अंगों का अनुराग रखकर उसके विरोधी पिशाचत्व के सब अंगों के लिए जिस प्रकार अपने हृदय में अत्यन्त गाढ़ घृणा रखता हूं, वही मेरे यह सब अंग जब तक और आत्माओं में प्रस्फुटित और उन्नत न हों, तब तक जैसे एक ओर संसार में पिशाचत्व और उसके कारण विविध सम्बन्धों में जो महा दुःख वा नरक फैला हुआ है, वह नष्ट नहीं हो सकता, वैसे हि दूसरी ओर उन अंगों के विकशित होने से मनुष्य के नाना सम्बन्धों में जिस प्रकार की विचित्र शान्ति आती है, जो २ कल्याण सुख वा आनन्द आता है और मनुष्यात्मा जिस प्रकार की अति सुन्दर और हितकर मूर्ति धारण करता है, और अपने सब सम्बन्धों में निहायत बरकत की चीज़ और लगातार विकाश लाभ करने के योग्य बन जाता है, उन सबका प्रकाश भी असम्भव है।

मुझे यह भी मालूम था, कि परमेश्वर देवत्व के भंडार होकर,

और मनुष्यों के हृदयों में निवास करके भी देवत्व से विहीन और पिशाचत्व के अधीन और अन्धकारग्रस्त लाखों आत्माओं के भीतर वह **ज्योति** नहीं पहुंचाते, वा पहुंचा सकते, कि जो मैं पहुंचाता और पहुंचा सकता हूं, और जिसके प्रवेश करने से **उन्हें अपनी पापी अवस्था बुरे और भयानक रूप में दिखाई देती है**, और वह उससे निकलने की **आकांक्षा** करते हैं; और न वह शक्ति हि उन तक पहुंचाते हैं, वा पहुंचा सकते हैं; कि जिसे पहुंचाकर मैं **एक २ अधिकारी आत्मा की गति को पलट देता हूं और उसके जीवन में उच्च परिवर्तन ले आता हूं।** मैं देखता था कि जैसे सूर्य्य वा लैम्प आदि की ज्योति के बिना किसी के कमरे का अन्धकार दूर नहीं होता, और किसी विद्वान मनुष्य की मानसिक शक्ति के प्रयोग के बिना किसी को विद्या नहीं आती, वैसे हि मनुष्यों के हृदयों में उपरोक्त परिवर्तन का कार्य्य **मेरे बिना ईश्वर नहीं करते और नहीं कर सकते।**

इसलिए १८९२ ई० में मैंने **अपने आत्मा में देवधर्म्म के आविर्भाव** और इस आविर्भाव के **उद्देश्य** के सम्बन्ध में यह वाक्य लिख कर प्रकाशित किए :––

[मुझमें देवधर्म्म का आविर्भाव]

(१) देवधर्म्म वा देवत्व का आविर्भाव किसी पत्थर वा वृक्ष में नहीं हुआ, किन्तु **मेरे आत्मा** में हुआ है, और उसकी कुल उच्च और विशेष ख़ूबियां **मेरे आत्मा** के भीतर हैं।

(२) बेवकूफ़ है वह, जो देवत्व के इस विशेष आविर्भाव वा उस की ख़ूबियों और बरकतों को, मुझे छोड़ कर कहीं **और** ढूंढ़ता है।

[मेरे आविर्भाव का उद्देश्य]

(३) मैं देवत्व के इस विशेष आविर्भाव वा जीवन को लेकर इसलिए ज़ाहिर हुआ हूं, कि जो आत्मा मनमुखी चाल पर चल कर और अज्ञान के अंधकार में फंस कर संसारासक्ति और पाप के विष से अपने आपको विनष्ट कर रहे हैं, वह उससे फिर कर और मेरे साथ जुड़ कर मृत्यु से बचें, और देवत्व का श्रेष्ठ और पवित्र जीवन और उसके स्वर्गीय

फल लाभ करें।

इसी सन् में विरोधिता के घोर तूफ़ान के समय उसके महा भयानक और क्लेश दायक आघातों के लगने और उनके द्वारा मेरी स्नायु प्रणाली के चकनाचूर हो जाने, और मेरे अत्यंत बीमार होकर मुमुर्षु अवस्था में पहुंच जाने के अनन्तर, जब मैं आख़िरकार फिर अपनी मृत्यु शय्या से उठने के योग्य हुआ, तब मेरी ज्योति और भी प्रखर रूप में मुझ पर प्रगट हुई। मैंने अपने चारों ओर करोड़ों जनों को उससे ख़ाली देखकर और उनकी अन्धता की काली छबि को अवलोकन करके, जहां एक ओर उनकी इस कृपा पात्र अवस्था के लिए दुःख अनुभव किया, वहां दूसरी ओर इस ज्योति की महिमा को भी विशेष रूप से उपलब्ध किया। ऐसे समय में एक दिन उसके विषय में कुछ कहने के लिए मेरे भीतर बहुत ज़ोरदार प्रेरणा उत्पन्न हुई; और मैंने इस भाव से अनुप्राणित होकर उसके सम्बन्ध में अपने एक अनुगत द्वारा जो वाक्य लिखवाए, वह यह थे :—

(१) मैं तुम्हारे लिए एक उच्च ज्योति लाया हूं। तुम मुझ से जुड़ो और उस ज्योति को लाभ करो, कि जो मुझ में है।

(२) तुम मेरे साथ जुड़ कर और मेरी ज्योति को पाकर हि उन कुल सत्यों को देख और पहचान सकते हो, कि जो देवत्व वा देवधर्म्म की शिक्षा से सम्बन्ध रखते हैं।

(३) क्या तुम में से ऐसे जन इस समय मौजूद नहीं, कि जिन्होंने मुझ से कुछ २ वह ज्योति पाई है, कि जिससे वह मेरी शिक्षा को न्यूनाधिक देखने और पहचानने के योग्य बन गए हैं ?

(४) याद रक्खो कि अभी तुम्हारे भीतर मेरी जिस क़दर ज्योति दाख़िल हुई है, वह बहुत थोड़ी है, और इस लिए तुम उस ज्योति में अभी बहुत थोड़ा देखते हो, और निम्न श्रेणी के सत्यों के भिन्न देवत्व के उच्च सत्यों की बहुत कम और वह भी कभी २ देखने की योग्यता रखते हो।

(५) जूं २ मेरी ज्योति तुम में अधिक दाख़िल होगी, तूं २ केवल

यही नहीं, कि तुम देवत्व के दृश्यों को अधिक से अधिक स्पष्ट और उत्तम रूप से देखने के योग्य बनते जाओगे, किन्तु ज्ूं २ यह ज्योति तुम्हारे भीतर साफ़ और स्थायी होती जाएगी, तूं २ तुम्हारा आत्मा उन नीचताओं के अधिकार से मुक्त होता जाएगा, जो उसे देवत्व की ज्योति में रखने के स्थान में शारीरिक और वासना मूलक अंधकार में रखती हैं।

(६) जिस क़दर तुम मेरी इस ज्योति को लाभ करोगे, उसी क़दर तुम औरों तक जो तुम से अपेक्षाकृत अधिक अंधकार में हैं, इस ज्योति की किरणों को पहुंचा सकोगे।

(७) आत्मिक अंधकार से आत्मा पथ-भ्रष्ट होकर मृत्यु की ओर जाता है, और मेरी ज्योति उस अंधता से निकाल कर ठीक पथ पर डालती और मृत्यु से निकाल कर जीवन की ओर लाती है।

(८) याद रक्खो, कि यह मेरे शब्दों की बाह्यक आवाज़ नहीं, कि जिससे तुम्हारे आत्मा ने ज्योति लाभ की है, किन्तु तुमने मुझसे जुड़ कर मेरी ज्योति से ज्योति पाई है।

(९) मुझ से सब प्रकार की बग़ावत को छोड़कर दिल के पूरे प्रेम से जुड़ जाओ, ताकि मेरी ज्योति तुम्हें अधिक से अधिक ज्योतिर्मान करे।

(१०) जो ज्योति मुझे दी गई है, और दी जा रही है, वह मेरे हि लिए नहीं, किन्तु औरों के लिए भी है, और सब आत्माओं के लिए है।

(११) जो ज्योति मुझे और आत्माओं की भलाई के लिए दी गई है, वह और आत्मा मुझसे लें, और मुझसे किसी नीच वासना के कारण बाग़ी रहकर, उस की अमृत दायक बरकतों से अपने आप को वंचित न करें।

(१२) धन्य है वह जन, जो अहं के अनुचित अधिकार और अन्धकार के बढ़ाने वाले सम्बन्धों के बन्धन और सांसारिक चाल की परवाह न करके, मेरी उस ज्योति में आए हैं, या आना चाहते हैं, कि जो उन्हें आत्मिक अंधकार और मृत्यु से बचाती है।

मेरे यह वचन पहले "धर्म्म जीवन" में प्रकाशित हुए। फिर अगले साल अर्थात् सन् १८९३ ई० में मैंने "देवत्व प्रचार" नामक जो पुस्तक उर्दू में छापी थी, उसमें भी छापे गए थे।

मेरे साथ प्रेम से जुड़ने की आवश्यकता और उसके फलों के विषय में मैंने इन्हीं दिनों में जो वाक्य प्रकाशित किए थे वह यह थे :—

(१) मेरे साथ प्रेम से जुड़कर और मेरे अधिकार में आकर प्रत्येक आत्मा पुराने नीच वा अधम जीवन से निकल कर नया पवित्र और उच्च जीवन लाभ करता है।

(२) मेरे साथ जुड़ने के बाद कोई आत्मा जहां तक मेरे उच्च प्रभावों को ग्रहण करता है, वहां तक उसके भीतर वह नई ज्योति प्रगट होती है, कि जिससे वह आत्मिक जीवन की असलियत और उस के नियमों को ज़्यादा से ज़्यादा देखने और पहचानने के योग्य बनता जाता है।

(३) मेरे साथ जुड़ने के बाद कोई आत्मा जहां तक मेरे उच्च प्रभावों को ग्रहण करता है, वहां तक उसके भीतर देवत्व की उन ख़ूबियों और बरकतों और उसके पवित्र नियमों के लिए प्यार बढ़ता जाता है, कि जिनके देखने और पहचानने के वह योग्य हुआ हो।

(४) मेरे साथ जुड़ने के बाद जहां तक कोई आत्मा मेरे उच्च प्रभावों को ग्रहण करता है, वहां तक वह देवत्व के उस जीवन में ढलता जाता है, कि जिस का मैं **आदर्श** हूं।

(५) मेरे साथ जुड़ने के बाद जहां तक कोई आत्मा मेरे उच्च प्रभावों को ग्रहण करता है, वहां तक उसके भीतर उन कुल बुराइयों और पापों से **घृणा** पैदा होती जाती है, कि जिनको मैं घृणा करता हूं।

(६) मेरे साथ जुड़ने के बाद जहां तक कोई आत्मा मेरे उच्च प्रभावों को ग्रहण करता है, वहां तक उसके भीतर देवत्व के चार बड़े तत्त्वों अर्थात् नित्य, सत्य, न्याय और मंगल, का **प्यार** पैदा होता जाता है।

(७) मेरे साथ जुड़ने के बाद जहां तक कोई आत्मा मेरे उच्च

प्रभावों को ग्रहण करता है, वहां तक उसके भीतर अपनी पिशाचत्व सम्बन्धी नाना चिन्ताओं और क्रियाओं के लिए दु:ख और क्लेश उत्पन्न होता जाता है।

(८) पिशाचत्व के समुद्र में डूबते हुए आत्माओं के लिए **मैं जीवन की आशा का एक जहाज़ हूं।** और पिशाचत्व के असरों से गिरी हुई जमाअतों और क़ौमों के बचाने, उभारने और आला बनाने के लिए मैं मिसल एक **ख़मीर** के हूं।

(९) देवत्व का यह ख़मीर जो मेरे अन्दर है, पिशाचत्व को मारता और ग़ारत करता है, इसलिए वह पिशाचत्व के विष से संक्रात आत्माओं के उद्धार और उनकी भलाई का पवित्र दैवी उपाय है।

(१०) कोई आत्मा ऐसा नहीं, कि जो मनमुख चाल छोड़कर मेरे साथ **कुछ भी जुड़ा हो,** वह अपनी पहली अवस्था की अपेक्षा **श्रेष्ठ** वा उच्च न बन गया हो।

(११) जैसे जो शाख़ धतूरे के पेड़ से जुड़ी हुई है, वह ज़हरीले फल पैदा करती है, और जो अंगूर की बेल के साथ जुड़ी होती है, वह अंगूर पैदा करती है; वैसे हि जो आत्मा अपने वा किसी और के मलिन हृदय के वृक्ष से जुड़ा हुआ है, वह अपने भीतर अपने और औरों के लिए विषकर और विनाशकारी फल उत्पन्न करता है, और जो आत्मा मेरे साथ जुड़ता है, वह देव रस को लाभ करके देवत्व के पवित्र और उच्च अमृत फल पैदा करता है।

(१२) जैसे ज़हरीले वृक्ष की शाख़ अपनी निशानियों से पहचानी जा सकती है, वैसे हि जो आत्मा शाख़ की न्यांई मेरे अमृत वृक्ष के साथ जुड़ा है, वह देवत्व के उन जीवनप्रद लक्षणों से पहचाना जा सकता है, कि जिनका मुझ में आविर्भाव हुआ है।

(१३) मैं जिस देवत्व की ज़िन्दगी का वृक्ष हूं, वह अमृत फल पैदा करता है, और इसलिए जो आत्मा मुझ से शाख़ की न्यांई जुड़ता है, वह केवल यही नहीं, कि ख़ुद विनाश नहीं होता, और औरों का नाश नहीं करता, किन्तु अपने और औरों के जीवन में अमृत फल पैदा

करता है।

(१४) जिस तरह कोई गाय, भूख रखकर किसी जंगल की घास के खाने से इस लिए परहेज़ नहीं करती, कि कदाचित् उसके किसी पत्ते में कहीं कुछ मट्टी लगी हुई हो, और कोई आदमी भूख रख कर गेहूं की रोटियों के खाने से इस लिए परहेज़ नहीं करता, कि कदाचित् उसमें रेत आदि का कोई कणा मिला हुआ हो; उसी तरह देवत्व के अमृत-प्रद जीवन का कोई भूखा किसी ख़याली इस या उस वहम से डरकर मेरे साथ जुड़ने से परहेज़ नहीं कर सकता; क्योंकि **जो खाता है, वह बचा रहता है, और जो नहीं खाता, वह मर जाता है।**

(१५) जैसे कोई जन, सूरज की रोशनी को बिना सूरज के और गेहूं की रोटी को बिना गेहूं के दानों के **साक्षात् ईश्वर से प्राप्त नहीं कर सकता**, क्योंकि ऐसा होना ईश्वर के नियम के हि खिलाफ़ है, वैसे हि देवत्व की जिन विशेष और उच्च ख़ूबियों और बरकतों का मुझ में प्रकाश हुआ है **उन्हें कोई जन ईश्वर से हासिल नहीं कर सकता।**

(१६) जो मेरे आविर्भाव की ख़ुशख़बरी को क़बूल करता है, और मनमुखी-जीवन से फिर कर और दिनों दिन मुझे अपने आत्मा पर **अधिकार** देने और अपने पुराने पापमय जीवन के **खोने** के निमित्त मेरे अमृत वृक्ष से शाख़ की न्यांई **जुड़ता है, वही मेरा और मेरे मिशन का है, और वही मेरे आविर्भाव से उपकृत हो सकता है।**

(१७) जो लोग अपने आत्माओं के सम्बन्ध में जीवन-प्रद और विनाशकारी प्रभावों और उनके नियमों का ज्ञान नहीं रखते, और पिशाचत्व के न केवल दास किन्तु तरफ़दार और अनुरागी बने हुए हैं, वह तब तक केवल यही नहीं, कि मेरी ख़ुशख़बरी और मुझ में देवत्व के ख़ास ज़हूर की असलियत, मेरे साथ जुड़ने की हकीक़त और ज़रूरत और उसके मोक्षप्रद और उच्चजीवन सम्बन्धी तत्त्वों को समझ वा उपलब्ध नहीं कर सकते, जब तक कि वह अपनी नीच हालत से न बदलें, किन्तु बहुतसी सूरतों में उनकी ओर से मैं जिस क़दर घृणित और सताने की चीज़ हो सकता हूं, उस क़दर कोई और नहीं हो सकता।

(१८) जो आत्मा जहां तक मुझसे जुड़कर मेरी निकटता लाभ करता है, वहां तक उसका अन्य संसारासक्त और पिशाचत्व के जीवन रखने वालों से अपनी चाल-ढाल और प्रकृति के विचार से **पूर्णतः भिन्न** हो जाना ज़रूरी है ।

(१९) जो आत्मा मुझसे जुड़कर और मुझे अपने ऊपर अधिकार देकर जहाँ तक संसारासक्त और पिशाचत्व के जीवन रखने वालों से अपनी चाल-ढाल और अपनी अवस्था में **भिन्न** होगा, वहां तक उपरोक्त जन उसे अपने से भिन्न और उलट देखकर उसे अवश्य घृणा करेंगे, और उसे दु:ख देने और सताने में ख़ुशी हासिल करेंगे ।

(२०) धन्य है वह आत्मा कि जो पिशाचत्व के आशिक़ों से जहां तक **बदसलूकी** पाता है, वहां तक यह मालूम करता है कि वह उनसे **भिन्न** और मेरे देवत्व के **निकट** है, और इसीलिए वहां तक विनाशकारी प्रभावों से परे और **सुरक्षित** है ।

(२१) जो आत्मा जहां तक गाढ़ रूप से मेरे साथ जुड़ा हुआ हो, वहां तक उसके लिए ज़रूरी है, कि वह कुल ऐसे जनों को जो मेरे साथ **जुड़े** हुए हैं, और जिन पर जहां तक मेरा **अधिकार** हो चुका हो, **इज़्ज़त** और **मुहब्बत** की आंखों से देखे, और आपको उनका और उनको अपना समझे । परन्तु जिसकी ऐसी गति नहीं, वह मेरा नहीं हो सकता ।

(२२) जिन्होंने अपने आपको मेरे मिशन के लिए भेंट करके, मेरी ख़ुशख़बरी के प्रचार और आत्माओं के उद्धार और उन्हें मेरे साथ जोड़ने का व्रत लिया हो, उनके लिए ख़ास कर ज़रूरी, है कि वह अपनी **पुरानी विकारयुक्त और अपवित्र** अवस्था से **पूर्ण मोक्ष लाभ करके** इस बात का सबूत दें, कि वह मुझे अपनी कुल बातचीत, कुल चाल-ढाल और बरताव के द्वारा ईश्वर के बाद **सबसे बढ़कर** जगह देते हैं, और मेरे बाद कुल प्रचारकों को प्रेम करते हैं, और उनके साथ किसी प्रकार का **द्वेष वा ईर्षा** भाव नहीं रखते, और किसी को अपने से बेहतर और उन्नत होता देखकर कुढ़ते नहीं, किन्तु ख़ुश होते हैं, और अपने नाम वा पद, आराम वा किसी और बात को सन्मुख रखकर मिशन की सच्ची

महिमा और उसके इन्तज़ाम के सम्बन्ध में कोई **खराबी और विघ्न** नहीं पैदा करते हैं।

(२)

देवधर्म्म क्या है ?

धर्म्म का अर्थ स्वभाव है, इस लिए जिस जीवन में ईश्वर का स्वभाव अथवा देवत्व मौजूद हो, उसे देवधर्म्म कहते हैं; वा दूसरे शव्दों में देवतापन वा देवत्व के जीवन का नाम **देवधर्म्म** है।

(३)

देवधर्म्म प्रवर्तक में देवधर्म्म का आविर्भाव क्योंकर हुआ ?

(१) मनुष्य जगत् में नेचर के नियमानुसार आत्माओं की उत्पत्ति का जो क्रम जारी है, उसमें प्रगट होकर देवधर्म्म प्रवर्तक ने अपने जन्म काल से हि वह विशेष माद्दा पाया था, कि जो देवधर्म्म के प्रकाश के लिए आवश्यक था।

(२) उसे पकाने वा तैयार करने की ग़रज़ से ईश्वर ने उसे उन मुनासिब घटनाओं और अवस्थाओं में से गुज़रने का मौक़ा दिया, कि जो इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए आवश्यक थीं।

(३) ईश्वर ने अपनी देव शक्ति का कार्य्य करके उसमें वह जीवन पैदा कर दिया, कि जो अपने स्वभाव और आदर्श, प्रभाव और फलों के विचार से देवधर्म्म के नाम से पुकारे जाने के लायक़ समझा गया।

(४)

देवधर्म्म मिशन के उद्देश्य क्या हैं ?

(१) मनुष्यों से संसारासक्ति, आन्तरिक अन्धता और पापों का दूर करना देवधर्म्म का उद्देश्य है।

(२) ईश्वर और धर्म्म के नाम से विविध प्रकार की कपटता-मूलक मिथ्या शिक्षा को रवा रखने वालों के नापाक मंसूबों को कुच-

लना देवधर्म्म मिशन का उद्देश्य है।

(३) दुनियापरस्त (संसारासक्त) रहकर जो लोग झूठी **ख़ुदा-परस्ती** का दम भरते हैं, उनकी गुमरही या धोखेबाज़ी को दिखलाना और दूर करना देवधर्म्म मिशन का उद्देश्य है।

(४) दुनियापरस्ती और गुनाह के तरफ़दारों के साथ आत्मिक युद्ध करना और देवत्व के द्वारा उन्हें परास्त करके परम देव की महिमा स्थापन करना देवधर्म्म मिशन का उद्देश्य है।

(५) देवत्व और पिशाचत्व की असलियत और मनुष्य आत्मा के जीवन के विविध अंगों के विषय में सच्चे और **विश्वव्यापक** नियमों और उच्च आदर्श की शिक्षा देना देवधर्म्म मिशन का उद्देश्य है।

(६) ईश्वर से विमुख वा बाग़ी आत्माओं को देवशक्ति के द्वारा बदलकर **देवत्व का नवजीवन** देना और आवश्यक शिक्षा और साधनों के द्वारा उनमें पवित्रता, और उक्त जीवन के विविध अंगों को विकशित करना देवधर्म्म मिशन का उद्देश्य है।

(७) देवत्व के प्रचार और उसकी जय के लिए **स्वार्थ** को त्याग करना और उच्च श्रेणी के **आत्म-त्याग** को वर्द्धन करना देवधर्म्म मिशन का उद्देश्य है।

(८) भारत के उद्धार के लिए भारत वासियों के अन्दर **सच्चे और उच्च आत्म-त्याग** के भाव का पैदा करना देवधर्म्म मिशन का उद्देश्य है।

(९) प्रत्येक जाति और श्रेणी के मनुष्यों को **देवत्व का जीवन** देकर उन्हें ईश्वर की **सच्ची देवपूजा** के योग्य बनाना और उनको देव-राज में लाना देवधर्म्म मिशन का उद्देश्य है।

(१०) कुल ऐसी सभ्यता-मूलक शिक्षा और कार्य्यगत नैतिक और सामाजिक संशोधन और भलाई के साथ, जो देवत्व के नियमों के विरुद्ध न हो, **हमदर्दी** करना देव-धर्म्म मिशन का उद्देश्य है।

(११) मनुष्य के सब सम्बन्धों और कामों में देवत्व को लाकर **देवपरिवार, देवसमाज** और **देवराज** स्थापन करना देवधर्म्म मिशन

का उद्देश्य है।

(१२) दुनियापरस्तों की प्रत्येक प्रकार की **नापाक राय से बेपरवाह रह कर** सिर्फ ईश्वर से **वफ़ादारी** के द्वारा दिनोंदिन **जय पर जय** लाभ करना और **देवशक्ति की सच्ची महिमा** का परिचय देना देवधर्म्म मिशन का उद्देश्य है।

(५)

पिशाचत्व का जीवन क्योंकर उत्पन्न होता है ?

जिन अनुरागों के वशीभूत होकर मनुष्य अपने आत्मा में पिशाचत्व के जीवन की उत्पत्ति और उन्नति करता है, वह चार प्रकार के हैं :—

(१) अनित्य का प्यार।

(२) असत्य का प्यार।

(३) अन्याय का प्यार।

(४) अपनत्व का प्यार।

[मनुष्य अपनी नाना प्रकार की प्रवृत्तियों और वासनाओं की तृप्ति के लिए जिन २ पदार्थों और जनों और जीवों के साथ ऐसा सम्बन्ध स्थापन करता है, कि जिसे उसे अपने शरीर त्याग के साथ हि त्याग करना पड़ता है, और जिनके साथ वह सदा के लिए सम्बन्ध नहीं रख सकता, उसका यह सम्बन्ध अल्प-कालिक या अनित्य सम्बन्ध कहलता है]

१—अनित्य का प्यार

इस प्यार के वशीभूत होकर मनुष्य

(१) अपने ख़ास २ **सुखों वा मज़ों का दास होकर** तरह २ के **वृथा क्लेश** पाता है।

(२) उनके **मोह से बंध कर** बड़े २ **वृथा दुःख** पाता है।

(३) दिनों दिन **विकार युक्त** होकर कुत्सित और नीच बनता जाता है, और उन उच्च भावों की प्राप्ति और उनके ग्रहण करने की

योग्यता को **खोता** जाता है, कि जिनका लाभ करना उसके सब प्रकार के हानि कारक दासत्व से **मोक्ष** पाने और **उच्च जीवन** में ढलने के लिए ज़रूरी है।

(४) गहरे से गहरे अंधकार से भरता जाता है; और सांसारिक बातों के विचार से कई सूरतों में बहुत कुछ होशियार, लायक़, पंडित और विद्वान् होकर भी अपने अस्तित्व और उसकी असल भलाई के सामानों और नियमों की असलियत के समझने की योग्यता खोता जाता है। और किसी दुनयावी मतलब के लिए कुछ रूहानी या मज़हबी बातों का **तोते की तरह** इक़रार वा ज़िकर करके भी इस भयानक अंधकार से आवृत्त रहकर दिनों दिन **पथ-भ्रष्ट और नीच** होता जाता है, और इसी लिए इस अंधता और पथ-भृष्टता के कारण अपनी **आत्मिक भलाई के कुल सच्चे उसूलों और सामानों को भूठा** और उसके **हलाकत** के सामानों को **सच्चा** और वांछनीय ख़याल करता है।

२—असत्य का प्यार

असत्य के प्यार से मनुष्य

(१) दिनोंदिन सत्य के देखने और पहचानने की योग्यता को खोता जाता है, और सत्य को पहचान कर और उस का तरफ़दार बनकर जिन भलाइयों और बरकतों को हासिल कर सकता था, उन्हें हासिल नहीं कर सकता।

(२) ईश्वर के सत्य नियमों की बेक़दरी और बेइज्ज़ती करता है, और उन्हें तोड़कर और सत्य से मुंह मोड़कर और पथ-भ्रष्ट होकर, नाना प्रकार की बुराइयों और नाना प्रकार के पापों का कर्ता बनता है, और उनके महा दुःखदाई फल लाभ करता है।

(३) दंभ और कपटता की चाल ग्रहण करता है, और इस बुरी गति से अपने तंई और दूसरों को **धोखा** देकर तरह २ के दुःख और नुक़सान पहुंचाता है।

३—अन्याय का प्यार

अन्याय के प्यार से मनुष्य

(१) दूसरों के स्वत्व और उचित अधिकार को छीनने में अपने अन्दर कोई रोक मालूम नहीं करता।

(२) अन्याय परायण बनकर नाना मनुष्यों और और पशुओं के साथ तरह २ की बदसलूकियां करता है।

(३) असंयमी और रोगी बनकर कई प्रकार के अवांछनीय दुःख पाता है।

४—अपनत्व का प्यार

अपनत्व के प्यार से मनुष्य

(१) औरों के साथ अपनी किसी ग़रज के बिना कोई नेक सलूक या भलाई करना नहीं चाहता।

(२) जहां तक हो, औरों से अपना काम वा मतलब निकाल लेने की ख़्वाहिश रखता है, और ख़ुद किसी के काम आना नहीं चाहता।

(३) किसी पाक रिश्ते के लिए **सच्चा** और वफ़ादार नहीं होता, और अपनी बेवफ़ाई से तरह २ की धोखादही और बुराइयां अमल में लाता है।

(४) और तो और अपने किसी हितकर्ता को भी प्यार नहीं कर सक्ता, और जिनसे तरह २ के हित पाता रहा है या पाता है, उनके साथ भी अकसर सूरतों में बदसलूकी करके अपनी **अधम** अवस्था का सबूत देता है।

यह अनित्य, असत्य, अन्याय और अपनत्व के प्यार का हि नतीजा है, कि जिससे मनुष्य जगत् में तरह २ की बुराइयां पाई जाती हैं, तरह २ के पाप फैले हुए हैं, तरह २ की बदसलूकियां और तरह २ के ज़ुल्म जारी हैं, तरह २ की शरारतें और ख़राबियां और बद रसूम मुरव्विज हैं, और जन समाज में तरह २ के भयानक दुःख और अज़ाब पैदा हो रहे हैं। इन **दुःखों** का सिलसिला यद्यपि इस दुनिया से आरम्भ होता है, परन्तु उसके बाद **अगली दुनिया** तक भी जाता है।

उपरोक्त सब प्रकार का प्यार जो आत्मा में **पिशाचत्व** के जीवन को पैदा करता है और उसे विनाश की ओर ले जाता है, **केवल देवत्व** के आने और उसके अधिकार लाभ करने से **विनष्ट** हो सक्ता है, सिवाय इसके हरगिज़ नहीं।

(६)

पिशाचत्व से मोक्ष और देवत्व की प्राप्ति क्योंकर होती है ?

प्र०—पिशाचत्व से मोक्ष क्योंकर मिल सक्ती है ?

उ०—आत्मा में देवत्व के उत्पन्न होने और उन्नति करने से।

प्र०—देवत्व किसी आत्मा में क्योंकर उत्पन्न हो सकता है ?

उ०—देवप्रेम के पैदा होने से।

प्र०—देवप्रेम क्योंकर पैदा होता है ?

उ०—देव गुरु के साथ जुड़ने से।

प्र०—देव गुरु कौन हैं ?

उ०—वही जो पिशाचत्व के नाश और देवत्व के प्रचार का शुभ संवाद लाए हैं, और पिशाचत्व का नाश और देवत्व का प्रचार जिनके जीवन का **मुख्यलक्ष्य** वा मिशन है, और जिन्होंने इसीलिए देवधर्म्म मिशन क़ायम किया है।

प्र०—देवगुरु के साथ कोई जन क्योंकर जुड़ सक्ता है ?

उ०—उनके पवित्र वचनों और उपदेशों के सुनने वा पढ़ने और उनकी शिक्षा के अनुसार पिशाचत्व के जीवन पर विचार आदि करने से।

प्र०—इस विधि से देवप्रेम क्योंकर पैदा होता है ?

उ०—देवगुरु जो देवत्व के पूर्ण प्रेमक हैं और केवल देवत्व के प्रचार और उसकी जय के लिए पूर्ण संग्राम करते हैं, और जिन्होंने **सब प्रकार का आवश्यक त्याग** और अपने ऊपर **तरह २ का दु:ख** इस लिए स्वीकार किया है, कि पिशाचत्व के जीवन से लोग **मुक्ति** पावें, उनके

वा उनके किसी प्रेमक के अन्तर से जब देव शक्ति किसी जुड़ने वाले के दिल को छूती और उस पर कार्य्य करती है, तब इस देव शक्ति के अमल और असर से हृदय के परिवर्तित होने पर देवप्रेम उत्पन्न होता है।

प्र०—देवप्रेम के पैदा होने से क्या होता है ?

उ०—उसके पैदा होने पर देवत्व की नई ज़िन्दगी शुरू होती है, क्योंकि देवत्व के जीवन की जान यही देवप्रेम है।

प्र०—यह किस तरह से मालूम हो, कि किसी आत्मा में देवप्रेम जाग्रत हुआ है ?

उ०—उन चार चीज़ों के साथ प्यार के उत्पन्न होने से कि जो पिशाचत्व के ठीक विरुद्ध हैं।

प्र०—वह चार चीज़ें क्या हैं ?

उ०—(१) नित्य का प्यार (२) सत्य का प्यार (३) न्याय का प्यार, (४) मंगल का प्यार।

प्र०—किसी आत्मा में देवप्रेम उत्पन्न होकर किस प्रकार उन्नत होता है ?

उ०—देवगुरु के साथ दिनोंदिन आत्मिक सम्बन्ध के गाढ़ करने से।

प्र०—देवगुरु के प्रति प्रेम के बढ़ने की पहचान क्या है ?

उ०—जिन मोटे २ लक्षणों से उनके प्रति प्रेम के बढ़ने का पता लग सकता है, वह यह हैं :—

(१) उसमें देवगुरु पर विश्वास और भरोसा करने का भाव बढ़ता है।

(२) वह देवगुरु की निकटता प्राप्त करने के लिए अपने भीतर बढ़ती हुई **आकांक्षा** मालूम करता है, और अपने दिल और दिमाग़ के द्वारा उनकी ख़ूबियों को ज़्यादा से ज़्यादा ग्रहण करने का आकांक्षी होता है।

(३) देवगुरु को जैसे अपने हृदय में दुनिया की हरएक चीज़ और

दुनिया के हरएक सम्बन्धी से **बढ़कर** जगह देना चाहता है, वैसे हि अन्य आत्माओं के हृदयों में भी उनके लिए हर एक चीज़ और सम्बन्धी से बढ़ कर जगह क़ायम करने की कोशिश करता है।

(४) उनकी ख़ुशी में ख़ुश और उनके दुःख में दुःखी होता है।

(५) उनके लिए अपने हृदय में **कृतज्ञ भाव** बोध करता है और उनके लिए वफ़ादार रहना चाहता है, और उनसे **बाग़ी** होने में अपनी **आत्मिक मृत्यु** देखता है।

(६) उनके विरुद्ध कभी कोई बात कहना वा सुनना नहीं चाहता।

(७) उनकी इच्छा के अनुसार चलने की आकांक्षा करता है।

(८) उनके मिशन की जय के लिए धीरे २ नाना प्रकार के त्याग ग्रहण करने के लिए इच्छुक बनता जाता है।

प्र०—देवगुरु के साथ जुड़ने और उनके प्रति प्रेम के बढ़ने से शिष्य को क्या २ बरकतें प्राप्त होती हैं ?

उ०—(१) उसे आत्मिक ज्योति मिलती है, और ज्यों २ यह ज्योति अधिक मिलती है, त्यों २ वह उसके द्वारा पिशाचत्व के घृणित और विनाशक रूप को देखने और पहचानने के योग्य बनता जाता है।

(२) इस ज्योति के द्वारा उस पर देवत्व की भिन्न २ आवश्यकताओं के सम्बन्ध में नए से नए सत्य प्रकाशित होते हैं और पवित्र और उच्च-भाव-मूलक दृश्य प्रगट होते हैं।

(३) उसके हृदय में **देव शक्ति** कार्य्य करती है और उसे नीचता से निकलने और उच्च-जीवन में ढलने के लिए योग्यता प्रदान करती है।

(४) देवगुरु में जो २ उच्च और विशेष ख़ूबियां ज़ाहिर हुई हैं, उन्हें वह **ज्यादा से ज्यादा देखने और पहचानने** की योग्यता लाभ करता है।

(५) देवगुरु की ख़ूबियों को वह जहां तक देखने और पहचानने के योग्य होता जाता है, वहां तक उस में उनके **ग्रहण** करने की आकांक्षा भी बढ़ती रहती है, और वह उन्हें ग्रहण करके आत्मिक सौन्दर्य्य में

उन्नत होता है।

(६) वह धीरे २ मोह के विकार और पापों आदि की मलिनता से निकल कर **पवित्र** बनता है और पिशाचत्व से **मुक्ति** पाता है।

(७) वह अपने उद्धार कर्ता के प्रति **दीनता** और **कृतज्ञता** आदि के उच्च भावों में उन्नति करता है और अपनी योग्यता के अनुसार नाना प्रकार से उनकी **सेवा** करना चाहता है।

(८) अपने आत्मिक जीवन, और अपने विविध सम्बन्धियों के सम्बन्ध में धीरे २ उन उचित और अनुचित कर्म्मों के विषय में सत्य-ज्ञान लाभ करता है, जो उसके लिए अति आवश्यक है, और जो ज्ञान किसी को **केवल मुक्ति** और **कांशंस** की पुकार मचाने से कभी प्राप्त **नहीं** होता।

(७)

किन २ बातों से किसी आत्मा में देवधर्म्म के विकशित होने का प्रमाण मिल सकता है ?

(१) ईश्वर की महिमा स्थापन करने में।

(२) उपासना शील होने में।

(३) ईश्वर को छोड़कर अपने तंई अकिंचन बोध करने में।

(४) ईश्वर की ओर से सहाय प्राप्ति के विश्वास में।

(५) ईश्वरीय पवित्र नियमों की जय के विश्वास में।

(६) परलोक के सम्बन्ध में जीवन्त विश्वास में।

(७) किसी पवित्र नियम को पालन करते समय आम राय की कुछ परवाह न करने में।

(८) किसी बुरी रीति के अनुसार न चलने में।

(९) सत्य और न्याय के पक्षपातियों का साथ देने में।

(१०) प्रत्येक कामना की पवित्रता में।

(११) प्रत्येक ज्ञात पाप और बुराई और कुसंग के लिए घृणा पोषण करने में।

(१२) प्रत्येक अवस्था में सत्य के बोलने में।
(१३) सरलता के पोषण और प्रकाश में।
(१४) प्रत्येक विषय में ठीकपन के चाहने में।
(१५) प्रत्येक कर्तव्य के पूरा करने में।
(१६) कर्तव्य पालन के लिए प्रस्तुत रहने और काम के समय चुस्ती, फुरती और एकाग्रता के प्रदर्शन में।
(१७) नियमता के प्यार और पालन करने में।
(१८) सत्य के लिए सच्ची वफ़ादारी में।
(१९) हित कर प्रबन्ध विषयक आज्ञापालन में।
(२०) जीवन के प्रत्येक अंग में सामंजस्य लाने की चेष्टा में।
(२१) देवत्व के नियमों के प्यार और पालन में।
(२२) देवत्व की बरकतों के फैलाने में।
(२३) देवत्व के प्रचार में सब प्रकार का आवश्यक आत्मत्याग करने में।
(२४) सामाजिक गठन के द्वारा देवत्व की शक्ति के बढ़ाने में।
(२५) जीवन पथ विषयक प्रत्येक कठिनाई के साथ संग्राम करने में।
(२६) शान्त और प्रफुल्लचित्त रहने में।
(२७) प्रति दिन आप उन्नत होने और औरों को उन्नत करने में।
(२८) परिष्कारिता (सफ़ाई) के प्यार में।
(२९) सौन्दर्य्य के प्यार में।
(३०) देवत्व के आधार पर दिनोंदिन आत्मिक सम्बन्धों को मज़-बूत करने में।
(३१) रोग और विपद के समय अपने आत्मिक सम्बन्धियों की आवश्यक सहाय करने में।
(३२) उपकारियों के लिए सच्ची और कार्य्यगत कृतज्ञता के प्रकाश में।

(३३) अतिथि की आवश्यक सेवा में।
(३४) जाति, कुल और देश के कारण किसी को हीन वा घृणित न समझने में।
(३५) दयानतदारी के बरताव में।
(३६) अपवित्र दृष्टि और व्यभिचार से पवित्र रहने में।
(३७) प्रत्येक जन को उसका उचित हक़ वा अधिकार देने में।
(३८) अन्य जनों के प्रति उनके पदानुसार श्रद्धा वा सन्मान प्रदर्शन करने में।
(३९) मनुष्य मात्र की सम्पूर्ण भलाई चाहने में।
(४०) अपने प्रत्येक उचित अंगीकार के पूरा करने में।
(४१) अपने विरोधियों और शत्रुओं की भी यथावसर उचित सहाय करने में।
(४२) अपनी सन्तान को ईश्वर की अमानत समझकर पालने में।
(४३) प्राणधारियों के साथ आवश्यक सहानुभूति के प्रकाश में।
(४४) प्राकृतिक दृश्यों, चिड़ियों और छोटे बच्चों के प्यार में।
(४५) मादकता के लिए किसी मादक द्रव्य के सेवन न करने में।
(४६) समय के अच्छे और पवित्र व्यवहार में।
(४७) दिव्य ज्ञान में।
(४८) संसारासक्ति और पाप के साथ युद्ध करने में।

(८)

धर्म्म के नाम से किन २ प्रचलित बातों का देवत्व के जीवन से कुछ सम्बन्ध नहीं ?

(१) रुपया पैसा न छूना वा पास न रखना।
(२) भभूत मलना।
(३) कोई कपड़ा न पहनना।
(४) किसी मकान में न रहना।

(५) किसी मन्दिर या पहाड़ की खोह में रहना।
(६) कोई परिवार न रखना।
(७) सिर या मुंह पर कोई वाल न रखना।
(८) सिर या मुंह पर सारे वाल रखना।
(९) गेरवा वस्त्र, लंगोट, कोपीन और नागफनी आदि पहनना।
(१०) सिर के वालों में सदा कंघा रखना।
(११) कमर में कच्छ पहनना।
(१२) सिर पर किसी विशेष रंग और आकार की पगड़ी पहनना वा उस पर लोहे के हथियार लगाना।
(१३) लोहे की कोई चीज़ सिर या हाथ में रखना।
(१४) जनेऊ और चोटी रखना।
(१५) नंगे पैर रहना या किसी ख़ास शकल का जूता पहनना।
(१६) खड़ाऊं पहन कर चलना।
(१७) उलटा लटकना।
(१८) तरह २ के आसन जमाना।
(१९) प्राणायाम करना।
(२०) अपने पास कोई वर्तन वा असबाब न रखना।
(२१) नंगे सिर रहना।
(२२) अपने हाथ से भोजन तैयार करके खाना।
(२३) किसी और जाति वा बिरादरी के लोगों का पकाया हुआ भोजन न खाना।
(२४) ज़मीन पर सोना।
(२५) कीलों की सेज पर सोना।
(२६) केवल दूध पीकर या फल खाकर रहना।
(२७) पानी के लिए लोटा या तोंबा या कमंडलु रखना।
(२८) मौन रखना।
(२९) माला पहनना।

(३०) कंठी बांधना।
(३१) किसी मन्त्र का जाप करना।
(३२) रात में भोजन न करना या पानी न पीना।
(३३) दिन में एक वक़्त खाना।
(३४) आग जलाकर धूनी रमाना।
(३५) पानी के भीतर खड़े रहना।
(३६) उपवास करना।
(३७) बहुत दफ़ा स्नान करना।
(३८) दण्ड, मृगछाला या बाघम्बर रखना।
(३९) जंगल में रहना।
(४०) होम करना।
(४१) तीर्थ स्थानों में जाना।
(४२) अपना कोई अंग काटकर किसी देवी वा देवता पर चढ़ाना।
(४३) ख़तना करवाना।
(४४) टख़नों के ऊपर पाजामा रखना।
(४५) सिर मुण्डाना।
(४६) तसबीह रखना।
(४७) मूंछें कटवाना और दाढ़ी रखना।
(४८) किसी वाक्य को रटते रहना।
(४९) किसी ख़ास नदी वा पानी में नहाना।
(५०) ऊर्ध्वबाहू अर्थात् अपनी एक बांह सदा उठाकर रखना।
(५१) जल-शय्या करना।
(५२) आकाश की ओर मुंह रखना।
(५३) पांव में ज़ंजीर पहनना।
(५४) कानों में लकड़ी या पीतल आदि के कुंडल पहनना।
(५५) त्रिशूल रखना।
(५६) ख़ास २ वक़्त में मुण्डमाला पहनना।

(५७) सफ़ेद वा लाल चन्दन वा सिन्दूर आदि लगाना।
(५८) नेती, धोती और वस्ती करना।
(५९) कभी स्नान न करना।
(६०) अलूना भोजन करना।
(६१) शरीर पर मल लपेटना।
(६२) तुलसी वा रुद्राक्ष आदि की माला पहनना।
(६३) कांच के दानों की माला पहनना।
(६४) सीधा तिलक या आड़ा त्रिपुण्ड लगाना।
(६५) अपने किसी अंग पर जलते हुए लोहे से छाप लगवाना।
(६६) रेशम वा ऊन के कपड़े रखना।
(६७) बाज़ू पर कोई चीज़ बांधना।
(६८) गले में किताब लटकाना।
(६९) गुदड़ी रखना।
(७०) सोंटा रखना।
(७१) पानी छान कर पीना।
(७२) ख़ास २ चीज़ें न खाना।
(७३) मुंह वा गले के भीतर कोई मूर्ति रखना।
(७४) कमर से ऊपर रस्सी या घूंघरू बांधना।
(७५) बदना या बोरिया रखना।
(७६) सिर पर बालों की रस्सी बांधना।
(७७) मैली और खुली जटा रखना।
(७८) सिर पर स्याही मलना।
(७९) अलख जगाकर सवाल करना।
(८०) किसी से सवाल न करना।
(८१) दर २ भीख मांगना।
(८२) हमेशा फिरते रहना।
(८३) हर मौसम में एक हि जगह बैठे वा पड़े रहना।
(८४) कोई पाठ करना वा भजन गाना।

उन्नीसवां परिच्छेद

देवसमाज की नई गठन

समाज के कई एक कृतघ्न जनों के महा शोचनीय और घृणित दृष्टान्त ने मुझे एक ओर आत्माओं की आन्तरिक अवस्था, और दूसरी ओर अपनी सामाजिक गठन के सम्बन्ध में बहुत चिन्ताशील बना दिया। मैंने इस नए तजरबे के अनुसार एक ओर जैसे समाज की गठन में बहुत कुछ तबदीली की, वैसे हि ऐसे जनों के सम्बन्ध में जो समाज में पहले से थे, अथवा जो आयंदा आने वाले थे, बहुत से आवश्यक नियम लिखे, और प्रकाशित किए। "देवत्वप्रचार" नामक उर्दू पुस्तक में (जो सन् १८९३ ई० में प्रकाशित हुई थी) और बातों के भिन्न यह सब विषय भी दर्ज हैं। मेम्बर के लिए "सेवक" का नया शब्द ग्रहण किया गया। सेवकों में ग्रहण करने के विषय में दीक्षा की एक नई विधि रची गई, और ऐसे प्रत्येक जन के लिए जो सेवक होना चाहते हों, नीचे के नौ पापों से मुक्त होना आवश्यक रक्खा गया :—

(१) सब प्रकार के नशे।
(२) मांसाहार।
(३) जुआ।
(४) चोरी।
(५) रिश्वत।
(६) झूठी गवाही।
(७) जाल साज़ी (प्रवंचना)।
(८) व्यभिचार।
(९) हत्या।

इसके भिन्न साधनों की एक नई विधि प्रचलित की गई। इन

साधनों में "देवगुरु" के देवरूप और उनके साथ आत्मिक सम्बन्ध पर विचार, देवगुरु स्तोत्र का पाठ, और उसके सम्बन्ध में प्रेम उत्पादक जप, आवश्यक रक्खा गया। और गुरु और शिष्य के सम्बन्ध को पहले की अपेक्षा कुछ और साक्षात् और नज़दीकी का सम्बन्ध बनाया गया।

इस समय तक मुझे जैसे एक ओर अपने आविर्भाव की विशेषता के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान हो चुका था, वैसे हि दूसरी ओर यह तत्त्व भी मुझ पर भली भान्त खुल चुका था, कि जब तक मेरे साथ किसी अधिकारी आत्मा का योग न हो, और मेरी निराली **ज्योति** और **शक्ति** उसके हृदय तक न पहुंचे, तब तक वह ईश्वर को मान कर और किसी प्रचलित विधि के अनुसार उसकी सन्ध्या, वा उपासना, वा पूजा करके, और नमाज़ पढ़ के भी अपने हृदय में वह परिवर्तन लाभ नहीं करता, जो परिवर्तन मैं उत्पन्न करना चाहता हूं; और न धर्म्म और अधर्म्म विषयक वह ज्ञान वा बोध लाभ करता है, कि जो मैं पैदा करना चाहता हूं। मुझे मालूम हुआ, कि मनुष्यात्माओं में मैं जिस प्रकार का परिवर्तन लाना चाहता हूं, उनमें सत्य और असत्य, और हित और अहित के विषय में जो ज्ञान और बोध पैदा करना चाहता हूं, विश्व के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में उन्हें **उच्चजीवन-प्रद परम एकता का जो आदर्श** दिखाना चाहता हूं, वह सब कार्य्य बिना इसके सम्भव नहीं, कि अधिकारी आत्मा मेरे साथ जुड़ें, और विश्व के अटल नियम के अनुसार मेरे साथ जुड़ कर मुझे अपने लिए "एनवीरेनमेंट" (परिवर्तन कर्ता सम्बन्धी) और "प्रोटोटाइप" अर्थात् **आदर्शरूप** में ग्रहण करें। इस तत्त्व के प्रकाश ने मुझ पर गुरु और शिष्य के सम्बन्ध को जैसे बहुत उज्जवल रूप में प्रगट कर दिया, वैसे हि मुझे उपरोक्त सब नई विधियों के प्रगट और प्रचलन करने के लिए तैयार कर दिया। देवसमाज के इतिहास में इस साल की यह एक बहुत बड़ी और विशेष घटना थी। इस घटना ने क्या समाज की गठन और क्या उसके कार्य्य को एक नई गति देदी।

बीसवां परिच्छेद

एकता तत्त्व का प्रकाश और प्रचार

देवत्व के जीवन को प्राप्त होकर जब कोई आत्मा अपने नाना सम्बन्धों में **मेल** वा **एकता** चाहता है, तब इस उच्च मेल के उत्पन्न होने से उनमें वह शान्ति आती है कि जो सब के लिए हितकर है। देवत्व सम्बन्धी नाना अनुरागों और उनके विरोधी नाना विरागों के विकशित होने से मनुष्य आत्मा एक ओर जहां विश्व के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में स्वभावतः सब प्रकार के **पापों और अपराधों से मोक्ष** पाने की आकांक्षा और योग्यता लाभ करता है, वहां दूसरी ओर **सत्य** और **हित** परायण होकर उनके सम्बन्ध में अधिक से अधिक **हितकर ज्ञान** पाने और **सेवाकारी** बनने के योग्य भी होता है। इसी उच्च जीवन को प्राप्त होकर जब वह विश्व के किसी विभाग के सम्बन्ध में एक ओर अनुचित रूप से हानिकारक बनना नहीं चाहता, और नहीं बनता; और दूसरी ओर अपनी योग्यता के अनुसार उचित रूप से हितकर बनना चाहता है, और बन जाता है; तब वह उसके साथ **उच्चगति मूलक मेल वा एकता** स्थापन करता है। ऐसे एकता स्थापन कर्ता को प्राप्त होकर मानों इस विश्व का एक २ विकाशकारी विभाग उसे इस प्रकार से सम्बोधन करता है :—

"तेरा अस्तित्व धन्य है ! तू विकाश अनुरागी है। तू हम सब का उच्च विकाश चाहता है, और जहां तक तेरे लिए सम्भव है, तू हमारा उच्च विकाश साधन करता है। तू हमारे विकाश का सच्चा आकांक्षी और इसीलिए हमारा सच्चा सेवाकारी होकर सचमुच **हमारा** है। तेरे साथ हमारा पूर्ण **मेल** है। तुझे पाकर हम धन्य २ हुए हैं, और तुझे बार २ धन्य २ कहते हैं।"

क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या उद्भिद् और क्या भौतिक जगत् से जब इस प्रकार की ध्वनि निकलती हो, तब केवल यही नहीं, कि वह इस शुभकर मेल वा **एकता स्थापक** को पाकर अपने आपको कृतार्थ समझते हैं, किन्तु यह मेल वा **एकता स्थापक** भी उनके सम्बन्ध में अपने आपको मेल की अवस्था में पाकर अत्यन्त धन्य २ और कृतार्थ बोध करता है ।

देवत्व के इस अद्वितीय जीवन ने विकशित होकर केवल यही नहीं, कि मुझ पर इस "**एकता तत्त्व**" को प्रगट किया, किन्तु विश्व के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में इस **एकता** के स्थापन के लिए निहायत आकांक्षी बना दिया। मैं उस पर मोहित हो गया, और मेरे हृदय पर उसने बहुत गाढ़ अधिकार लाभ किया, और वह मेरे जीवन की नाना गतियों का परिचालक बन गया ।

१८९२ का सन् इस बात के लिए भी स्मरणीय हो सकता है, कि मैंने इसी साल में "देव अनुष्ठान विधि" के नाम से जो पुस्तक उर्दू में प्रकाशित की थी, उसमें मैंने गर्भाधान, जातकर्म्म, नामकरण, अन्न-प्रासन, विवाह और अन्त्येष्टि क्रिया विषयक पारिवारिक अनुष्ठानों की विधि देने के भिन्न पहले पहल इसी **एकता अनुराग** से परिचालित होकर विश्व के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में **बारह व्रतों** की विधि प्रणयन की थी। इनमें से एक व्रत तो उसी साल में सम्पन्न हुआ था, और अन्य व्रत सन् १८९३ से प्रचलित होगए थे ।

यह बारह व्रत इस प्रकार के थे :—

(१) सन्तान व्रत (माता पिता और सन्तान के सम्बन्ध में)
(२) भाई भग्नि व्रत (भाई बहिनों के सम्बन्ध में)
(३) पुष्पपत्र व्रत (उद्भिद्-जगत् के सम्बन्ध में)
(४) पति पत्नी व्रत (पति और पत्नी के सम्बन्ध में)
(५) सन्त आदि व्रत (महा पुरुषों और संत लोगों के सम्बन्ध में)
(६) भृत्यस्वामी व्रत (नौकर और मालिक के सम्बन्ध में)
(७) प्रतिवासी व्रत (पड़ोसियों के सम्बन्ध में)

(८) परलोक निवासी व्रत (परलोक वासी आत्माओं के सम्बन्ध में)
(९) पशु व्रत (पशु जगत् के सम्बन्ध में)
(१०) जड़लोक व्रत (भौतिक जगत् के सम्बन्ध में)
(११) भारत उद्धार व्रत (स्वदेश के सम्बन्ध में)
(१२) देवविधान व्रत (देवधर्म्म प्रवर्तक और देवसमाज के सम्बन्ध में)

यह बारह व्रत साल के बारह महीनों में विभक्त किए गए थे, और हर महीने के लिए एक २ व्रत नियत किया गया था। प्रत्येक व्रत जिस २ सम्बन्धी को लेकर स्थापन किया गया था, उसके सम्बन्ध में एक दूसरे के प्रति धर्म्म-गत जो २ **कर्तव्य** हैं, वह मोटे २ रूप में बताए गए थे, और व्रत के दिन उन पर विचार करने, और इस विचार के द्वारा अपने आत्मा की **परीक्षा** करने, अपनी **हीनताओं** और **त्रुटियों** को पहचानने, उनके दूर करने के लिए **आकांक्षी** और **प्रार्थी** बनने, और जहां तक उनमें हितकर **मेल** स्थापन हो चुका हो, उसके सौन्दर्य्य और शुभ को सन्मुख लाकर **धन्य २** और **कृतार्थ** अनुभव करने की शिक्षा दी गई थी।

७ फरवरी सन् १८९३ ई० को अर्थात् देवोत्सव से कुछ दिन पहले मैंने इस **एकता तत्त्व** के विषय में जो उपदेश दिया था, उसमें मैंने बतलाया था, कि मेरे आत्मा पर उसका कितना बड़ा अधिकार है। इस विषय में मेरे इस उपदेश का एक भाग यह था :—

"प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति का यह नियम है, कि जो शक्ति विशेष रूपसे उस के भीतर कार्य्य करती है, और जिसका उस पर अधिकार होता है, उसी को वह अपनी अमली ज़िन्दगी के द्वारा एक वा दूसरे प्रकार से प्रकाश करता है, और अपने चारों ओर उसके प्रभाव डालता है। मनुष्य-गत प्रकृति के इस नियम को जानकर साधारण जनों के भिन्न जो लोग मेरे साथ न्यूनाधिक आत्मिक सम्बन्ध रखते हैं, उनके लिए विशेष कर यह प्रश्न करना आवश्यक है कि मेरी आत्मिक प्रकृति का **प्रधान परिचालक** भाव क्या है?...........। मुझे मालूम नहीं, कि

जिनका मुझ से अब तक आत्मिक सम्बन्ध स्थापन हुआ है, उन्होंने मेरे आत्मा के इस प्रधान भाव को कहां तक समझा और कहां तक मालूम और अनुभव किया है। इसलिए उचित मालूम होता है कि मैं थोड़े से शब्दों में उसे प्रगट करूं।

मेरे जीवन का कुल मिशन **एकता तत्त्व** के समझ लेने से भली भान्त प्रगट होसकता है। यह एकता एक से अधिक वस्तुओं को लेकर होती वा हो सकती है। वह वस्तुएं क्या हैं कि जिनमें **एकता स्थापन** करने के लिए मैं अपने भीतर इस काल के अनुकूल देवत्व की वह विशेष शक्तियां लेकर प्रगट हुआ हूं, कि जो इस स्वर्गीय लक्ष्य के पूर्ण करने के लिए आवश्यक हैं ? ईश्वर और उनकी नाना प्रकार की सृष्टि, कि जिसमें मनुष्य जगत् की बहुत बड़ी विशेषता है।

इस एकता के सम्बन्ध में मोटे २ तत्त्व यह हैं :—

१—अपने अस्तित्व और अपने से भिन्न सब प्रकार के अस्तित्वों को सत्य मानना।

२—ऐसे प्रत्येक अस्तित्व के साथ उसके स्रष्टा ने तुम्हारा जो २ सम्बन्ध रक्खा है, उस सम्बन्ध को जानना।

३—ऐसे प्रत्येक सम्बन्ध को पहचान कर अपने आपको उसके योग्य बनाने के निमित्त सत्य रूप से आकांक्षी होना।

४—ऐसी आकांक्षा के उत्पन्न होने पर अपने आपको उस उच्च प्रकृति में ढालना, कि जो उसके साथ **उच्च मेल** पैदा करने के लिए आवश्यक है, और इस स्वभाव में ढलने के लिए अपनी **जिस २ पुरानी प्रकृति को छोड़ने** की आवश्यकता है, उसके छोड़ने के लिए सब आवश्यक साधनों को ख़ुशी २ स्वीकार करना।

यदि हमारा प्रत्येक सम्बन्ध ईश्वर के शुभ नियमों के अनुसार स्थापन हो, तो फिर उसमें से सब अपवित्रता और अनमेल के निकल जाने के बाद, पवित्रता और मेल वा **एकता** का पैदा हो जाना अवश्यम्भावी है। तुम चारों ओर निगाह फेरकर देखो, और मालूम करो, कि दुनियां में मनुष्यों की क्या अवस्था है ? उनके अपने परिवारों और अपने परि-

वारों के भिन्न उनकी अपनी जाति, और मनुष्य मात्र के भिन्न अन्य जीवित और अजीवित अस्तित्वों के साथ उनके सम्बन्ध की दशा क्या है ? कहां तक इस दुनियां की नाना आबादियों में, सच्ची और पूर्ण शान्ति, और सब प्रकार से न्याय और भलाई का राज्य दिखाई देता है ? कौन है जो इस प्रकार से मनुष्य जगत् की साधारण अवस्था को सन्मुख लाकर उसे **अत्यन्त शोकप्रद** और नाना बातों के विचार से अत्यन्त नारकी रूप में न देखता हो ? हाँ, हर एक ऐसे जन के लिए जो अवलोकन शक्ति रखता हो, जन समाज के नाना सम्बन्धों के विचार से उसकी वर्तमान अवस्था इस बात का अवश्य प्रमाण देगी, कि वह ईश्वर के इंतज़ाम के अनुसार **एकता** की हालत में नहीं है, अर्थात् वह सच्चे पवित्र और **उच्च मेल** की अवस्था में नहीं है, और इस प्रकार के उच्च मेल में महान् ईश्वर ने जो २ स्वर्गीय बरकतें रक्खी हैं, उनसे वह बहुत दूर है।

हमारे चारों ओर यद्यपि यह महा दुःखदाई और हानिकारक अनेकता फैली हुई है, फिर भी लोग उससे बेसुधी की अवस्था में हैं। ऐसे जन कहां हैं जो अपनी ज़िन्दगी में किसी ऐसे मार्ग पर चलने में घृणा और दुःख अनुभव करते हों, और एकता की महिमा को सब से बढ़कर समझते हों, और उसकी तुलना में (चाहे वह किसी सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हों) प्रत्येक विश्वास, वा मत, वा पूजा, आदि को **तुच्छ** समझते हों ? परन्तु जिन्हें मेरी ज़िन्दगी को सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ हो, वह समझ सकते हैं, कि मैंने इस पवित्र और स्वर्गीय नियम की तुलना में कि जिसे अब **एकता** वा **परम एकता** के नाम से पुकारता हूं, और सब चीज़ों को कितना **तुच्छ** समझा है। मेरा यह वचन भी मेरे इसी एकता अनुराग को प्रगट करता है अर्थात् "जो आत्मा मेरे साथ जहां तक जुड़ा हुआ हो, और उस पर जहां तक मेरा गहरा अधिकार हो, वहां तक उसके लिए ज़रूरी है, कि वह और सब ऐसे आत्माओं को जो मेरे साथ जुड़े हुए हों, और जिनपर मेरा जहां तक अधिकार है, वहां तक उन्हें सन्मान और प्यार की दृष्टि से देखे,

और अपने आपको उनका, और उनको अपना समझे। परन्तु जो इस नियम के विरुद्ध चलता हो, वह मेरा नहीं हो सकता।"

इस वचन में स्पष्ट रूप से प्रगट किया गया है, कि यदि कोई जन मेरे जैसा विश्वास रखता हो, मेरे प्रकाशित किए हुए तत्त्वों वा मेरी शिक्षा के मानने का दम भरता हो, तो भी मैं उसे उस समय तक **अपना नहीं कहूंगा**, जब तक वह आत्मिक मेल के लिए तैयार न हो, और (देवत्व के जीवन के द्वारा) एक दूसरे को अपना बनाना और एक दूसरे का बनकर **परम एकता** के मिशन में मेरा साथ देना अपना लक्ष्य न रखता हो। इससे ज़ाहिर है, कि मेरे लिए इससे बढ़ कर और कोई लक्ष्य नहीं कि ईश्वर और उनकी नाना प्रकार की जितनी सृष्टि है उनमें **एकता** पैदा हो।

इक्कीसवां परिच्छेद

विश्व विषयक प्रथम तत्त्वज्ञान

पहले पहल जिस पुस्तक के पाठ ने मेरे भीतर विश्व विषयक अध्ययन के लिए स्पृहा जाग्रत करने में सहाय की, वह प्रोफ़ेसर ड्रमन्ड की वह पुस्तक थी, कि जिसका नाम "नेचुरल ला इन दी स्पिरिचुअल वर्ल्ड" था। किस तरह मुझे इस किताब का पता लगा, किस तरह उसने मुझे अपनी ओर आकृष्ट किया, किस तरह मेरे वह हाथ आई, और किस तरह वह मेरे इस ज्ञान के विकाश में सहायक बनी, उसकी कहानी केवल यही नहीं, कि बहुत मनोरंजक है, किन्तु शिक्षाप्रद भी है। मैंने साफ़ देखा है, कि जैसे मनुष्य-जगत् में मेरे आविर्भाव की गर्भ-जात विशेषता है, वैसे हि मेरे भूमिष्ट होने के बाद से मेरे विकाश के सम्बन्ध में कितनी हि घटनाओं की भी विशेषता है। इन्हीं घटनाओं की लड़ी में से एक घटना इस पुस्तक के सम्बन्ध में है।

सन् १८८७ ई० से पहले मैं वैद्यनाथ में (जो हिन्दुओं का एक विख्यात तीर्थ स्थान है) एक भद्र पुरुषके पास ठहरा हुआ था। उनकी बैठक में एक मेज़ लगी हुई थी। उस पर एक मोटी सी किताब रक्खी हुई थी। मेरे हृदय में उसके देखने की प्रेरणा हुई। मैंने उसे उठाकर देखा। यह वही किताब थी जिसका मैंने ऊपर ज़िकर किया है। मैं **नियमप्रिय** तो था हि, इस लिए उसके पूर्वोक्त नाम अर्थात् 'आध्यात्मिक जगत् में प्राकृतिक नियम' को पढ़ते हि मेरा दिल फड़क उठा। मैंने जल्दी २ उसके सफ़े उलट पलट कर कहीं २ से पढ़ने की कोशिश की। मुझे उसने आकृष्ट किया। मैं वहां से चला आया, परन्तु मेरे हृदय से उसका प्यार न गया। कुछ काल के अनन्तर—शायद १८९२ के शुरू में—मुझे मालूम हुआ, कि वह पुस्तक लाहौर में मिल सकती है, मैंने

फौरन उसे मंगा लिया, और उसका अध्ययन शुरू किया। उसके पाठ से मुझे बहुत फ़ायदा हुआ, जिसके लिए मैंने उसके निर्माता को अपनी मंगल कामनाओं में बार २ याद किया है, और इन सतरों को लिखने के समय भी उनके लिए बहुत कृतज्ञ अनुभव करके उनके हित के लिए कामना करता हूं। इसे पढ़ने से जहां एक ओर मेरा विश्वगत उन्नति और अवनति विषयक ज्ञान पहले की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल होगया; वहां दूसरी ओर विश्व और मनुष्य विषयक विकाश के सम्बन्ध में अध्ययन करने की आकांक्षा भी बहुत प्रबल रूप से जाग्रत होगई।

इस समय से हि मुझ में यह **बोध** जाग्रत हुआ, कि मैं **विश्व** का एक **अंश** हूं और वह **मेरा** बहुत बड़ा **सम्बन्धी** है, और मेरे भिन्न **मनुष्य मात्र** के साथ उसका बहुत गाढ़ **सम्बन्ध** है। मुझे उसके विषय में बहुत कुछ जानने और बहुत कुछ सीखने अथवा एक शब्द में **सत्य ज्ञान** लाभ करने की आवश्यकता है।

मुझे विश्व के सम्बन्ध में अपने अध्ययन और विचार आदि के द्वारा इस समय तक जो कुछ तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ था, वह यह था:—

(१) पूर्ण विश्व एक है और उसका प्रत्येक विभाग एक दूसरे से **जुड़ा** हुआ है।

(२) मनुष्य का अस्तित्व विश्व का एक **अंश** है। वह विश्व के विविध विभागों से **जुड़ा** होने के कारण उनके **भले वा बुरे असरों** को लाभ करता है।

(३) विश्व के विविध अस्तित्व विविध सम्बन्ध सूत्रों से जुड़कर हि **भला वा बुरा रूप** ग्रहण करते हैं।

(४) देवत्व सम्बन्धी शक्तियों के ज्ञान और उनकी प्राप्ति से हि मनुष्य विश्व के विविध विभागों के साथ ऐसे **सम्बन्ध सूत्रों** से जुड़ सकता है, कि जिनके द्वारा वह अपने आत्मा को विनाशकारी बुरे असरों और उनके बुरे फलों से बचाकर और विकाशकारी भले असरों को पाकर अपना **विकाश** साधन कर सकता है।

(५) देवत्व के द्वारा विश्व के साथ उच्च **एकता** स्थापन करने

के योग्य बनना हि मनुष्य का **परम लक्ष्य** है।

ऊपर मैंने जिन तत्त्वों का वर्णन किया है, उनके प्रकाशित होने पर मुझे **विश्व** की बहुत बड़ी महिमा दिखाई दी। अब वह मुझे जिस क़दर गाढ़ रूप से सत्य और सार नज़र आया, उससे पहले उस क़दर कभी नज़र नहीं आया था। उसके साथ अब मुझे अपना जितना **घनिष्ट सम्बन्ध** दिखाई दिया, उतना पहले कभी दिखाई नहीं दिया था। मैंने उपलब्ध किया, कि जीवन का बनना और बिगड़ना तो नाना सम्बन्धों के साथ भले अथवा बुरे **सम्बन्ध सूत्रों** की दशा पर हि निर्भर करता है। ईश्वर को मानकर भी और उसकी पूजा वा उपासना, वा संध्या करके, वा नमाज़ पढ़के भी लोग विश्व के विविध विभागों के साथ **नीच सूत्रों** से जुड़े रहकर दिनों दिन **नीच** बनते हैं। पशु और वृक्ष भी जो **ईश्वर को नहीं मानते** विश्वगत अनुकूल सम्बन्धियों से जुड़कर **बेहतर** बनते हैं, और प्रतिकूल सम्बन्धियों से जुड़कर **बदतर** हो जाते हैं। **सम्बन्ध तत्त्व** के इस महा अद्भुत ज्ञान ने, विश्व को मुझ पर, क्या अपने और क्या और अस्तित्वों के लिए जैसा **सच्चा और सार सम्बन्धी** प्रगट किया, उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता।

बाईसवां परिच्छेद

तत्त्व अनुसन्धान विषयक महा कठिन काम—उसकी सिद्धि के लिए मेरा महा संग्राम

ईश्वर विषयक मिथ्या विश्वास में सन्देह और उसका त्याग

ईश्वर विषयक मिथ्या विश्वास कब और किस प्रकार मुझ से दूर हुआ, उसका वृत्तान्त मैं "अपने आत्मा के उच्च विकाश पर मेरी एक सरसरी नज़र" शीर्षक निबन्ध में से (जो जीवनपथ में छपा था) नीचे उद्धृत करता हूं :—

"जीवनव्रत ग्रहण करने के बाद ग्यारह वर्ष तक, मेरे आत्मा में, ईश्वर विश्वास क़ायम रहा। बारहवें वर्ष के प्रारम्भ में, (जब कि मैं उत्पीड़नकारियों के द्वारा मुक़दमों की विपद में फंसा हुआ था) मेरे जीवन के विकाश में वह अवस्था आई, जबकि मेरे भीतर उसके अस्तित्व के **विषय** में कई प्रकार के **सन्देह** उठने लगे। यह बहुत संकटमय समय था। उधर मुक़दमों की मुसीबतें और उलझनें, और विरोधियों की ओर से अति कष्टदायक घोर उत्पीड़न ! इधर ऐसे महा संकट और विपद के समय में जिसके हाथ में सुरक्षित अनुभव करके, मैं शान्ति और सहारा पासकता था, उसी के अस्तित्व के विषय में सन्देह !! यह वह समय था, जबकि मैं विश्व के विकाश तत्त्व पर वर्षों तक विचार, और अध्ययन कर चुका था। इसीलिए ज्यों २ वैज्ञानिक विधि के अनुसार मैं अपने इस विश्वास की मीमांसा करने लगा, त्यों २ मेरा सन्देह "ईश्वर" के अस्तित्व के विषय में दिनों दिन अधिक बढ़ने लगा।

इस सन्देह के उठने और दिनों दिन बढ़ने से मेरे भीतर एक घोर संग्राम उपस्थित हुआ। एक ओर मेरा ज्ञान कोष विकशित होते २ इस

अवस्था में पहुंच गया था, कि वह **सत्य अनुराग से परिचालित होकर केवल वैज्ञानिक पूर्ण विधि** के द्वारा हि ईश्वर विश्वास के विषय में सिद्धान्त पर पहुंचने के लिए ज़ोर लगाता था, और दूसरी ओर मेरा उसके अस्तित्व में अत्यन्त गाढ़ विश्वास (कि जो परम्परा के संस्कार और मेरे अपने भक्ति विषयक सत्य शुद्ध और अत्यन्त गहरे साधनों से अतिशय दृढ़ बन चुका था) मेरे इस ज्ञान कोष से किसी प्रकार का आघात पाने के लिए तैयार न था, इस लिए दोनों में स्वभावतः **संग्राम** उत्पन्न होगया और बढ़ते २ **घोर संग्राम** बन गया।

मेरा हृदय ईश्वर के गहरे विश्वास और भक्ति भाव से परचालित होकर रो २ कर और चिल्ला २ कर यह कहता था, कि "मैंने आज तक जिसे अपना **सर्वस्व** समझा है, जिसे अपना ज्योति दाता, शक्ति दाता, आनन्द और रस दाता अनुभव किया है, जिसे अपने प्राणों का प्राण और जीवन का जीवन जाना है, जिसकी इच्छा पालन करने और जिसके साथ सर्वदा मेल रखने के लिए मैंने **सब प्रकार का महा त्याग** स्वीकार किया है, किसी **सुख** और **आराम**, किसी **भय** और **हानि** की परवा नहीं की, दुनिया मुझ से बिछड़ गई, पर मैं जिससे नहीं बिछड़ा; जिसके चरणों में मैंने अपने आपको **पूर्णतः अर्पण** करके तरह २ का घोर से घोर दुःख उठाया है, बड़ी २ बदनामियां सिर पर ली हैं, सम्बन्धी छोड़े हैं, यश और मान और सम्भ्रम त्यागा है, और विरोधियों के हाथ से नाना प्रकार का उत्पीड़न सहा है। जिसके प्रेम से गद २ होकर मैंने सैकड़ों बार अश्रुपात किया है, जिसके प्रेम से उन्मत्त होकर मैं अनेक बार नाचा हूं, और आनन्द में मग्न होकर विह्वल हुआ हूं। जिसके भजन कीर्तन में कई बार रतजगे किए हैं, जिसकी उपासना करना मैंने प्रति दिन का कर्तव्य रक्खा है, जिसकी पूजा में कई २ घंटे खर्च करता रहा हूं, जिसको अपना सर्वोच्च स्वामी बना कर मैंने **उसके समान अथवा उससे बढ़कर** और किसी सम्बन्धी वा वासना, वा सुख आदि को अपने ऊपर **अधिकार** नहीं दिया —क्या मेरे ऐसे परम सम्बन्धी का अस्तित्व केवल कल्पना हो सकता है ? क्या जिसके अस्तित्व पर **लाखों**

जन विश्वास करते हैं, वह विश्वास मिथ्या हि है ? क्या मैं अपने ऐसे प्राणाधार और जीवन के अवलम्बन को, अपनी इस परम सम्पद और अपने इस परम धन को यूंही खोने के लिए तैयार हो सकता हूं ? क्या मैं अपने उस परमआश्रय को खोकर किसी प्रकार स्थित कर सकता हूं ? कदापि नहीं, कदापि नहीं। मैं उसे नहीं खो सकता, मैं अपने प्राणाधार को नहीं छोड़ सकता। मैं उसके छोड़ने में अपनी मृत्यु देखता हूं।"

इधर मेरे विश्वासी हृदय की यह क्रन्दनध्वनि थी, उधर सत्य अनुराग से परिचालित मेरे ज्ञान कोष की यह ललकार थी, कि

"हे हृदय ! तू अन्ध मत बन। तेरा विश्वास **सत्यमूलक** नहीं, किन्तु असत्य और भ्रान्तिमूलक है। कल्पित विश्वास का गहरा संस्कार चाहे तुझे कैसा हि प्रिय प्रतीत होता हो, परन्तु उस के त्याग के बिना तेरे उच्च विकाश का पथ कदापि लगातार खुला नहीं रह सकता। **मिथ्या** कल्पना कैसी हि **प्रिय** हो और वर्षों के **अभ्यास** से कैसी हि प्रियतर और प्रियतम बन गई हो; परन्तु फिर भी वह **मिथ्या** है। फिर भी वह जीवन के विकाश के पथ में प्रतिबन्धक और हानिकारक है, इसीलिए कदापि रक्षा करने के योग्य नहीं।"

"हे हृदय ! तू किसी साधारण आत्मा का हृदय नहीं, जिस के भीतर एक वा दूसरे प्रकार के सच्चे वा झूठे संस्कारों का तो बास हो, परन्तु **सत्य अनुराग** वर्तमान न हो ! तू साधारण हृदय नहीं। तेरे भीतर बहुत काल से **सत्य विषयक अनुराग** उत्पन्न और विकशित हो चुका है, और उसके द्वारा परिचालित होकर तूने मेरा सर्वदा साथ दिया है। फिर तू यह मिथ्या विश्वास रख कर अपने इस सत्य अनुराग को क्योंकर सन्तुष्ट कर सकता है ? कभी नहीं, और किसी तरह नहीं। जिस आत्मा का तू एक बड़ा अंग है, उसीका मैं भी एक बड़ा अंग हूं। और यह वह आत्मा है कि जो विश्व में **उच्चगति मूलक एकता सम्पादक की अद्वितीय विशेषता लेकर जन्मा** है। फिर तू हि सोच, कि हम दोनों अंग एक दूसरे से **अनेकता अथवा अनमेल** की अवस्था में क्योंकर शान्ति पूर्वक रह सकते हैं ? हमारे लिए क्या **परस्पर की शान्ति** और क्या **एकता** के नियम के

पूर्ण करने के लिए और क्या जीवन के, सर्वांग **विकाश** के पथ को सर्वदा उन्मुक्त रखने के लिए, **परस्पर मेल** पैदा कर लेने के भिन्न और कोई उपाय नहीं। ईश्वर विश्वास कदापि **सत्य नहीं**। वह निश्चय और कितने हि कल्पित देवी देवताओं की न्याईं **मिथ्या कल्पना है**। तू पूर्णतः सत्य प्रिय है। अतएव जैसे आज तक और सैकड़ों मिथ्या कल्पनाओं को त्याग करके और उन के त्याग में अनेक बार बड़े २ दुःख उठा कर भी तू मेरे साथ अपना **निष्कपट और पूर्ण मेल** रखता रहा है, उसी तरह अब भी इस मिथ्या विश्वास को छोड़ कर मेरे साथ सच्चा मेल स्थापन कर।"

सत्य अनुराग मूलक मेरे ज्ञान कोष की अकाट्य अपील ने धीरे २ मेरे हृदय को बदलना शुरू किया। प्रायः एक वर्ष तक उसके बहुत पुराने संस्कार की जड़ पूर्णतः नहीं कटी, परन्तु सत्य-अनुराग से परिचालित ज्ञान-कोष के कुल्हाड़े उस पर लगातार पड़ते रहे, और आखिरकार उसकी सारी जड़ कट गई, और इस **मिथ्या विश्वास** का सारा वृक्ष एक दिन मूल से हि कटकर धम्म से नीचे गिर पड़ा और मिथ्या पर **सत्य** ने पूर्णतः **जय** लाभ की।

मैं जानता था, कि जब मैं ईश्वर का विश्वासी था, तब भी मेरे विरोधी मेरा पीछा नहीं छोड़ते थे। अब इस देश व्यापी प्रचलित विश्वास के चले जाने की ख़बर पाकर, उन्हें मुझ पर आक्रमण करने के लिए एक और **शतघ्नी तोप** मिल जायगी। परन्तु इसके साथ मैं यह भी जानता था कि इस **झूठी तोप के झूठे गोलों** से मैं उड़ नहीं सकता। हां, उसके द्वारा मेरा एक बाल तक बींका नहीं हो सकता। जब कि **विश्व का विकाशकारी विभाग मेरा रक्षक है**, और **सत्य मेरा दुर्जय महा शस्त्र** है, तब मेरे लिए अपने मिथ्या-अवलम्बी सब विरोधियों और उत्पीड़न-कारियों पर **विजय लाभ करना अवश्यम्भावी है**। क्या किसी ऋषि का यह सत्य वाक्य कभी मिथ्या प्रमाणित हो सकता है, कि "सत्यमेव जयते नानृतम्" ? कदापि नहीं, कदापि नहीं।

इस जय के लाभ करने पर मैं जो पहले **ब्रह्मवादी** था, अब पूर्ण **विश्ववादी** बन गया। ईश्वर-विश्वास के दिनों में यद्यपि मैं विश्व वा

नेचर को मानता तो था, परन्तु तब उसे **ईश्वर की उत्पन्न की हुई वस्तु** जानता था। और ईश्वर को मुख्य जान कर उन्हीं को हि अपना सर्वस्व और सर्वोच्च और सार सम्बन्धी विश्वास करता था। मैं उस काल में यद्यपि **नेचर** को देखता था, परन्तु उसे उसके **असल रंग रूप में नहीं देखता था**। ईश्वर विश्वास की **कल्पित ऐनक** लगाकर मैं नेचर की काली से काली और कुत्सित से कुत्सित छवि को भी उज्ज्वल और सुंदर रूप में देखने की चेष्टा करता था। मैं एक ओर जहां किसी स्त्री की प्रसव वेदना के अनन्तर शिशु के उत्पन्न होने पर इस क्रिया के सम्पादन में ईश्वर को धातृ रूप में और उसके स्तनों में दूध को देखकर उन्हीं को हि **परम माता** के रूप में उपलब्ध करता था। एक २ हितकारी पशु और वृक्ष लता और सूर्य्य चन्द्र, अग्नि, जल, वायु, पृथिवी, नदी और पर्वत आदि भौतिक पदार्थों में उन का महान् ज्ञान और उनके हितकर प्रभाव में उन्हीं के मंगल हस्त को वर्तमान जानता था। नाना प्रकार के प्राकृतिक सौन्दर्य्य के दर्शन में उन का सौन्दर्य्य समझ कर हर्षित होता था। फलतः नेचर के भीतर जहां कहीं और जो कुछ मुझे **सुन्दर, हितकर** और **मधुर** प्रतीत होता था, उसमें ईश्वर के हि सुन्दर और हितकर रूप का प्रकाश समझ कर उन्हीं के साथ अपने सम्बन्ध को घनिष्ट करता था। वहां दूसरी ओर नेचर की इस **एक अंश** की सुन्दर और हितकर छवि के विपरीत जब कभी उस के **दूसरे अंश** की महा कुत्सित, महा भयानक और महा अनिष्टकारी छवि मेरे सन्मुख आती, तब मैं अपने **मिथ्या विश्वास** के अनुसार अपने आपको इस प्रकार समझाने की चेष्टा करता था, कि यद्यपि यह छवि प्रत्यक्ष रूप में कुत्सित और अनिष्टकारी है किन्तु इसके भीतर भी मंगलमय हरी का मंगल भाव काम कर रहा है। और जैसे पिता एक २ बार अपनी सन्तान से नाराज़ होकर उस की ओर डरावनी दृष्टि से देखता है, उसी प्रकार जगत्-पिता परमेश्वर भी इन भीषण घटनाओं के द्वारा हमें अपने भीषण रूप को दिखा रहे हैं। वायु और वृष्टि के बड़े २ भयानक तूफ़ानों और बिजली के भयानक शब्दों में मैं उन्हें

"भीषणं भीषणानाम" कह कर अपने भय को शान्त करने की चेष्टा करता था। मुझे यदि किसी तूफ़ान के द्वारा समुद्र में किसी जहाज़ के डूब जाने की ख़बर मिलती, कि जिस में सैकड़ों पुरुषों और स्त्रियों के भिन्न कितने हि दूध पीते नन्हें २ बच्चों (जिन की माओं की छाती का दूध अभी तक शुष्क नहीं हुआ था) और कितनी हि गर्भवती स्त्रियों के गर्भ सहित (जिन के गर्भाशय में अभी तक बच्चे की रचना का काम ईश्वर ने पूर्ण नहीं किया था) डूबने का हाल पढ़ता, अथवा किसी नदी में पानी की बाढ़ के आने से उसके किनारे के कितने हि गांवों के वह जाने और कितने हि स्त्री, पुरुषों और बच्चों और हित कर पशुओं के नष्ट होजाने का हाल सुनता, अथवा भूंचाल के द्वारा शहरों के शहर और गांवों के गांव तबाह हो जाने, और सैकड़ों पुरुष-स्त्री, बच्चों और पशुओं के दबकर मरजाने और ज़ख़मी होजाने का हाल पढ़ता, तो मैं इन सब महा भयानक और अनिष्टकारी घटनाओं में मंगलमय हरी की मंगल क्रिया को हि **कल्पना** करता था, कैसा अन्धविश्वास ! परन्तु मेरा यह कल्पित और अन्धविश्वास लगातार मज़बूत न होसका। मेरे **सत्य** और **शुभ** के महा अनुरागों ने विकशित होकर आख़िरकार उसका **नाश** कर दिया।

यह अत्यन्त शुभ घड़ी थी। इस शुभ घड़ी के लाने में नेचर ने (जिसको मैं पहले केवल अपना गौण सम्बन्धी जानता रहा था) बहुत संग्राम किया था। एक ओर मेरी आन्तरिक नेचर ने अर्थात् मेरे सत्य और शुभ सम्बन्धी अनुरागों ने, और दूसरी ओर बाहर की अनेक घटनाओं के भिन्न ईश्वरवादियों के महा दुःखदाई घोर उत्पीड़नों ने, उपरोक्त कल्पित विश्वास के दूर करने में जो कुछ काम किया, वह बहुत विस्मय-जनक था। कैसा हर्ष का विषय ! नेचर ने अपने लाखों वर्षों के लगातार संग्राम से एक दिन अपने उच्च विकाश के जिस सर्वोच्च और महान् कार्य्य में सर्वांग रूप से सहाय वा सेवाकारी बनाने और अपने **प्रत्येक विभाग के साथ उच्चगति-मूलक एकता स्थापन करने के लिए** जिस आत्मा को जन्म दिया था, और जिसे वह अपनी गोद में रखकर

विविध प्रकार की विकाशकारी घटनाओं में से गुज़ारकर विकशित करती चली आई थी, उसके महत् उद्देश्य के पूर्ण होने के लिए अब सब ओर से मार्ग खुल गया। मैं जिस नेचर को अपनी भ्रान्ति से पहले अपना **गौण** सम्बन्धी अनुभव करता था, अब उसी को सत्य की ज्योति पाकर अपना **मुख्य सम्बन्धी** देखने और अनुभव करने लगा। और नेचर के **कल्पित स्रष्टा** और अधिपति से पूर्णतः सम्बन्ध काटकर मैंने **सत्य और सार विश्व के साथ अपना सब प्रकार से सत्य और सार सम्बन्ध स्थापन किया।**

ईश्वर विश्वास तो चला गया, परन्तु यह मेरे लिए अत्यन्त संकट का समय था :—

(१) मैं उत्पीड़नकारियों की ओर से मुक़दमों के द्वारा अत्यन्त सताया और उत्पीड़ित किया जा रहा था।

(२) मेरे कुछ साथियों की ओर से ऐसी हृदय विदारक दुर्घटनाएं पैदा हुईं, कि जिनके आघात से मेरा दिल टुकड़े-टुकड़े हो गया। स्नायु प्रणाली अत्यन्त बिगड़ गई, और शारीरिक अवस्था ऐसी ख़राब हो गई, कि मैं मृत्यु के निकट पहुंच गया। मुझे वह दिन याद है, कि जब मैं इस नाज़ुक अवस्था में लाहौर से मण्टगुमरी को जारहा था। मैं रेल की बेंच पर अत्यन्त दुर्बल और प्रायः बेहोशी की हालत में लेटा हुआ था। मेरे दो तीन साथी सेवक बहुत उदास चेहरों के साथ मेरे पास बैठे हुए थे। और मैं यह आशंका कर रहा था, कि कहीं रेल में हि मेरा शरीर न छूट जाए। मैं बहुत कठिनाई से जीता हुआ मंटगुमरी पहुंचा। उन दिनों वहां पर एक बहुत भले स्वभाव के एक यूरोपियन सिविलसर्जन रहते थे। मैंने उनके पास अपनी इस नाज़ुक अवस्था की ख़बर भेजी। उन्होंने मुझे घर पर आकर देखा और दिली सहानुभूति और मेहरबानी के साथ मेरा इलाज शुरू किया। बहुत दिनों के लगातार इलाज और मंगलकामनाओं से मैंने आरोग्यता लाभ की।

(३) देवधर्म्म की सच्ची अनुरागी और देवसमाज की निहायत वफ़ादार और मेरी आश्रित सेवका कुमारी प्रेमदेवी जी कई महीनों से

तपेदिक़ के अति भयानक और सांघातिक रोग से बीमार चली आती थीं, और इन दिनों वह भी बहुत नाज़ुक हालत में पहुंच चुकी थीं।

(४) मेरे प्रति चारों ओर धुआंधार विरोधिता और घृणा के फैल जाने से उनके कारण दुःख और उत्पीड़न पाने के भिन्न मेरे लिए समाज से बाहर सब तरफ़ों से सहाय और सहानुभूति के दरवाज़े बन्द थे, और हम लोग मुक़दमों के ख़र्च के भिन्न अपनी मामूली ज़रूरतों के लिए भी फ़िकर में रहते थे।

(५) मेरे जो थोड़े से सेवक थे, उनमें से भी कितनों के भीतर ईश्वर विश्वास की जड़ बहुत गहरी जाचुकी थी, और यह बहुत बड़ी आशंका थी, कि मेरे ईश्वर विश्वास के दूर होने का असर इन लोगों पर बहुत ख़राब और क्लेश उत्पादक होगा।

(६) अपने सेवकों के भिन्न बाहर के लोगों के सम्बन्ध में भी मेरे भीतर बहुत बड़ी आशंका थी, कि वह मेरे इस अविश्वास को जानकर मेरे सताने और मेरे काम को हानि पहुंचाने के लिए एक और हथियार लाभ करेंगे।

मैं इन दिनों, इन नाना उत्पीड़नों, दुःखों, विपदों और आशंकाआ से घिरा हुआ था; परन्तु इन सब के होने पर भी जैसे एक उमदा हरिकेन लैम्प की ज्योति हवा के एक सख़्त तूफ़ान के अन्दर भी बराबर क़ायम रहती है, वैसे हि मेरी सत्य विषयक महा अनुराग की **ज्योति** वराबर क़ॉयम थी। यद्यपि मेरे चारों तरफ़ घोर से घोर दुःख, उत्पीड़न, विपद् और आशंकाओं का तूफ़ान उमड़ रहा था, तो भी वह मेरी इस ज्योति को निर्वाण या धुंधला नहीं कर सकता था। मैं सत्य की चट्टान पर अटल खड़ा था। तूफ़ान की महा भयानक लहरें उस तक पहुंचकर टक्कर लगाती थीं, परन्तु मैं ज़रा नहीं डरता था। मेरा यह पूर्ण निश्चय था, कि मेरी ज़िन्दगी का जहाज़ इस बड़े तूफ़ान में गरक़ नहीं होगा, और वह ज़रूर सही सलामत बाहर निकल जायगा। आख़िरकार यही हुआ।

देवसमाज का आठवां वार्षिक देवोत्सव भी बहुत निकट आपहुंचा

था। मैं थोड़ी सी आरोग्यता लाभ करने पर उसकी तैयारी में मसरूफ़ होगया। परन्तु उत्सव से एक दिन पहले कुमारी प्रेमदेवी जी का देहान्त होगया। उनकी इस भयानक पीड़ा में उनके हृदय को सरस, शांत और उच्च रखने के लिए मुझे कई प्रकार का संग्राम करना पड़ता था। जिस समय उनका देहान्त हुआ, मैं अतिसार रोग से पीड़ित था, और उसके कारण बहुत दुर्बल होगया था। ईश्वर विश्वास के चले जाने पर यह पहला हि उत्सव था, कि जिसकी कार्य्यप्रणाली में मैंने इस बार **ईश्वर के सम्बन्ध में कोई साधन नहीं रक्खा था।**

ऐसी अवस्था में एक साधारण मनुष्य ऐसी कल्पना कर सकता था, कि मुझ पर यह सब विपद् ईश्वर के न मानने अथवा उसके कोप से आरही है, परन्तु मेरे भीतर कोई ऐसी कल्पना नहीं उठती थी। उत्सव के आरम्भ होने के दिन मैं रोगी होने पर भी, अपनी इच्छा के बल से उठ बैठा, और स्नान करके और कपड़े पहन के और एक गाड़ी में बैठ के साधन स्थान में जा पहुंचा। फ़ोटोग्राफ़र पंडित दीनानाथ जी बाली वहां पहले से कैमरा लिये हुए मौजूद थे। उसी समय मैंने अपने कई पारिवारिक जनों के साथ उनसे अपना एक फ़ोटो खिचवाया। और यद्यपि उस समय मेरे लिए अपनी बहुत बड़ी शारीरिक दुर्बलता के कारण दो चार क़दम चलना अथवा कुछ देर तक वेदी पर बैठना बहुत दूभर था, तो भी मैं सोंटी पकड़े हुए और उसके सहारे धीरे २ वेदी पर जा बैठा। मैंने सभा का कार्य्य आरम्भ किया। फिर समय आने पर जब मैंने उपदेश देना शुरू किया, तब मैं उस समय अपनी आन्तरिक धर्म्म शक्तियों से उद्वेलित होकर जिस प्रकार बोल रहा था, उससे उपस्थित जनों के लिए यह पहचानना मुश्किल था, कि यह कोई रोगी और दुर्बल शरीर धारी बोल रहा है। कई घण्टे तक यह सभा रही और मुझे कुछ पता न था, कि मेरा शरीर कहां और किस अवस्था में है। सभा के समाप्त होने पर मेरा फिर फ़ोटो लिया गया। यह दोनों फ़ोटो मेरे पास मौजूद हैं, और उन दोनों का मुक़ाबला करने से पता लग सकता है, कि मेरे आत्मा ने धर्म्म भावों से अनुप्राणित होकर और उपस्थित

जनों की धर्म्म सेवा करके जो कुछ बल और तेज लाभ किया था, उसका मेरे चेहरे पर भी कहां तक असर हो गया था। यह दोनों फ़ोटो यद्यपि कुछ घंटों के अन्तर से लिये गए थे, फिर भी उनके चेहरों में बहुत बड़ा फरक़ पाया जाता है। फ़रवरी सन् १८९५ ई० में देवसमाज का यह **आठवां** और देवसमाज के इतिहास में **पहला** वार्षिक उत्सव था, कि जिस की कार्य्य प्रणाली में से **ईश्वर** के सम्बन्ध में पहले वर्षों में जो साधन होते थे, उन सब का **लोप** होगया।

यों तो विश्व के अन्तर्गत उसकी प्रत्येक घटना हि अद्भुत है, परन्तु उसमें **विकाशकारी घटनावली** का क्रम और भी अत्यन्त अद्भुत और विचित्र है। सारे विश्व को छोड़कर जब हम अपने हि सौर्य्य मण्डल को सन्मुख लाते हैं, तो उसके विकाश में भी बहुत अचरज लीला देखते हैं। सूर्य्य के अग्निमय आकार से पृथिवी का फट कर अलग होना, गोलाकार रूप धारण करके सूर्य्य के गिर्द घूमना, धीरे २ शीतल होना, भौतिक शक्ति का जीवनी शक्ति के रूप में परिवर्तित होकर प्रगट होना, फिर उसका एक २ सेल के जीवन्त आकारों में संगठित होना, फिर इन एक २ सेल के जीवाणुओं से धीरे २ लाखों वर्ष तक बहु-सेल-विशिष्ट नाना उद्भिद् और पशु आकारों का विकशित होना, फिर पशु-जगत् से मनुष्य का प्रगट होना, और उसके आकार में बुद्धिकोष और वाक् शक्ति का क्रम २ से विकशित होना, और इस विकाश द्वारा उसका महा जंगली और बर्बर अवस्था से निकल कर क्रम २ से सभ्यता की सीढ़ी पर चढ़ना, वैज्ञानिकों के लिए जिस प्रकार विस्मय-जनक है, उसका वर्णन नहीं होसकता।

विश्व के इस सारे विचित्र कार्य्य में यह उद्देश्य काम करता रहा है, कि एक दिन वह इस मनुष्य-जगत् के भीतर ऐसा आत्मा उत्पन्न करे, कि जो एक ओर जैसे उसका सभ्यता के हर एक **सच्चे पहलू** का साथी हो, वहां दूसरी ओर सभ्यता के आने पर भी मनुष्य और जगतों को छोड़कर जो अपने हि जगत् के सम्बन्ध में विविध प्रकार से **नीचगति-परायण** होकर जिन नाना प्रकार की हानियों और नाना प्रकार के दुःखों के

उत्पन्न करने का कारण बन रहा है, उनका धीरे २ अवसान हो। और वह अपने आत्मा की असम्पूर्ण गठन के कारण उसके और विभागों को छोड़कर अपने हि जगत् की विविध जातियों और अपनी जाति के विविध सम्बन्धियों के सम्बन्ध में जो अज्ञान, दुश्चिन्ता, मोह और दुराचार जनक महा भयानक **अनमेल** की अवस्था में पड़ा हुआ है, और धर्म्म के प्रकृत ज्ञान से अन्ध रहकर उसके नाम से सत्य के स्थान में नाना प्रकार के **मिथ्या विश्वासों** को पोषण और प्रचलित कर रहा है, और अपने जीवन के **सच्चे आदर्श और मुख्य उद्देश्य** से अज्ञानी रहकर अपनी और औरों की **महा हानि** कर रहा है, उसके उद्धार और परम कल्याण का पथ उन्मुक्त हो। **कल्पना-मूलक धर्म्म-मतों** के स्थान में सारे मनुष्य-जगत् के लिए एक मात्र **सच्चे विज्ञान-मूलक धर्म्म-ज्ञान** का प्रचार हो, कल्पित मतों के द्वारा कल्पित स्वर्ग लाभ करने के स्थान में मनुष्य आत्मिक जीवन विषयक सत्य ज्योति और उच्चगति दायक धर्म्म शक्तियों को लाभ करके इसी पृथिवी में सच्चे स्वर्ग धाम का परिचय पाए, और वह अपने जगत् के भिन्न पशु, उद्भिद् और भौतिक-जगत् के साथ भी **अहितकर** सम्बन्ध सूत्रों को काटकर और विविध प्रकार के **कल्याणकारी सूत्रों** से जुड़कर उनके लिए केवल यही नहीं, कि अहितकारी न रहे, किन्तु हितकारी प्रमाणित हो। और पृथिवी में **विज्ञान-मूलक सत्यधर्म्म की शिक्षा और साधन प्रणाली** आदि के प्रचार से **एक नया और सचमुच का "सत्युग" आरम्भ हो।**

इसी अद्वितीय उद्देश्य के सिद्ध करने के निमित्त विश्व ने अपने क्रम विकास के द्वारा लाखों वर्षों के संग्राम के अनन्तर जिस आत्मा को जन्म दिया था, और अपनी गोद में सुरक्षित रख कर और विविध प्रकार की विकाशकारी घटनाओं में से गुज़ारकर उसकी आत्मिक गठन के प्रत्येक उच्च अंग को विकशित करके **देवरूप** में परिणत करने का कार्य्य आरम्भ किया था, उसके लिए **ईश्वर विषयक कल्पित विश्वास को प्रतिबन्धक** पाकर आखिरकार उसके नष्ट करने का उसने अवसर उत्पन्न कर दिया। तब क्या विश्व के उपरोक्त **महान्**

उद्देश्य की सिद्धि के लिए, और क्या मेरे अपने आत्मा के **अनवरत विकाश** के लिए, इससे बढ़कर हर्ष का विषय और क्या हो सकता था, कि ईश्वर विषयक **मिथ्या** विश्वास मेरे भीतर से नष्ट हो। और निश्चय जिस दिन मैंने इस मिथ्या विश्वास से मुक्त होकर **एक मात्र विश्व को हि सत्य और सार रूप में देखा और ग्रहण किया,** वह दिन क्या मेरे लिए और क्या मनुष्य जगत् के लिए, और क्या उसके भिन्न पशु, उद्भिद् और भौतिक-जगत् के लिए जैसा कुछ मुबारिक और जैसा कुछ शुभकर समझा जा सकता है, उसका अनुमान नहीं हो सकता। उसके बाद से क्या मेरे लिये, क्या मेरे सम्बन्धी इन सब जगतों के लिए जो **शुभ** का महा दुर्लभ भण्डार खुल गया, उसका वर्णन नहीं हो सकता।

तेईसवां परिच्छेद

ईश्वर के विश्वास के सम्बन्ध में मेरी भ्रान्ति-मूलक युक्तियां

ईश्वर के अस्तित्व के सिद्ध करने के निमित्त मैंने १८८९ ई० में "धर्म्म जीवन" नामक अपने उर्दू पत्र में कुछ लेख लिखे थे। इसी सन् में हि मैंने उन्हें एकत्र करके पुस्तक के आकार में प्रकाशित किया था। इस पुस्तक का नाम "खुदा की हस्ती का सबूत" था। इसमें मैंने ईश्वर के अस्तित्व को जिन तीन प्रकार के प्रमाणों से सिद्ध करने की चेष्टा की थी, वह यह थे:—

(१) भौतिक-जगत् में उसकी शक्ति का कार्य्य।
(२) मनुष्य के शरीर में उसकी शक्ति का कार्य्य।
(३) मनुष्य के आत्मा में उसकी शक्ति का कार्य्य।

पहले प्रकार के प्रमाण में यह बताया गया था, कि जैसे किसी मनुष्यकृत ग्रन्थ में नेचर सम्बन्धी किसी ज्ञान विषयक अनुसन्धान और सिद्धान्त को देखकर हमारे लिए एक **ज्ञानवान** को उसका कर्ता मानना आवश्यक हो जाता है, वैसे हि जिस कुल नेचर की महान् पुस्तक का वह एक क्षुद्र अंश होता है, उसका **ज्ञानमय कर्ता** मानना भी आवश्यक हो जाता है। यही कर्ता ईश्वर है।

दूसरे प्रकार के प्रमाण में यह बताया गया था, कि मनुष्य के शरीर में कितने हि अंग जो उसकी अपनी इच्छा से नहीं चलते यथा—दिल, फेफड़े आदि, वह अवश्य किसी और की इच्छा शक्ति से चलते हैं, और वह जिस किसी और की शक्ति से चलते हैं, उसका नाम ईश्वर है।

तीसरे प्रकार के प्रमाण में बताया गया था कि आत्मा में उच्च भावों के उद्दीपित होने से हृदय में जिस सौन्दर्य्य का प्रकाश होता है,

जिस आनन्द रस और जिन शुभ प्रेरणाओं की उत्पत्ति होती है, उनकी उत्पत्ति जिस की शक्ति से होती है, वह ईश्वर है।

इन तीनों बातों में जो बहुत बड़ी भूल वर्तमान थी, वह **शक्ति विषयक तत्त्वज्ञान और उसके सम्बन्ध में सिद्धान्त निकालने में थी।** शक्ति विषयक तत्त्वज्ञान और उसके सम्बन्ध में ठीक सिद्धान्त पर पहुंचने के लिए जिन **सत्यों** के जानने की आवश्यकता है, वह यह हैं :—

(१) विश्व **जड़** और **शक्ति** विशिष्ट है।

(२) विश्व के अन्तरगत **जड़** और **शक्ति** नामक दोनों पदार्थ अपनी **पूर्ण मात्रा** के विचार से विनाश से रहित अर्थात् **अविनाशी हैं।**

(३) विश्व के जड़ पदार्थों के साथ शक्ति का **अकाट्य सम्बन्ध** है—अर्थात् वह एक दूसरे से कभी जुदा नहीं होते और नहीं होसकते।

(४) शक्ति अपने द्वारा जड़ पदार्थों को **परिवर्तित** करती है और अपने इस कार्य्य से आप भी नाना रूपों में **परिवर्तित** होती है। विश्व में नाना प्रकार के आकार और अन्य घटनाएं इन्हीं दोनों के **परिवर्तन** से उत्पन्न होती हैं।

अब इन चारों सत्यों को पूर्णतः स्वीकार करके "ईश्वर" नामक किसी **पूर्ण ज्ञान और मंगलमय स्रष्टा पुरुष** का किंचित् मात्र भी कोई प्रमाण नहीं मिलता और नहीं मिल सकता।

विश्व की अन्तरगत शक्ति (काल के साथ २) जिन दो प्रकार के नाना रूपों में परिवर्तित होकर प्रगट हुई है, वह यह हैं :—

(१) भार, ताप, आलोक और विद्युत् आदि **निर्जीव अन्ध शक्तियां।**

(२) उद्भिद्, पशु और मनुष्य आकार-गठनकारी **सजीव अर्थात् जीवनी शक्तियां।**

अब इन शक्तियों में से कोई शक्ति ऐसी नहीं, कि जो वह गुण रखती हो, कि जो ईश्वर नामक **पुरुष** में बताए जाते हैं। दृष्टांत रूप में हम पूछते हैं, कि क्या पहली श्रेणी की निर्जीव अन्ध शक्तियों में से कोई शक्ति ईश्वर है? अर्थात् क्या भार शक्ति ईश्वर है? क्या जिस

अग्नि वा ताप शक्ति से नाना धातुओं में रासायनिक परिवर्तन होता है, लकड़ी जल उठती है, खाने की कई चीज़ें पक कर नया रूप धारण करती हैं, वृक्षों के फल पक कर नए रूप और स्वाद को ग्रहण करते हैं, हवा गरम होकर लू बन जाती है; वह **ताप शक्ति ईश्वर है** ? क्या जिस बैटरी में धातुओं के परस्पर योग से विद्युत् शक्ति उत्पन्न की जाती है और उसके द्वारा "तार की खबरें" पहुंचाई जाती हैं, अथवा मुलम्मे का काम किया जाता है, अथवा मोटरकार चलाए जाते हैं, वह **विद्युत् शक्ति ईश्वर** है ? क्या सूर्य्य का वह आलोक, जो उद्भिद्-जगत् में नाना प्रकार के रंग उत्पन्न करता है, जो हमें आंखों से नाना रूपों के देखने के योग्य करता है, वह **आलोक ईश्वर** है ? क्या रेल की गाड़ियों को जो एंजिन अपनी **भाप** शक्ति के द्वारा सैकड़ों मील खेंचकर ले जाता है, उसकी यह **भाप शक्ति ईश्वर** है ? इन प्रश्नों के उत्तर में ईश्वरवादी अवश्य यही कहेंगे, कि इनमें से कोई शक्ति ईश्वर नहीं। अच्छी बात। अब आगे चलकर हम फिर प्रश्न करते हैं, कि क्या उद्भिद्-जगत्, क्या पशु-जगत् और क्या मनुष्य-जगत् के आकारों में जो भान्त २ की अगणित **जीवनी शक्तियां** काम कर रही हैं, उनमें से कोई **जीवनी शक्ति ईश्वर** है ? इसके उत्तर में भी ईश्वरवादी यही कहेंगे कि उनमें से कोई जीवनी शक्ति ईश्वर नहीं।

अब नाना मनुष्यों के शरीरों में रहकर जो जीवनी शक्तियां उन्हें जीवित रखती हैं, उन्हीं को **आत्मा** कहते हैं। यह आत्मा लाखों प्रकार के हैं। इन्हीं की विद्यमानता से मनुष्य के शरीरों में हृदय पिंड वा दिल और फेफड़े जीवित रहकर चलते रहते हैं और इनमें से जब कोई आत्मा अपने स्थूल शरीर को छोड़ देता है, तब उसके साथ हि **उसके हृदय पिंड और फेफड़ों का चलना वा गति करना भी बन्द होजाता है।** इसी लिए मनुष्य शरीर में हृदय पिंड वा फेफड़ों को **ईश्वर** नामक कोई पुरुष **नहीं** चलाता, किन्तु उसके यह अंग उसकी **अपनी जीवनी शक्ति** की विद्यमानता से चलते हैं। यद्यपि यह सच है, कि साधारणतः इन अंगों की गति मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं करती; परन्तु यह भी सच

है, कि कोई २ जन अभ्यास करके इस योग्य बन जाते हैं, कि वह अपनी **इच्छा शक्ति** से अपने हृदय पिंड की गति को कुछ समय के लिए **बन्द** भी कर सकते हैं।

मनुष्यों के आत्मा **भिन्न** २ प्रकार के हैं—कितनों में जो कई भाव शक्तियां पाई जाती हैं, वह और कितनों में पाई नहीं जातीं। श्रद्धा, सहानुभूति, कृतज्ञता आदि सात्विक कोष सम्बन्धी नाना भाव सब में पाए नहीं जाते। और जिनमें यह कुछ भाव वर्तमान भी होते हैं, उनमें यह उच्च भाव उसी विधि से उद्दीपित होते और होजाते हैं, जिस विधि से उनमें **काम** और **क्रोध** आदि अन्य भाव उत्तेजित होते और होजाते हैं। कल्पना के द्वारा यह सब जिस प्रकार उत्तेजित होजाते हैं, उसका उल्लेख इससे पहले ग्यारहवें अध्याय में होचुका है और उसे यहां फिर दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

ईश्वर विषयक सिद्धान्त में जो बहुत बड़ी भूल बहुत से चिंताशील लोगों में भी पाई जाती है और जिस भूल में मैं भी ग्रस्त था, वह **तर्क-विद्या-मूलक** भूल है। अर्थात् हम जिस बात को **साक्षात्** प्रमाण से सिद्ध कर सकते हों, उसे असाक्षात् प्रमाण अर्थात् **केवल अनुमान के** द्वारा ठीक न समझ लें। यदि एक युवक आकर हमें किसी यूनीवर्सिटी की बी० ए० की डिगरी का एक सच्चा सर्टीफ़िकेट लाकर दिखावे, कि जिसमें यह लिखा हुआ हो, कि यह सर्टीफ़िकेट गुरदयाल को बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर दिया गया है, और वह अपना नाम भी गुरदयाल बतावे; तो भी इस सर्टीफ़िकेट को देख कर कि जिसमें गुर-दयाल का नाम लिखा हुआ हो, और जिस पर रजिस्टरार के सचमुच के दस्तख़त मौजूद हों, और किसी सच्ची यूनीवर्सिटी की मोहर भी लगी हुई हो, हमें यह **अनुमान-मूलक** सिद्धान्त न निकाल लेना चाहिए, कि वह जन अवश्य बी० ए० होगा, जब कि हम **साक्षात्** प्रमाण अर्थात् **परीक्षा** के द्वारा जान सकते हों कि यह जन बी० ए० तक की आवश्यक योग्यता रखता है वा नहीं; अर्थात् वह किसी विशेष **भाषा** और **गणित** आदि को एक ख़ास दर्जे तक जानता है वा नहीं। अब इस **साक्षात्**

परीक्षा में यदि वह सही उतर आवे, तो हमें उसके बी० ए० होने पर विश्वास करना चाहिए। और यदि परीक्षा से यह मालूम हो, कि वह किसी भाषा में लिख पढ़ तक नहीं सकता, गणित शास्त्र में दस तक की गिनती भी नहीं जानता, तो उसे कदापि बी० ए० न समझना चाहिए। ईश्वर के विषय में भी इसी **साक्षात् प्रमाण** अर्थात् **परीक्षा** करने की आवश्यकता है। क्योंकि जब यह कहा जाता है, कि ईश्वर सब कुछ जानते हैं, अर्थात् वह **सर्वज्ञ** हैं, और पूर्ण **मंगलमय** हैं और हमारे माता पिता की अपेक्षा भी हमें **अनन्त गुणा अधिक प्यार** करते हैं, और हमारा **भला** करते हैं, तब क्यों न हम विद्या सम्बन्धी कुछ प्रश्न करके उनकी **सर्वज्ञता** वा विद्वत्ता की, और एक वा दूसरी बीमारी के समय उनसे किसी उचित औषधी के जानने की **प्रार्थना** करके उनके **मंगल स्वभाव** की परीक्षा करें? और फिर यदि यह मालूम हो, कि इस लोक वा परलोक बासी मनुष्य आत्माओं से **अतिरिक्त** इस विश्व में कोई पुरुष ऐसा है, जो हमारी इस **परीक्षा में ठीक उतरता** है, तो उसे बेशक "ईश्वर" वा "ख़ुदा" वा "गाड" आदि के नाम से स्वीकार कर लें। परन्तु क्या किसी ऐसी परीक्षा से किसी ऐसे ईश्वर वा ख़ुदा का सबूत मिलता वा मिल सकता है? कदापि नहीं। इसीलिए वास्तव में कोई ऐसा ईश्वर वा ख़ुदा नहीं है। वह लोगों की केवल मिथ्या कल्पना और उनके मिथ्या संस्कार का फल है—दरअसल वह कुछ भी नहीं, और कहीं भी नहीं। मैं "ईश्वर (ख़ुदा) का झूठा यक़ीन और उसके बहुत बुरे और ख़ौफ़नाक नतीजे" नामक उर्दू पुस्तक में इस विषय में विस्तार के साथ बहुत कुछ लिख चुका हूं। उसमें मैंने सिद्ध किया है, कि केवल यही नहीं, कि ईश्वर विषयक विश्वास **सर्वथा मिथ्या** है, किन्तु वह **बहुत हानि कारक** भी है। इसके भिन्न हमारे यहां से और भी कई पुस्तकें इसी विषय में ऐसी प्रकाशित होचुकी हैं, जिनके पाठ से इस मिथ्या विश्वास और उसके बुरे फलों का भलीभान्त ज्ञान हो सकता है।

चौबीसवां परिच्छेद

मुझ में देवज्योति का विकाश

ज्योति चार प्रकार की होती है :—

(१) भौतिक ज्योति।

(२) मानसिक ज्योति।

(३) सात्विक ज्योति।

(४) देव ज्योति।

यह चारों प्रकार की ज्योतियां चार प्रकार की शक्तियों से उत्पन्न होती हैं, अर्थात् भौतिक ज्योति भौतिक शक्तियों से, मानसिक ज्योति मानसिक शक्तियों से, सात्विक ज्योति सात्विक शक्तियों से और देव-ज्योति देवशक्तियों से उत्पन्न होती है।

बादलों में बिजली के कौन्दने पर जिस ज्योति की चमक दिखाई देती है, वह बिजली की शक्ति से उत्पन्न होती है। इसी तत्त्व के अनुसार जिन धातों के योग से बिजली की शक्ति प्रगट होती है, उनके द्वारा अब सुसभ्य मनुष्य बिजली की रोशनी पैदा करने के योग्य होगया है। कई जगह रेलवे की गाड़ियों और रेलवे के बड़े २ स्टेशनों और अन्य स्थानों को अब बिजली की रोशनी से रोशन किया जाता है। रगड़ से ताप और ताप के बढ़ने से ज्योति का प्रकाश होता है। इसी नियम के अनुसार दियासलाई की तीली भी रगड़ खाकर रोशन होजाती है। यह भौतिक रोशनी है, कि जो भौतिक शक्तियों से उत्पन्न होती है। हमारा महान् सूर्य्य हमारी पृथिवी के लिए इस भौतिक ज्योति का सर्वोच्च प्रकाशक है। वह भौतिक ज्योति का महा भण्डार है। इसी-लिए उस का एक नाम "प्रभाकर" भी है। जिन २ पशुओं और मनुष्यों में देखने की शक्ति विद्यमान् है, वह दिन के समय महान् सूर्य्य की इसी

भौतिक ज्योति में अपने इर्द गिर्द की नाना भौतिक वस्तुओं को देखते हैं। भौतिक पदार्थों के बाह्यक आकारों को देखने के लिए भौतिक ज्योति का वर्तमान होना नितान्त आवश्यक है।

भौतिक ज्योति से ऊपर मानसिक ज्योति है। यह ज्योति बुद्धिकोष सम्बन्धी जिन शक्तियों से उत्पन्न होती है, वह पशुओं में नहीं हैं। यह ज्योति मनुष्यों में भी केवल ऐसे जनो में अल्पाधिक उत्पन्न होती है, कि जिन्होंने उन्हें या तो उन्नत रूप में अपने जन्म से लाभ करके, विचार के अभ्यास का कुछ आवश्यक साधन किया हो; अथवा आवश्यक रूप से विद्याभ्यास और अध्ययन के द्वारा उन्हें उन्नत किया हो। उच्च श्रेणी के कितने हि विचारशील विद्वानों में मानसिक प्रकाश बहुत अच्छा देखा जाता है। इसीलिए अच्छे विद्वानों को अंगरेज़ी भाषा में "एन-लाइटेन्ड" अर्थात् प्रभाशाली कहा जाता है। कितने हि कवि भी प्रभा-शाली होते हैं। यह लोग कितने हि पशुओं और साधारण मनुष्यों की न्याईं भौतिक पदार्थों के केवल बाहरी आकारों को हि नहीं देखते, किन्तु उपरोक्त ज्योति के द्वारा उनके परस्पर के सम्बन्ध और परि-वर्तन कार्य्य की घटनाओं में जो नाना प्रकार के तत्त्व छिपे होते हैं, उन्हें अपनी अवस्था के अनुसार देखने की भी योग्यता लाभ करते हैं। एक साधारण मूर्ख मनुष्य इस पृथिवी के आकार को उसी प्रकार देखता है, जिस प्रकार एक विद्वान। परन्तु एक सच्चा विद्वान् उसे अपनी मानसिक ज्योति में सूर्य्य के गिर्द भ्रमण करता भी देखता है। यह **भ्रमण तत्त्व** मूर्ख को दिखाई नहीं देता। मूर्ख आदमी सूर्य्य को एक मामूली सी थाली के बराबर गोल देखता है, परन्तु एक "रोशन दिमाग़" विद्वान् उसे इस पृथिवी से **लाखों गुणा बड़ा** अवलोकन करता है। यह मानसिक ज्योति है, कि जो भौतिक ज्योति से जैसे **भिन्न है,** वैसे हि उसकी अपेक्षा लाखों गुणा श्रेष्ठ भी है। यह ज्योति कुल मनुष्यों की संख्या की तुलना में अभी तक केवल बहुत अल्पांश लोगों में पाई जाती है। अधिकांश लोग अभी तक उससे ख़ाली हैं।

इससे ऊपर सात्विक ज्योति है। यह ज्योति मानसिक ज्योति

की अपेक्षा और भी विरल है; क्योंकि मनुष्य-जगत् के विकाश में अभी तक सात्विक भाव अपेक्षाकृत बहुत थोड़े लोगों में प्रगट हुए हैं। फिर जिनमें उनका कुछ विकाश भी हुआ है, उनमें भी सारे भाव नहीं मिलते, किन्तु विभिन्न जनों में वह क्या अपनी संख्या और क्या अपनी गहराई के विचार से **अंश रूप** में हि पाए जाते हैं। सात्विक भाव बहुत से हैं, और उनमें से प्रत्येक भाव जिन लक्षणों से पहचाना जा सकता है, वह यह हैं :—

(१) उस भाव से परिचालित होकर मनुष्य जो क्रिया करता है, उससे विश्व के किसी विभाग के किसी अस्तित्व का हित साधन होता है।

(२) उस भाव से परिचालित होकर मनुष्य जो क्रिया करता है, वह वासना रहित अथवा "निष्काम" होती है।

श्रद्धा, स्नेह, सहानुभूति, दया, कृतज्ञता और सुशोभयन आदि कितने हि सात्विक भाव ऐसे हैं, कि जिनके द्वारा विशुद्ध रूप से परिचालित होकर, मनुष्य किसी और अस्तित्व के सम्बन्ध में एक वा दूसरे प्रकार से **हितकर** प्रमाणित होता है। परन्तु जहां यह सच है, कि इनमें से किसी भाव के द्वारा जब कोई क्रिया होती है, तब वह किसो और के लिए **हितकर** होती है; वहां यह भी सच है, कि एक २ मनुष्य केवल एक वा दूसरे सात्विक भाव को रखकर भी, अपनी कितनी हि वासनाओं, उत्तेजनाओं और अपने कितने हि मिथ्या संस्कारों वा विश्वासों और अहं के वशीभूत होकर नाना प्रकार की **नीचगतियां** ग्रहण करके, अपने और नाना अस्तित्वों के सम्बन्ध में नाना प्रकार के **पापों और अपराधों** का कर्ता भी बनता रहता है। एक २ जन दयावान होकर भी रिशवत ले सकता है, और लेता है, व्यभिचार कर सकता है और करता है, मांस खा सकता है, और खाता है, नशों का सेवन कर सकता है, और करता है। औरों को छोड़कर नाना सम्प्रदायों के जो जन संस्थापक वा गुरु हुए हैं, उन्हीं में से यदि कुछ विख्यात जनों को हम अपने सन्मुख लावें, तो क्या देखते हैं? महात्मा बुद्ध बहुत **दयाशील** थे। उनके

अनुयाई उन्हें दया का अवतार मानते हैं। उनके प्रचार का मूल मन्त्र भी यही दया (compassion) बताई जाती है। परन्तु साथ हि उसके यह भी सच है, कि उनकी मृत्यु जिस रोग से हुई, वह रोग उनमें एक दिन एक जन के यहां निमंत्रित होकर **सूवर का मांस** खाने से उत्पन्न हुआ था। ब्राह्मसमाज के अधिष्ठाता महात्मा राममोहन राय आप बकरा मरवा कर उसका **मांस** खाते थे, और **शराब** भी पीते थे। महात्मा ईसा मछली खाना उचित समझते थे। इसके भिन्न कहा जाता है, कि एक बार उन्होंने अपनी "करामात" से पानी को **शराब** बना दिया था। काहे के लिए ? बेशक किसी के पीने के लिए। महात्मा नानक का कुरु-क्षेत्र के तीर्थ स्थान में **मांस** की हांडी चढ़ा कर बैठना एक प्रसिद्ध बात है। गुरु गोविन्दसिंह साहब एक बहुत बड़े **शिकारी** थे। पशुओं को **मारते** भी थे, और **खाते** भी थे। **नशों** का भी सेवन करते थे। एक हि समय में एक से अधिक **पत्नियां** भी रखते थे। मोहम्मद साहब ख़ुद तो **मांस** खाते हि थे, किन्तु वह अपने अनुयाइयों को भी ख़ुदा के ख़ुश करने के लिए, ऊंटों, और भेड़ों और बकरों आदि की **क़ुरबानी** करने का हुक्म दे गए हैं। इसके भिन्न और बुरी बातों को छोड़कर एक विवा-हिता स्त्री को रख कर भी उन्होंने जो आप और **कितने** हि विवाह किए थे, और अपने अनुयाइयों को विवाह की रसम पूरी करके एक हि समय में **चार** स्त्रियों तक के रखने की जो **ईश्वर की ओर से आज्ञा** बता गए हैं, वह भी एक मशहूर बात है।

परन्तु एक ओर यदि किसी जन का साधारण आचरण बुरा न हो, और दूसरी ओर उस में एक वा कई ऐसे सात्विक भाव वर्तमान हों, कि जिन के द्वारा वह एक वा दूसरे प्रकार से लगातार औरों का कुछ निष्काम हित करता हो, तो उसके आत्मा में एक ऐसी **ज्योति** उत्पन्न होती है कि जो मानसिक ज्योति से बिलकुल **भिन्न** होती है, और उस की अवस्था के अनुसार उस की **किरणें** उस के शिर से निकलती हैं, और बड़े २ परोपकारियों के शिर से गोल आकार धारण करके एक **मुकुट** सा बन जाती हैं। कितने हि भक्तों की तसवीरों में उनके शिरों के

चारों ओर जिस ज्योति का **मुकुट** बना हुआ होता है, वह इसी **सात्विक** ज्योति का चिन्ह होता है। किसी २ सदाचारी साधु और कवि के वचनों में एक २ प्रकार के उच्च ज्ञान की जो सुन्दर झलक दिखाई देती है, उसका कारण उस में इसी सात्विक ज्योति की वर्तमानता होती है।

देव ज्योति इससे भी ऊपर की ज्योति है। यह ज्योति **सर्व श्रेष्ठ** ज्योति है। इस ज्योति से ऊपर और कोई ज्योति नहीं। यह ज्योति **अद्वितीय** ज्योति है। इस ज्योति की महिमा वर्णन नहीं हो सकती। यह ज्योति आत्मा में **देवजीवन** की उत्पत्ति से उत्पन्न होती है, और उसी की उन्नति के साथ २ उन्नत होती है। देवजीवन के अद्वितीय विकाश से मुझ में यह अद्वितीय ज्योति उत्पन्न हुई, और उस के अधिक से अधिक विकाश के साथ २ यह विलक्षण ज्योति भी मुझ में अधिक से अधिक विकशित होती गई।

इस अद्वितीय ज्योति को प्राप्त होकर उसके द्वारा मैंने आत्मिक जीवन और उस के विनाश और विकाश के सम्बन्ध में जो २ नए और अमूल्य **तत्त्व** देखे हैं, वह आज तक इस पृथिवी में किसी ने **नहीं** देखे, और इसीलिए उन की शिक्षा भी **नहीं** दी। देवजीवन के द्वारा आत्मा विश्व के प्रत्येक विभाग के साथ उच्च गति दायक सूत्रों से जुड़ कर अपनी ओर से **मेल** स्थापन करने की योग्यता लाभ करता है। इसलिए इन उच्च सूत्रों से जुड़े होने के कारण वह प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में जिन २ **शुभों** और उनके विरोधी **अशुभों** का अनुभव और उन्हें अपनी देव ज्योति में **अवलोकन** करता है, उन्हें इस ज्योति से विहीन कोई और जन उपलब्ध वा अवलोकन **नहीं** करता। यही कारण है कि मैंने विश्व के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में जिन नाना कर्म्मों को भला अथवा बुरा बताया है, वह शिक्षा बिलकुल निराली है। और जब तक मेरी यह सर्व्वोच्च और विशेष रोशनी किसी के हृदय तक न पहुंचे और उसे उज्ज्वल न करे, तब तक वह उन सत्यों के देखने के योग्य हि नहीं बनता और बन सकता कि जिन का आत्मा के **विकाश और विकाशकारी गतियों से** सम्बन्ध

है। जैसे जन्म-अन्धे बाहर की रोशनी से विहीन होने के कारण भौतिक सूर्य्य की रोशनी की कुछ महिमा नहीं देखते, वैसे हि और साधारण लोगों को छोड़ कर, कितने हि वह लोग भी, कि जो इन दिनों मेरी शक्ति से खिचकर मेरे मिशन में आए थे, उच्च सूत्रों से विहीन, और इसीलिए मुझ से जुड़ने के **अयोग्य** होकर, मेरी इस रोशनी की हक़ीक़त को नहीं देखते थे। वह समझते थे, कि ईश्वर को मान कर वह ईश्वर से हि वह ज्योति लाभ कर सकते हैं, कि जो मुझ में है, और यह न समझे, कि **जैसे भौतिक सूर्य्य जो रोशनी देता है, वह उसी में है, और उसी से मिल सकती है, और अगर वह ईश्वर की पूजा वा प्रार्थना से मिल सकती हो, तो फिर उस सूर्य्य के अस्तित्व की हि नेचर में कोई ज़रूरत नहीं रहती;** वैसे हि जो **देवज्योति** नेचर के लाखों वर्षों के विकाशकारी संग्राम के बाद **मुझ में प्रगट हुई है,** वह यदि किसी "ईश्वर" वा किसी अन्य कल्पित उपास्य देवता से मिल सकती होती, तो **मेरे विशेष आविर्भाव** वा अस्तित्व की कोई आवश्यकता न होती।

यह ज्योति सात्विक ज्योति की अपेक्षा जैसे **उच्च** है वैसे हि उन सब विकारों से ख़ाली है, कि जो सात्विक जीवी आत्माओं में विश्व के विभिन्न विभागों के सम्बन्ध में उनकी कई प्रकार की असत्य और पाप मूलक क्रियाओं से उत्पन्न होकर उनके हृदयों को मैला रखते हैं। इस की अपूर्व किरणें भी शिर के चारों ओर से निकलती हैं, और उस के गिर्द **अति सुन्दर परन्तु सूक्ष्माकार मुकुट** पैदा करती हैं। भौतिक हीरों का मुकुट इसकी तुलना में कुछ भी मूल्य नहीं रखता।

जैसे भौतिक सूर्य्य की ज्योति भौतिक जगत् को ज्योतिर्मान करती है, वैसे हि मेरी यह ज्योति जब किसी आत्मा में प्रवेश करने का अवसर पाती है, तब उसकी योग्यता के अनुसार उसकी जिस मोह और पाप-ग्रस्त अन्ध और पथ-भ्रष्ट अवस्था को उस पर प्रगट करती है, जिन २ नीचताओं और विकारों को उसके सन्मुख लाती है, और उनके भयानक रूप को दिखाकर उसे भयभीत और उन से उद्धार पाने के लिए उसे

तैयार करती है—उच्च जीवन के किसी अंग को दिखा कर उस की महिमा देखने, अथवा उसकी ओर आकृष्ट होने के योग्य करती है, उस का दृश्य जैसा कुछ **अलौकिक** है, उस का कौन वर्णन कर सकता है? देवत्व के प्रकाश और प्रति वर्ष उसकी उन्नति के साथ २ मेरी यह देव ज्योति भी उन्नत होती गई।

पच्चीसवां परिच्छद

मेरा अपने जीवनव्रत के लिए सच्चा रहना—अपने विरोधियों की ओर से वर्षों तक नाना प्रकार से उत्पीड़ित होना, और निदारुण कष्टों और दुःखों को पाना और उन्हें सहना

मैं पहले भी अपने देश वासियों की विविध प्रकार की हितकर सेवा में रत रहता था, परन्तु जीवनव्रत ग्रहण करने के अनन्तर मैं पूर्ण रूप से अपनी सब शक्तियों को उनकी सेवा में अर्पण करने लगा। किन्तु शोक! और महा शोक!! मेरी इस सर्वोच्च सेवा की महिमा के देखने के लिए मेरा देश अभी तक तैयार न था। इसी लिए मेरे करोड़ों देश वासी जो नाना प्रकार के कल्पित मिथ्या विश्वास रखते थे; जो महा हानि कारक कुसंस्कारों में फंसे हुए थे, जो प्रकृत धर्म्म ज्ञान से शून्य होकर महा अन्धकार में पड़े हुए थे; जो कितनी हि ऐसी बातों को कि जो धर्म्म नहीं, वा अधर्म्म हैं, धर्म्म जानते थे; जो नाना प्रकार की नीच शक्तियों के दास थे; और केवल नीच लक्ष्य रखते थे; जो ईर्षा, द्वेष, अहंकार और दम्भ आदि महा भयानक उत्तेजना शक्तियों के अधीन थे; जो नाना प्रकार के पापों और दुराचारों में ग्रस्त थे, उनमें से हज़ारों जनों ने मेरे कथनों और उपदेशों को, मेरे लेखों और मेरी शिक्षा को, मेरे द्वारा आत्माओं के विस्मय जनक परिवर्तन को, मेरे सामाजिक संशोधन को, मेरे चरित्र और आचार को, और मेरे अन्य विविध कार्य्यों को, अपने विश्वास, कथन और भाव और कार्य्य और रिवाज से उलटा अथवा उनके अनुसार न देखकर, मुझे अपना **सर्वोच्च हित कर्ता** समझने के स्थान में ठीक उसके **विरुद्ध** निश्चय किया, और मैं उनके लिऐ आकृष्टकारी होने के स्थान में पूर्ण रूप से **घृणा** की वस्तु बन गया।

महा व्रत ग्रहण करने से पहले भी मेरी मुख़ालफ़त होती थी, परन्तु अब उससे सैकड़ों-गुणा बढ़कर मेरी विरोधिता होने लगी। सन्मान सूचक शब्दों के स्थान में घृणा सूचक नाना कटु वाक्यों और नाना प्रकार के मिथ्या अभियोगों (इलज़ामों) की वर्षा आरम्भ हुई। श्रद्धा के स्थान में चारों ओर घोर निन्दा का बाज़ार गरम हुआ। और विश्व ने अपने लाखों वर्षों के संग्राम से जिस अस्तित्व को इस देश और इस पृथिवी के लिए सर्वोच्च रूप से हितकर और सेवाकारी रूप में प्रगट किया था, वह उनकी ओर से **अत्यंत घृणित, अत्यंत नीच, अत्यंत बुरा, अत्यंत अधम समझा गया।**

साधारण मनुष्य अपने किसी मिथ्या से मिथ्या संस्कार वा मत, वा विश्वास और बुरे से बुरे स्वभाव, और आचार के विरुद्ध कुछ सुनना पसन्द नहीं करता। और अहं का एक २ आसक्त जन अपनी एक २ नीच से नीच, बुरी से बुरी और पापी से पापी, और मिथ्या गति पर और तो और अपने किसी सच्चे हित कर्ता की ओर से भी किसी चोट के पहुंचने पर बिलबिला उठता है; कोप से जल उठता है, आंखें बदल लेता है; मुंह फेर लेता है; और उसे श्रद्धा और सन्मान की दृष्टि से देखने के स्थान में अश्रद्धा और घृणा की निगाह से देखता है; और यदि अहं विषयक दासत्व के भिन्न यह अपने हृदय में द्वेष वा प्रतिशोध का प्रबल भाव भी रखता हो, तो फिर **कृतघ्न** और **उत्पीड़न कारी** बन कर उसे तरह २ से सताने और हानि पहुंचाने के लिए तैयार हो जाता है। ऐसे सब जन आत्मिक हित और अहित बोध से शून्य होते हैं। सत्य और असत्य के बोध से ख़ाली होते हैं। पाप वा असत्य को मुंह वा लेख के द्वारा बुरा कह कर भी दिल से अहित और असत्य के पूर्ण अनुरागी होते हैं—इसी लिए सारी पृथिवी में इस क़दर मिथ्या और पाप प्रचलित हो रहा है।

अब जिस आत्मा को नेचर ने अपने उच्च विकाश के क्रम में सत्य और हित विषयक अनुराग शक्तियों और असत्य और अहित विषयक विराग शक्तियों को बीज रूप में देकर प्रगट किया हो, और इन शक्तियों

को विकशित करके उसे अपूर्ण और इसी लिए हानिकारक गठन से ऊपर पूर्ण गठन देनी चाही हो, और इसी पूर्ण गठन के द्वारा सब प्रकार से सुन्दर, पवित्र, ज्योतिर्मय और पूर्णांग धर्म्म रूप देकर सारे जगत् के पूर्ण उद्धार और पूर्ण कल्याण के लिए **परम आदर्श रूप** में प्रकाशित करना चाहा हो, वह भला दुनिया से बिलकुल निराला जीवन रखकर और जीवन व्रत ग्रहण करके क्योंकर **अपने से उलट प्रकृति रखने वाले लोगों में आराम से रहने की आशा कर सकता है ?** नहीं कर सकता, नहीं कर सकता। वह ख़ुद नहीं कर सकता, और कोई और बुद्धिमान भी नहीं कर सकता। इसीलिए मेरे सैकड़ों, और सैकड़ों से बढ़कर हज़ारों की तादाद में विरोधी पैदा हो गए। उनके हृदयों में मेरे प्रति शत्रुता की महा भयानक आग जल उठी—चारों ओर से उसका धुआं उठने लगा—चारों ओर से यह आवाज़ बलन्द हुई—यह हमारे धर्म्म को नुक़सान पहुंचाता है। यह हमारे धर्म्म की निन्दा करता है। यह हमें दुनिया परस्त कहता है। यह हमें झूठा पुजारी बताता है। यह हमें पापी ज़ाहिर करता है। यह हमें कुसंस्कार-ग्रस्त बताता है। यह हमें कपटी और घमंडी ज़ाहिर करता है। यह आप गुरु बनता है और लोगों को अपना चेला बनाता है; "गुरुडम" ने पहले हि इस देश का बहुत नाश किया है। यह किसी पुस्तक को ईश्वर-रचित नहीं मानता। यह बड़ा मग़रूर है—यह अपने आप को बहुत बड़ा बतलाता है। यह हमारी सब बातों को उलट पुलट किए देता है। ख़बर है यह "शैतान" कहां से पैदा होगया ? यह हमारा दुशमन है। यह हमारे देश का दुशमन है। यह इस लायक़ है, कि इसके साथ जितना बुरा सलूक किया जाए, उतना हि कम है। इसे हर तरह से यहां तक बदनाम करना चाहिए, कि फिर इसका कोई मुंह तक देखना पसन्द न करे। इसे किसी तरकीब से जेल में भेजना चाहिए। होसके, तो इसे जान से हि मार देना चाहिए। इसके "शैतानी" काम को हर तरह से बन्द करना चाहिए। इत्यादि। नाना भावों की चारों तर्फ़ से गूंज उठने लगी। सैकड़ों दिलों के भीतर से द्वेष और प्रतिशोध की और सैकड़ों के भीतर से ईर्षा की खाजाने

वाली और भस्म कर देने वाली अग्नि की प्रचण्ड लाटें उछलने लगीं।

जिन २ विधियों से मेरी विरोधिता का काम शुरू हुआ, उन में से प्रथम श्रद्धा के स्थान में **घृणा** का प्रचार था। घृणा के उत्पन्न करने और फैलाने के लिए **मिथ्या अभियोग** (झूठे इलज़ाम) आरम्भ हुए। ऐसा कोई नीच **अपराध** न था, कि जिस का मैं अपराधी नहीं बताया गया। मुझे झूठा, ठग, प्रबंचक, औरों की सम्पद् को अपहरण करने-वाला प्रगट किया गया। व्यभिचारी और कंजर बताया गया। जब मेरी किसी कन्या की मृत्यु हुई, तब यह प्रकाशित किया गया, कि मैंने, उसे मार डाला है। मुझे ख़ूनी और हत्यारा प्रसिद्ध किया गया; और वह भी ऐसा ख़ूनी नहीं, कि जिस ने कोई एक ख़ून किया हो, परन्तु कई ख़ून। देश और जाति के लिए मुझे नाना प्रकार से महा हानिकारक बताया गया। और ख़बर नहीं क्या २ कुछ प्रगट किया गया। और यह सब कुछ जिह्वा के द्वारा हि नहीं; किन्तु वर्षों तक विभिन्न अख़बारों में लिखने के द्वारा, बड़े २ रास्तों पर छपे हुए किन्तु गुमनाम इश्तहारों के लगाने के द्वारा, और विभिन्न भाषाओं में पुस्तकों के प्रचार के द्वारा। और जिन दश पापों से विरत होने के योग्य बनने पर मेरा एक २ श्रद्धालु मेरी सब से निम्न श्रेणी की सेवकी में ग्रहण किया जाता है, मैं आप उन में से नाना प्रकार के पापों का कर्ता प्रकाशित किया गया। इस प्रकार के अपवाद रटना करने और अत्यन्त घृणा के फैलाने पर भी जब कोई जन मेरी शक्ति के प्रभाव से मेरी ओर आकृष्ट होकर आता, तब जैसे किसी मृत देह पर गिद्ध टूट कर पड़ते हैं, वैसे हि यह मेरे विरोधी उसे घेरना, और घेर कर नाना प्रकार से बहकाना और डराना आरम्भ करते, नाना प्रकार से उसे भगा देने की चेष्टा करते। इन भगोड़ों की अवस्था को सन्मुख लाने से हंसी भी आती है और दु:ख भी होता है। एक २ जन यद्यपि मेरे प्रभाव के द्वारा कई प्रकार की नीचताओं से निकलने और कई प्रकार के शुभ लाभ करने का अवसर पाता रहा था, और पहले की अपेक्षा वह कितने हि अंश में भला जीव बन गया था। परन्तु ज्योंहि विरोधी जनों ने उस के कान भरने आरम्भ किए, त्योंहि

उसने "हितोपदेश" के उस ब्राह्मण की न्याईं, कि जो किसी जंगल में एक बकरी लिए जाता था, परन्तु मार्ग में कई ठगों ने बारी २ से प्रगट होकर जब उसे यह कहा, कि यह बकरी नहीं है—किन्तु कुत्ता है; तब उसने अपनी बकरी को कुत्ता समझ कर छोड़ दिया था, एक २ बाग़ी आत्मा **अपनी साक्षात् परीक्षा के विरुद्ध** उनकी **मिथ्या बातों पर विश्वास** करके अपने शुभ और शुभ कर्ता को परित्याग करके उन का साथी बन जाता रहा है। मिथ्या कल्पना का जिस देश में हज़ारों वर्षों तक प्रचार रहा हो, वहां अपनी साक्षात् परीक्षा और सत्य के विरुद्ध मिथ्या पर विश्वास करने के लिए प्रस्तुत होजाना, कोई अचम्भे की बात नहीं। इस प्रकार के भगोड़ों के भिन्न कुछ और भगोड़े भी थे, कि जो एक २ समय में किसी उच्चभाव के जाग्रत होने पर मेरे पास आए, परन्तु मेरे पास रहकर अपनी एक वा दूसरी नीच रुचि वा प्रकृति की सामग्री न पाकर ठहर न सके, और भाग गए। और इनमें से जिनके भीतर कृतज्ञता आदि का कोई भाव उत्पन्न नहीं हुआ था, और उसके विरुद्ध **प्रतिशोध** का भाव प्रबल रूप में वर्तमान था, वह भाग कर और विरोधियों के साथ मिल कर बढ़चढ़ कर **कृतघ्न** और मेरे शत्रु बन गए। ऐसे लोगों को सामने रखकर और आड़ बना कर विरोधी जनों ने मुझे और भी महा भयानक क्लेश और हानि पहुंचाने का अवसर पाया। उनकी इस महा भयानक नीच अवस्था से मेरे हृदय पर जिस प्रकार का आघात लगा है, मुझे जिस २ प्रकार का महा भयानक क्लेश पहुंचा है, उसका वर्णन नहीं होसकता। इन महा निदारुण आघातों से मुझ पर जिस २ भयानक रोग ने आक्रमण किया है, महीनों तक ऐसे किसी रोग से मेरे शरीर की जो कुछ दुःखदाई अवस्था रही है, उसका केवल उन्हीं को कुछ पता है, कि जो ऐसे समय में मेरे साथ थे। परन्तु यह सब कुछ भी काफ़ी न था। मैं अपने स्थान में प्रचार अथवा वार्षिक उत्सव आदि सम्बन्धी जो सभाएं करता था, उनमें यह लोग आकर जिस प्रकार की लीला करते थे, उससे एक २ बार ऐसा प्रतीत होता था, कि यह लोग अपनी नीचता के प्राबल्य से उस समय किसी गवर्नमेन्ट की भी परवाह

नहीं करते। बैंचों और लैम्पों का तोड़ना, एक २ समय किसी वस्तु को आग लगा देना, आश्रम में ईंटों और रोड़ों की वर्षा करना, चिल्ला २ कर अश्लील गालियां देना, फक्कड़ बकना, उनका एक साधारण काम था। मेरे साथियों को राह में छेड़ना, उन पर मट्टी और ढेले फेंकना, उन्हें घूंसे मारना, उनके हाथ से प्रचार सम्बन्धी पुस्तकें छीन कर फाड़ देना, किसी का लाठी से सिर फोड़ देना, इत्यादि कामों के द्वारा हमें सताकर वह बहुत प्रसन्नता लाभ करते थे। यह लोग मेरे मार डालने के लिए मुझे लिखकर धमकियां देते थे। छपे हुए विज्ञापनों में ऐसी कामना प्रकाश करते थे, कि "कोई राक्षस आकर इसका गला घोंट दे।"

इस विरोधिता ने बढ़ते २ सन् १८९२ ई० में तूफ़ान की शकल क़बूल की। इस साल पांचवें वार्षिकोत्सव पर कई जनों ने यह कह २ कर कि उन्हें ईश्वर ने मेरे मिशन में काम करने की प्रेरणा की है, अपने आपको भेंट करने की आकांक्षा प्रकाश की। यह लोग यद्यपि कई बड़े २ पापों को त्याग कर चुके थे, परन्तु उनके हृदयों पर नाना वासनाओं और उत्तेजनाओं का बहुत बड़ा अधिकार था। वह आत्म-श्लाघा के अनुरक्त थे। वह नाना नीचगति दायक रुचियों ओर ख़्वाहिशों के दास थे। उनमें से कई ईर्षा-परायण थे, और कई द्वेष वा प्रतिशोध का महा भयानक भाव रखते थे। वह अपनी किसी अवज्ञा और अपने किसी अपराध के लिए टोके जाने पर जल भुनकर आग का सुर्ख़ अंगारा बन जाते थे, और अपने परम हित कर्ता को भी शत्रु के रूप में देखने लगते थे। मैं यद्यपि ऐसे जनों की ऐसी अवस्था से बहुत क्लेश पाता था। परन्तु मैं यह देख कर कि इधर मेरा देश मुझे उनसे कुछ बहुत बेहतर जन नहीं दे सकता, उधर वह मेरे पास ईश्वर की ओर से अपनी तक़र्रुरी का परवाना लेकर आते हैं। इसलिए एक ओर उनकी असल अवस्था का तजरबा न रखकर और दूसरी ओर उन्हें ईश्वर की ओर से प्रेरित समझकर मैं कम से कम अज़मायश के तौर पर उन्हें ग्रहण करने के लिए मजबूर होता हूं। थोड़े दिनों में हि उनमें से कई अपने असल रूप में ज़ाहिर होना शुरू करते हैं।—इनमें

से किसी २ को कुछ हफ़्तों और कई को कितने हि महीनों के बाद उनकी नीच कर्तूतों और अयोग्यता के कारण निकालना पड़ा। और कुछ कई साल तक संग्राम करने के अनन्तर यद्यपि किसी और काम में लग गए, परन्तु समाज से बाग़ी नहीं हुए। लेकिन जो बाग़ी बने उनमें से कई जनों ने उसी समाज में जाकर फिर पनाह ली, जिससे पहले वह ख़ुद निकल कर मेरे पास आए थे। इन बाग़ियों में से कुछ, जो वाहवा के बहुत ज़्यादा भूखे थे, अथवा कृतघ्नता का बहुत प्रबल भाव रखते थे, वह स्वभावतः मेरे विरोधियों के साथ मिले। और उनकी साज़िश में शामिल होकर, जहां तक सम्भव था, मुझे और मेरे मिशन को हर-एक मिथ्या कलंक और अन्य बुरे उपायों के द्वारा आघात और हानि पहुंचाने के लिए खड़े हो गए। इन कृतघ्नों की मदद पाकर मेरे हज़ारों विरोधियों के दिल उत्साह से भर गए। हर तरफ़ कोलाहल मच गया। सब तरफ़ से मेरे और मेरे व्रत को नष्ट कर देने के लिए बड़े जोश के साथ प्रयत्न शुरू हुए। चारों ओर से महा दुःखदाई तूफ़ान उठने लगा। इधर मैं पहले से हि ऐसे अज़ाबों से रोगी बन चुका था, उधर इन रहमदिलों ने मुझ रोगी को भी ज़िबह करके खा जाने की ठान ली।

इस समय मेरी क्या हालत थी, उसका कुछ पता उस लेख से मिलता है, कि जो मैंने एक बाहर के स्टेशन से उसी साल "विलाप" के हेडिंग से लिखा था। मेरा यह विलाप "धर्म्म जीवन" में छपा था। उसका एक बड़ा भाग यह है:—

"आह! मेरी हालत कैसी दर्दनाक है! हाय! मेरी ज़िन्दगी किस क़दर रहम और तरस के क़ाबिल है!! परन्तु इस दुनिया में क्या कोई ऐसा जन है, कि जो मेरे दिल का ग़मगुसार और मेरी बेकसी और तकलीफ़ों के समय मेरा हमदर्द प्रमाणित हो? बज़ाहिर कोई नहीं। क्योंकि मेरी तकलीफ़ों को और तो और, वह जो मेरे निकट रहते हैं, **वह भी ठीक तौर से** अनुभव नहीं कर सकते, और जब अनुभव हि न कर सकें, तब फिर उनके भीतर यदि कुछ हमदर्दी भी हो, तो भी वह मुझे क्योंकर मिल सकती है! इसलिए मैं इस मख़सूस अज़ाब को **अकेला** हि

सहने के लिए हूं, और वह निश्चय अब मुझी को सहना पड़ेगा ! हाय ! मैं अपने इस निराले अज़ाब के विचार से किस क़दर अकेला हूं !! हाय ! मेरा इस दुनिया में कोई नहीं !!!

सारे दिन की मेहनत के अनन्तर एक पापी से पापी मज़दूर भी रात को आराम से सोता है, और सुबह को फिर काम के योग्य बन जाता है; परन्तु मुझे अनेक बार रात को वह आराम भी प्राप्त नहीं होता। आह ! मैं उस आवश्यक आराम से भी वंचित किया जाता हूं, कि जो इस दुनिया में छोटे से छोटे जानदार को भी प्राप्त है।

फिर यह सब अज़ाब मुझे कहां से पहुंच रहा है ? क्या यह मेरे किसी पाप का फल है ? कदापि नहीं; क्योंकि मैं ख़ुद पाप से रहित हूं। फिर क्या यह मेरी किसी शारीरिक प्रवृति, वा वासना वा उत्तेजना के जोश का फल है ? कदापि नहीं। क्योंकि उनमें से कोई प्रवृत्ति, वासना और उत्तेजना ऐसी नहीं, जो मुझ पर ग़ालिब हो और जिस पर **देवत्व का अधिकार न हो।** फिर इस दुःख और अज़ाब की बुनियाद कहां है ? निश्चय उन लोगों के **नीच जीवन** में कि जिन के उद्धार और विकाश साधन का भार मेरे सिर पर है। और जो अपने नीच जीवन के तरफ़दार होने के कारण मुझे जान बूझ कर वा अनजाने भांत २ का अज़ाब देने में प्रसन्नता लाभ करते हैं। मानों जिस में मेरा दुःख है, उसमें उनका सुख है।

परन्तु यह अज़ाब एक वा कई दिन वा कई सप्ताहों का नहीं, कि जिस को किसी न किसी प्रकार दिल पर ज़ोर देकर सहा जाय। वर्षों से उसका सिलसिला जारी है, और उसकी चोटों से न केवल मेरा दिल किन्तु मेरा शरीर भी **चकना चूर** हो गया है। मैं इन आघातों से अपनी शारीरिक स्वास्थ कई वर्षों से खो चुका हूं। मुझ में शारीरिक कई दुःख सदा के लिए पैदा हो गए हैं, जिन में से जोड़ों के दर्द की शिकायत मुझे विशेष कर बहुत तकलीफ़ में रखती है। दिमाग़ लम्बे काल के सख़्त काम और नाना प्रकार के निहायत हि दुःखदाई फ़िकरों और सदमों से बहुत दुर्बल हो गया है और साधारणतः इन्तशार की अवस्था में रहता है।

इधर शरीर को चैन नहीं, उधर दिमाग़ में आराम नहीं। इस पर जब देवत्व के शत्रुओं की ओर से कोई छोटी चोट भी पहुंचाई जाती है, तब वह मेरे असाधारण हृदय पर इस क़दर सदमा पहुंचाती है कि जिस से एक २ बार क्या वह और क्या मेरा शरीर मानों टुकड़े २ हो जाता है। इससे भी बढ़कर जब इनकी ओर से मुझे कोई बड़ी चोट पहुंचती है, तब उससे जिस २ प्रकार का अति घोर और असह्य अज़ाब और दुःख मुझ में पैदा होता है, उसका अनुभव तक करना मेरे भिन्न और किसी के लिए सम्भव नहीं।

यदि किसी रेत के ढेर पर एक ढेला मारो, तो उसके परमाणु फैल कर केवल थोड़ी सी जगह घेरते हैं, परन्तु किसी तालाब के पानी में वही ढेला मारो, तो उसके भीतर जो लहर पैदा होती है, उसका दायरा फैलते २ बहुत बड़ा बन जाता है, वैसे हि मेरे दिल का हाल है। कितने हि पापियों के दिलों पर जहां अपने किसी साथी पापी के किसी बुरे काम से कई बार बिलकुल सदमा नहीं लगता, और कई बार केवल नाम मात्र लगता है, वहां ऐसे पापियों के एक २ नीच आक्रमण से, और जिन के साथ मेरा धर्म्म की बिना पर कुछ भी सम्बन्ध है, उनकी एक २ अनुचित क्रिया से, मेरे दिल पर जो चोट लगती है, वह अपने घेर और असर के विचार से मेरे भीतर इतनी दूर तक फैलती है, और मुझे इतना कष्ट देती है, कि उसे मैं हि जानता हूं।

मुझे यह महा दुःख क्यों मिलता है, और मेरे हृदय पर यह महा आघात क्यों लगते हैं? इस लिए कि मेरा हृदय दुनिया परस्तों और पापियों का सा नहीं, किन्तु उनसे निराला है। वह देवशक्तियों के विचार से अपने स्वभाव में इस क़दर भिन्न और इस क़दर निराला है कि जिस क़दर मेरी कुल ज़िन्दगी उनसे भिन्न और निराली है, और इस लिए मेरा दिल जिन विशेष और प्रबल देव भावों से भरा हुआ है, उन्हीं के अनुसार वह लोगों की नीचता और पाप की एक २ क्रिया मूलक चोट से दुःख और कष्ट पाता है। शोक! कि मुझ तक इन आघातों के पहुंचाने में मेरे शुभ चिन्तक और साथी कहलाने वाले

तक अपनी नादानी से कई बार सहायक प्रमाणित होते हैं और जो पत्थर किसी शत्रु की ओर से मेरी तरफ़ उड़ता हुआ आता है, उसको अपनी बेसमझी से मुझ तक पहुंचाने में ख़ुद भी कारण बन जाते हैं !! और इस तौर से मैं कहीं जाऊं, और कहीं रहूं, इस अज़ाब और दुःख से साधारणतः मेरा पीछा नहीं छुटता । इससे क्या मेरे शरीर, क्या मेरे दिमाग़ और क्या मेरे दिल पर पिशाचत्व के पक्के प्रेमकों, मलिन और कई नीच भावों के अधीन मेरे तरफ़दारों और मेरे मिशन से बेवफ़ा, बाग़ी और कई सूरतों में मुन्तक़िम और कृतघ्न जनों की ओर से मुझ पर जिस क़दर महा कष्टकर चोटें लगती हैं, और उनसे मुझे जिस क़दर दुःख और अज़ाब मिलता है, उसका हिसाब किस के पास है ? और उसकी साक्षी किस से मिलेगी ?

इस देश की पुरानी मज़हबी फ़िलासफ़ी का एक प्रेमक मुझे कह सकता है, कि जब तू दुनिया के प्रत्येक नीच सम्बन्ध से आज़ाद है, और अपने विशेष स्वभाव और जीवन के विचार से इस दुनिया के लोगों में से नहीं है, तब फिर क्यों उन लोगों में रहकर और उनके लिए जीकर वर्षों से यह भयानक अज़ाब और असाधारण दुःख सह रहा है ? क्यों नहीं ऐसे जनों से हि दूर हो जाता कि जिन से यह कुल दुःख और अज़ाब तुझ तक पहुंचता है ? इस के उत्तर में मैं यही कह सकता हूं कि मेरे प्रगट होने का एक विशेष उद्देश्य है और मेरे जीवन का एक विशेष व्रत है, कि जिसका पूरा होना क्या इस देश के उद्धार और क्या कुल जगत् की अध्यात्मिक भलाई के लिए ज़रूरी है, और वह बिना इस अज़ाब का बोझा उठाने के पूरा नहीं हो सकता ।"

देव समाज के इतिहास में यह स्मरणीय लेख ४ अक्तूबर सन् १६६२ ई० की रात को लिखा गया था । प्रायः आधी रात का समय था, चारों ओर सन्नाटा था । उत्पीड़न के लगातार आघातों से मेरा शरीर बहुत रोगी और दुर्बल अवस्था में था ।। मेरा हृदय चूर २ हो कर अत्यन्त दुःख और विषाद से भरा हुआ था । मेरी आंखें आंसुओं से भीग रही थीं । मेरे जीवन व्रत का जहाज़—जिस पर मेरे परम

लक्ष्य का झंडा खड़ा हुआ था—शोक सागर में बड़े वेग के साथ डग-मगा रहा था; मेरे चारों ओर गहरा अँधेरा छाया हुआ था। मैं महा विपद की अवस्था में था। परन्तु इस घोर संकट के समय में भी इस समुद्र के किनारे का "लाइट हाउस" बखूबी रोशन था—मेरे आत्मा के दिव्य ज्ञान की पथ-दर्शक ज्योति बराबर चमक रही थी। इस ज्योति में मैंने अपने हृदय के गहरे उद्वेग से, अपने इस विलाप के अख़ीर में जो सतरें लिखी थीं, वह यह थीं :—

"परन्तु क्या मुझ निर्दोष का यह महा भयानक दुःख और अज़ाब सहना यूंहि जायगा ? क्या जो जन इन संग्रामों को सहते २ मृत्यु के समीप पहुंच चुका है, और जिन से, यदि वह चाहता, तो पूर्णतः बचा रह सकता था, परन्तु जिसने अपने मिशन के लिए सच्चा और वफ़ा-दार रहने के निमित्त उनसे वचना नहीं चाहा; और दूसरों के उद्धार और मंगल के लिए उन्हें अपने सिर पर लेकर वर्षों से लगातार एक २ इंच क़ुरबान होता चला आया है; और इस लम्बे काल में उसे एक २ बार जो अज़ाब मिला है, उसकी तुलना में घड़ी भर की फांसी की तक-लीफ़ कुछ भी हक़ीक़त नहीं रखती ! क्या उसका यह सब निदारुण दुःख सहना और महा दग्धकारी अग्नि में से गुज़रना यूंहि निष्फल जायगा ? क्या उसका अपने जीवन व्रत के सम्बन्ध में यह सब महा संग्राम यूंहि वृथा जायगा ? क्या नेचर में उस का यह आविर्भाव निरर्थक प्रमाणित होगा ? क्या उसका असल मिशन कभी किसी पर न खुलेगा ? क्या यह दुनिया उससे सदा हि अपना मुंह मोड़े रक्खेगी, और उसे केवल घृणा की हि दृष्टि से देखेगी ? क्या सुनसान और तनहाई के समय के उसके कुल आंसू यूंहि वृथा जाएंगे ? क्या उसकी आहोज़ारी कुछ फल न लाएगी ? क्या देवत्व का कुल बीज जो उसने बोया है, वह मिट जायगा ! क्या उसकी न्याईं क़ुरबान होकर उसके दुखिया दिल पर तसल्ली का मरहम लगाने वाले और जन पैदा न होंगे ? क्या इस पिशा-चत्व की दुनिया में उसका कोई सच्चा प्रेमक और सच्चा सेवक न बनेगा ? क्या जिस बलिस्थान (क़ुरबानगाह) में उसने अपने आपको

पूर्णतः भेंट किया है उसमें उसके दृष्टान्त से और उसके प्रेम के लिए और लोग अपने आपको पूर्णतः भेंट न धरेंगे ? क्या जिस महा पवित्र और श्रेष्ठ मिशन के लिए वह फ़ना होता है, उसके लिए फ़ना होने की ग़रज से और सैंकड़ों जन खड़े न होंगे ? क्या जिनके बचाने और उद्धार करने और उन्हें देवत्व के अमृत-प्रद जीवन और उसके स्वर्गीय फलों से मालामाल करने के लिए उसने अपने आपको भेंट धरा है, वह न बचेंगे, और उस जीवन को लाभ न करेंगे ? क्या जिस देवत्व की धार को उसने जारी किया है, उसे जारी रखने और लगातार बढ़ाने और फैलाने के लिए दिनों दिन अधिक से अधिक आत्मा पैदा न होंगे ? क्या मेरा मिशन नेचर के नियमानुसार नहीं ? क्या वह कभी मिट सकता है ? क्या वह उन्नति करने और फैलने के बिना रह सकता है ? हे, आकाश तू बोल ! हे, पृथिवी तू साक्षी दे !"

यह मेरे मुंह के शब्द न थे। किन्तु यह मेरे आत्मा के देव कोष की विलक्षण देववाणी थी, जो उस समय प्रगट हुई थी। सती सीता जब बाल्मीकि के आश्रम से रामचन्द्र के दर्बार में लाई गई थी, और उसके शुद्ध चरित्र पर मिथ्या कलंक लगाया गया था, और उसका पवित्र हृदय इस मिथ्या अभियोग के आघात से टुकड़े २ होकर अत्यन्त आलोड़ित हो रहा था, तब उस असहाय अबला ने अश्रुपात करते २ ज़मीन की तरफ़ देखकर और अपने सतीत्व भाव की ज़ोरदार शक्ति से परिचालित होकर यह कहा था, "कि यदि मैं सती स्त्री हूं, तो मेरे सत्य के बल से ऐ धरती तू फट जा, और मैं अभी तेरी गोद में घुस कर हमेशा की समाधी ले लूं !" (सती सीता की इस कथा को लिखते समय मेरी आंखों से आंसुओं की धार बह रही है) मैंने भी इस महा दुःखदाई विलाप के समय अपने अत्यन्त आलोड़ित हृदय के साथ न केवल धरती को किन्तु उसके भिन्न आकाश को भी अपना साक्षी करके अत्यन्त करुणा उत्पादक शब्दों में बिलबिला कर यह कहा था :—

"क्या मेरा मिशन नेचर के नियमानुसार नहीं ? क्या वह कभी मिट सकता है ? क्या वह उन्नति करने और फैलने के बिना रह सकता

है ? हे आकाश ! तू बोल ! हे पृथिवी ! तू साक्षी दे ! !" इन धर्म्मबल से परिपूर्ण शब्दों की लहर से धरती हिल गई, आकाश कांप उठा और मेरे इन प्रश्नों के उत्तर में गुप्त-स्वर में यह गूंज उत्पन्न हुई :—

"निश्चय तेरा मिशन नेचर के नियमानुसार है—धैर्य्य रख और विश्वास कर, कि यह उन्नति करने और फैलने के बिना नहीं रहेगा—हम दोनों हि इस बात की सच्ची साक्षी देते हैं ।"

यह साक्षी निश्चय सत्य थी। इसीलिए इन महा भयानक प्रतिकूल घटनाओं के साथ २ अनुकूल घटनाएं भी पैदा होती गईं; और मेरा जीवन व्रत सम्बन्धी कार्य्य भी उन्नति करता रहा। और इस विलाप के अनन्तर उसने जैसी आश्चर्य्य जनक उन्नति की है, उसका हाल किसी जानने वाले से छिपा हुआ नहीं है।

मैंने इस धुआंधार तूफ़ान के विषय में उन्हीं दिनों ६ नवम्बर सन् १९९२ ई० के "धर्म्म जीवन" में जो आर्टिकल छापा था, वह यह था:—

"एक २ बार जब काली आँधी आती है, तब चारों ओर से इतनी गर्द उड़ २ कर आकाश में छा जाती है, और उसके छाजाने से इतना गहरा अँधेरा हो जाता है कि कितनी हि देर तक कुछ दिखाई नहीं देता। परन्तु जब धीरे २ आंधी चली जाती है, और गर्द से आकाश साफ़ हो जाता है; तब फिर सब वस्तुएं जैसी की तैसी नज़र आने लगती हैं। इस समय मेरे मिशन के शत्रुओं ने मेरे उत्पीड़न के लिए जिस प्रकार का धुआंधार तूफ़ान पैदा किया है, उसके उत्पन्न हो जाने से अब कुछ लोग अपने चारों ओर अँधेरा हि अँधेरा देखते हैं। और जो लोग इस अँधेरे के पैदा करने वाले हैं, वह नाना प्रकार की ख़ुशियां मनाते हैं, और कुछ लोग जिनको इस प्रकार के तूफ़ान की असलियत मालूम है, वह उसे किसी और हि निगाह से देखते हैं। ऐसे लोग जानते हैं कि जब कभी विशेष २ जन, जन समाज में विशेष २ परिवर्तन उत्पन्न करने के लिए प्रगट होते हैं, और वह लोगों की चाल के विरुद्ध चलकर सोसाइटी की किसी अपवित्र गठन वा उसके बुरे जीवन पर आक्रमण करते हैं, तब उनके विरोधी दुष्टजन नाना प्रकार से अपनी दुष्टता का

प्रकाश करते हैं। और उनके आन्दोलन से कई बार कई ऐसे जन तक, जो एक २ समय में किसी ऐसे पुरुष के उपकृत भी हों, और उसका किसी समय तक साथ भी देते रहे हों, अपनी वासनाओं और उत्तेजनाओं से परास्त होकर उसी के शत्रुओं के साथ जा मिलते हैं, और विरोधिता ओर विद्रोह के द्वारा इस बुराई के तूफ़ान के बढ़ाने में बड़े उत्साह के साथ मददगार बनते हैं। परन्तु समझदार लोग जानते हैं, कि जनसमाज में एक २ समय में बुराई के ऐसे किसी तूफ़ान का उठना एक स्वभाविक बात है। हां, किसी ऐसे विशेष पुरुष के मिशन का काम ज्यूं २ उन्नति करता है, त्यूं २ इस प्रकार की विरोधिता का तूफ़ान कितने हि काल तक और भी प्रचंड रूप ग्रहण करता है। मानों इस प्रकार के किसी मिशन या काम के सम्बन्ध में इस प्रकार की विरोधिता के तूफ़ान का उठना एक अवश्यम्भावी बात है; और वह उस स्कीम में हि शामिल है कि जिस के पूरा करने के लिए इस प्रकार का एक २ मिशन प्रकाशित होता है। अतएव जो लोग इस नियम को समझ सकते हों, और वह **देवत्व के मिशन और देवधर्म्म प्रवर्तक के आविर्भाव** की असलियत के जानने की योग्यता रखते हों, उन्हें चाहिए, कि वह विरोधिता के इस तूफ़ान से जो मिशन के शत्रुओं की ओर से इन दिनों विशेष कर प्रचंड रूप में उत्पन्न किया गया है, किसी तरह न डरें; और यह समझें कि यद्यपि ऐसे किसी तूफ़ान के समय कई प्रकार की महा कठिनाइयां और आपदें अवश्य आती हैं, और वह नाना जनों को उनकी योग्यता के अनुसार नाना रूपों में अनुभव होती हैं, तथापि विश्वास, धैर्य्य और साहस के साथ उन के भीतर से गुज़रने, और कुछ काल के बाद आकाश के साफ़ होजाने पर, ऐसे किसी तूफ़ान से जो उच्चफल पैदा होते हैं, वह बिना इस प्रकार की घटनाओं के कदापि उत्पन्न नहीं होते।"

विरोधियों के हमले बराबर जारी रहे। इन्हीं दिनों में कई भगोड़ों में से एक कृतघ्न ने मेरे विरुद्ध एक पुस्तक प्रकाशित की, और कई जनों ने अख़बारों में बहुत से झूठे निबन्ध छापे। इन सब के द्वारा मेरे विरुद्ध घृणा और विद्वेष की अग्नि को ख़ूब भड़काया गया। पहली नवम्बर

सन् ९२ को लाहौर में एक विराट सभा की गई, कि जिस में हज़ारों आदमी शामिल थे। इस मीटिंग में मुझे, मेरे परिवार और मेरे कई अनुयाइयों को (जो कृतघ्न नहीं बने थे) ख़ूब दिल खोल कर कोसा गया। जिस ईश्वर के आदेश से कुछ दिन पहले ऐसे लोग अपने आप को भेंट करके मेरे मिशन में आए थे, उसी की वर्तमानता में अब इस भरी सभा में मेरे मरने और मेरी पत्नी के शीघ्र **विधवा** होजाने के लिए उससे भक्ति-पूर्वक प्रार्थना की गई। कहां तक उन के इस सर्व शक्तिमान् और परम-दयालु ईश्वर ने इन भक्तों की प्रार्थना पूर्ण की है, उसका बताना मेरे लिए आवश्यक नहीं। मैंने उन की ऐसी क्रियाओं को महा पाप-मूलक जान कर भी अनेक बार न केवल उन कृतघ्नों, किन्तु और कितने हि बड़े २ विरोधियों को अपनी मंगल कामनाओं में स्मरण करके उनका कल्याण चाहा है।

इस के भिन्न मुझे और मेरे काम को मटियामेल कर देने के लिए, वह सब नाना प्रकार के पापाचार ग्रहण किए गए, कि जिन की उनके ईश्वरपरायण हृदय उन्हें प्रेरणा करते थे। सरकारी अदालतों में एक बड़े से बड़े मुलज़िम को भी अपने बचाव या "डिफ़ेन्स" का मौक़ा दिया जाता है, परन्तु उन की सभा के दो दिन बाद जब मैंने अपने आश्रम में एक पबलिक सभा आवाहन करके **अपने डिफ़ेन्स** को पेश करने की कोशिश करनी चाही, और वह कोशिश भी बहुत सख़्त तकलीफ़ और बीमारी की हालत में, तब इन न्यायकारी ईश्वर के भक्तों ने **अपनी क़लई खुलती देख कर उस सभा को अपने भयानक शोर और ग़ुल, शरारत और दंगे के द्वारा होने न दिया।** और अगर मेरी रक्षाकारी शक्तियां मेरी रक्षा न करतीं और पुलीस और उस के भिन्न कुछ और जन मेरे पास न होते, तो यह लोग मुझे पीस कर और यथा सम्भव मुझे जान से मार कर अपने दिलों को ठंडा करते। यह सभा तो न हो-सकी, परन्तु मेरे पहले से बहुत रोगी शरीर की स्नायु प्रणाली पर उनकी इन **राक्षसी क्रियाओं का इतना प्रबल आघात लगा, कि वह बिलकुल चकनाचूर** होगई; और मैं अत्यन्त बीमार होगया। मेरी बीमारी दिनों

दिन बढ़ने लगी, और मैं आख़िरकार उस अवस्था में पहुंच गया कि जिस में **मेरे बचने की कोई आशा न रही।**

रात का समय था। चारों ओर सन्नाटा था। मैं मुमूर्षु अवस्था में बिलकुल बेहोश पड़ा हुआ था। मेरे पास जो लोग विद्यमान थे, वह यही समझते थे, कि मेरे लिए वह रात काटनी मुशकिल है। मुझे ख़ुद भी पता न था कि मैं कहां हूं। परन्तु इस घोर संकट की अवस्था में भी मेरे कुछ परलोक बासी उच्च सम्बन्धी मेरे पास उपस्थित होकर मेरे बचाने के लिए अपना २ धर्म्मबल प्रयोग कर रहे थे। जीवन और मृत्यु में संग्राम जारी था। इस संग्राम में आख़िरकार धर्म्म बल ने जय लाभ की। मृत्यु का कार्य्य बन्द हुआ, और मैं होश में आगया। तब से मेरा रोग घटने लगा, और प्राय: दो महीने के अनन्तर मैं फिर चलने फिरने के योग्य होगया।

दस वर्ष तक मेरे प्रति घोर उत्पीड़न जारी रख कर भी जब मेरे अत्याचारियों की ईर्षा और विद्वेष अग्नि ठंडी न हुई, तब एक और विधि सोची गई—अर्थात् "धर्म्म जीवन" पत्र के दो लेखों को लेकर मुझ पर और मेरे दो अनुयाइयों पर सन् १८९३ ई० में "लायबेल" (मान हानि) के मुक़दमे खड़े किये गए। यह मुक़दमे पहले पहल फ़ीरोज़पुर की कचहरी में दायर हुए। उस स्थान में जहां एक ओर मेरे लिए किसी वकील का हासिल करना मुशकिल कर दिया गया, वहां दूसरी ओर फ़ीस लेने के बिना बहुत से वकील मेरे विपक्षी के सहायक बन गए। मेरे लिए यह वह समय था, जब कि गिनती के दो चार अनुयाइयों के भिन्न मेरा कोई बन्धु वा मित्र सहायक न था। इधर हमें अदालतों का कोई तजुरबा न था, उधर बहुत से जन जो धनी थे, वकील थे, बड़े २ सरकारी अफ़सरों के मित्र थे, क़ानून और अदालतों की उत्तम रूप से अभिज्ञता रखते थे, वह दूसरी ओर थे। मुझे अपने साथियों से बाहर एक जन भी ऐसा नहीं मिलता था कि जो मेरे पक्ष के समर्थन के लिए कोई **सच्ची गवाही** तक देना पसन्द करता हो—यहां तक कि एक २ समय में जिन्हों ने मुझ से नाना प्रकार का हित लाभ किया था, वह भी मेरे पक्ष

में कोई सच्ची साक्षी देना नहीं चाहते थे। और हम लोग सब प्रकार से अति असहाय अवस्था में पहुंचे हुए थे। ईश्वर के पुजारियों और "सत्यमेव जयते" कहने वालों की कमी न थी, परन्तु उनमें से कोई सत्य का साथ देने के लिए प्रस्तुत न था। हां, उलटा हमारे विपक्षियों को सहाय करने के लिए कितनों का हृदय उछलता था। वह उनकी सब प्रकार सहाय करते थे। इस महा क्लेशदायक नए उत्पीड़न को पैदा करके उन्हों ने इस जुए में मानों अपना आख़री दांव लगा दिया था। उन्हों ने मेरी चारों ओर से अत्यन्त दुखिया और असहाय अवस्था को देखकर यह विश्वास भी कर लिया था, कि उनके इस शिकंजे में फंसकर मेरा और मेरे जीवन व्रत का सदा के लिए ख़ातमा हो जायगा—मेरा मुख्य उत्पीड़न कर्ता भरी अदालत में यह कहा करता था कि "देवधर्म्म मिशन को ग़ारत करना मेरी ज़िन्दगी का मक़सद है।"

इस के भिन्न वह यह कहा करता था कि "कुछ दिनों में इस का देवाश्रम नीलाम करा दूंगा और उसमें ला......राय का दफ़्तर क़ायम होगा।"

"मैं इस शख़्स को पंजाब से निकाल कर छोड़ूंगा।" इत्यादि २

वर्षों तक यह क़ानूनी उत्पीड़न जारी रहा, और वर्षों तक उसके द्वारा जहां तक मुझे सताया जा सकता था, और मेरे कार्य्य को हानि पहुंचाई जासकती थी, वहां तक उसके लिए यत्न किया गया। इन दिनों में मुझे ईश्वर और उसके पुजारियों की जितनी परीक्षा हुई, उतनी पहले कभी नहीं हुई थी। मेरी इस असहाय अवस्था में मेरे उत्पीड़न कारियों के लिए यह विश्वास करना स्वभाविक था, कि अब मेरे मिशन की इतिश्री हो जायगी। इसीलिए उनकी ओर से चारों ओर यह सम्वाद घोषणा किया जाता था, और हज़ारों जन इस समाचार को सुनकर बहुत हर्ष प्रकाश करते थे। परन्तु इस महा कठिन संग्राम में यद्यपि मेरा शरीर चूर २ हो गया, और मैं सदा के लिए रोगी होगया, मेरी धन सम्बन्धी भी बहुत हानि हुई, मेरा प्रेस भी बन्द होगया, मेरे मिशन के काम काज में भी बहुत विघ्न रहा, परन्तु **अन्त में अधर्म्म पर धर्म्म की**

हि जय हुई। और यह वचन सत्य प्रमाणित हुआ कि "यतो धर्म्मस्ततो जय:"—अर्थात् जिस तरफ़ धर्म्म होता है, आखिरकार उसी तरफ़ की जय होती है।

महाव्रत ग्रहण करने के दश वर्ष बाद] अर्थात् २० दिसम्बर १८९२ ई० को मेरे ४२वें जन्मोत्सव के अवसर पर मेरे सामाजिक जनों ने मुझे जो ऐड्रेस दी थी, उसमें उन्हों ने मेरे इस महा उत्पीड़न, महा त्याग, और औरों के उद्धार और कल्याण के लिए महा दु:ख और महा संग्राम ग्रहण और सहन करने के विषय में जो उल्लेख किया था उसके उत्तर में मैंने जो कुछ कहा था, उसमें से एक भाग नीचे उद्धृत किया जाता है:—

दस वर्ष पहले जब मैंने आम राय के विरुद्ध मनुष्य मात्र की आत्मिक सेवा के लिए अपने आपको भेंट करने का पूरा इरादा किया था, उस समय यद्यपि मुझे अपने जीवन के विषय में और कई प्रकार की दिक्क़तों, तकलीफ़ों और मुसीबतों का ख़याल गुज़रता था; परन्तु यह ख़याल बहुत कम होता था, कि जिन की भलाई के लिए मैं अपना जीवन अर्पण करता हूं, उन्हीं की तरफ़ से मुझे अपने जीवन की उन्नति के साथ २ वह बढ़ चढ़ कर उत्पीड़न और क्लेश मिलेगा, कि जिसका तुमने अपने अभिनन्दन पत्र में थोड़े से शब्दों में इशारा किया है। उस समय में, और उसके अनन्तर भी, जिस आत्मिक उच्च नियम ने मेरे भीतर काम किया है और जिसके अधिकार में मैं अब तक रहा हूं, वह यह है, कि मुझे अपनी ज्योति के लिए सदा सच्चा रहना चाहिए। मेरा पथ-दर्शक मुझे जहां और जिस तौर से ले चले मुझे वहां और उसी तौर से सदा चलने के लिए तैयार रहना चाहिए। मैंने इस नियम के अधिकार में होने के कारण अपने लिए भान्त २ के दु:खों और मुसीबतों का सामना देखकर भी कभी उससे पीठ नहीं फेरी।

मैंने अनेक बार तुम लोगों पर यह प्रगट किया है कि यदि कुल दुनिया मुझ से दूर से दूर होती जाय, तो भी मैं अपने लिए सच्चा रहने की कोशिश करूंगा, और अपने लक्ष्य की ओर जाने में जो कुछ रहबरी

हासिल करूंगा, उसी की पैरवी करूंगा। मैं जब कि किसी एक स्थान पर तो टिक नहीं सकता, क्योंकि मेरे चारों ओर जो परिवर्तन चक्र जारी है, उसके भीतर रहकर मेरे लिए परिवर्तित होना आवश्यक है, तब मैं नीचगति-मूलक परिवर्तन क्यों ग्रहण करूंगा, किन्तु मेरी जिस ज्योति ने मुझ पर मेरे जीवन का प्रकृत लक्ष्य प्रगट किया है और जिस शक्ति ने मुझं को बराबर अब तक उसकी ओर बढ़ाया है उसी की ओर चलूंगा। इस में जहां मेरा कल्याण है, वहां जिनका मेरे साथ सच्चा आत्मिक सम्बन्ध होगा, जो मेरी पैरवी करेंगे, जो मेरे पद चिन्ह पर चलेंगे, जो मुझे अपना समझेंगे, उनका भी भला है। अतएव इस लक्ष्य में सच्चे रहने के लिए मैंने उन कुल नतीजों की (जिनकी संसारा-सक्त लोग परवा किया करते हैं और जिनकी बहुत से बाहर से धार्मिक कहलाने वाले भी अपनी नीच प्रकृति के कारण न केवल परवा करते हैं किन्तु बहुत सी सूरतों में परवा करना ज़रूरी समझते हैं) कुछ परवा नहीं की। हां, मेरे लिए उनकी परवा करना हि सम्भव न था। क्योंकि, मैं जिस आत्मिक प्रकृति को लेकर जन्मा, और जिस में मैं विविध घटनाओं के द्वारा ढाला गया, उस कुल ने मुझे ऐसा हि बना दिया। और मेरे लिए यह सब कुछ स्वभाविक हो गया। मेरी इस कुल निराली प्रकृति और मेरे उपरोक्त नियम का मेरे पिछले जीवन, मेरे वचनों और मेरे लेखों से अच्छी तरह पता मिल सकता है। इसी लिए जो लोग मुझ से विरुद्ध प्रकृति रखते थे, वह मेरे मित्र न हो सके, और उनमें से हज़ारों मेरे उत्पीड़न कारी बन गए।

मैं हिन्दु विधि के अनुसार साधु वा ऋषि होकर और लोगों से पूर्णतः जुदा रहकर एकान्त में बास कर सकता था। और जो मुझ तक पहुं-चते, उन्हें कुछ अच्छे परन्तु सुहावने वचन सुना कर ख़ुश कर सकता था और इस प्रकार जिन का मेरे साथ वास्ता पड़ता, वह मुझ से भली भान्त प्रसन्न रह सकते थे, और मैं इस दुनिया में हर-दिल-अज़ीज़ बन कर जीवन व्यतीत कर सकता था। परन्तु मैं अपनी विशेष प्रकृति के कारण ऐसा नहीं कर सका। मैंने संग्राम और युद्ध के लिए अपना जीवन

समझा है, और युद्ध सदा विरोधी लक्ष्य रखने वालों में हि होता और हो सकता है, न कि एक प्रकार का लक्ष्य रखने वालों में। इस लिए जिस प्रकृति ने मुझे युद्ध के लिए चुना था, और युद्ध के लिये तैयार किया था, उस के अनुसार मेरे लिए युद्ध और संग्राम करना आवश्यक हो गया। मेरे यह पिछले दस वर्ष जिस प्रकार के भयानक संग्राम में व्यतीत हुए हैं, और इस काल में मेरा आत्मा जिस २ प्रकार की महा यंत्रणा-दायक और अति विपदमय घटनाओं में से गुज़रा है, उनकी कैफ़ियत को मेरे सिवाय और कोई नहीं समझ सकता, और कोई और अनुभव नहीं कर सकता। मेरी इस अवस्था को मेरी न्याईं वही अनुभव कर सकता है कि जो मेरी जैसी प्रकृति रखता हो। इसीलिए उन लोगों ने भी कि जिन्हों ने मेरे साथ जुड़कर कुछ जीवन पाया है, मुझे नहीं पहचाना और जो २ कुछ मेरे दिल पर गुज़रा है उसे उन्होंने अनुभव नहीं किया।

यह पिछले दस वर्ष अजीब तरह से कटे हैं। प्रत्येक वर्ष एक दूसरे से बढ़ चढ़ कर भांत २ की मुसीबतों और महा भयानक तकलीफ़ों का लाने वाला प्रमाणित हुआ है।......ऐसे लगातार घोर से घोर क्लेशों को सहते २ मैं जिस दशा को प्राप्त हुआ हूं, उसे सन्मुख लाकर बार २ यह प्रश्न होता है कि क्या अभी इससे भी बढ़ चढ़ कर कोई और अज़ाब और कोई और जानकन्दनी बाक़ी है कि जिस का मुंह देखना पड़ेगा? परन्तु इस प्रश्न का ठीक २ उत्तर देना न मेरे लिए सम्भव है और न तुम्हारे लिए। मैं इस समय यह अनुभव करता हूं, कि जिन हालात में मैं पैदा हुआ हूं और जिन हालात में रहकर मुझे इस प्रकार का युद्ध करना पड़ा है, उसमें मेरी पोज़ीशन पूर्णतः निराली है।

मेरे भीतर एक २ ऐसा उच्च बोध वर्तमान है कि उसके उलट किसी घटना के उत्पन्न होने वा किसी दृश्य के सन्मुख आने से जो चोट मेरे हृदय में लगती है, उस का सिलसिला मेरे लिए इस क़दर **लम्बा और दुःखदाई** प्रमाणित होता है कि मैं उसके सहने की एक २ बार ताब नहीं ला सकता, और अपना कलेजा थाम कर रह जाता हूं, और यह सोचना शुरू करता हूं, कि क्या मेरे जीवन में कभी ऐसा दिन आएगा, कि

जब मैं ऐसे पवित्र उच्च चरित्रधारी लोगों में बास करूंगा, जिनमें रह कर इस प्रकार के दु:खों और यन्त्रणाओं का पैदा होना सम्भव न रहेगा ? मैं इस को असम्भव नहीं समझता—हां, पिशाचत्व के नाश और देवत्व के विकाश में मैं इस प्रकार का दृश्य देखता हूं कि जिस में मनुष्यात्मा एक दूसरे के लिए आकर्षणीय, हितकर, वफ़ादार और भरोसे के योग्य प्रमाणित हों। **ऐसे दिन का लाना और ऐसे आत्माओं का पैदा करना और ऐसे आत्माओं के ख़मीर के द्वारा इस देश को उभारना और उस की बेबहा बरकतों को दुनिया के और विभागों में पहुंचाना मैं अपने विशेष जीवन का विशेष लक्ष्य समझता हूं।** मैं इस पृथिवी में स्वर्ग चाहता हूं। मैं इस पृथिवी में वह दीन वा धर्म्म लाना चाहता हूं, कि जो इसी दुनिया में सब प्रकार के पापों और बुराइयों का नाश करता हो, जो इसी दुनिया में ऐसे सच्चे और भरोसे के योग्य सम्बन्धी उत्पन्न करता हो, कि जिन के उत्पन्न होने से मनुष्य जीवन सब प्रकार से मीठा और सुखप्रद बन सकता हो। जो इसी जगत् में मनुष्य आत्माओं को सत्य मोक्ष देता हो, और उच्च चरित्र के ऐसे दरजे में ढालता हो, कि जिससे मनुष्य न केवल किसी अन्य मनुष्य के लिए, किन्तु प्रत्येक ऐसे जीवनधारी के लिए कि जिससे उसका शुभ सम्बन्ध हो, पूर्णतः हितकर सम्बन्धी प्रमाणित हो। यदि इस प्रकार के उच्च जीवनधारी आत्मा विकशित हों और उनके उच्च जीवन के द्वारा इस प्रकार का ख़मीर उत्पन्न हो, तो उससे जहां मेरा मिशन पूरा होगा, वहां मेरा यह मिशन दुनिया में अपनी विशेषता भी प्रमाणित करेगा।

यदि मैं अपने विशेष लक्ष्य के लिए सच्चा रहा हूं, यदि मैंने संसारासक्त और पिशाचत्व के साथियों की परवाह न करके, अपने इस लक्ष्य के अनुसार देवत्व के लाने और उस की जय के लिए लगातार युद्ध और संग्राम किया है, यदि मैंने पिशाचत्व पर अपनी उच्च शक्तियों के अनुसार पूरे ज़ोर से आक्रमण किया है, और पिशाचत्व के साथियों की ओर से जो २ उत्पीड़न सम्भव थे, उनके असह्य और घोर दु:खों को अपने ऊपर लिया है, तो यह सब कुछ इस लिए कि यदि वह पिशाचत्व

की तरफ़दारी के लिए हैं, तो मैं देवत्व की तरफ़दारी के लिए हूं। और जब कि इस देवत्व की जय से हि (यद्यपि उस जय में मेरे लिए एक २ पद पर अज़ाब है) मेरे देश वासियों में वह जान आ सकती है, कि जिस के आने से, वह उच्च से उच्च आत्मिक शुभों के लाभ करने के भिन्न एक बड़ी और श्रेष्ठ जाति बन सकते हैं, तो फिर यदि मैं देवत्व की इन कुल बरकतों के लाने के लिए इस अज़ाब को अपने ऊपर लेने के लिए तैयार न हूं, तो और कौन तैयार हो सकता है ? दुःख और अज़ाब की कामना मनुष्य के लिए स्वभाविक नहीं—कोई मनुष्य उसे एक दिन के लिए भी अपने वास्ते पसन्द नहीं करता। मनुष्य सुख का भूखा है। यहां तक कि करोड़ों लोग अपने एक २ ज़ाती आराम और लाभ को मुख्य रख कर अपनी सन्तान और अन्य निकट के सम्बन्धियों के साथ भी बदसलूकी करने से नहीं टलते, तो फिर यदि किसी जन के दिल और दिमाग़ हो, तो वह मेरी उस निराली प्रकृति का अनुमान कर सकता है कि जिस के द्वारा मैंने एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, एक मास नहीं, दो मास नहीं, किन्तु इस पिशाचत्व और देवत्व के युद्ध में पिछले दस वर्षों में क्या २ कुछ अज़ाब और क्या २ कुछ दुःख अपने सिर पर लिया है। इन दुःखों के समय स्वभावतः मेरे भीतर यह ख़याल गुज़रा है, कि मैंने तो ख़ुद अपने न्याय के प्रबल भाव के अनुसार किसी और का कोई हक़ नहीं छीना, और केवल यही नहीं, कि किसी का कोई हक़ नहीं छीना, किन्तु मैंने अपने जीवन की नाना शक्तियों को औरों की भलाई में ख़र्च किया है, तथापि शोक और महा शोक!! जितना अधिक मैंने इस देवत्व के मार्ग में पिशाचत्व के साथ युद्ध किया है और लगातार अपनी शक्तियों को औरों के हित के लिए ख़र्च किया है, उतना हि अधिक मैं दुःखों और अज़ाबों का भागी बनाया गया हूं। यदि मेरा यह आत्मा और मेरा यह लक्ष्य विशेष न होता, तो मेरे लिए कब सम्भव था, कि जहां और साधारण लोग अपनी एक वा दूसरी तकलीफ़ से बचने के लिए अपने वंश गत सम्बन्धियों को भी धोखा देने और उनका हक़ छीनने से नहीं टलते, वहां मैं एक वर्ष नहीं, किन्तु दस वर्ष तक जिन लोगों से यह कुल अज़ाब पाता रहा हूं, उन्हीं की भलाई के लिए लगातार काम कर सकता।

छब्बीसवां परिच्छेद

मेरा अध्ययन

किसी अध्ययनशील के लिए सत्य-अनुरागी होना ज़रूरी नहीं। परन्तु सत्य-अनुरागी के लिए अध्ययनशील होना ज़रूरी है। पूर्णांग सत्य-अनुरागी का अध्ययन साधारण अध्ययनशीलों की न्याईं नहीं होता, किन्तु सत्य विषयक नाना अनुरागों के द्वारा परिचालित होने के कारण वह अपनी बहुत बड़ी विशेषता रखता है। इसी लिए मेरे अध्ययन की बहुत बड़ी विशेषता है। सत्य अनुरागों के भिन्न मुझ में हित अनुरागों और उनके विरोधी असत्य और अहित सम्बन्धी सब प्रकार के विरागों के उत्पन्न होजाने से, जिस देवजीवन और देवज्योति का विकाश हुआ था, उस ज्योति ने मेरे अध्ययन में एक २ तत्त्व को जिस २ प्रकार प्रकाशित करने में काम किया है, उसकी मुझ में विशेषता रही है। इसी कारण मैंने एक २ सामान्य पुस्तक के पाठ अथवा एक २ सामान्य घटना के अवलोकन से जिस २ प्रकार के और जिन २ अमूल्य सत्यों को देखा है, अथवा जिन्हें अब देखने की योग्यता रखता हूं, वह आज तक ऐसे बड़े २ विद्वानों और अध्ययनशील वैज्ञानिक जनों को दिखाई नहीं दिए और न दिखाई दे सकते हैं, कि जो मेरे विशेष उच्च जीवन और उस उच्च जीवन जनित ज्योति से ख़ाली थे, या ख़ाली हैं। उनमें मानसिक ज्योति हो सकती है, और वह उसके विचार से ज्योतिर्मान (Enlightened) भी कहे जा सकते हैं। वह इस ज्योति से एक वा दूसरे साइंस (विज्ञान) के सम्बन्ध में नाना सत्यों के देखने और पहचानने के योग्य भी हुए हैं और इस समय हैं; परन्तु मेरी ज्योति उससे बहुत ऊंचे दर्जे की वस्तु है। और इसी लिए उसके द्वारा मनुष्य-जीवन के सम्बन्ध में मैंने जो २ सूक्ष्म और महा अमूल्य तत्त्व देखे हैं,

वह वहुत ऊंचे दर्जे के सत्य हैं।

मेरे इस विकाश क्रम को जारी रखने के लिए सन् १८६५ ई० से कुछ नई घटनाएं उत्पन्न हुईं। मैं इससे पहले हि **विकाश और विनाश तत्त्व** के अध्ययन का अनुरागी वन चुका था; अव मुझे आवश्यकता थी, कि मेरा यह अध्ययन और वढ़े, और ऐसा हि हुआ। मुझे इसी साल इस विषय के कई बहुत उत्तम २ ग्रन्थ पढ़ने को मिले, जिन में से हर्बर्ट स्पेन्सर के "फर्स्ट प्रिंसीपिल्स" का अध्ययन मेरे लिए बहुत कल्याण-कारी प्रमाणित हुआ। प्रौफ़ेसर ड्रमंड के "ऐस्सेन्ट आफ़ मैन" और स्पेन्सर के आधार पर लिखी हुई फ़िस्क की "कास्मिक फ़िलासफ़ी" और डारविन की "औरीजिन आफ़ स्पेसीज़" आदि पुस्तकों का अध्ययन बहुत लाभ दायक हुआ। मैं ईश्वर के सम्वन्ध में पुरुष (Person) रूप होने का मिथ्या विश्वास यद्यपि त्याग कर चुका था, परन्तु जैसे सांप के चले जाने पर रेत वा धूलि में उस का निशान रह जाता है, वैसे हि ईश्वर के सम्बन्ध में "पुरुषरूप" के मिथ्या विश्वास के चले जाने पर भी कुछ "मूल कारण" (First cause) के रूप में वह बाक़ी रह गया था, और इसी लिए स्पेन्सर के इस मत ने, कि विश्व के सब परिवर्तन-शील आविर्भावों के लिए एक अपरिवर्तनशील पूर्ण और मूलकारण (One Absolute and First cause) का होना आवश्यक है, मुझ में कुछ दिनों के लिए इस **एक** मूलकारण (Nowmenun) के विश्वास को न केवल रहने दिया, किन्तु उसे कुछ मज़बूत भी कर दिया। "मोनोइज़्म" वा एक प्रकार के "अद्वैतवाद" की फ़िलासफ़ी इसी विश्वास पर स्थापित है। इसी विश्वास के अनुसार यही **एक** "अव्यक्त" बहु रूप में "व्यक्त" होकर, इस विश्व में जड़ और शक्ति रूप में जो कुछ है, वह सब कुछ बन गया है। वही विश्व प्रकाशक और वही विश्व, और इसीलिए वही कारण और वही कार्य्य है। वही जड़ और वही शक्ति है। थोड़े दिनों में हि मुझ पर इस "पारस्परिक विरोधी" मत की असलियत खुल गई, और मिथ्या सांप की वह मिथ्या लकीर भी सत्य की हवा से उड़ कर बिलकुल नष्ट हो गई। मैंने देखा कि **दो** भिन्न २ प्रकार के जड़ और

शक्ति सम्बन्धी "बहु" आविर्भावों के लिए **दो** हि प्रकार के **दो** मूल कारणों का होना आवश्यक है। जब कि विश्व के असंख्य अस्तित्वों में कोई सत्य अस्तित्व ऐसा नहीं, कि जो **जड़ और शक्ति दोनों** से विशिष्ट न हो, और जब कि जड़ और शक्ति दोनों **एक वस्तु** नहीं, किन्तु **दो** पृथक् २ वस्तु हैं, और एक का दूसरी में कभी **लय** नहीं होता, किन्तु दोनों हि पदार्थ परस्पर अकाट्य सम्बन्ध रख कर भी, अपने २ रूप में सदा स्थित रहते हैं; तब सारे विश्व का मूलकारण **एक** नहीं, किन्तु यही **दोनों** हैं। यही **दोनों** पदार्थ (जड़ और शक्ति, Matter and force) हमेशा से थे, और हमेशा रहते हैं। इन का जैसे परस्पर अकाट्य सम्बन्ध है, वैसे हि यह एक दूसरे को सदा परिवर्तित भी करते रहते हैं; और उनके इस अच्छिन्न परिवर्तन से विश्व में अच्छिन्न परिवर्तन चक्र जारी रहता है, और कोई अस्तित्व इस परिवर्तन के विश्वव्यापी और अटल नियम के अधिकार से बाहर नहीं है। **परिवर्तन का यही अटल नियम** जिन दो रूपों में ज़ाहिर होता है, उन का नाम **विकाश** और **विनाश** है।

स्पेन्सर बहुत बड़ा अध्ययनशील, विकाशवादी और असाधारण विचारवान् पंडित था। मेरे भीतर उसके लिए बहुत बड़ी श्रद्धा है, और कितने हि ग्रन्थ कर्ताओं के भिन्न मैं उसका भी बहुत कृतज्ञ हूं। कितने हि विषयों में उसके लेख बहुत मूल्यवान् हैं, लेकिन आत्मा की उच्च जीवन सम्बन्धी कितनी हि शक्तियों के न होने से, जैसी कि आशा करनी चाहिए, उसने मनुष्य के भावी जीवन और उसके परिणाम आदि नाना बातों के विषय में बिलकुल ग़लत नतीजे निकाले हैं। उस के इन भ्रान्त सिद्धान्तों के अनुसार मनुष्य-जीवन इसी पृथिवी में ज़ाहिर होकर, इसी पृथिवी में खतम हो जाता है; अर्थात् शारीरिक मृत्यु के बाद उसका फिर कोई जीवन्त अस्तित्व बाक़ी नहीं रहता। इसी प्रकार विश्व के प्रलय और प्रकाश के सम्बन्ध में भी उसका सिद्धान्त भ्रान्ति मूलक है।

पश्चिमी विख्यात वैज्ञानिकों के लेखों के अध्ययन के भिन्न मुझ में स्वदेशी प्राचीन लेखों के अध्ययन का भी बहुत अनुराग रहा है। इन्हीं

दिनों विख्यात श्रीयुक्त रमेश्चन्द्रदत्त सी० आई० ई० ने बहुत से मान्य पंडितों की सहायता से "हिन्दू शास्त्र" नामक ग्रन्थावली बंगला में प्रकाशित की थी । इस में उन्हों ने वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक धर्म्म और "दर्शन" (फ़िलासफ़ी) आदि के सम्बन्ध में हिन्दू शास्त्रों का बहुत कुछ सार संग्रह करके छापा था । इस के भिन्न उन्होंने "प्राचीन भारत की सभ्यता" (Civilization of Ancient India) नामक पुस्तक तीन बड़े २ खंडों में अंगरेज़ी भाषा में भी प्रकाशित की थीं। मैंने इन सब को ख़रीद कर भली भान्त पढ़ा था । पंडित सीतानाथ तत्त्व भूषण ने उपनिषदों के जो अनुवाद प्रकाशित किए थे, वह भी मैंने पढ़े थे। हिन्दू पत्रिका में ऋक् और यजुर्वेद के मंत्रों का जो अनुवाद निकला था, वह भी मैं पढ़ता था। इससे पहले भी मैंने हिन्दू धर्म्म सम्बन्धी नाना प्रकार के ग्रन्थ अध्ययन किए थे, जिन में से पंडित अक्षय कुमारदत्त का "भारत वर्षीय सम्प्रदाय" नामक महत ग्रन्थ विशेष कर वर्णनीय है । इस में उन्होंने प्रायः ४६० पृष्ठ की जो भूमिका लिखी है, वह उनके पांडित्य, उनकी चिन्ता शीलता, अध्ययनशीलता और पुरातत्त्व विषयक अनुसन्धान-प्रियता का बहुत बड़ा प्रमाण है । "थीइस्टिक फ़िलासफी" के सम्बन्ध में ब्राह्मसमाज की प्रकाशित पुस्तकें यथा "तत्त्व शिक्षा" और "तत्त्व दीपिका" आदि बहुत सी पुस्तकें मैं पहले से हि पढ़ चुका था । इन नाना प्रकार के नाना ग्रन्थों के अध्ययन से हिन्दू धर्म्म और तत्त्व ज्ञान सम्बन्धी प्रत्येक शिक्षा को मैंने अपनी विशेष आन्तरिक ज्योति में जिस प्रकृत रूप में देखा है, वह किसी और अध्ययन-कर्ता के सन्मुख नहीं आ सकता। मैंने उन सब की हक़ीक़त को उसी तरह देखा और पहचाना, जिस तरह एक इन्स्पेक्टर किसी स्कूल की परीक्षा के समय उसके विद्यार्थियों की मानसिक अवस्था को देखता है । इस ज्योति में ईसाई और इसलाम आदि धर्म्म मतों की असल तसवीर भी मेरे सन्मुख उसी प्रकार प्रकाशित हो चुकी थी, जिस प्रकार हिन्दुओं के नाना सम्प्रदायों की ।

वैज्ञानिक विधि का पूर्ण अधिकार

ईश्वर विषयक मिथ्या विश्वास के त्याग के अनन्तर मेरे जीवन के विकाश में जिस नए युग का आरम्भ हुआ उसका मैं पहले संकेत कर चुका हूं। इस नए काल में प्रवेश करने पर मेरे लिए एक ओर विश्व और दूसरी ओर इसी विश्व का अंश मनुष्य जगत् और मनुष्य जीवन सम्बन्धी अनुसन्धान सार हो गया। इस समय से "**विश्वतत्त्व**" और "**मनुष्यतत्त्व**" मेरे अध्ययन के मुख्य विषय बन गए। इनके ठीक अध्ययन के लिए जिस २ वैज्ञानिक विधि की आवश्यकता थीं, उसके अनुराग ने धीरे २ अब मुझ पर **पूर्णतः** अधिकार लाभ कर लिया। **परीक्षातत्त्व** का अनुराग उन्नत होते २ मुझ में अब यहां तक पहुंच चुका था, और वह **ठीक युक्ति तत्त्व** के विकाश से यहां तक मजबूत हो चुका था, कि अब उसके साथ २ कल्पना-मूलक किसी मिथ्या विश्वास के बास करने की गुंजायश नहीं रही थी। सैकड़ों चिन्ताशील मनुष्य यहां तक कि वैज्ञानिक तत्त्व खोजी भी कितने ही प्रकार के धर्म्म विषयक मिथ्या विश्वासों के क्यों शिकार पाए जाते हैं? इसलिए कि वह

(१) या तो धर्म्म विषयक बातों को "विश्वास" की चीज़ समझते हैं, और उनके सम्बन्ध में वैज्ञानिक विधि के अनुसार किसी प्रकार का अनुसन्धान हि ठीक नहीं समझते; या

(२) "विज्ञान" को तोड़ मरोड़ कर उसे अपने ऐसे "विश्वासों" के समर्थन के लिए काम में लाते हैं।

सत्य-अनुरागी के लिए यह दोनों हि पथ त्याज्य हैं। वह अपनी ज्योति में इन दोनों पक्षों को हि मिथ्या देखता है, और इसी लिए दोनों को हि परित्याग करता है।

सत्य विषयक सारे अनुरागों में विकशित होते २ मैं अब जिस उच्च अवस्था में पहुंच चुका था, उसमें पहुंचकर मैं प्रत्येक प्राचीन वा नवीन मत को वैज्ञानिक विधि के अनुसार परख कर हि ग्रहण करना चाहता था। इस विधि के अनुसार मैं उपरोक्त दोनों "त्याज्य" पथों

को त्याग कर चुका था, और धर्म्म विषयक प्रत्येक मत वा प्रत्येक बात को वैज्ञानिक विधि के अनुसार **सत्य ज्ञान** (True knowledge) की चीज़ वनाना और रखना चाहता था, न कि "**विश्वास**" (Faith) की चीज़।

जैसे अन्धकार और ज्योति एक नहीं, किन्तु दो विरोधी चीज़ें हैं, वैसे हि अन्ध विश्वास और ज्योतिर्मय ज्ञान एक नहीं, किन्तु दो विरोधी चीज़ें हैं। जिस पेन्सिल से मैं यह पंक्तियां लिख रहा हूं, वह जो कुछ है, वही है—वह लेड और लकड़ी की वनी हुई होकर लोहे और मट्टी की, अथवा कोयले और काग़ज की, अथवा काजल और पीतल की, अथवा कत्थे और चूने की, अथवा सोने और चांदी की नहीं हो सकती, **सत्य ज्ञान** को लेकर वह लेड और लकड़ी दो के भिन्न किसी और चीज़ की वनी हुई नहीं है। परन्तु अन्ध विश्वास को लेकर वही नाना प्रकार की **मानी** जा सकती है, अर्थात् किसी के विश्वास के अनुसार लोहे और मिट्टी की, किसी के विश्वास के अनुसार कोयले और काग़ज़ की, किसी के विश्वास के अनुसार काजल और पीतल की, किसी के विश्वास के अनुसार कत्थे और चूने की और किसी के विश्वास के अनुसार वह सोने और चांदी की हो सकती है; इत्यादि।

मनुष्य को **सत्य ज्ञान** की ज़रूरत है, जो कि अटल हो, न कि **मिथ्या विश्वासों** की जो नाना प्रकार की **मिथ्या कल्पनाओं** से उत्पन्न होते हैं, और मिथ्या के जाल में मनुष्य को फांसकर उसका ख़ून पीते हैं। ओह ! मैं अपने उच्च विकाश की इस विशेषता और महानता को सन्मुख लाकर अपने आपको जितना धन्य २ और कृतार्थ, जितना सौभाग्यवान् और गौरवान्वित, और जितना सुखी और हर्षित अनुभव करता हूं, उसका कौन अनुमान कर सकता है ? मिथ्या कल्पनाओं के जाल से मोक्ष लाभ करने के योग्य बनना, विकाश के मार्ग में मनुष्य का कितना बड़ा महत् अधिकार ! और जिस पृथिवी में लाखों करोड़ों जन कल्पना-मूलक नाना प्रकार के मिथ्या-धर्म्म विश्वासों में ग्रस्त हों, उसमें उच्च विकाश के क्रम में किसी ऐसे जन का आविर्भूत होना, जो अपने सब सम्बन्धों में **सत्य ज्ञान** का हि पूर्ण अभिलाषी हो, और जो

इस अभिलाषा के पैदा करने वाले सत्य विषयक **सब** अनुरागों से विभूषित हो, मनुष्यमात्र के लिए कितने सौभाग्य और गौरव की वस्तु! और किसी मनुष्य के लिए किसी ऐसे आविर्भाव के **अनुगत बनने और रहने का** कितना बड़ा अधिकार और कितना बड़ा सौभाग्य !!

अन्ध विश्वास के घोर अन्धकार से आवृत्त रहकर आज क्या इस देश में और क्या पृथिवी के अन्य देशों में करोड़ों जन अपने आत्मा के जीवन के सम्वन्ध में जैसे कुछ पथभ्रष्ट हो रहे हैं, और उनमें से हज़ारों जन कई धर्म्म शक्तियों के अच्छे बीज रखकर भी जिस प्रकार जीवन खो रहे हैं, वह दृश्य कैसा करुणा-उत्पादक, और कैसा शोकप्रद है !! ऐसे अन्ध-विश्वासियों की दशा कैसी शोचनीय !!! हाय ! उनका अन्ध-विश्वास-प्रसूत ईश्वर वा कल्पना-मूलक कोई और देवता, उनकी कुछ रक्षा नहीं कर सकता ! उनमें से कितने हि तोते की तरह अपने कल्पित ईश्वर को लक्ष्य करके यह वाक्य भी उच्चारण करते रहते हैं, कि

"असतो मा सद्गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय।"

अर्थात् "असत्य से हमें सत्य की ओर ले जाओ, अन्धकार से हमें ज्योति की ओर ले जाओ।" लेकिन यह शब्द भी उनकी कुछ मदद नहीं कर सकते, क्योंकि एक ओर जिससे मदद मांगी जाती है, **वही सत्य नहीं**। दूसरी ओर जो ऐसे प्रार्थना-सूचक वाक्य उच्चारण करते हैं, वह न असत्य की ओर लेजाने वाली शक्तियों से ऊपर होते हैं और न उनसे उद्धार के लिए अपने भीतर कोई **बोध** वा व्याकुलता रखते हैं और न सत्य की ओर जाने के लिए जिन **अनुरागों** की आवश्यकता है, उन्हीं का **ठीक ज्ञान** वा उनकी कोई **अभिलाषा** रखते हैं। इस लिए उनकी **मिथ्या** प्रार्थना, जैसी कि आशा करनी चाहिये **मिथ्या** और **निष्फल** प्रमाणित होती है।

सत्यज्ञान की उन्नति का सदा के लिए मार्ग खुल गया

जिन २ कारणों से किसी रोग की उत्पत्ति और उन्नति होती हो,

उन्हें ज्यों का त्यों रखकर जैसे उस रोग की चिकित्सा नहीं हो सकती, वैसे हि जिन कारणों के विद्यमान् रहने से मनुष्य मिथ्या की ओर **विवश गमन करता हो,** और मिथ्या को मज़बूती से ग्रहण करके सत्य से वंचित रहता हो, वह कारण जब तक नष्ट न हों, तब तक किसी आत्मा के लिए सत्यज्ञान की उन्नति का सदा के लिए मार्ग नहीं खुलता। जो घोड़ा किसी घास के मैदान में सौ फुट की एक रस्सी से एक खूंटे के साथ बंधा हुआ है, वह जैसे उसी दूरी के अन्दर २ घास चर सकता है, और उससे परे नहीं; वैसे हि एक २ जन विद्वान् होकर, और **मानसिक** ज्योति पाकर भी यदि सत्य विषयक उन नाना अनुरागों से विभूषित न हो, जिनका मेरे आत्मा में विकाश हुआ था, तो वह जितने अंश तक ज्ञान के किसी विभाग में निरपक्ष भाव से अपनी शक्तियों को व्यवहृत कर सकता है, केवल उतने अंश तक (उपरोक्त घोड़े की न्याईं) कुछ सत्य के खोजने वा देखने के योग्य हो सकता है, और उससे अधिक नहीं। एक २ वैज्ञानिक जन, जो किसी विज्ञान विशेष का अनुरागी और खोजी है, वह वहीं तक अपनी खोज में सफल काम होता वा हो सकता है, जहां तक आवश्यक मानसिक शक्तियों से भिन्न उसका हृदय अपने सत्य अनुराग विषयक किसी अंग के द्वारा उसे ठीक परिचालित कर सकता है, उससे अधिक नहीं। इसीलिए एक ओर हृदय में जब तक सत्य-अनुराग सम्बन्धी **सारे अंगों** का विकाश न हो, और दूसरी ओर मानसिक शक्तियां उनके साथ काम करने के लिए **यथेष्ट रूप से उन्नत** न हों, तब तक किसी के लिए **सत्यज्ञान** की उन्नति का सदा के लिए मार्ग नहीं खुल सकता।

स्पेन्सर जैसा असाधारण विद्वान् और बुद्धि सम्पन्न मनुष्य अपने हि जीवन और उसके विनाश और विकाश के सम्बन्ध में कई मूल तत्त्वों के विचार से अन्धकार में क्यों रहा? इसीलिए कि उसके हृदय में सत्य विषयक वह **सब** अनुराग वर्तमान न थे, कि जो केवल एक ऐसे आत्मा में जन्म ले सकते हैं, कि जिसका हृदय एक ओर **सब** नीच गतियों के विकारों से उन्मुक्त और दूसरी ओर हित विषयक **सारे** अनुरागों से

विभूषित होने के योग्य हो। तब मेरा यह कितना महत् अधिकार, कि मैं अपने आत्मा के विकाश के विचार से ऐसी विचित्र शक्तियों को प्राप्त करने के योग्य हुआ, कि जिन्हें प्राप्त होकर मेरे लिए सत्य-ज्ञान और उसकी ज्योति की उन्नति का सदा के लिए मार्ग खुल गया ! !

"पूर्णतः और सदा अभ्रान्त पथ किसी के लिए सम्भव नहीं"

मेरे लिए सत्यज्ञान की प्राप्ति का मार्ग निश्चय सदा के लिए खुल गया। परन्तु यह मार्ग भी निष्कंटक नहीं। यह मार्ग भी ऐसा नहीं, कि जिस में कभी भ्रान्ति की सम्भावना न हो, और किसी भूल का होना पूर्णतः असम्भव हो। ऐसा होना नेचर की गठन के हि विरुद्ध है। पूर्णतः और सदा अभ्रान्त पथ किसी के लिए सम्भव नहीं। तुम्हारे शरीर में नेत्रों की उत्पत्ति हुई हो, और तुम्हारे नेत्र भी बहुत सुन्दर सुस्थ और सबल हों, फिर भी तुम उनके द्वारा किसी न किसी समय में किसी न किसी वस्तु के पहचानने में अवश्य धोखा खा सकते हो, और इसीलिए खाते हो, और ग़लती कर सकते हो, और इसीलिए करते हो। तुम्हारे शरीर में कानों की उत्पत्ति हुई हो, और तुम्हारे कान भी बहुत सुडौल, सुस्थ और सबल हों, फिर भी तुम उनके द्वारा किसी न किसी समय में किसी न किसी आवाज़ के पहचानने में अवश्य भ्रान्ति में पड़ जाते हो। तुम्हारे हाथ कैसे हि ठीक और अच्छे हों, फिर भी उन्हें काम में लाते वक़्त कभी न कभी उनसे कोई न कोई चीज़ गिर पड़ती है। तुम्हारे पैर कैसे हि सुगठित और मज़बूत हों, फिर भी तुम कभी न कभी, किसी न किसी भूमि वा स्थान में कुछ न कुछ ठोकर खा जाते हो। तुम्हारी बुद्धि कैसी हि तीव्र और सुमार्जित हो, तुमने गणित शास्त्र के नियम भी भली भान्त सीखे हों, फिर भी तुम कभी न कभी किसी गणित सम्बन्धी प्रश्न के हल करने में ग़लती कर जाते हो। वाक्य रचना में तुम कैसे हि निपुण क्यों न हो, और किसी भाषा पर कैसा हि कुछ आधिपत्य क्यों न रखते हो, फिर भी तुम कभी न कभी अपने बोलने वा लिखने में एक वा दूसरी भल कर जाते हो। यही तुम्हारी

और शक्तियों का हाल है। परन्तु इससे क्या यह नतीजा निकलता वा निकल सकता है, कि तुम्हें आंखों वा कानों आदि इन्द्रियों और हाथों वा पाओं आदि अंगों वा बुद्धि और वाक् आदि नाना शक्तियों की ज़रूरत नहीं ? अथवा तुम्हारे अस्तित्व में उनका होना और न होना समान है ? क्या अन्धे और सुजाखे में कोई अन्तर नहीं ? क्या हस्त और पाद विशिष्ट और हस्त और पाद विहीन मैं कोई फ़र्क़ नहीं ? क्या बुद्धि हीन और बुद्धि सम्पन्न में कोई प्रभेद नहीं ? अवश्य है। आंखों और कानों से कभी२ ग़लती हो, हाथों और पैरों से कभी २ कोई खता हो, बुद्धि और स्मरण शक्ति कभी २ भूल करे, परन्तु तुम्हारे अस्तित्व में उनका अपना २ जो २ विशेष और अत्यन्त हितकर कार्य्य (function) है उसे उनके भिन्न और कौन पूरा कर सकता है ? काई नहीं, कोई नहीं, कोई नहीं। फिर यह भूल भी हमेशा नहीं होती, किन्तु कभी २ होती है, और फिर ठीक भी हो जाती है।

एक अन्धा फ़क़ीर यह "सदा" दिया करता था, कि "अखियां बड़ी नेमत हैं"—सच है, बिलकुल सच है। आंखों के बिना सारा जग अन्धकारमय बन जाता है। भांत २ की रुपवान् दुनियां सारी उमर के लिए उससे छिप जाती है, और छिपी रहती है। इसी प्रकार सत्य और हित विषयक नाना अनुराग सम्बन्धी अंगों का हाल है। जो आत्मा अपनी गठन में जहां तक इन उच्चगति अथवा विकाश दायिनी शक्तियों से ख़ाली है, वहां तक वह उन सब तत्त्वों के दर्शन, वा सत्यज्ञान और सत्यज्ञान सम्बन्धी ज्योति और नीचगति विनाशक बल और तेज आदि से ख़ाली रहता है, कि जिनका उनके और केवल उनके द्वारा आत्मा में प्रकाश होता है, और उसका जीवन पवित्र और उच्च बनता है। और जब कभी कोई भ्रान्ति वा भूल उत्पन्न होती है, तब वह इस उच्च विकाश के साथ २ अनुकूल अवसर के आने पर (जिसका आना भी उच्च विकाश के साथ २ लाज़मी है) ख़ुद बख़ुद दूर हो जाती है। मेरा अपना सारा जीवन इसी सिद्धान्त का सच्चा दृष्टान्त और सच्चा साक्षी है।

सत्ताईसवां परिच्छेद

ईश्वर विषयक मिथ्या विश्वास के त्याग के अनन्तर

ईश्वर विषयक मिथ्या विश्वास के चले जाने पर और **वैज्ञानिक विधि के पूर्ण अधिकार में** आ जाने से जो ज्ञान इस विधि के अनुसार सत्य प्रमाणित हो, वही ज्ञान मेरे लिए ग्रहणीय रह गया। प्राचीन व नवीन, प्रचलित वा अप्रचलित, आप्त वा अनाप्त, स्वदेशीय वा विदेशीय आदि के विचार से कोई बात **विश्वसनीय** न रही। जो कुछ वैज्ञानिक पूर्ण विधि के द्वारा अनुमोदित और समर्थित हो, वही सत्यज्ञान ग्रहणीय और उसी का ढूंढ़ना और उसी को प्राप्त करना, मेरा सार लक्ष्य बन गया।

इस काल में प्रवेश करने पर मेरे हृदय में :—

१—**जातीय भाव** पहले की अपेक्षा बहुत उन्नत हो गया। सत्य को सन्मुख रखकर, जहां तक सम्भव हो, जातीय भाव के अनुसार शिक्षा, साधन, गृह-अनुष्ठान और अन्य कार्य्यों का करना विकाश-प्रणाली के **अनुकूल** और इसीलिए अत्यन्त आवश्यक मालूम हुआ। इसीलिए मैंने विश्वगत जगतों के सम्बन्ध में जो व्रत स्थापन किए थे, उन में से जिन २ का जहां तक इस **जातीय भाव** के अनुसार **हिन्दू त्योहारों** के साथ मेल हो सकता था, वहां तक उनका हिन्दू त्योहारों की तिथियों आदि के साथ मैंने मेल कर दिया। धर्म्म साधनों के समय साफ़ भूमि पर कुशासन वा फ़र्श बिछाकर हिन्दू विधि से बैठना, पुष्प पत्रों से साधन स्थान को सजाना, और वेदी लगाकर उपदेश करना, मैंने देवसमाज में पहले से हि प्रचलित कर रक्खा था। अब चन्दन और पुष्प और कभी २ आवश्यकता के अनुसार अन्य वस्तुओं की भेंट के

साथ बड़ों के सम्बन्ध में अर्चन वा सत्कार करने की जातीय विधि भी मैंने जारी कर दी। और फ़ारसी अक्षरों के स्थान में देवनागरी अक्षरों और अरबी और फ़ारसी शब्दों से भरी हुई उर्दू कहलाने वाली भाषा के स्थान में, संस्कृत से अधिक सम्बन्ध रखने वाली सहज हिन्दी भाषा का प्रचार मैंने विशेष रूप से आरम्भ किया।

जाति वा कुल भेद जहां तक **मिथ्या** और **अन्याय** पर स्थापित है, वहां तक उसे पूर्णतः **त्याज्य** ठहराकर भी जिन २ बातों के विचार से वह दूषणीय वा हानिकारक नहीं, उन्हें सुरक्षित रखना मैंने आवश्यक समझा।

२—**सम्बन्ध तत्त्व** विषयक ज्ञान अधिक प्रशस्त हो गया। इस तत्त्व के अधिक निरूपण से यह सत्य प्रगट हुआ, कि किसी अनुकूल अवस्था में एक २ सम्बन्ध जिस प्रकार हितकर होता है, उसी प्रकार किसी प्रतिकूल अवस्था में वही सम्बन्ध हानिकारक बन जाता है :— यथा कोष्टबद्धता (क़ब्ज़) के समय कास्ट्रायल का पीना हितकर हो सकता है, परन्तु विरुद्ध अवस्था में हानिकारक। एक महीने के बच्चे के लिए दूध सुपाच्य और हितकर, परन्तु गेहूं की रोटी बहुत हानिकारक। आंखें अच्छी हों, तब पढ़ना लिखना हितकर, और यदि दुखती हों, तब हानिकारक। इसी प्रकार किसी अवस्था में विवाह हितकारक, किसी में हानिकारक। किसी अवस्था में भ्रमण हितकर, और किसी में हानिकारक। किसी अवस्था में अपराध को क्षमा करना हितकर, और किसी में हानिकारक। किसी अवस्था में किसी को सत्-उपदेश देना हितकर, और किसी में हानिकारक। किसी अवस्था में किसी के सन्मुख सत्य का प्रकाश हितकर और किसी अवस्था में हानिकारक। किसी अवस्था में किसी को दान देना हितकर, और किसी में हानिकारक। किसी अवस्था में किसी को अपने घर में ठहराना हितकर, और किसी अवस्था में हानिकारक। किसी अवस्था में किसी से मिलना हितकर, और किसी अवस्था में हानिकारक। इत्यादि, इत्यादि। इस तत्त्व के खुलने से **अधिकार तत्त्व** का प्रकाश हुआ; अर्थात् जो जन जिस अवस्था

में जहां तक सत्य और शुभ ग्रहण करने के योग्य हो, वह अवस्था में वहीं तक उसे सत्य और शुभ के लाभ करने का अधिकारी, और वहीं तक उसे सत्य और शुभ का दान करना उचित है, उससे अधिक नहीं। **विकाश तत्त्व** के साथ **सम्बन्ध तत्त्व** और सम्वन्ध तत्त्व के साथ **अधिकार-तत्त्व** के ज्ञान का बहुत गाढ़ सम्बन्ध है। इसलिए **विकाश-तत्त्व** विषयक ज्ञान की उन्नति के साथ २ **सम्बन्ध-तत्त्व** और **अधिकार-तत्त्व** विषयक ज्ञान भी मुझ में उत्पन्न और उन्नत होता गया।

परन्तु यहां यह जानना अत्यन्त आवश्यक है, कि यद्यपि अधिकार तत्त्व के अनुसार किसी जन को किसी ऐसी शिक्षा का देना उचित नहीं, कि जिसके ग्रहण करने अथवा जिससे लाभ उठाने की वह योग्यता न रखता हो, तथापि **किसी अवस्था में भी किसी को असत्य-भाषण वा असत्य मत की शिक्षा देना, वा किसी अन्य प्रकार से असत्य का प्रचार करना, कभी ठीक वा उचित नहीं हो सकता।** इसी प्रकार यद्यपि किसी ऐसे जन के अपराध को क्षमा करना, वा उसे कोई दान देना उचित नहीं, कि जिसका वह अधिकारी न हो, तथापि उससे किसी मनुष्य के सम्बन्ध में कोई **अहित वा अपराध वा पाप करना कभी और किसी प्रकार से उचित नहीं हो सकता।** आत्मा के जीवन के विषय में सत्य ज्ञान के न होने से, इस जगत् में नाना सम्प्रदायों के नाना शिक्षकों ने केवल सांसारिक हानि लाभ को सन्मुख रखकर विविध सम्बन्धों में अपने अनुयाइयों को नाना प्रकार की अत्यन्त मिथ्या और अपराध और पाप मूलक शिक्षाएं दी हैं, और उससे जगत् को महा हानि पहुंची है, और अब तक पहुंच रही है। धर्म्म और ईश्वर के नाम से इस प्रकार की शिक्षा ने जो अति भयानक फल उत्पन्न किए हैं, और कर रही है, और अपराधों और पापों के घटाने के स्थान में कई बातों के विचार से उनके बढ़ाने का हेतु बनी है और बनी हुई है, उसका दृश्य अति भीषण है। आत्मा के जीवन के सम्बन्ध में इस प्रकार की महा विनाशकारी शिक्षा इस पृथिवी से जितनी शीघ्र नष्ट हो, उतना हि अच्छा है।

३—विश्वगत नाना जगतों के सम्बन्ध में **यज्ञ विषयक साधनों को नियमित रूप** से प्रचलित करने के लिए नितान्त आवश्यकता प्रतीत हुई। इस समय तक जिन बारह यज्ञों के सम्वन्ध में कर्तव्य और वर्जित कर्म्म विषयक आदेश लिखे गए थे, वह यह थे :—

(१) मात पिता सन्तान यज्ञ।
(२) भाई भग्नि यज्ञ।
(३) पति पत्नी यज्ञ।
(४) भृत्य स्वामी यज्ञ।
(५) देवगुरु यज्ञ।
(६) सेवक यज्ञ।
(७) प्रतिवासी यज्ञ।
(८) स्वदेश वासी यज्ञ।
(९) मनुष्यमात्र यज्ञ।
(१०) उद्भिद् यज्ञ।
(११) पशु यज्ञ।
(१२) जड़ यज्ञ।

इन यज्ञों के भिन्न शरीर रक्षा के सम्बन्ध में कर्तव्य और वर्जित कर्म्म विषयक ४०, और मनुष्य जिन २ नाना उत्तेजनाओं और वासनाओं के वशीभूत होकर नीचगति परायण बनता है, उनके विकार अथवा पाप से शुद्धि वा मोक्ष लाभ करने के निमित्त और बहुत से आदेश लिखे गए।

४—समाज के कुछ जनों को मनुष्य के **साधारण विकाश** के विषय में **शिक्षा** देने की आवश्यकता प्रतीत हुई। और मैंने उन्हें कुछ दिनों तक मन्टगुमरी के आश्रम में इस विषय में बहुत से **उपदेश** दिए। इन उपदेशों के विषय इस प्रकार के थे :—

वैज्ञानिक अनुसन्धान के अनुसार मनुष्य इस पृथिवी में कब और किस प्रकार आविर्भूत हुआ ? उसकी आदिम बर्बर अर्थात् जंगली अवस्था में हज़ारों वर्षों के बाद धीरे २ क्या परिवर्तन आया ? किस

प्रकार उसकी भाषा उन्नत हुई ? किस प्रकार उसमें कल्पना शक्ति का अधिक और बुद्धि शक्ति का कुछ २ विकाश हुआ ? किस प्रकार उसमें नाना देवी देवतों का विश्वास उत्पन्न हुआ ? किस प्रकार उनके कोप से अपनी रक्षा, और उनकी तुष्टि से अपनी एक वा दूसरी वासना को चरितार्थ करने के निमित्त, उसने उनकी स्तुति की, और खान पान की सामग्री उनके आगे भेंट रक्खी ? किस २ वासना की पूर्णता के लिए उसने उनसे प्रार्थना की ? क्योंकर वह अपने स्थूल-शरीर-त्यागी सम्बन्धियों के अस्तित्वों को जानने और उनपर भरोसा करने के योग्य बना, और भौतिक पदार्थों और शक्तियों, यथा सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, वायु, आलोक, अग्नि आदि में देव भावना करके उनका और अपने सच्चे पितृगणों का पुजारी हुआ, और फिर बहु देवतों के स्थान में धीरे २ एक देवता का विश्वासी बना ? इन उपदेशों में मैंने मनुष्य के इस प्रकार के विकाश को वेद मंत्रों के भूरि २ प्रमाणों से सिद्ध किया। यद्यपि मैंने यह सब उपदेश ज़बानी दिए थे। परन्तु वह सब मेरे बोलने के साथ २ लिखे जाते थे। यह लिखे हुए उपदेश अब तक मौजूद हैं। इनका पिछला भाग यदि दुरुस्त होकर कभी छप सके, तो वह अधिकारी जनों के लिए बहुत मुफ़ीद हो सकता है।

अट्ठाईसवां परिच्छेद

देवगुरु पूजन का प्रचार

२४ मई सन् १८९५ के दिन एक आश्चर्य्य घटना हुई। मैं मन्टगुमरी में अपने एकता आश्रम में बैठा हुआ था। बैठे २ मेरा हृदय अनुप्राणित हो गया—मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, कि परलोकवासी, कुछ सात्विक जीवनधारी उच्च आत्मा मेरे समीप आए हैं, और वह मेरे सम्बन्ध में स्तुति विषयक कुछ भावों को मेरे हृदय तक पहुंचा रहे हैं। उनके यह भाव मेरे भीतर इस ज़ोर के साथ प्रकाशित होने लगे, कि फिर मेरे लिए ख़ामोश रहना असम्भव हो गया। मैंने उसी समय एक जन को बुलाकर उन भावों को वहीं बैठे २ लिखवाना शुरू किया। यह स्तुति बहुत लम्बी थी, और पहले पहल हि इस रूप में प्रगट हुई थी। इसी के प्रकाश के बाद से देवसमाज में देवगुरु पूजन विधि का सूत्रपात हुआ। यहां पर इस स्तुति का एक बहुत बड़ा आवश्यक भाग (कहीं २ से शब्दों की दुरुस्ती करके) नीचे उद्धृत किया जाता है :—

"हे भगवन् ! आपकी ज्योति से हमारे जीवन का सात्विक अंश देदीप्यमान हो रहा है, और हम आपकी ज्योति में आपके देवरूप का दर्शन करके बहुत धन्य २ हो रहे हैं। इस महा पवित्र और सूक्ष्म ज्योति में हम आपके ऐश्वर्य्य को देखकर विस्मित होते हैं, और आप अपनी इस ज्योति को फैला कर, और अपनी परम हितकर शक्ति को विस्तीर्ण करके विश्व के विकाश कार्य्य में जिस पर हितकर लक्ष्य को सिद्ध कर रहे हैं, उसे उपलब्ध करके आप के सौन्दर्य्य के प्रति प्रबल रूप से आकृष्ट होते हैं, और आपके जीवन की महिमा को उपलब्ध करके और श्रद्धा और भक्ति के भाव से गद्गद् चित्त होकर आपको बार २ धन्य २ कहते हैं।

हम आपकी ज्योति में प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं, कि आज से लाखों वर्ष पहले **विभिन्नता** के नियम से परिचालित होकर सारी सृष्टि किस प्रकार एक दूसरे से भिन्न होती चली गई। किस प्रकार एक दूसरे से अलग होकर दूर होती चली गई। किस प्रकार मनुष्य-जगत् में भी धर्म्म-मतों, धर्म्म-साधनों, धर्म्म-आचारों, पूजा और अनुष्ठान विधियों में विभिन्नता उत्पन्न हुई। परन्तु आपके देवरूप के **आविर्भाव** से इस प्रकार जगद्-व्यापी **विभिन्नता** के भीतर से फिर **एकता** उत्पन्न हो रही है।

जो जन आपके इस **एकता-प्रतिपादक धर्म्म** को उपलब्ध करने, और उस पर चलने का अधिकारी बन सकता है, उसका आत्मा विश्व के प्रत्येक विभाग के साथ उचित सम्बन्ध में जुड़ कर **विकाश** लाभ करता है, और प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में उसमें जो कुछ विकार हो, उससे **मोक्ष** पाता है, और इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व के साथ वह **परम एकता** स्थापन करता है।

हे एकता के आविर्भाव ! हे देवलोक के सूर्य्य और प्रकाशक ! आपकी ज्योति में जो आत्मा अपने आपको देखते हैं, वह अपने आपको इस विश्व से बिलकुल पृथक् और अलग नहीं देखते, किन्तु इस समस्त विश्व से जुड़ा हुआ उपलब्ध करते हैं। और यह भी देखते हैं, कि वह महा विश्व का अंश होकर जब तक उसके जड़, उद्भिद्, पशु और मनुष्य लोकों के साथ अपना सम्बन्ध न पहचानें, और जिस २ लोक के साथ वह एक वा दूसरे प्रकार का **अनुचित** सम्बन्ध रखने के कारण **विनाश पथ पर जा रहे हैं,** उससे **रक्षा** न पावें, तब तक उन्हें प्रकृत आत्म-कल्याण और आत्म-विकाश की आशा नहीं मिल सकती। इसलिए आप एकता-पथ-दर्शक होकर जिस **सम्बन्ध तत्त्व को प्रकाश** करते हैं, और प्रत्येक लोकगत अनुचित सम्बन्ध के मिटाने और उचित सम्बन्ध के उत्पन्न और वर्द्धन करने के लिए शिक्षा देते हैं, और इस प्रकार अनुचित सम्बन्धों की विनाशकारी गतियों से आत्माओं को निकाल कर, और उचित सम्बन्धों की विकाशकारी गतियों में लाकर उनका **परम**

हित सम्पादन करते हैं, उसको और आपके इस महा कल्याणकारी **सम्बन्ध तत्त्व प्रकाशक ज्ञान** और **उचितसम्बन्धनियोजक** कार्य्य को सन्मुख लाकर, हम आपको हृदय के गम्भीर भाव से बार २ धन्य २ कहते हैं।

हे देव ! जो सौभाग्यवान् आत्मा आपकी ओर कुछ भी आकृष्ट हुए हैं, और आपके आत्म-रक्षक और जीवन-प्रद रूप को उपलब्ध करके कुछ भी आपकी **रक्षा** में आए हैं, कुछ भी आपके नेतृत्व के अधीन हुए हैं, और विनाशकर पथ से निकल विकाशकर पथ और उच्चलक्ष्य की ओर गमन करने के कुछ भी अधिकारी हुए हैं, वह धन्य हैं। और ऐसे आत्माओं को आपने जो अमूल्य और हितकर दान दिया है, और अपने परम कल्याणकारी महाव्रत की सिद्धि के निमित्त जो असाधारण दुःख और त्याग स्वीकार किया है, उसके महत्त्व को उपलब्ध करके हम आपको शत २ और सहस्र २ बार भी धन्य २ कहकर तृप्त नहीं होते, और नहीं हो सकते।

हे भगवन् ! आप आशीर्वाद करें, कि हम आपके इस देवरूप को अधिक से अधिक उपलब्ध करके उसकी स्तुति और महिमा गायन करने के योग्य हों। अधिक से अधिक आपकी महिमा गायन करके आपके प्रति श्रद्धा और अनुराग के बढ़ाने के योग्य हों। अधिक से अधिक आपकी ज्योति और शक्ति से तेजवान् होकर आत्म-विकाश करने के योग्य हों। और अधिक से अधिक आपके देवजीवन के प्रकाश और ऐश्वर्य्य को अपने चारों ओर विस्तीर्ण करने के योग्य हों।

उों एकता, एकता, परम एकता,
शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।"

इस स्तुति के इस तौर पर प्रगट होने के अनन्तर जो देवगुरु पूजन विधि तैयार हुई, वह भी कुछ शाब्दिक-परिवर्तन के बाद नीचे लिखी जाती है :—

देवगुरु पूजन विधि

(१) देवगुरु पूजन कर्ता, शरीर को शुद्ध करके, साफ़, सुन्दर,

रुचिकर और विघ्न-रहित स्थान में अपने आसन पर सीधा होकर बैठे।

(२) फिर यथा अवसर शुद्ध जल से आचमन करे।

(३) फिर अपने चित्त को नाना प्रकार की अन्यान्य चिंताओं से हटाकर एकाग्र करे।

(४) फिर एकाग्र चित्त होकर श्री देवगुरु भगवान् के रूप को सन्मुख लाकर अपने भीतर उनके प्रति श्रद्धा भाव को उद्दीपन करे।

(५) फिर गुरु मन्त्र का कुछ काल तक जप करे, और अति विनीत और दीन भाव से उनके आगे दण्डवत् प्रणाम करके, अपने हृदय को कुछ और सरस करे।

(६) फिर हृदय के इस प्रकार सरस और ज्योतिर्मान् होने पर, देवगुरु स्तोत्र का जहां तक अनुराग और उत्साह और स्वर के साथ पाठ कर सकता हो, वहां तक पाठ करे।

(७) फिर देवगुरु स्तोत्र के गान के अनन्तर उसकी संक्षिप्त व्याख्या का धीरे २ पाठ और चिंतन करके उनके प्रति अपने अनुराग को उत्पन्न वा उन्नत करने के लिए, उसने उनकी शरण में आकर अपने जीवन में जिस २ प्रकार का जो २ हित वा कल्याण लाभ किया हो, उस पर कुछ काल तक विचार करे। फिर जिन भजनों में इस प्रकार के हित लाभ का कथन किया गया हो, उनमें से अपनी अवस्था के अनुसार एक, दो, वा कई भजनों का गान करके, जहां तक अपने इस भाव को और गम्भीर करके उसका अमृत रस और माधुर्य्य और आनन्द लाभ कर सकता हो, उसे लाभ करे।

(८) फिर हृदय के इस अनुराग के द्वारा, जब कि उस का चित्त उनके साथ गाढ़ रूप से जुड़ा हुआ हो, उनके भीतर से उनकी उच्च **ज्योति** और **शक्ति** को आकृष्ट करे।

(९) इस ज्योति में उनके आन्तरिक ऐश्वर्य्य, अथवा उनके प्रदर्शित किसी **सत्य** को उपलब्ध करे।

(१०) फिर एक वा दूसरे प्रकार के उचित **त्याग** और **सेवा** के लिए अपने भीतर आकांक्षा उत्पन्न करे।

(११) फिर इस सब साधन से अपने आपको धन्य २ और कृतार्थ देखकर, और श्री देवगुरु भगवान् के प्रति जयजयकार के भाव से परिचालित होकर, हृदय के उत्साह और स्वर के साथ देवगुरु आरती का गान करे।

(१२) फिर श्री देवगुरु भगवान् को एक बार और विनीत भाव से दण्डवत् प्रणाम करके, और उनका शुभ आशीर्वाद लेकर, और प्रचुर आत्म-प्रसाद पाकर देवगुरु-पूजन को समाप्त करे।

उनतीसवां परिच्छेद

तत्त्व अनुसन्धान विषयक महा कठिन काम—उसकी सिद्धि के लिए मेरा महा संग्राम

(सन् १८६५ ई० से लेकर सन् १८६८ ई० तक केवल वैज्ञानिक विधि के अनुसार और एकमात्र विश्व को हि सत्य जान कर)

मनुष्य तत्त्व

मेरे लिए सत्यज्ञान की उन्नति का जो मार्ग सदा के लिए खुल गया था, उसके दो विषय मुख्य थे:—

(१) मनुष्य तत्त्व।

(२) विश्व तत्त्व।

मैं पहले मनुष्य, फिर मैं विश्व का अंश; इसलिए इन दोनों में **मनुष्य तत्त्व** की बहुत बड़ी विशेषता है। मनुष्य होकर यदि मैं **अपने अस्तित्व** को हि ठीक २ न जानूं, और विश्व के सम्बन्ध में किसी अंश में ठीक ज्ञान लाभ भी कर लूं, तब भी क्या?

यूनानी फ़िलासफ़र सुक़रात ने कहा है कि "अपने आपको जानो।" पोप कवि ने कहा है कि "मनुष्य हि मनुष्य के लिए उचित अध्ययन की वस्तु है।" हमारे मुनियों में से भी किसी ने कहा है कि "आत्म ज्ञानं परं ज्ञानम्;" अर्थात् आत्मज्ञान हि सब से श्रेष्ठ ज्ञान है।

परन्तु सत्य और पूर्ण आत्मज्ञान लाभ करने के लिए किसी ज्ञाना-कांक्षी को जिस निजकी योग्यता और अन्य अनुकूल सामग्री की ज़रूरत है, वह दोनों जब तक प्राप्त न हों, तब तक उसके लिए सफलकाम होना असम्भव है। इसीलिए इस पृथिवी के विकाशक्रम में जब तक उप-रोक्त दोनों बातों का अभाव था, तब तक किसी मनुष्य को किसी देश

में अपने आत्मा के विषय में वह पूर्ण और सत्यज्ञान लाभ नहीं हुआ, कि जो मुझे उपरोक्त अभावों के मिट जाने पर प्राप्त हुआ। यह दोनों अभाव जिन चार बातों में विभक्त होसकते हैं, वह यह थीं :—

(१) आत्माओं की गठन पूर्ण नहीं हुई थी, इसलिए आत्मिक गठन के विषय में उन्हें पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता था।

(२) अपूर्ण गठन के कारण उनमें सत्य विषयक वह सब अनुराग वर्तमान न थे, कि जो मुझ में विकशित हुए हैं।

(३) अपूर्ण गठन के कारण उनमें हित विषयक वह सब अनुराग वर्तमान न थे, कि जो मुझ में विकशित हुए हैं।

(४) विज्ञान अपनी कितनी हि शाखाओं की उत्पत्ति और उन्नति के विचार से बहुत अपूर्ण था, और इस काल में उसकी उन्नति से विश्व के विवर्तनतत्त्व (evolution) के सम्बन्ध में जो रोशनी आई है, वह वर्तमान न थी।

इन कारणों में जैसे एक ओर बड़े २ विचारशीलों को भी,

(१) आत्मा के विषय में पूर्ण और अति आवश्यक सत्यज्ञान लाभ नहीं हुआ, वैसे हि दूसरी ओर,

(२) इस ज्ञान के अभाव से धर्म्म और अधर्म्म के विषय में भी किसी को पूर्ण और सत्यज्ञान लाभ नहीं हुआ। इसीलिए इस जगत् में विज्ञान-मूलक उस सत्य-धर्म्म के ज्ञान का प्रकाश और प्रचार नहीं हुआ, कि जिस का मनुष्य-जगत् के विकाश क्रम में मुझ पर प्रकाश और मेरे द्वारा प्रचार हुआ, और जो विज्ञान-मूलक होने के कारण मनुष्य मात्र के लिए उसी प्रकार ग्रहणीय है, जिस प्रकार गणित विज्ञान।

मैंने जातीय भाव से प्रेरित होकर पहले पहल यह सोचा, कि हमारे प्राचीन मुनियों ने मनुष्य आत्मा के जीवन को सत्व, रज और तम नामक जिन तीन श्रेणियों में विभक्त किया है, उन्हीं के आधार पर मैं मनुष्य तत्त्व का अनुसन्धान करूं। और परिवर्तन के महा नियम के द्वारा मनुष्य-जगत् के करोड़ों आत्माओं के जीवनों में जो २ प्रभेद पैदा होगया है, उसे यथा सम्भव उसी प्राचीन विधि के अनुसार श्रेणी-

बद्ध करूं। इस विधि को सन्मुख रख कर मैंने मनुष्य-जगत् को **चार** प्रकार की श्रेणियों में विभिक्त किया। यथा :—

(१) तमो गुणी।
(२) रजो गुणी।
(३) सतो गुणी।
(४) देव गुणी।

इन चारों गुणों को चित्राकार में प्रदर्शन करने के निमित्त मैंने काग़ज़ पर **चार वृत्त** चार प्रकार के तैयार किए। इन में से पहला वृत्त सम्पूर्ण **काला** था और वह तम लोक वा तमो गुणी मनुष्य के जीवन का प्रकाशक था। दूसरा अपेक्षाकृत **कम काला** था, और वह रज लोक वा रजोगुणी मनुष्य के जीवन का प्रकाशक था। तीसरा **कुछ काला और कुछ सफ़ेद** सत्व-लोक वा सतोगुणी मनुष्य के जीवन का प्रकाशक था। और चौथा **पूरा सफ़ेद** देवलोक वा देवगुणी मनुष्य के जीवन का प्रकाशक था।

मन्टगुमरी के एकता आश्रम में देवसमाज के आठवें वार्षिकोत्सव के अवसर पर मैंने उपस्थित जनों को यह चित्र दिखा कर और उसकी व्याख्या करके एक ज़बानी उपदेश दिया। उसके बाद उसी की व्याख्या में मैंने दो लेख तैयार किए। प्राचीन मुनियों के और मेरे श्रेणी विभाग में कई और बातों के भिन्न दो प्रकार का प्रधान अन्तर था—पहला यह, कि उन्होंने प्रत्येक मनुष्य में हि तम, रज और सत्व नामक गुणों की विद्यमानता मानी थी, परन्तु मेरे विभाग में ऐसा नहीं था। दूसरा यह, कि उन्होंने अपने वा किसी और के जीवन में वह विशेष गुण नहीं देखेथे, कि जो एक **पूर्ण-गठन-प्राप्त आत्मा** में देव शक्तियों के विकाश से प्रगट होते हैं। इसलिए उन्होंने केवल तीन हि प्रकार के गुणों में मनुष्य जीवन को विभक्त किया था, परन्तु मैंने उसे **चार** प्रकार के गुणों में श्रेणी-बद्ध किया, और इन चारों श्रेणियों के मनुष्यों में जिस २ प्रकार का प्रभेद पाया जाता है, उसे अपनी व्याख्या के द्वारा भलीभान्त प्रदर्शन किया। इन लेखों के तैयार होजाने के कुछ दिनों बाद मुझे मालूम

हुआ, कि अनुसन्धान की इस विधि को अवलम्बन करके मैं ऐसे बग़ली रास्तों पर चलता हूं, कि जो कुछ दूर तक जाकर फिर आगे नहीं जाते। मुझे मुख्य पथ पर पहुंचने के लिए इस पथ के पूर्णतः त्याग करने की ज़रूरत है।

मुझे वैज्ञानिक विधि के अनुसार सबसे पहले,

(१) मनुष्य के अस्तित्व के दोनों भागों, अर्थात् उसके शरीर और आत्मा की गठन के सम्बन्ध में "फ़ेक्टस" (सत्यों) के एकत्र करने की ज़रूरत है।

(२) इन सत्यों के परस्पर प्रभेद के अनुसार उनकी छान बीन करने की ज़रूरत है।

(३) फिर उन्हें नाना श्रेणियों में विभक्त करने की ज़रूरत है।

(४) उसके अनन्तर ठीक **युक्ति वा तर्क** के द्वारा उनसे जो २ सिद्धान्त निकल सकते हों, उनके निकालने की ज़रूरत है।

शरीर की गठन के विषय में इस समय तक पश्चिमी देशों में जितना अनुसन्धान और उसके अनुसार जितना सत्यज्ञान प्राप्त हो चुका था, उसके विचार से उसके विषय में मेडीकल किताबों के द्वारा साधारण तत्त्वों का जान लेना कुछ भी कठिन न था। परन्तु आत्मा की गठन के विषय में मैं जिन तत्त्वों का खोजी था, उनके विचार से किसी देश में भी अब तक किसी **संतोषजनक** गवेषणा और सत्यज्ञान के न होने से मेरे लिए (कम से कम मेरी अपनी अवगति के अनुसार) कहीं से भी किसी प्रकार की कोई सहाय मिलती दिखाई न दी। इसलिए इस महा कठिन अनुसन्धान की ज़मीन पर पांव रखने के साथ हि मुझे यह प्रतीत होने लगा, कि मेरे पांव दलदल में घुसते जाते हैं और किसी पक्की ज़मीन पर नहीं पड़ते। मुझे बोध होने लगा, कि मुझे किसी ने निहायत गहरे समुद्र में फेंक दिया है, जिसमें गिरकर मैं अपनी रक्षा के लिए यद्यपि हाथ पांव ज़रूर मार रहा हूं, मगर उसमें से निकलने की मुझे कोई उम्मेद मालूम नहीं होती। मेरे चारों ओर पानी हि पानी फैला हुआ है, और किसी तरफ़ कोई सूखा किनारा दिखाई नहीं देता।

एक ओर मेरा सत्य और तत्त्व अनुरागी हृदय मुझे चुपचाप बैठने नहीं देता, और दूसरी ओर उस अनुराग से परिचालित होकर मैं इस खोज में जितना परिश्रम करता हूं, उसे कुछ देर के लिए सन्तोष-जनक देखकर भी फिर यह मालूम होता है, कि मैं अभी तक सफल काम नहीं हुआ, और मेरा सब वा बहुत कुछ परिश्रम व्यर्थ गया। मेरी क्षणिक आशा निराशा में बदल गई। परन्तु निराश होकर और बार २ निराश होकर और उसके आघातों से हत-उत्साह होकर और बार २ हत-उत्साह होकर भी मैं इस अन्वेषण कार्य्य को छोड़ नहीं सकता। क्यों ? इसलिए कि मेरा सत्य-अनुराग मुझे किसी प्रकार आराम लेने नहीं देता। किसी ऐसे सोते मनुष्य की तरह कि जिसे किसी ने उठाकर एक बियाबान घने जंगल में छोड़ दिया हो, और वह आंख खुलने पर अपना घर ढूंढ़ने और उसकी तरफ़ जाने के लिए स्वभावतः व्याकुल होता है, और इस ज़ोरदार कामना के वशीभूत होकर इधर-उधर राह ढूंढ़ता है, और राह न पाकर भी अथवा कुछ दूर तक पाकर, और फिर आगे न पाकर और इस अवस्था में निराश होकर, फिर भी राह ढूंढ़ने के लिए हि अपने आप को मजबूर पाता है; मैं भी इस तत्त्व अनुसन्धान में बार २ विफल काम होकर अपने आप को संग्राम करने के लिए मजबूर पाता था। मेरे इस संग्राम की कोई सीमा न थी। मेरा पथ अति दुःसाध्य था और मेरी कठिनाइयां घोर कठिनाइयां थीं। मैं इन कठिनाइयों में पड़ कर एक २ बार सर्द आह भरता था और कहता था, कि हाय ! मैं किस महा विपद और किस मुसीबत में फंस गया !

सत्य अनुसन्धान की यह मुसीबत मेरे लिए कोई नई मुसीबत न थी। इस राह में जब से मैंने पांव रक्खा था, तभी से उसका सामना था। परन्तु पहली मंज़िलों में मैं इस प्रकार असहाय और बेसहारे न था। उन मंज़िलों में कुछ और सहायक भी नज़र आते थे, परन्तु अब कोई मददगार दिखाई नहीं देता। इस रास्ते का कोई और मुसाफ़िर नहीं। मेरे खोज की राह निराली, मेरा रास्ता बिलकुल अनोखा। और इसीलिए मैं इस अनोखे रास्ते का केवल अनोखा मुसाफ़िर ! पर नेचर ने

इस प्रकार का खेल मेरे साथ हि नहीं खेला, किन्तु कितने हि और जनों के साथ भी खेला है, और उन्हें एक २ रास्ते पर जाने के लिए मजबूर करके और तरह २ की विपदों में डाल के, दुःख देके, अपना सच्चा दीन, अनुगत, पूर्ण विश्वासी और भक्त बना के, तब कहीं उन्हें कुछ **भेद** बताया है। फिर मुझे इस नियम के पूरा करने से क्यों भागना चाहिए? यदि उसने अपने किसी महत् उद्देश्य के सिद्ध करने के लिए मुझे इसी राह पर चलने के लिए जन्म दिया है, तो मुझे इसी राह पर चलने के लिए तैयार क्यों न रहना चाहिए? लेकिन तैयार रहने का फ़ैसला करके भी, मैं इस महा कठिन पथ की महा कठिन मुसीबतों से पीछा नहीं छुड़ा सकता था। फिर भी नेचर का नियम यही है—बिना संग्राम के जीवन नहीं बनता। बिना संग्राम के जीवन विकशित नहीं होता। औरों को विकाश पथ पर ले जाने के लिए, मेरे अपने लिए अपने निराले पथ में संग्राम करना और घोर से घोर संग्राम करना अतीव आवश्यक। मेरे लिए नेचर के दरवाज़े को खटखटाना और ज़ोर से खटखटाना और हर रोज़ खटखटाना और महीनों तक नहीं, किन्तु वर्षों तक खटखटाना निहायत ज़रूरी था।

रात वहुत चली गई है, लाखों मनुष्य और पशु, हां वृक्ष तक आराम की हालत में बेसुध पड़े वा खड़े हुए हैं। परन्तु मुझे नींद नहीं। मुझे विश्राम नहीं। सिर सोचते २ बहुत थक गया है। उसमें दर्द हो रहा है। मैं चाहता हूं कि मेरे विचार का सिलसिला बन्द हो, परन्तु सिलसिला बन्द नहीं होता। पर यह संग्राम लगातार निष्फल नहीं जाता और नहीं जा सकता। हां एक तौर से प्रति मुहूर्त का संग्राम हि सफलता की ज़ंजीर में एक वा दूसरे प्रकार की कड़ी बनता जाता है। और जैसे कितने हि बहुत ज़ोरदार दर्दों के बाद एक २ गर्भिणी स्त्री के गर्भाशय से बच्चा पैदा होता है, वैसे हि कितने संग्रामों के बाद कितने हि दुःखों और दर्दों के बाद, मेरे आत्मा में एक २ सत्य प्रगट हुआ है। इसीलिए एक २ प्रसवकारिणी स्त्री के लिए उसका बच्चा जितने प्यार और आदर की वस्तु हो सकता है, उससे लाखों और करोड़ों गुणा बढ़कर मुझे अपना

एक २ प्राप्त-सत्य प्यार और आदर की वस्तु दिखाई दिया है। परन्तु जैसे धनानुराग और उसे परिश्रम से कमाने के बिना किसी की दृष्टि में धन की **यथेष्ट** क़दर नहीं होती; वैसे हि सत्यानुरागी होकर परिश्रम और संग्राम के द्वारा लाभ करने के बिना एक २ सत्य की भी यथेष्ट क़दर नहीं होती। यही कारण है, कि जीवन विषयक एक २ सत्य मेरे नज़दीक जितना बहुमूल्य अथवा अमूल्य है, उसका लाखवां भाग भी वह उन्हें मूल्यवान् प्रतीत नहीं होता, जिन्हें मैं उसे बिना किसी मूल्य के दान करता हूं। कैसी शोचनीय अवस्था! सत्य-अनुराग-विहीन और मिथ्या-कल्पना और कुसंस्कारग्रस्त लोगों में सत्य का कितना निरादर !!

आत्मा विषयक जिन-जिन प्रश्नों के सम्बन्ध में क्रम २ से मुझे अनुसन्धान करने और सत्यज्ञान लाभ करने की आवश्यकता प्रतीत हुई, वह यह थे :—

(१) मनुष्य आत्मा मूलत: क्या है ?

(२) किसी साधारण मनुष्यात्मा की वर्तमान गठन क्या है ?

(३) मनुष्य के आत्मा का उसके शरीर के साथ क्या सम्बन्ध है ?

(४) मनुष्य शरीर का निर्माण, रक्षण, पालन और परिचालन किसके द्वारा होता है ?

(५) मनुष्यात्मा परिवर्तन के अटल नियम के अनुसार किस २ प्रकार का परिवर्तन लाभ करता है ?

(६) मनुष्य आत्मा में परिवर्तनकारी गतियां किस प्रकार उत्पन्न होती हैं ?

(७) मनुष्य आत्मा की परिवर्तनकारी गतियां कै प्रकार की और क्या २ हैं ?

(८) मनुष्य आत्मा के क्रमशः उच्च परिवर्तन का परिणाम क्या है ?

(९) मनुष्य आत्मा के क्रमशः नीच परिवर्तन का परिणाम क्या है ?

(१०) क्रमशः उच्च परिवर्तन किस २ प्रकार के आत्माओं के लिए सम्भव, और किस २ के लिए असम्भव है ?

(११) जो आत्मा केवल एक सीमा तक उच्च परिवर्तन लाभ कर सकते हैं, और उससे अधिक नहीं, उनका क्या परिणाम होता है ?

(१२) स्थूल शरीर की मृत्यु के अनन्तर मनुष्य के अस्तित्व का क्या परिणाम होता है ?

यह बड़े २ और इन के अन्तरगत और बहुत से छोटे २ प्रश्न ऐसे थे, कि जिनके सम्बन्ध में मैं अपने पूर्ण सत्य-अनुराग और वैज्ञानिक विधि के अनुसार सत्यज्ञान की प्राप्ति का पूर्ण आकांक्षी बन चुका था। कितनी महत् और अनोखी आकांक्षा ! कितना विशाल और अनोखा संग्राम !! क्या आज तक इस पृथिवी में किसी मनुष्य ने कल्पनामूलक सब प्रकार के पहले विश्वासों को **त्याग कर** केवल वैज्ञानिक विधि के आधार पर इतने प्रश्नों में इतने बड़े प्रोग्राम के हल करने की कभी आकांक्षा और चेष्टा की थी ! कभी नहीं, कभी नहीं।

मेरा यह अध्यवसाय निश्चय अनोखा और मेरा यह संग्राम निश्चय अद्वितीय था। परन्तु जिस नेचर ने मुझे उसके योग्य समझ कर इस महान् उद्देश्य के पूरा करने के लिए निर्वाचित किया था, वही मेरी रक्षक और सहाय थी। उपरोक्त प्रश्नों के गुरुत्व को सन्मुख लाने से इस लेख के चिन्ताशील पाठकों पर यह विदित होसकता है, कि नेचर का मेरे लिए यह कितना बड़ा हुक्म था, और यह संग्राम कितना कठिन और विकट संग्राम था। परन्तु मैं इस राह पर चलने के लिए बेबस था। मेरे लिए और कोई रास्ता न था। मैं इस पृथिवी के क्या स्वदेशीय और क्या विदेशीय धर्म्म सम्प्रदायों की सब कपोल कल्पित शिक्षाओं से ऊपर जाचुका था। एक ओर उनकी ऐसी शिक्षा मेरी कुछ भी सहाय न कर सकती थी, दूसरी ओर मैं **अन्धविश्वास** की कुल सीमा से निकल कर **वैज्ञानिक विधि** के अनुसार उपरोक्त प्रश्नों की मीमांसा करके केवल विशुद्ध **सत्यज्ञान** लाभ करना चाहता था। इधर मेरा पीछे का रास्ता **बिलकुल बन्द** होचुका था, जिस पर मैं वापिस

नहीं जा सकता था, उधर **नया** बना बनाया वा खुला हुआ कोई **शाही रास्ता** भी दिखाई नहीं देता था, इसलिए मेरी विपद की कोई सीमा न थी और मैं इस दशा में स्वभावतः अपने आपको एक ऐसे प्रशस्त समुद्र में पड़ा हुआ अनुभव करता था, कि जिस की गहराई अथाह है, और जिस के किनारों के कोई निशान नज़र न आते थे। यदि मेरे इस संग्राम की सब नहीं, किन्तु आंशिक छवि का भी सन्मुख लाना इस लेख के किसी पाठक के लिए सम्भव हो, तो वह उसे अपनी अच्छी कल्पना के द्वारा सामने लाने की कोशिश कर सकता है। इस अवस्था में मैंने उन दिनों में जो भजन तैयार किए थे, उन में से दो नीचे दर्ज होते हैं :—

१—भजन

मेरे रक्षको होवो सहाय। [टेक]
आपत्/संकट काल के तुम ही साथी,
हाथ अपने तुम देव बढ़ाय। १
देख असहाय अवस्था मेरी,
मेरे दिल को दो ठहराय। २
मेरा आत्मा निर्भर चाहे,
तुम सब मुझ को लो लिपटाय। ३

२—भजन

मेरे रक्षको रक्षा करो। [टेक]
महा कठिन संग्राम में मेरे,
नित २ बल से मुझ को भरो। १
परम एकता के लाने में,
विघ्न और वाधा सब हि हरो। २
परमोत्तम जीवन व्रत मेरा,
उसको तुम मिल पूरा करो। ३

इन भजनों में जिन रक्षकों की तरफ मेरा इशारा है, वह रक्षक मेरे वह परलोकवासी उच्च आत्मा थे, कि जिन की सहाय का मुझे पूरा प्रमाण मिल चुका था, और जो मेरे सच्चे हमदर्द और बहुत हितकारी सम्बन्धी थे।

मुख्य पथ-उद्‌घाटक एक विशेष घटना

मनुष्य तत्त्व अन्वेषण के सम्बन्ध में मेरा महा कठिन और घोर संग्राम बराबर जारी है, अधययन जारी है, विचार जारी है, उपरोक्त कितने हि प्रश्नों के सम्बन्ध में एक वा दूसरी सीमा तक ज्योति मिलती है, रास्ता खुलता है और सत्यज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु अब तक भी **मुख्य पथ** नहीं खुलता। दाएं बाएं कितने हि पथ अवश्य दिखाई देते हैं, परन्तु यह कुछ दूर जाकर बन्द होजाते हैं। और यद्यपि उन पर चल कर मनुष्य तत्त्व विषयक कई प्रकार का ज्ञान मिलता है, और मुख्य पथ पर पहुंचने के लिए सहायता प्राप्त होती है, परन्तु यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि जब तक मुख्य पथ पर न पहुंचूं, तब तक मैं इस संग्राम में पूर्णतः सफल काम नहीं होसकता। मेरी आन्तरिक शुभ व्याकुलता बराबर बढ़ रही है, और अपने चौतरफ़ा विस्तृत व्योम पर आघात लगाकर उसे बराबर आन्दोलित कर रही है। मेरी यह शक्ति सत्य है, और वह विश्व के उच्च विकाश के अनुसार है, और उच्च विकाश के महा नियम के पूरा करने और शुभ के प्रसव करने के लिए है। अतएव उस का फलीभूत होना, और मेरे लिए ठोकरें खाकर, कांटों से बिद्ध होकर, गिर पड़ कर और ज़ख़मी होकर भी, **मुख्य पथ** पर पहुंचना अवश्यम्भावी है। आख़िरकार यही हुआ। नेचर में एक विशेष घटना पैदा हुई, और मुझे अपनी भावी सफलता के लिए पूर्ण आशा मिल गई।

कई एक परलोकवासी उच्च आत्मा जो समय २ में गुप्त रूप से मेरी एक वा दूसरी सहाय किया करते थे, और जो मुझ से मिलने जुलने और बातचीत करने के बहुत इच्छुक थे, उन्हें अपनी इस शुभ इच्छा के पूरा करने के लिए एक अच्छा अवसर मिल गया। मेरे पारिवारिक

जनों में से एक लड़की में "मीडियम" विषयक विशेष शक्ति उत्पन्न होगई। मेरे एक सेवक जो इस विषय में कुछ लगाव रखते थे, एक ऐसी अंगूठी ले आए, कि जिस के स्याह भाग पर तेल की बूंद रखने से उसके भीतर परलोकवासी सूक्ष्म शरीर धारी आत्मा मीडियम की विशेष शक्ति के द्वारा अपने रूप का प्रतिबिम्ब डाल सकते थे। यह अंगूठी मीडियम लड़की को दी गई, और वह उसके द्वारा उनके प्रतिबिम्ब देखने लगी। वह उन्हें पहचानने के योग्य बनगई। वह उनके रूप के देखने के भिन्न उनकी आवाज़ भी सुनने लगी। उनके द्वारा अधिकृत होकर उनकी वाणी भी बोलने लगी, और इस प्रकार एक अच्छी हितकर "मीडियम" होगई। मुझे उसकी ख़बर हुई। मैंने उसकी परीक्षा की। बात ठीक निकली। मैं मेलबोर्न के परलोक तत्त्व प्रकाशक "हारबिंजर आफ़ लाइट" नामक मासिक पत्र को पढ़ा करता था। वह मेरे पास कई सालों से आता था। मैंने परलोक तत्त्व के विषय में क्रुक्स और वालिस जैसे जगद्विख्यात् वैज्ञानिक जनों की परीक्षा और उन की शिक्षा का वृत्तांत भी पढ़ा वा सुना हुआ था। मैं इस विषय में बहुत हार्दिक अनुराग रखता था। इस विशेष वांछनीय घटना के पैदा होने से मैं अत्यन्त खुश हुआ। मुझे आशा मिली, कि मैं अपने इन परलोकवासी विशेष उच्च सम्बन्धियों के द्वारा मनुष्य तत्त्व के सम्बन्ध में बहुत कुछ अनुसन्धान कर सकूंगा। यह घटना अकतूबर सन् १८९६ में उत्पन्न हुई थी।

मेरे अनुसन्धान की विशेषता

मैं मनुष्य तत्त्व के सम्बन्ध में एक निराले प्रकार का अनुसन्धान करना चाहता था—ऐसा अनुसन्धान, कि जिस की ओर इस समय तक किसी देश के किसी अनुसन्धानकारी का **ध्यान** तक नहीं गया था। इससे पहले योरोप और एमेरिका में इस विषय में जहां तक अनुसन्धान हुआ था, वह साधारणतः इस प्रश्न को लेकर था कि स्थूल शरीर के छोड़ने के अनन्तर आत्मा रहता है, वा नहीं ? और फिर नाना घटनाओं

के द्वारा इस प्रमाण के मिलने पर कि मरने के बाद भी आत्मा रहता है, इन अनुसन्धानकारियों ने अपने पहले विश्वास को, कि आत्मा अमर (immortal) है मज़बूत कर लिया, और आत्मा के अमर होने का प्रचार जारी रक्खा। इस सिद्धान्त में जिन दो मूल बातों की भ्रान्ति थी, वह उन्हें दिखाई नहीं दी। और जिस श्रेणी के यह लोग थे वा उन्हीं के सदृश अब भी हैं, उन्हें प्रकृति के नियम के अनुसार वह भूल दिखाई दे भी नहीं सकती थी, और अब भी नहीं दिखाई दे सकती। यह भ्रान्ति-जनक दो मूल बातें यह थीं :—

(१) **तर्कमूलक भ्रान्ति**—अर्थात् यह आवश्यक नहीं, कि राम यदि साठ वर्ष तक स्थूल देह के साथ इस पृथिवी में और उस के बाद स्थूल देह के छोड़ने पर किसी रूप में किसी और जगह जीवित रहे, तो वह अमर समझा जावे। किसी आत्मा का अमर होना वा न होना इस घटना पर अवलम्बित नहीं, कि वह इतने वर्ष तक यहां था, और फिर स्थूल शरीर के छोड़ने पर भी उस के कहीं वर्तमान होने का प्रमाण मिलता है। यह तर्कमूलक भूल है।

(२) **आवश्यक ज्ञान की कमी**—अर्थात् जब कि परिवर्तन के विश्वव्यापी अटल नियम (Law of Change) के अनुसार प्रत्येक अस्तित्व का परिवर्तित होना लाज़मी है, और परिवर्तन का यह नियम आवश्यक शरतों के पूरा होने पर उसे या तो विकाश की ओर अग्रसर कर सकता है या विनाश की ओर। तब फिर इस नियम और विकाश और विनाशकारी **"आवश्यक शरतों"** के तत्त्व से अंधे वा अज्ञानी रहकर और अपने सिद्धान्त में "आवश्यक शरतों" के तत्त्व को छोड़कर जो लोग (चाहे वह और बातों के विचार से कैसे हि विद्वान् क्यों न हों) आत्मा के **अमर** होने की व्यवस्था देते हैं, वह पूर्णतः **भ्रान्तिमूलक** सिद्धान्त निकालते हैं।

मनुष्य तत्त्व के सम्बन्ध में मैंने ऊपर जिन २ प्रश्नों का उल्लेख किया है, उनमें से पहले चार शरीर और आत्मा की गठन और उनके परस्पर के सम्बन्ध के विषय में हैं, और शेष आठ का आत्मा के

परिवर्तन, और उसके परिणाम से सम्बन्ध है। पहले चारों को छोड़ कर पिछले आठ के सम्बन्ध में मैं जहां तक सम्भव हो, **परीक्षामूलक** अनुसन्धान और सत्य-मूलक ज्ञान लाभ करना चाहता था। इसी लिए मेरी इस अभिलाषा के पूर्ण होने का जव अवसर पैदा होगया, तव मैंने फ़ौरन अपना काम शुरू किया। बरसों तक मैं इस अनुसन्धान में लगा रहा, और इस काल का मेरा कुल परिश्रम भली भान्त सफल हुआ। मेरी इस तहक़ीक़ात में उच्च आत्माओं ने मेरी जिस क़दर सहाय की, मेरे लिए जिस क़दर परिश्रम स्वीकार किया, और अपना बहुत क़ीमती समय ख़र्च किया, वह उन्हीं का काम था। सत्य और शुभ की सेवा में उनका यह कुल कार्य्य बहुत प्रशंसनीय था।

जीवन विषयक उच्च तत्त्वों के देखने के लिए बुद्धि के भिन्न उसके साथ उच्च जीवन की बहुत बड़ी आवश्यकता है। उच्च जीवन प्राप्त होने के बिना आत्मा में वह **उच्च ज्योति** हि नहीं उत्पन्न होती, जिस में उसे जीवन विषयक उच्च तत्त्व **दिखाई** दे सकते हैं। मुझ में यह अमूल्य और सर्वोच्च ज्योति दिनों दिन विकशित होरही थी। अब यह

(१) सर्वांग उच्च जीवन,

(२) सर्वांग उच्चजीवन-जनित महा अमूल्य ज्योति,

(३) वैज्ञानिक विधि विषयक पूर्ण अनुराग, और

(४) विकाश और विनाश तत्त्व विषयक महा अमूल्य तत्त्व ज्ञान,

मेरी वह **सारी सामग्री** थी, कि जिस को लेकर मैंने यह अनुसन्धान आरम्भ किया था। अतएव जैसे एक ओर मेरी इस सामग्री की **विशेषता** थी, वैसे हि दूसरी ओर मेरे इस अनुसन्धान की भी **विशेषता** थी। मेरा यह अनुसन्धान कोई उस प्रकार का (यदि उसे अनुसन्धान भी कहा जाए) अनुसन्धान न था, कि जो यूरोप और एमेरिका में बहुत से साधारण जन प्रेत-आवाहन विषयक सरकिल बना कर इधर उधर की साधारण बातचीत के, अथवा कुछ वैज्ञानिक जन वैज्ञानिक विधि के अनुसार किसी स्थूल देहत्यागी आत्मा की सत्ता के विषय में "सीयांस" आदि के द्वारा करते रहते हैं। मेरा यह अनुसन्धान विकाश

और विनाश तत्त्व के आधार पर **जीवन तत्त्व** विषयक अनुसन्धान था, और इसीलिए क्या अपनी नेचर और क्या अपने सिद्धान्तों के विचार से बिलकुल **निराला और विशेष** था।

ऊपर मैंने अपनी जिस चार प्रकार की सामग्री का संकेत किया है, उस के बिना इस पृथिवी में किसी जन के लिए मनुष्य विषयक उन तत्त्वों का ढूंढ़ना और उनके विषय में सत्य सिद्धान्त पर पहुंचना **सम्भव** न था। इसी लिए मैंने अपने इस विचित्र अनुसन्धान के द्वारा मनुष्य विषयक जिन २ गूढ़ तत्त्वों का सत्यज्ञान लाभ किया, उसे आज तक किसी ने लाभ नहीं किया था। उच्चजीवन विषयक नाना अंगों को पाकर, मेरे भीतर इस अनुसन्धान के समय जिस प्रकार के प्रश्न उदय हुए थे, वह उनसे शून्य हृदयों में, चाहे वह अन्य बातों के विचार से कैसे हि **विद्वान्** क्यों न हों, उदय हि **नहीं** होते वा हो सकते थे। फिर उनके विषय में अनुसन्धान क्या ? मेरे भीतर जैसे उपरोक्त प्रकार के अनोखे प्रश्न उत्पन्न होते थे, वैसे हि उनके विषय में पूर्णतः सत्य सिद्धान्त पर पहुंचने के लिए जहां एक ओर वैज्ञानिक विधि का पूर्ण अनुराग वर्तमान था, वहां दूसरी ओर विकाश और विनाश विषयक तत्त्वज्ञान की वह सच्ची कसौटी भी मुझे प्राप्त थी, कि जिस पर रख कर परखने से उनके खोटे वा खरेपन की भली भान्त तसदीक़ हो सकती थी। यह दोनों हि बातें एक दूसरे के लिए सापेक्ष थीं। "भार विषयक नियम" (law of gravitation) का ठीक ज्ञान और उस के साथ गणित शास्त्र मूलक वैज्ञानिक सत्य प्रणाली का प्रयोग जैसे तारों के विषय में नाना प्रश्नों की ठीक मीमांसा करने और ठीक सिद्धान्त पर पहुंचने के लिए लाज़मी है, वैसे हि मेरे इस अनुसन्धान में सत्य सिद्धान्त पर पहुंचने के लिए, उपरोक्त सामग्री की **प्रथम दो** बातों के भिन्न **पिछली दो** बातें भी लाज़मी थीं। इसीलिए मैंने इस खोज में वर्षों तक जितना समय खर्च किया, वह सफल हुआ, और मैं अपने आप को सच्चे अर्थ में **सिद्धार्थ** पाकर जितना धन्य २ हुआ, उस का वर्णन नहीं हो सकता।

मेरा सच्चे अर्थ में सिद्धार्थ होना

(धर्म्म की विज्ञानमूलक भित्ति के विषय में चार महा तत्त्वों का आविष्कार)

उपरोक्त प्रश्नों के विषय में लगातार गवेषणा के बाद उनके उत्तर में मुझ पर **चार महा तत्त्व** प्रकाशित हुए। इन महा तत्त्वों के प्रगट होने से मुझे **धर्म्म की वह विज्ञान-मूलक भित्ति प्राप्त हुई,** कि जिस के खोजने और प्रगट करने के लिए विश्व के विकाशकारी विभाग ने मुझे आविर्भूत किया था। यह चार महा तत्त्व यह थे :—

मनुष्य विषयक चार महा तत्त्व

[१—परिवर्तन तत्त्व]

(१) परिवर्तन के विश्वव्यापी महा नियम के अधीन होने से और करोड़ों अस्तित्वों की न्याईं **मनुष्य** का अस्तित्व भी, क्या अपने शरीर और क्या अपने आत्मा **दोनों** के विचार से **परिवर्तनशील** है।

(२) उच्च परिवर्तन से मनुष्य आत्मा पहले की अपेक्षा **श्रेष्ठ और सुन्दर** बनता है।

(३) नीच परिवर्तन से मनुष्यात्मा **अवनति** या **क्षय** को प्राप्त होता है।

(४) मनुष्य आत्मा के उच्च परिवर्तन को **विकाश** और निम्न परिवर्तन को **विनाश** कहते हैं।

[२—गठन तत्त्व]

(१) उद्भिद्, पशु और मनुष्य जगत् सम्बन्धी गठन प्राप्त जीवित आकार जिन दो प्रकार की वस्तुओं से विशिष्ट हैं, उनमें से एक को **जीवनी शक्ति** और दूसरे को **शरीर** वा **आकार** कहते हैं। मनुष्य के आकार में जो **जीवनी शक्ति** है, उसी का नाम **आत्मा** है।

(२) गठन-प्राप्त जीवित आकारों में निम्न और उच्च श्रेणी के

विचार से उनकी जीवनी शक्तियां भिन्न २ और नाना प्रकार की हैं।

(३) उद्भिद्, पशु और मनुष्य जगत् सम्बन्धी जीवनी शक्तियां हि अपने २ लिए शरीर **निम्मर्गण** करती हैं। वही आहार के द्वारा उसे **पालन** करके **जीवित** रखती हैं। वही उसे **परिचालन** करती हैं। और वही अपने सदृश और जीवित आकारों को **जन्म** देती हैं।

(४) उद्भिद्, पशु और मनुष्य जगत् में जो जीवनी शक्ति अपने लिए शरीर **निम्मर्गण** करने की सामर्थ्य नहीं रखती, अथवा खो देती है वह **नष्ट** हो जाती है। इसी लिए मनुष्य आकारों में जो आत्मा **नीच-गति परायण** रह कर अपनी इस निम्मर्गण शक्ति को धीरे २ **क्षय** करते रहते हैं, वह अपने व्यक्तिगत अस्तित्व के विचार से एक दिन **पूर्णतः नष्ट** हो जाते हैं।

[३—सम्बन्ध तत्त्व]

(१) भौतिक जगत् से हि उद्भिद, पशु और मनुष्य जगत् का विकाश हुआ है। यह सब जगत् विश्व के सुविशाल शरीर में **अंगों** की न्याईं जुड़े हुए हैं, और एक दूसरे के साथ **अति घनिष्ठ सम्बन्ध** रखते हैं।

(२) पूर्णाङ्ग देवजीवन को प्राप्त होने के बिना, कोई आत्मा विश्व के इन जगतों के साथ अपना सर्वांग विकाशकारी सम्बन्ध स्थापन नहीं कर सकता। इसीलिए उसका धीरे २ अवनत होकर क्षय प्राप्त होना और एक दिन अपने **व्यक्तिगत** अस्तित्व के विचार से **पूर्णतः नष्ट** हो जाना अवश्यम्भावी है।

(३) किसी कल्पित एक ईश्वर अथवा बहु देव देवियों अथवा देव जीवन रहित किसी ऋषि, मुनि, परमहंस, साधु, महात्मा, गुरु, संट, पीर और पैग़म्बर आदि की शरण लेने, उसकी वन्दना वा पूजा वा भक्ति करने अथवा अपने नाना सम्बन्धियों के सम्बन्ध का त्याग करके योग वा "समाधि" आदि का साधन करने से किसी आत्मा में देव जीवन की उत्पत्ति नहीं होती।

(४) **देवजीवन प्राप्त** आत्मा के देवरूप को जान कर और उसके

प्रति **विशुद्ध अनुराग** सूत्र में बंधकर हि कोई **अधिकारी** आत्मा उसकी वह जीवन पथ दर्शक उच्च **ज्योति** और उच्च भाव उत्पादक उच्च **शक्ति** लाभ कर सकता है, कि जिनके मिलने से एक ओर वह नाना जगतों के सम्बन्ध में धीरे २ अपने आत्मा की नीच गतियों के देखने और उनसे **मोक्ष** पाने की **आकांक्षा** और **योग्यता** लाभ कर सकता है, और दूसरी ओर अपने भीतर उच्चगतियों को विकशित करके उनके साथ विकाशकारी मेल वा **एकता** स्थापन कर सकता है।

[४—लक्ष्य तत्त्व]

(१) विश्व गत नाना जगतों के सम्बन्ध में अपनी **विनाशकारी** नीच गतियों से **रक्षा** पाना मनुष्य के लिए **सत्य मोक्ष** है। और उच्च-गतियों में विकशित होकर और धीरे २ **आत्मिक पूर्ण गठन वा देव-जीवन** को प्राप्त होकर उन जगतों के साथ विकाशकारी मेल वा **एकता** स्थापन करना हि उसका **मुख्य लक्ष्य** और **परम आदर्श** है।

(२) किसी कल्पित स्वर्ग विषयक सुख अथवा कल्पित पुनर्जन्म विषयक धन, मान, ऐश्वर्य्य और इन्द्रिय-जन्य किसी **सुख** अथवा योग वा समाधि वा भक्ति विषयक किसी **आनन्द** वा **शान्ति** अथवा किसी प्रकार का कोई और सत्य वा कल्पित **सुख** वा **आनन्द** लाभ करना मनुष्य का **मुख्य लक्ष्य** वा आदर्श **नहीं** है।

(३) आत्म-विनाश से मोक्ष और उच्चजीवन के विकाश को मुख्य रखकर जिस २ प्रकार का **जितना सुख वा आनन्द** किसी आत्मा को मिल सकता हो, वही सुख वा आनन्द उसके लिए **उचित** और **वांछनीय** है; उसके भिन्न और कुछ नहीं।

(४) सुख को मुख्य रखकर मनुष्य एक ओर जैसे **नीचगति परा-यण** होकर अपने आत्मा की **हानि** अथवा उसका **नाश** करता है, वैसे हि दूसरी ओर अपने **शरीर** की भी नाना प्रकार से **हानि** और उसके स्वास्थ्य का **नाश** करता है।

इन महा तत्त्वों का यह आविष्कार कितना महान्! जिस देश वा

जाति वा वंश वा परिवार में उनका यह आविष्कार हुआ, उसका कितना बड़ा गौरव !! जिस पृथिवी में कल्पनामूलक मिथ्या गप्पों के भिन्न धर्म्म की कोई विज्ञान-मूलक और इसीलिए सत्य और अटल आधार भूमि का ज्ञान न था, उसके लिए उनका आविष्कार कितना बड़ा सौभाग्य !!! परन्तु महा शोक ! कि इस काल में उनकी यथार्थ महिमा के देखने के लिए मनुष्य समाज में योग्यता नहीं। वर्तमान कल्पित धर्म्म मतों के पक्षपातियों और अन्धविश्वासियों के सन्मुख उनकी महिमा का प्रगट होना अभी तक असम्भव है !!!!

तीसवां परिच्छेद

मेरा अद्वितीय व्रत और उसकी सिद्धि के लिए मेरा अद्वितीय तप

जिस प्रकार इस पृथिवी में एक ऐसा काल था, जब कि वह नाना प्रकार के करोड़ों पशुओं से भरी हुई थी, परन्तु उसमें कोई मनुष्य न था। फिर पशु जगत् के विकाश क्रम में स्तन्यपाई पशुओं की एक जाति में से मनुष्य विकशित हुआ, और उसने अपने अस्तित्व में बुद्धि और भाषा विषयक उन्नतशील शक्तियों के विचार से विशेषता लाभ की, और उसके प्रादुर्भाव से पृथिवी में पूर्णतः एक नया युग आरम्भ हुआ; उसी प्रकार उसके बाद उस में एक बहुत लम्बा काल ऐसा व्यतीत हुआ, जब कि वह धीरे २ करोड़ों मनुष्यों से अवश्य भर गई, परन्तु उसमें किसी ऐसे **देवात्मा** का आविर्भाव नहीं हुआ, कि जिस के गुणों का इस पुस्तक के पहले परिच्छेद में उल्लेख किया गया है। तथापि जैसे पशु-जगत् के क्रम विकाश में मनुष्यात्मा का एक विशेष समय में प्रगट होना अवश्यम्भावी था, वैसे हि मनुष्यात्माओं के क्रम विकाश में एक विशेष समय में अपनी विशेष शक्तियों के साथ **देवात्मा का आविर्भूत होना लाज़मी था।** मेरे शरीर में इसी देवात्मा ने धीरे २ विकशित होकर ३२ वर्ष की आयु में मुझे जिस **महा व्रत** के ग्रहण करने के लिए खड़ा किया, वह जैसे मनुष्य जगत् में **अद्वितीय व्रत** था, वैसे हि उसकी सिद्धि के लिए उसने मुझे जिस प्रकार के **महा तप** के ग्रहण करने के लिए तैयार किया, वह भी **अद्वितीय तप** था। अब जिस प्रकार मनुष्य अपनी उन्नतशील बुद्धि और भाषा शक्तियों को प्राप्त होकर यह बात दावे से कह सकता है, कि मेरे प्रगट होने से पहले पशु-जगत् के करोड़ों जीवों में कोई जीव ऐसा न था, कि जो यह शक्तियां रखता

हो, उसी प्रकार पूर्णाङ्ग आत्मिक गठन और देवजीवन विकाशकारी देवशक्तियों को प्राप्त होकर मैं भी पूरे दावे के साथ यह कह सकता हूं, कि मेरे आविर्भाव से पहले मनुष्यात्माओं में कोई मनुष्य ऐसा न था, कि जिस में यह शक्तियां पूर्णागं रूप में विद्यमान् थीं। बर्बर मनुष्यों का तो क्या कहना है, इस पृथिवी में क्या विख्यात विद्वानों और क्या नाना धर्म्म सम्प्रदायों के विख्यात संस्थापकों में भी कोई जन ऐसा नहीं हुआ, कि जिस ने

"सत्य शिव सुन्दर हि मेरा परम लक्ष्य होवे"

सत्य और शिव विषयक परम सुन्दर अनुराग शक्तियों में विकशित होना और उपरोक्त शक्तियों में विकशित होकर,

"जग के उपकार हि में जोवन यह जावे"

विश्वगत नाना जगतों के उपकार में रत रहना अपना **"परम लक्ष्य"** विघोषित करके कोई व्रत ग्रहण किया हो, कि जो मैंने देवत्व के विशेष गुणों को प्राप्त होकर ३२ वर्ष की वयस में ग्रहण किया था।

मेरे भिन्न और जितने धर्म्म सम्प्रदायों के संस्थापक हुए हैं, वा अब तक हैं, उन सब में (जैसा कि अभिव्यक्ति तत्त्व के अनुसार होना चाहिए था)

(१) कल्पना और परम्परा अन्धविश्वास का इतना आधिपत्य रहा है,

(२) सत्य विषयक नाना अंगों के अनुरागों का इतना अभाव रहा है,

कि उनके लिए **सम्भव** न था, और न ऐसे जनों के लिए अब भी सम्भव है, कि वह सत्य को सर्वांग रूपों में अपना परम लक्ष्य वनाते वा बना सकते। और उसके विरुद्ध असत्य को अपने जीवन के प्रत्येक अंग से नष्ट वा त्याग करने के आकांक्षी बनते और बन सकते। और इस महात्याग के सम्बन्ध में जिस २ प्रकार के **भीषण कष्ट जनक तप** की ज़रूरत है, उसे ग्रहण करते वा कर सकते।

मानव जगत् के विकाश में पूर्वोक्त संस्थापक जन अपने २ अस्तित्व के विचार से जिस २ अवस्था में पहुंचे थे, उसमें पहुंचकर वह केवल यहीं तक जान सकते थे कि,

(१) प्रत्येक मनुष्य को चाहे वह किसी श्रेणी का हो, इस संसार में कई प्रकार के दुःख और शोक भोगने पड़ते हैं, और कोई मनुष्य दुःख पाना नहीं चाहता ।

(२) एक ओर सम्पूर्ण **दुःखों से निवृत्ति वा मोक्ष** और दूसरी ओर **पूर्ण सुख वा आनन्द** लाभ करना हि मनुष्य की आन्तरिक आकांक्षा और इसीलिए उसका परम **लक्ष्य** है । और जिस २ विधि से यह लक्ष्य सिद्ध होसकता हो, उसी के ज्ञान और साधन का नाम **धर्म्म** वा **मज़हब** है । महात्मा बुद्ध के जीवन चरित्र को पढ़ो, और पूछो कि उन्होंने २९ वर्ष की उमर में अपनी स्त्री और अपने नवजात पुत्र और अपने राज-भवन को त्याग करके जंगल का रास्ता क्यों लिया ? और तुम्हारे प्रश्न का यही उत्तर मिलेगा, कि वह यह जानना चाहते थे, कि मनुष्य समाज में शोक और दुःख के कारण क्या हैं, और उनसे मोक्ष किस प्रकार मिल सकती है । फिर इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने मगध प्रदेश की राजधानी राजग्रह के समीप उरुविल्व नामक वन के सन्यासियों के पास रहकर यह सीखा, कि उपवास आदि शारीरिक कष्टों को ग्रहण करने और ध्यानपरायण बनने से जब **ज्ञान** प्राप्त हो, तब मनुष्य **सांसारिक दुःखों से मोक्ष** पाता है । फिर कई वर्षों तक **उपवास व्रत** ग्रहण करके और प्रायः अनाहार रहकर ध्यान करने से उन्हें क्या लाभ हुआ ? यह कि उनका शरीर क्षीण होते २ इतना निर्बल होगया कि जब वह एक दिन टहलते २ अपने विचार में मग्न थे, तब हठात् भूमि पर गिर कर मूर्छित हो गए, और फिर होश आने पर उन्हें मालूम हुआ, कि शरीर को वृथा भूखा रखकर **कष्ट सहना सर्वथा भूल थी**; ज्ञान प्राप्ति के लिए विचार की तो आवश्यकता है, परन्तु शरीर शोषण की आवश्यकता नहीं । तब से उन्होंने उचित रूप से आहार करना शुरू किया, और **उपवास विषयक मिथ्या तप** छोड़ दिया और फिर ग्रहत्याग के बाद

कई वर्षों तक विचार और ध्यान के द्वारा उन्होंने जो चार बातें मालूम कीं; वह यह थीं :—

(१) जीवन दुःखमय है।

(२) वासनाएं दुःख का मूल हैं।

(३) दुःखों की निवृत्ति के लिए वासनाओं का नाश अथवा उनके विषयों से दूर रहना आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं वासनाओं के कारण मनुष्य इस संसार में बार २ जन्म लेता और दुःख पाता है।

(४) वासनाओं पर अधिकार लाभ करने के लिए अनेक प्रकार के साधन आवश्यक हैं।

कहा जाता है कि इन चारों बातों को जान कर केवल यही नहीं, कि वह महा ज्ञानी "बुद्ध" हो गए; किन्तु "सर्व दर्शी" और "सर्वज्ञ" भी बन गए। और उन्होंने अपने कर्म्मों के कारण इससे पहले अनन्त काल तक जब २ और जिस २ जूनि में जन्म लिया था, और जहां २ जो २ कर्म्म किया था, वह सब कुछ वृत्तान्त उन पर प्रगट होगया।

फल यह कि,

अपने और औरों के लिए सांसारिक **दुःखों** से निवृत्ति के उपाय ढूंढ़ना और **पुनर्जन्म के कल्पित बंधन से मोक्ष** पाने के साधन करना, उनका परम लक्ष्य था; न कि **सत्य अनुराग** विषयक नाना अंगों में विकशित होकर **देवज्योति** और **देवजीवन** और आत्मा के सम्बन्ध में **विनाश** और **विकाश** विषयक **तत्त्वज्ञान लाभ करना** और इस ज्ञान के अनुसार **विज्ञानमूलक धर्म्म का प्रचार** करना। इसीलिए वह "बुद्ध" और "सर्वज्ञ" कहलाकर भी न तो पुनर्जन्म जैसे मिथ्या विश्वास और उसके मिथ्या संस्कार से हि मुक्त हो सके, और न जीवन के विनाश तत्त्व और विकाश के सम्बन्ध में कोई ज्ञान लाभ कर सके। महात्मा बुद्ध के उत्पन्न होने से पहले हि लोगों में **पुनर्जन्म** विषयक मिथ्या विश्वास फैला हुआ था। उन्होंने भी उसके मिथ्या संस्कार को प्राप्त होकर केवल यही नहीं, कि उसे सत्य माना, किन्तु बुद्धत्व को प्राप्त होने पर उसे यह कहकर और मज़बूत किया, कि उन्होंने अपने सब पिछले जन्मों के

अनन्त वृत्तान्त को देखा है। सत्य विषयक नाना अनुरागों से शून्य होने के कारण जैसे बड़े २ महात्माओं के लिए एक वा दूसरे **मिथ्या मतों पर विश्वास करना** स्वाभाविक था, वैसे हि नाना ज़रूरतों के समय **यूंहि कोई कल्पित किन्तु मिथ्या और कई सूरतों में पूर्णतः असम्भव गप्पें घड़ कर प्रचार करना भी उनके लिए स्वाभाविक था।** महात्मा बुद्ध भी इस से ख़ाली न थे।

बौद्ध जनों के सर्वोच्च धर्म्म ग्रन्थ का नाम त्रिपिठक है। यह ग्रन्थ पाली भाषा में है, कि जो संस्कृत से बदल कर बनी थी, और जो महात्मा बुद्ध के समय में बोली जाती थी। यह ग्रन्थ तीन विभागों में विभक्त है। यथा :—

(१) **विनय पिठक**—जिस में महात्मा बुद्ध के अनुयाइयों के लिए दैनिक आचार विषयक बातों का वर्णन है।

(२) **सुत्त पिठक**—जिस में महात्मा बुद्ध अथवा उन के किसी शिष्य के उपदेश हैं।

(३) **अभिधम्म पिठक**—जिस में महात्मा बुद्ध की शिक्षा के सम्बन्ध में दार्शनिक विचार बताए जाते हैं।

इन में से प्रत्येक भाग में कई २ पुस्तकें सम्मिलित हैं। दूसरे भाग में जो पुस्तकें सन्निवेशित हैं, उन में से एक का नाम "जातक" है। कहा गया है, कि महात्मा बुद्ध ने "सर्वज्ञ" हो जाने पर, अपने **साढ़े पांच सौ** पिछले जन्मों के विषय में जो वृत्तान्त सुनाए थे, वह सब इस बड़ी पुस्तक में लिपिबद्ध हैं। इस पुस्तक में बुद्ध जी के अपने कथन के अनुसार वह पहले किसी अतीत काल में सुमेध नामक ब्राह्मण थे। उसी काल में उन्हें हज़ारों देवताओं और मनुष्यों के साथ, दीपंकर नामक एक "बुद्ध" के दर्शन हुए, जिसने उनके आगामी काल में बुद्ध होने के विषय में अपनी भविष्यवाणी सुनाई। इस वाणी के निकलते हि सारी धरती और सारे आकाश में वह सब **अलौकिक घटनाएं** उत्पन्न हुई, कि जो किसी के बुद्ध बनने पर प्रगट हुआ करती हैं। उनकी यह सब घटनाएं एक ओर जैसे पूर्णतः कल्पित हैं, वैसे हि दूसरी ओर नेचर के

अटल नियमों के विरुद्ध होने के कारण **पूर्णतः मिथ्या** भी हैं, और इसी लिए झूठी गप्पों के भिन्न और कुछ नहीं। और जैसे बाइबेल और पुराण आदि नाना ग्रन्थों में "सर्वज्ञ ईश्वर" और "त्रिकालज्ञ ऋषियों" की वनाई हुई नाना मिथ्या कहानियां लिखी हुई हैं, वैसे हि "जातक" भी महात्मा बुद्ध की बताई हुई सैकड़ों मिथ्या कहानियों से भरी हुई है।

कोलम्बो के "बुधिष्ठ" नामक एक समाचार पत्र ने एक बार यह प्रकाशित किया था, कि एक युवा ब्राह्मण जिस का नाम शुभा था, महात्मा बुद्ध के पास गया, और उनसे उसने पूछा कि क्या कारण है, कि इस पृथिवी में कोई मनुष्य धनी है कोई निर्धन, कोई बहुत दिन जीता है कोई थोड़े दिन, कोई रोगी रहता है कोई निरोग। इन प्रश्नों के उत्तर में महात्मा बुद्ध ने कहा कि :—

(१) "यदि कोई मनुष्य श्रामणों अर्थात् बौद्ध प्रचारकों को अन्न जल और वस्त्र आदि न देता हो, तो ऐसे कर्म्म से वह निर्धन वा कंगाल हो जाता है, और यदि देता हो, तो बहुत धनी हो जाता है।"

अब यह केवल **मिथ्या कल्पना** है। क्या यह सच नहीं, कि भारत-वर्ष और अन्य देशों में ऐसे सैकड़ों लोग वर्तमान हैं, कि जो बहुत धनी हैं परन्तु वह "श्रामणों" को कोई अन्न जल वा वस्त्र आदि नहीं देते ? हां, कितने हि ऐसे कंजूस हैं, कि किसी को भी कुछ दान नहीं करते, परन्तु फिर भी वह धनी रहते हैं। इसी प्रकार कितने हि जन अपनी अवस्था के अनुसार किसी न किसी साधु वा अतिथि की सेवा भी करते रहते हैं, परन्तु ऐसा करने से वह धनी नहीं बन जाते। इस के भिन्न क्या दान वा परसेवा करने का अभिप्राय यही है, कि मनुष्य (यदि ऐसा सम्भव भी हो) धनवान बन जाय और बस ? कदापि नहीं।

आगे चलकर लिखा है:—

(२) "यदि कोई मनुष्य निर्दय हो, जीवों को मारता और वध करता हो, तो ऐसे कर्म्मों से वह थोड़ी आयु पाता है, और जो जन जीव वध न करता हो, लाठी और तलवार को काम में न लाता हो, दयावान

हो, और जीवों पर दया करता हो, वह दीर्घ आयु लाभ करता है।"

अब यह दूसरी **मिथ्या कल्पना** है। क्या यह सच नहीं, कि कितने हि शिकारी और मांसाहारी और निर्दय लोग अल्प आयु के स्थान में दीर्घ आयु लाभ करते हैं, और कितने हि उद्भिद्-भोजी और दयालु जन थोड़ी वयस में हि मर जाते हैं ?

फिर लिखा है:—

(३) "यदि कोई मनुष्य जीवों को हाथ, वा पत्थर वा लाठी वा तलवार के द्वारा दुःख पहुंचाता हो, तो इस कर्म्म से वह कई प्रकार के रोगों से रोगी बन जाता है, और जो इस प्रकार दुःख नहीं पहुंचाता, वह सुस्थ और निरोग रहता है।"

यह भी सारी **मिथ्या कल्पना** है। सैकड़ों लोग ऐसे पाए जाते हैं, कि जो हाथ, पत्थर, लाठी वा तलवार से किसी जीव को क्लेश नहीं पहुंचाते, परन्तु वह कई प्रकार के रोगों से दुःखी पाए जाते हैं।

इसी प्रकार "पुनर्जन्म" के विषय में उन्होंने उस समय की बहुत सी प्रचलित कहानियों को अपने सम्बन्ध में प्रयुक्त कर लिया था।

जैन तीर्थङ्करों की भी यही दशा थी। वह भी **पुनर्जन्म** के भिन्न नाना प्रकार के अन्य **मिथ्या विश्वास** रखते थे, और ऐहिक और पारत्रिक **दुःखों** से मोक्ष और **योग-समाधि** विषयक **शान्ति** और **आनन्द** की प्राप्ति हि अपना **परम लक्ष्य** समझते थे। ब्रह्मवादी शंकर, और गोरख आदि अन्य योगियों का भी इसी प्रकार का प्रचार था। मूसा, ईसा, मुहम्मद, रामानुज, नानक, कबीर, चैतन्य, दादू आदि पुराने और राममोहन, केशव और रामकृष्ण आदि नए निराकार और साकार ईश्वरवादी महात्मागण नाना **मिथ्या मतों** के विश्वासी होकर या तो परलोक में कल्पित ईश्वर के कोप और उसके स्थापित विविध कल्पित नरक विषयक **दुःखों से मोक्ष** पाना अथवा ईश्वर आज्ञा विषयक कुछ नियत आदेशों को भंग करने से किसी अन्य प्रकार के **दंड** से (क्षमा प्रार्थनादि के द्वारा) **उद्धार** लाभ करना, या किसी एक वा दूसरे प्रकार के **कल्पित स्वर्ग** में **आनन्द** पाना, या ईश्वर प्रेम और सहवास विषयक

किसी **आनंद** को प्राप्त होना, मनुष्य का **परम लक्ष्य** समझते थे। आर्य्य समाज के संस्थापक " महात्मा " तो जैसे एक वा दूसरे देशव्यापी **मिथ्या** विश्वास का प्रचार करना अपना **कर्तव्य** कर्म्म समझते थे, वैसे हि देशव्यापी मिथ्या संस्कार के अनुसार "पुनर्जन्म" विषयक **दुःखों** से निवृत्ति और यहां और परलोक में **सुखों** की प्राप्ति को हि मनुष्य का **लक्ष्य** वताते थे।

बात यह है, कि मनुष्य जगत् के विकाश में यह सब लोग जिस २ योग्यता को प्राप्त हुए थे, उसे पाकर वह यही कुछ हो सकते थे। इससे अधिक कुछ नहीं। इसी लिए उन सब के परम लक्ष्य से **मेरा परम लक्ष्य पूर्णत: निराला था।**

क्लेश जनक वैध कर्म्मों के ग्रहण करने का नाम **तप वा तपस्या** है। तप के सम्वन्ध में कहा गया है, कि

"तपोभिः प्राप्यतेऽभीष्टं नोसाध्यं हि तपस्यतः।"

अर्थात्–तप से हर एक अभीष्ट की सिद्धि होती है, तप से कुछ असाध्य नहीं।

फिर और भी कहा गया है :—

"तपसा लभते सर्व्वं।"

अर्थात्–तप से सब कुछ लाभ होता है।

यदि कोई अभीष्ट असाध्य न हो, और उसके लिए किसी मनुष्य में पूर्ण अनुराग वर्तमान हो, और उसकी सिद्धि के लिए जिस २ तप वा त्याग के ग्रहण करने की आवश्यकता है, उसके ग्रहण करने की योग्यता भी विद्यमान् हो, तो फिर वह उस अभीष्ट में निश्चय सफल काम हो सकता है। ऊपर जिस प्रकार के "महात्माओं" का उल्लेख किया गया है, उनके मुख्य अभीष्ट वा लक्ष्य से जैसे मेरा मुख्य अभीष्ट वा **लक्ष्य** वा **व्रत पूर्णतः निराला और अद्वितीय था,** वैसे हि मेरा **तप** भी निराला और अद्वितीय था।

अपने इस **अद्वितीय व्रत** की सिद्धि के निमित्त मैंने

(१) जितने काल तक और जिस २ प्रकार का उत्पीड़न विषयक

महा हार्दिक कष्ट और दुःख सहा है;

(२) शारीरिक स्वास्थ, धन, मान, प्रतिष्ठा, मित्रता और पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्ध विषयक नाना प्रकार का महा त्याग स्वीकार किया है;

(३) पारिवारिक और अन्य जनों से पारिवेष्टित होकर परन्तु उनके सब नीच प्रभावों पर **विजयी** रहकर ध्यान योग और विचार विषयक जिस २ प्रकार का महा कठिन साधन किया है, और मानसिक महा परिश्रम के द्वारा लेख और उपदेश आदि विषयक जितने प्रकार का और जितना काम किया है;

(४) विश्वगत प्रत्येक जगत् के सम्बन्ध में अपने आपको सब प्रकार के **अहित** और **असत्य** से निर्मल वा शुद्ध रखने और प्रत्येक जगत् के हित साधन में लगातार **रत** रहकर **सत्य** के अनुसन्धान में जिस प्रकार का महा संग्राम किया है;

उस सब का सन्मुख लाना यदि किसी मनुष्य के लिए सम्भव हो, तो वह जान सकता है कि मेरा यह सब **तप** भी मेरे अद्वितीय व्रत की न्याईं **अद्वितीय** हुआ है।

इकत्तीसवां परिच्छेद

सत्यधर्म्म को परिभाषा और फ़िलासफ़ी

मैंने सच्चे अर्थ में **सिद्धार्थ** होकर अपने आप को जितना धन्य २ और **कृतार्थ** बोध किया, उसका वर्णन नहीं होसकता। धर्म्म की विज्ञान-मूलक भित्ति के विषय में चार महा तत्त्वों के प्रकाश ने मुझ पर जिस प्रकार से धर्म्म के सत्य पथ को खोल दिया, और उसकी आवश्यकता को मुख्य और अटल रूप में प्रगट किया, उसकी महिमा गाई नहीं जा सकती। धर्म्म वा मज़हब वा दीन वा रिलीजन की अब तक जितनी भिन्न २ और कल्पित परिभाषाएं प्रचलित थीं, उनके स्थान में प्रकृत धर्म्म के प्रकाशार्थ मनुष्यमात्र के लिए उसकी एक, सत्य और विज्ञान-मूलक परिभाषा स्थिर होगई। अब धर्म्म नाना मनुष्यों के मुखों से नाना प्रकार की गप्पों की चीज़ न रहा, किन्तु मनुष्यमात्र के लिए एक परि-भाषा की चीज़ बन गया। सत्य धर्म्म क्या है ? इस प्रश्न का अब विज्ञान-सम्मत केवल यही उत्तर होसकता है, कि :—

विश्व का अंश होकर मनुष्य उसके नाना विभागों के सम्बन्ध में अपनी (१) अज्ञानता और (२) नाना वासनाओं (३) उत्तेजनाओं और (४) अहं शक्तियों का दास कोकर जो २ **नीचगति** ग्रहण करता है; और उनके द्वारा उनकी हानि करने के भिन्न अपने आत्मा के रूप और बल को दिनों दिन **क्षय** करके जिस विनाश को प्राप्त होता है, उससे **मोक्ष** पाने और जिन २ **उच्चशक्तियों** को लाभ करके वह उन विभागों के सम्बन्ध में अपने आत्मा के रूप और बल को विकशित और उनके साथ विकाशकारी **एकता** स्थापन करने के योग्य बन सकता है, उनकी प्राप्ति से उसमें जिस उच्च और महान् जीवन की उत्पत्ति होती है, वही पूर्णांग उच्चजीवन **सत्यधर्म्म** है।

पूर्णांग सत्यधर्म्म की शक्तियों को प्राप्त होकर हि आत्मा की गठन पूर्ण होती है, और वह विनाशकारी गतियों की पहुंच से बाहर हो जाता है। यही **देवजीवन** है, और यही **देवधर्म्म** है।

सत्य और हित विषयक नाना अनुराग और असत्य और अहित विषयक नाना विराग शक्तियों को प्राप्त होकर हि यह देवधर्म्म वा देव-जीवन लाभ होता है। इसी जीवन को लाभ करके देवात्मा अपनी देव-शक्तियों के द्वारा जहां तक सम्भव हो, विश्व के प्रत्येक विभाग तक अपने उच्च प्रभावों को पहुंचाकर उसमें उच्चगति-मूलक परिवर्तन उत्पन्न करता है और नीचगति-मूलक परिवर्तन को दूर करता है, और इससे आप भी दिनों दिन उच्च विकाश लाभ करता है। वह विश्व के प्रत्येक विभाग के साथ विकाशकारी एकता वा मेल स्थापन करके उसके इस महान् लक्ष्य में उसका सच्चा **सहकारी और सेवक** और विश्व का विकाश लक्ष्य सम्पादक प्रत्येक खण्ड **उसका** रक्षक और सहायक बन जाता है। दोनों का कैसा सुन्दर सम्मेलन ! मनुष्य जीवन और सत्य-धर्म्म की कैसी गूढ़ और महान् फ़िलासफ़ी !!

बत्तीसवां परिच्छेद

मेरा जीवन संगीत और महा वाक्य

अपने अद्वितीय व्रत साधन में सिद्धार्थ होकर मैंने अपने ४८वें जन्म-महोत्सव सम्बन्धी महा सभा में गाने के लिए जो जीवन संगीत रचा था, वह अपने भावार्थ के विचार से इस प्रकार का था :—

[मेरा जीवन संगीत]

जीवन व्रत मेरा पूरन हो।
विश्व के सकल विभागों में हि,
उच्चगतिप्रद परिवर्तन हो;
नीचगति दिन २ चूरन हो,
उच्चमेल सब अस्थापन हो। १
जीवनतत्त्व की ज्योति फैले,
जीवन रस/बल चहुं दिग वितरन हो;
अधिकारी जन उच्च बनें सब,
विकाश की महिमा कीर्तन हो। २
देवशास्त्र की सब शिक्षा का,
विधि सह सच्चा शुभ साधन हो;
देश २ औ' नगर २ में,
महा वाक्य का उच्चारण हो। ३
देवसमाज हो उन्नत दिन २,
धर्म्म राज नित विस्तीरन हो;
जो २ अधर्म्म वह सब क्षय हो,
देवधर्म्म की जय २ धुन हो। ४

(अर्थ)

मेरा जीवन व्रत पूरा हो। मेरे द्वारा विश्व के सारे विभागों में जहां तक उच्चगतिप्रद परिवर्तन आसकता हो, वह आता जाय; और जहां तक नीचगतियां दूर हो सकती हों, वह दूर होती रहें; और उनमें उच्चगतिमूलक सब प्रकार का मेल स्थापन हो। मनुष्य-जगत् में मेरी जीवन-तत्त्व-प्रदर्शक-ज्योति और मेरे उच्च भावों का जीवनप्रद रस और बल चारों ओर वितरन हो। उन्हें पाकर अधिकारी जन उच्च बनें, और वह विकाश की महिमा गाएं। मेरे देवशास्त्र की सारी शिक्षा का विधि पूर्वक सच्चा और शुभ साधन हो, और देश २ और नगर २ के अधिवासी मेरे महा वाक्य का उच्चारण करें। देवसमाज दिनों दिन उन्नत हो, उसकी उन्नति के साथ २ धर्म्म का राज्य विस्तीर्ण हो, और जो २ कुछ अधर्म्म है, वह सब क्षय हो, और देवधर्म्म की चारों ओर से जय ध्वनि हो।

उस समय से लेकर आज तक मैं प्रति दिन अपने प्रातः काल के साधन में पहले इसी जीवन संगीत को गाता रहा हूं। इस संगीत में जिस २ प्रकार की आकांक्षा भरी हुई है, उस प्रकार की आकांक्षा से परिपूर्ण कोई संगीत मेरे आविर्भाव से पहले इस पृथिवी ने नहीं सुना था।

(मेरा महा काव्य)

मेरे इस जीवन संगीत में जिस महा वाक्य की ओर संकेत किया गया है, वह यह था:—

ओं

उच्चगति, उच्चगति,

एकता, एकता,

परम एकता।

ओं, शब्द तीन अक्षरों से बना है, अर्थात् अ, उ, म। अ, से यदि अस्ति, उ, से उत्पत्ति और म, से मृत्यु का अर्थ लिया जाय, तो यह शब्द **विश्व** वाचक बन जाता है, क्योंकि विश्व की अस्ति सदा से है और

सदा रहती है। और उसके गठनकारी दोनों पदार्थों अर्थात् जड़ और शक्ति में परिवर्तन के महा नियम के अनुसार उत्पत्ति वा विकाश और मृत्यु वा विनाश का कार्य्य सदा जारी रहता है।

फिर सत्य और हित विषयक जिन नाना अनुरागों की उत्पत्ति से मनुष्यात्मा में उच्च गतियों की उत्पत्ति होती है, उनके विकाश से जहां एक ओर उसकी नीचगतियां विनष्ट होती हैं, और उनके विनाशकारी अधिकार से उसे सच्ची **मोक्ष** प्राप्त होती है, वहां दूसरी ओर विश्व के प्रत्येक विभाग के साथ उसकी विकाशकारी **एकता** स्थापन होने से पूर्ण विश्व के साथ **परम एकता** स्थापन होती है।

देवात्मा का आविर्भाव विश्व के नाना विभागों के साथ उच्च-गति-मूलक सम्बन्ध उत्पन्न करके इसी एकता वा परम एकता को स्थापन करता है। इसलिए इस महा लक्ष्य का प्रकाशक उपरोक्त वाक्य **महा वाक्य** कहे जाने के योग्य हुआ।

तेतीसवां परिच्छद

विज्ञान-मूलक मत

संवत् १९५६ अर्थात् अपनी वयस के ४९वें साल में मैंने उर्दू में एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम "विज्ञान-मूलक-मत और कल्पना-मूलक-मत" था। यह पुस्तक संवत् १९५७ अर्थात् १९०० ई० में छाप कर प्रकाशित की गई। यह अपने ढंग की बिल्कुल नई और अनोखी किताब थी। इस के पहले अध्याय में विज्ञान-मूलक-मत का संक्षिप्त वर्णन था। दूसरे अध्याय में नाना कल्पना-मूलक प्रचलित मतों का उल्लेख था।

इन कल्पित धर्म्म मतों के विश्वासियों में वेदान्ती, जैनी, योगी, ईसाई, मुसलमान, ब्राह्मो, आर्य्य, वाममार्गी और इनके भिन्न बलि-दान, नाम स्मरण, जल विशेष में स्नान, मूर्तिदर्शन, चिह्नधारण आदि के द्वारा मोक्ष मानने वाले आदि सभी लोग शामिल थे। तीसरे अध्याय में नीचवासनाओं और उत्तेजनाओं के अधिकार और चौथे में उन दो बड़ी रोकों का वर्णन किया गया था, कि जिन के कारण विज्ञान-मूलक-धर्म्म के ज्ञान से लोग वंचित रहते हैं। इस पुस्तक के पहले अध्याय में से जो विज्ञानमूलक-मत के विषय में है, बहुत बड़ा भाग हिन्दी में अनुवाद करके कुछ आवश्यक परिर्वतन के बाद नीचे दर्ज किया जाता है :—

अंग्रेज़ी भाषा में जिसे **सायंस** कहते हैं, उसी को संस्कृत में **विज्ञान** कहते हैं। नेचर के नाना विभागों के अनुसन्धान में **सत्य** (फ़ैक्ट) को मुख्य रखकर मनुष्य ने जो २ कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, वही ज्ञान **सायंस** में शामिल है। और ऐसे कुल ज्ञान के आधार पर उसने प्रकृति के नाना प्रकार के कार्य्यों में उसके जो २ **अटल नियम** वा तत्त्व मालूम

किए हैं, वही नियम वा तत्त्व सच्चे और सही होने के कारण स्वीकार किए जाने के योग्य हैं।

नेचर एक है। सायंस बहुत से हैं। परन्तु उनके सच्चे नियम वा तत्त्व, जैसी कि आशा करनी चाहिए, केवल यही नहीं कि आपस में विरोधी नहीं, किन्तु एक दूसरे के समर्थनकारी हैं।

एक ओर योग्य वैज्ञानिकों के अधिक संख्या में **बढ़ जाने** और दूसरी और किसी वैज्ञानिक अनुसन्धान में प्रवृत्त होने के लिए **सच्चे मूल तत्त्वों** के स्थिर होजाने से, इस काल में नाना सायंसों के ज्ञान में बहुत बड़ी और निहायत आश्चर्य्यजनक उन्नति हुई है। इस उन्नति के द्वारा वह अटल नियम मालूम हुए हैं कि जो सारे विश्व में रात दिन काम करते हैं, और जिन का नाम **विकाश** और **विनाश** है। परिवर्तन का महानियम इन दोनों का प्रकाशक है।

नेचर के इन दोनों नियमों का आविष्कार तत्त्व वेत्ताओं के सैकड़ों वर्षों के परिश्रम का बहुत बड़ा पुरस्कार और इस काल का अद्वितीय और अमूल्य लाभ है। यह वह अटल नियम हैं, कि जिन्हें अब हर एक सायंस के सुयोग्य ज्ञाता हृदयगत सन्मान के साथ स्वीकार करते हैं, और उनकी सच्चे दिल से महिमा गाते हैं।

विज्ञान ने धीरे २ इस क़दर महिमा क्यों प्राप्त की ? इसलिए कि वह **सत्य** का साथी था, न कि **मिथ्या कल्पना** का। जहां सत्य बात केवल एक होती है, वहां नाना जनों की कल्पना भिन्न २ होती है। इसीलिए इस पृथिवी में कल्पनामूलक जिस क़दर मत वा विश्वास प्रचलित चले आते हैं, वह जैसे एक ओर नाना बातों में एक दूसरे से भिन्न २ और कितनी हि बातों में एक दूसरे के पूर्णतः विरोधी हैं, वैसे हि दूसरी ओर वह कोई विज्ञानमूलक अटल और सच्ची बुनियाद भी नहीं रखते।

विज्ञान विषयक प्रति दिन के बढ़ने और फैलने वाले सत्यज्ञान ने नाना सम्प्रदायों के बड़े २ समूहों में **हलचल** पैदा कर दी। जब तक विज्ञान ने बहुत उन्नति लाभ नहीं की थी, तब तक वह लोग उसे गालियां

देकर बुरा कहकर और घृणा किए जाने की वस्तु ठहराकर, अपना काम चलाते रहे; उसके सत्य सिद्धान्तों को अपने कल्पित और झूठे मतों के विरुद्ध देखकर उसकी ओर दांत पीसते रहे, और जो लोग उसके साथी और पक्षपाती होते, उन पर धर्म्म के नाम से सख़्त से सख़्त अभियोग लगाकर उन्हें नाना प्रकार से सताते और क्लेश पहुंचाते रहे, परन्तु फिर भी उसकी प्रबल रूप से बढ़ती हुई महिमा को कम न कर सके। इसलिए धीरे २ वह ऐसी अवस्था में पहुंच गए कि जिसमें पहुंच कर उन्होंने उसे कोसना छोड़ दिया, और फिर एक काल में जब कि उसकी महिमा और भी अधिक बढ़ गई, तब यह लोग भी आख़िरकार उसके **गुण** गाने के लिए मजबूर हुए। परन्तु अपने धर्म्म मतों की तरफ़ से वह पहले की न्याईं **अन्धे** और उनके धर्म्ममत पहले की न्याईं **कल्पना-मूलक** बने रहे। फिर जब विज्ञान का इतना दबदबा बैठ गया, कि उसका नाम चारों ओर से सन्मान के साथ पुकारा जाने लगा, तब कुछ सम्प्रदायों ने आंय बांय शांय के साथ यह कहना आरम्भ किया कि हमारा मज़हब विज्ञान की शिक्षा के विरुद्ध नहीं, किन्तु उसके पूर्णतः अनुकूल है। परन्तु शोक ! कि वह इस सत्य के देखने और स्वीकार करने के योग्य न होसके, कि जिस धर्म्म मत की बुनियाद कल्पना पर हो, और उन अटल नियमों पर न हो, कि जिनको विज्ञान स्वीकार करता है, वह विज्ञान-मूलक **नहीं** होसकता।

विनाश और विकाश के दो अटल और विश्वव्यापी नियमों को पहचान कर मनुष्य साफ़ देख सकता है, कि जब वह नियम विश्व के प्रत्येक विभाग में काम करते हैं, तब उसका अपना अस्तित्व भी उनके कार्य्य से कदापि बाहर नहीं होसकता, और वह अपने अस्तित्व में उनके कार्य्य की ओर से उदासीन नहीं रह सकता। हां, केवल यही नहीं, कि जिसके सन्मुख इनका असल रूप प्रकाशित हो, वह अपने अस्तित्व पर उनके कार्य्य की ओर से बेपरवाह नहीं रह सकता, किन्तु उनके विषय में सत्य ज्योति पाकर वह यह भी जान सकता है, कि इन अटल नियमों से अज्ञात रहकर एक वा दूसरे धर्म्म

सम्प्रदाय के लोग आत्मा के जीवन के विषय में जिस २ प्रकार के विश्वास रखते हैं, वह कैसे **बेबुनियाद** हैं।

उपरोक्त नियमों और उनके साथ २ जीवन तत्त्व विषयक ठीक ज्योति के प्राप्त होने से मनुष्य के सन्मुख बिलकुल एक **नई दुनिया** खुल जाती है। और वह साक्षात् रूप से देखता है, कि वह सत्य धर्म्म के विचार से पहले बिलकुल **अन्धा था,** और अंधेरे में भटकता फिरता था। विद्वान् था, धनवान था, विख्यात था, चतुर था; परन्तु अपने अस्तित्व के बिगड़ने और बनने के असल और सच्चे ज्ञान के विचार से बिलकुल **बेसुध** और **मूर्ख** था, और भयानक **भ्रान्ति** में ग्रस्त था। और वह किसी मज़हब वा धर्म्म की शिक्षा के नाम से जिन २ नाना बातों पर विश्वास रखता था, वह कैसी मिथ्या थीं, और इससे भी बढ़कर वह कितनी हि सूरतों में उसके लिए कैसी **हानिकारक** थीं। और जिस प्रकार एक २ जन किसी शारीरिक रोग के समय किसी ग़लत ओषधि के ग्रहण करने से चाहे वह कैसी हि भली नीयत से खाई गई हो, अपनी स्वास्थ को पहले की अपेक्षा और भी अधिक **ख़राब** कर लेता है, उसी प्रकार उसने भी अपने कल्पित और कई सूरतों में निहायत हानिकारिक विश्वासों के कारण अपनी आत्मिक गठन को बहुत **बरबाद** कर लिया है।

फिर उस पर यह तत्त्व भी भली भान्त प्रगट हो जाता है, कि दुनिया के कुल प्रचलित धर्म्म-मतों की इमारतें जिस २ प्रकार की बुनियादों पर रक्खी गई हैं, वह कैसी कुछ कल्पित और ख़्याली हैं। और वास्तव में मज़हब वा धर्म्म की असल और अटल बुनियाद वही हो सकती है, और वही है कि जो उपरोक्त **अटल नियमों** पर स्थापित है।

अब जिस अवस्था में मनुष्य जीवन के बनने और बिगड़ने के साथ उपरोक्त दोनों नियमों का अटल सम्बन्ध है, तब उसके विषय में जो कुछ **सत्य** शिक्षा हो, वही **सत्य धर्म्म की शिक्षा** और जो ऐसी शिक्षा देता हो, वही **सत्य धर्म्म का शिक्षक** है। इस सत्य धर्म्म के शिक्षक ने इस दुनिया को धर्म्म की वह बुनियाद और वह फ़िलासफ़ी दी है, कि जो आज तक किसी ने नहीं दी थी, और जो सचमुच **विज्ञान-मूलक** है।

इस फ़िलासफ़ी के मिल जाने से पहली धर्म्म शिक्षा की सारी काया पलट जाती है और मनुष्य जगत् में एक नया युग आरम्भ होता है। इस नए **धर्म्म शिक्षक** की नई ज्योति में मनुष्य ऐसा **धर्म्म** लाभ करता है, कि जो **विज्ञानमूलक** है, और जिस विज्ञानमूलक सच्चे धर्म्म को वह कल्पनामूलक कुल धर्म्म वा मतों से भली भान्त **अलग** पहचान सकता है, और अपने लिए एक ऐसी भलाई और बरकत का भंडार खुला हुआ पाता है, कि जिसकी कोई सीमा नहीं; और जिसका मुंह आज तक कभी उस पर नहीं खुला था।

शरीर और जीवनी शक्ति को लेकर हि मनुष्य का कुल अस्तित्व है। जीवनी शक्ति के बिना उसका न कोई शरीर बनता है और न जीवित रहता है। मनुष्य में इसी जीवनी शक्ति का दूसरा नाम आत्मा है। मनुष्य के अस्तित्व में यही आत्मा सार पदार्थ है, क्योंकि उसी के रहने से वह जीवित रह सकता है, और जीवित रहकर हि वह किसी एक वा दूसरे प्रकार के सुख पाने की आशा भी कर सकता है। इसलिए **आत्मा के जीवन विषयक तत्त्व ज्ञान** से जो जन शून्य हो, वह चाहे कोई हो—राजा हो, रानी हो, बादशाह हो, बेगम हो, सौदागर हो, नौकर हो, पंजाबी हो, हिन्दुस्तानी हो, इण्डियन हो, यूरोपियन हो, निश्चय बहुत बड़ा अभागा और कृपा पात्र है।

आत्मा के जीवन के विषय में जो विद्या है, उससे बढ़कर कोई विद्या नहीं। इस विद्या को छोड़ कर और जितनी विद्याएं हैं वह उसे अपनी असल अवस्था के विचार से विलकुल **अन्धा** और **बेसुध** रखती हैं। शोक और महा शोक! हमारे चारों ओर लाखों और करोड़ों आत्मा ऐसे फिर रहे हैं कि जो अपने शरीर के भिन्न (और वह भी बहुत थोड़ी सीमा तक) अपने आत्मा की अवस्था की ओर से बिलकुल बेहोश हैं!! उन्हें पता नहीं कि आत्मा क्या, और उसका जीवन क्या!! उन्हें कुछ मालूम नहीं कि **जीवन-विद्या** क्या, और **जीवन दाता** क्या!!

आह! इस अंधकार से केवल वही जन आवृत्त नहीं हैं, कि जो विद्या-विहीन अथवा अनपढ़ हैं। यह बेसुधी केवल उन्हीं में पाई नहीं

जाती, कि जो इस वा उस धर्म्ममत पर विश्वास करते हैं; किन्तु जिधर देखो उधर प्रत्येक श्रेणी के लोगों में यह महा भयानक और हानिकारक **बेसुधी** फैली हुई है।

विज्ञानमूलक सत्य धर्म्म की ज्योति से ज्योतिर्मान होकर किसी जन के लिए किसी कल्पना-मूलक असत्य धर्म्म वा उसके किसी विश्वास को पहचान लेना वहुत कठिन नहीं रहता; क्योंकि वह स्पष्ट रूप से देखता है, कि जिस किसी धर्म्म के किसी विश्वास वा उसकी किसी शिक्षा आदि का जीवात्मा की नीचगतियों से मोक्ष और उसके उच्च विकाश से कुछ सम्बन्ध न हो, अथवा वह शिक्षा उसे नीच बनाने में मददगार और उसके विकाश में रोक बनती हो, वह सब कल्पित और हानिकारक है।

यही विज्ञान-मूलक धर्म्म **देवधर्म्म** है, कि जिसका देवधर्म्म प्रवर्तक में विकाश हुआ है। प्रत्येक अधिकारी आत्मा तक वह अपनी ज्योति पहुंचा कर जैसे एक ओर उसे जीवन का ठीक और सच्चा मार्ग दिखलाते हैं; वैसे हि दूसरी ओर उसे अपनी नीचगतियों से उद्धार पाने और उच्चजीवन में विकाश पाने के लिए जिन २ बोधों की आवश्यकता है, उन्हें भी अपनी शक्ति के द्वारा उत्पन्न और उन्नत करते हैं। और अपनी इस ज्योति और शक्ति के द्वारा मनुष्य को इसी दुनिया में नीच से नीच अवस्था से निकाल कर उच्च अवस्था की ओर ले जाते हैं, और उस पर उसके अस्तित्व वा जीवन का वह **सच्चा और असल लक्ष्य** प्रकाश करते हैं, कि जो बिना उनकी ज्योति के बड़े २ विद्वानों और बुद्धिमानों पर प्रकाशित नहीं होता। और उस पर उन कुल हितों का भंडार खोलते हैं कि जिन की तुलना में दुनिया की प्रत्येक वस्तु और दुनिया का कुल राज्य तुच्छ है।

चौंतीसवां परिच्छेद

कल्पना और कल्पना-मूलक धर्म्म मत

भाद्र सं० १९५९ और वैशाख सं० १९६० में मैंने अपने **"जीवन पथ"** नामक पत्र में "कल्पना और कल्पना-मूलक धर्म्म मतों" के सम्बन्ध में कई निबन्ध लिखे थे। उनमें से कुछ आवश्यक भाग उद्धृत और दुरुस्त करके नीचे दर्ज करता हूं :—

प्र०—कल्पना किसे कहते हैं ?

उ०—मनुष्य की विविध मानसिक शक्तियों में से एक का नाम कल्पना शक्ति है। इस शक्ति के द्वारा मनुष्य मन २ में सैकड़ों ख़याली बातें घड़ सकता है। जिन राक्षस और परियों आदि विविध प्रकार की कहानियों को सुनकर बच्चे बहुत ख़ुश होते हैं, और कितनी हि अन्य मिथ्या कहानियों पर लाखों और करोड़ों लोग विश्वास करते हैं, वह कहानियां इसी **कल्पना शक्ति** से उत्पन्न हुई हैं। तुम ने शायद शेख़-चिल्ली की कहानी सुनी होगी। कहा जाता है कि किसी बाज़ार में एक मज़दूर खड़ा हुआ था, उसका नाम शेख़चिल्ली था। एक मनुष्य ने दो रुपए का घी मोल लिया और शेख़चिल्ली से पूछा, कि क्या तू यह घी की हांडी हमारे घर पहुंचा देगा ? उसने कहा हां, एक आना लेकर पहुंचा दूंगा। हांडी उसके सिर पर रक्खी गई। शेखचिल्ली ने अपनी कल्पना शुरू की। उसने इस एक आने के पैसों से मन २ में एक दो मिनट में कई प्रकार की चीज़ों का सौदा करते २ बहुत सा धन कमा लिया। फिर धनी हो जाने पर ख़याल २ में उसने अपना विवाह भी कर लिया। इसी ख़याल २ में उसके दो-तीन बच्चे भी हो गए। बड़ा बेटा "अब्बा २" कहता हुआ उसके पास आया, और उसका हाथ खैंच कर कहने लगा, "चलो अब्बा, मां बुलाती है, खाना तैयार है।" लड़के

के हाथ खेंचने से शेखचिल्ली ख़फा होकर बोला, "क्या कहता है नामुराद ! मैं अभी नहीं आ सकता।" यह कहते हि शेखचिल्ली का सिर हिला, और घी का बर्तन गिर कर चकनाचूर हो गया। सारा घी नष्ट हो गया। घी के मालिक ने अपनी इस हानि को देखकर उसे दो चार गालियां दीं, और उसके एक दो मुक्के भी लगाए। परन्तु शेख-चिल्ली उसे बार २ यही कहता रहा, "तुम्हारा तो केवल दो रुपए का घी चला गया, पर मेरा तो बसा बसाया सारा घर हि उजड़ गया।" अब तुम समझे कि कल्पना शक्ति क्या होती है, और उसके द्वारा आदमी अपनी चिन्ता २ में क्या कुछ घड़ लेता है ?

प्र०—आप धर्म्म मतों के सम्वन्घ में इस मिथ्या कल्पना के कुछ दृष्टान्त दे सकते हैं ?

उ०—बहुत। इस पृथिवी के नाना सम्प्रदायों में धर्म्म के नाम से जो २ मत वा विश्वास प्रचलित हैं, वह इतनी कल्पनाओं से भरे हुए हैं, कि उनका पूर्ण रूप से वर्णन करना हि प्राय: असम्भव है। परन्तु उनकी और बातों को छोड़कर, उनके मूल विश्वासों की हि परीक्षा करने से पता लग सकता है, कि वह कैसे कुछ कल्पित हैं, यथा :—

(१) विश्व की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में नाना प्रकार के मिथ्या विश्वास।

(२) उपास्य देवताओं के सम्बन्ध में नाना प्रकार के मिथ्या विश्वास।

(३) विशेष २ धर्म्म पुस्तकों के सम्बन्ध में नाना प्रकार के मिथ्या विश्वास।

(४) मोक्ष के सम्बन्ध में नाना प्रकार के मिथ्या विश्वास।

(५) पाप और पुण्य के विषय में नाना प्रकार के मिथ्या विश्वास।

(६) उपासना वा पूजा के सम्बन्ध में नाना प्रकार के मिथ्या विश्वास।

(७) आत्मा के सम्बन्ध में नाना प्रकार के मिथ्या विश्वास।

(८) परलोक के सम्बन्ध में नाना प्रकार के मिथ्या विश्वास ।

(९) स्वर्ग और नरक के सम्बन्ध में नाना प्रकार के मिथ्या विश्वास ।

(१०) मनुष्य जीवन के लक्ष्य के सम्बन्ध में नाना प्रकार के मिथ्या विश्वास । इत्यादि ।

प्र०—क्या आप इन मिथ्या विश्वासों के सम्बन्ध में कुछ दृष्टान्त दे सकते हैं ?

उ०—बेशक । मनु संहिता में, जो स्मृतियों में सब से पुराना धर्म्म शास्त्र है, विश्व की उत्पत्ति के विषय में इस प्रकार लिखा है :—

परमेश्वर ने पहले जल उत्पन्न किया । फिर इस जल में अपने तेज का एक बीज डाल दिया । वह बीज सोने का सा अण्डा बन गया । उस अण्डे को तोड़कर उसमें से ब्रह्मा जी नामक एक पुरुष निकल आए । उन्होंने अण्डे के एक टुकड़े से स्वर्ग और दूसरे से भूमि बना दी । ब्रह्मा जी से विराट् और विराट् से मनु उत्पन्न हुए । ब्रह्मा जी से हि इन्द्र आदि देवता और तीन वेद ज़ाहिर हुए । ब्रह्मा जी का एक दिन हमारे करोड़ों वर्षों के बराबर होता है । रात भी ऐसी हि लम्बी होती है । उनके दिन में यह विश्व उत्पन्न और प्रकाशित होता है, उनकी रात में (जब वह सो जाते हैं) यह सारा विश्व प्रलय को प्राप्त होता है ।

यह एक प्रकार की मिथ्या कल्पना है । अब दूसरी सुनो । यह दूसरी गप्प पण्डित दयानन्द जी ने अपनी पुस्तक "सत्यार्थ प्रकाश" के सब से पहले संस्करण में लिखी है । उनका बयान है, कि यह सब कुछ उन्हों ने वेदों की शिक्षा के अनुसार लिखा है ।

"वेदादि की श्रुतियों से यह निश्चित जाना जाता है," कि पहले सनातन परमेश्वर हि था । "जगत् लेश मात्र भी नहीं था ।" उसने "इच्छा की कि बहुत प्रकार की प्रजा को मैं उत्पन्न करूं, उसी क्षण में नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न हो गई ।" अर्थात् परमेश्वर ने अपने से भिन्न कोई पदार्थ लेकर जगत् नहीं रचा, किन्तु अपने स्वाभाविक सामर्थ्य गुण रूप से जगत् को रचा है ।

फिर यही दयानन्द जी, परमेश्वर की हि वैदिक शिक्षा के अनुसार "सत्यार्थ प्रकाश" के दूसरे संस्करण में जगत् की उत्पत्ति के विषय में इस प्रकार लिखते हैं :—

परमेश्वर की न्याईं जीव और जगत् कारण भी अनादि हैं। प्रकृति जीव और परमात्मा यह कभी जन्म नहीं लेते, अर्थात् यह **तीन** सब जगत् के कारण हैं, इन का कारण कोई नहीं। सृष्टि के वाद प्रलय होती है। प्रलय के वाद फिर सृष्टि होती है। परमेश्वर सूक्ष्म महा तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पांच सूक्ष्म भूत, फिर उनमें पांच स्थूल भूत उत्पन्न करता है। उनसे ओषधियां, ओषधियों से वीर्य्य और वीर्य्य से शरीर होता है।

सृष्टि के आदि में तिब्बत देश में परमेश्वर ने सैंकड़ों और सहस्रों जवान स्त्री और पुरुष उत्पन्न किए। फिर इन जवानों ने मैथुन करके और मनुष्य उत्पन्न किए। इस बार सृष्टि को उत्पन्न हुए एक अरब छानवें करोड़ से कुछ ऊपर वर्ष हो चुके हैं।

अब देखो इन सब गप्पों में कितनी विरोधी बातें पाई जाती हैं। मनु जी के कथन के अनुसार वह ब्रह्मा जी के पोते थे, परन्तु उनकी माता और दादी कोई भी नहीं। फिर वह एक अण्डे से पैदा हुए और इस अण्डे को परमेश्वर ने पानी में अपना बीज डालकर पैदा किया!! कैसी कुछ घड़न्त है!! यह तो प्राचीन गप्पें हैं। अब इस काल में दयानन्द जी परमेश्वर की शिक्षा के नाम से जगत् की उत्पत्ति के विषय में पहले एक कहानी घड़ते हैं, और फिर दूसरी। पहली में बतलाते हैं, कि परमेश्वर के भिन्न आदि में कोई प्रकृति न थी, और न कोई जीव था। परन्तु दूसरी कहानी में बतलाते हैं, कि परमात्मा की न्याईं जीव और प्रकृति कभी जन्म नहीं लेते! वह सभी हि सदा से हैं। कैसी विरोधी गप्पें! फिर पांच भूतों की कल्पना में अग्नि को (जो शक्ति है) भूत कल्पना करना कैसी भ्रान्ति! फिर वैज्ञानिक जनों ने जिन भूतों की संख्या अब तक सत्तर से भी अधिक जानी है, उन्हें केवल **पांच** बतलाना कैसी अज्ञानता! फिर जब से सृष्टि हुई, तब से अब तक का

ठीक २ काल बता देने की चेष्टा और भी कैसी बढ़कर मिथ्या कल्पना है।

अव हम कुछ मिथ्या कहानियां मुसलमानों और ईसाइयों की किताबों के कथन के अनुसार सुनाते हैं। मुसलमानों की हदीस में लिखा है कि परमेश्वर ने पहले एक वृक्ष उत्पन्न किया। उस पर नूर मुहम्मदी को मोर बनाकर बिठा दिया। यह मोर उस पर बैठा हुआ सत्तर हज़ार वर्ष तक जप करता रहा। फिर परमेश्वर ने उसकी ओर देखा, और वह शरम के मारे पसीना २ होगया। उसके सिरके पसीने से फ़रिश्ते, छाती के पसीने से नबी और पैग़म्बर, भौं के पसीने से मुसलमानों की रूहें, कानों के पसीने से ईसाइयों और यहूदियों की रूहें, पीठ के पसीने से मक्का मदीना और दुनिया की और मसजिदों की ज़मीन पैदा हुई, और पैरों के पसीने से सारी ज़मीन और उसमें जो कुछ है सब उत्पन्न हो गया। कैसी मज़ेदार गप्पें हैं ?

फिर लिखा है, कि परमेश्वर ने देश २ की मट्टी से आदम को पैदा किया। कहीं लिखा है, कि सिर मक्के की मट्टी से और छाती दुनिया की ख़ाक से और पीठ और पैर हिन्दुस्तान की मट्टी से और दोनों हाथ पूर्व की मट्टी से और दोनों पांव पश्चिम की मट्टी से। और कहीं लिखा है, कि सिर यरोसिलम की धूल से, और मुंह बहिश्त (स्वर्ग) की एक मट्टी से और दिल फ़िरदौस की मट्टी से और ज़बान स्वर्ग की औरतों की ख़ाक से बनी। फिर ईश्वर ने रूह (जीवात्मा) को हुक्म दिया, कि तू इसके सिर वा मुंह में घुस जा। इस आज्ञा को सुनकर वह दो सौ वर्ष तक उसके चारों ओर घूमती रही। फिर उसकी आंखों में उतरी। फिर कानों में, फिर धीरे २ सारे शरीर में फैल गई। फिर वह सारी मट्टी मांस और हड्डी बनकर आदम तैयार होगया। फिर इस आदम को तख़्त पर बिठाकर सौ वर्ष तक उसे बहिश्त की सैर कराई गई। फिर उसके चढ़ने के वास्ते परमेश्वर ने कस्तूरी का एक घोड़ा पैदा किया। इस घोड़े पर आदम सवार हुआ और फ़रिश्तों ने उसके आगे २ चल कर उसे आसमानों की सैर कराई।

कितनी मिथ्या गप्पें !! फिर लिखा है :—

एक दिन आदम सोगया, और ख़ुदा ने उसकी बाईं पसली निकाल कर उसकी एक औरत बना दी। जब आदम जागा, तब परमेश्वर ने उसके साथ उसका ब्याह कर दिया और उन्हें बहिश्त में रहने दिया। फिर परमेश्वर ने उन दोनों को कहा, कि यहां के सारे मेवे खाना परन्तु उस ख़ास वृक्ष के फल मत खाना। कहते हैं कि यह गेहूं का पौदा था।

फिर शैतान के बहकाने से आदम और हव्वा ने उस फल को खा लिया, जिस पर परमेश्वर ने नाराज़ होकर दोनों को बहिश्त से निकाल दिया। औरत को सज़ा दी कि वह बच्चे जनने का दुःख उठाया करे। मर्द को सज़ा दी कि वह बहुत परिश्रम करके अपनी रोज़ी कमावे। फिर यह दोनों इस ज़मीन पर आ बसे और खेती करने लगे। इनके जब बच्चे होते, तभी जौड़े होते, और उनमें से एक लड़की होती, और दूसरा लड़का होता। फिर ख़ुदा के हुक्म से उनका ब्याह हो जाता। और इस तरह से उनके द्वारा और बहुत से मनुष्य पैदा होकर इस पृथिवी में फैल गए। फिर आदम नौ सौ तीस वर्ष की उमर में मर गया।

इन गप्पों की भी कोई हद्द है ?

अब ईसाइयों की कहानी सुनो। इनकी धर्म्म पुस्तक का नाम बाईबिल है। उसके दो भाग हैं। एक भाग ख़ुदा का पुराना और दूसरा नया अहदनामा कहलाता है। इन के इस पुराने अहदनामे में विश्व की उत्पत्ति इस प्रकार वर्णन की गई है :—

आरम्भ में ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को उत्पन्न किया। फिर उजाले और पानी और उसके अनन्तर सूर्य्य और चन्द्र और तारों को उत्पन्न किया। फिर परमेश्वर ने इस भूमि की धूलि से आदम का शरीर बनाया और उस के नथुनों में जीवन का श्वास फूंका। फिर परमेश्वर ने अदन की पूर्व ओर एक बाग़ लगाकर आदम को उसमें रख दिया। फिर उसे सुलाकर और उसकी एक पसली निकाल कर उस पसली से एक स्त्री बना दी। उपरोक्त बाग़ में परमेश्वर ने एक जीवन

का और एक भले बुरे ज्ञान का एक २ पेड़ उत्पन्न किया। फिर परमेश्वर ने आदम और उसकी स्त्री को पुकार कर कहा, कि तुम दोनों और सब फल खाना, परन्तु इन दोनों पेड़ों के फल न खाना और उन्हें न छूना, कि कहीं मर न जाओ। परन्तु एक सर्प ने जो बड़ा धूर्त था, आदम की स्त्री से कहा, कि तुम इन फलों के खाने से हरगिज़ न मरोगे, वरन् उनके खाने से तुम्हारी आंखें खुल जायंगी और तुम भले बुरे की पहिचान में ईश्वर के समान हो जाओगे। तब आदम की स्त्री ने उनके सुन्दर और सुस्वादु फल तोड़ कर आप भी खाए और अपने पति को भी खिलाए। उनकी इस क्रिया से परमेश्वर बहुत ख़फ़ा हुआ और उन सब को स्राप दिया। उसने आदम को कहा, कि तू जब बहुत परिश्रम करेगा, तब कुछ साग पात उगाके खायगा। और स्त्री को कहा, कि तू गर्भ धारण करके बच्चे जनने में बहुत दुःख उठाया करेगी। और सांप को कहा, कि तू पेट[१] के बल रेंगेगा, और धूलि खाया करेगा, और मनुष्य के साथ तेरी शत्रुता होगी, तू उन्हें काटेगा, और वह तुझे मारेंगे। फिर आदम की स्त्री ने एक लड़का जना, जिसका नाम कायन रक्खा गया। यह कायन खेती करने लगा। फिर उसका हाबील नामी एक और भाई हुआ और वह चरवाहा बना। फिर कायन से परमेश्वर नाराज़ हुआ और वह अपने घर से भाग कर दूर जा बसा। वहां उसने एक पत्नी[२] ग्रहण की। उससे हनूक उत्पन्न हुआ। फिर उससे और उत्पत्ति हुई। परमेश्वर ने छै दिन में सारी सृष्टि उत्पन्न की और सातवें दिन थक कर आराम किया।

देखो! यह सब कैसी बच्चों की सी ऊट पटांग बातें हैं, जिनका सिर पैर कुछ नहीं। कहीं मुहम्मद साहिब की उत्पत्ति से हज़ारों वर्ष पहले उनका नूर (प्रकाश) मोर बन कर वृक्ष पर बैठा रहता है, और सत्तर हज़ार वर्ष तक वहां जप करता है। कहीं परमेश्वर को देख कर वह पसीना २ होजाता है, और उसके पसीने से अन्य मनुष्यों और

---

[१] क्या पहले पांव के बल चलता था?

[२] यह पत्नी कहां से आई?

ज़मीन आदि की उत्पत्ति होती है !! कहीं प्रथम मनुष्य अर्थात् आदम देश २ की मट्टी मंगा कर वनाया जाता है, और जब इस मट्टी से खिलौने की न्याईं उसका शरीर बन चुकता है, तब जीव को (जो अभी तक किसी वस्तु से नहीं बना) उसमें घुसने का हुक्म मिलता है, और वह दो सौ वर्ष तक उस मट्टी के पुतले के चारों ओर घूमता रहता है। फिर कहीं इस आदम की सवारी के लिए कस्तूरी का घोड़ा बनता है, और कहीं उसकी पसली निकाल कर उसके लिए एक स्त्री बनाई जाती है!! कभी वह बहिश्त में रहते हैं और वहीं के फल खाते हैं, और कभी एक बहिश्ती फल के खाने से वहां से निकाल कर ज़मीन पर आबाद किए जाते हैं।

इसी प्रकार ईसाइयों की किताव के अनुसार आदम और उसकी पत्नी को परमेश्वर उन वृक्षों के फलों को खाने से रोकता है, कि जिन्हें खाकर वह अमर होसकते हैं, अथवा भले बुरे का ज्ञान लाभ कर सकते हैं। वाह कैसा परमेश्वर है ! फिर जब वह शैतान के कहने से उन अच्छे फलों को खा लेते हैं, और भले बुरे का ज्ञान लाभ करते हैं, तब वह इस ज्ञान के प्राप्त होने पर स्वर्ग से निकाले जाते हैं ! फिर मर्द को यह सज़ा मिलती है कि वह परिश्रम करे, (बेशक यह बहुत बड़ी सज़ा है, उसका सदा सुस्त पड़ा रहना हि वहुत अच्छा था) और औरत को जो बिचारी पसली से बनाई गई थी, बच्चा जनने की सज़ा दी जाती है। कैसी अनोखी दानाई !!

हदीस के अनुसार तो आदम की स्त्री हर दफ़े जौड़े बच्चे देती थी, कि जिसमें एक नर और दूसरा नारी होता था, और वह सगे भाई-बहिन विवाह करके फिर वच्चे पैदा करते थे। परन्तु तौरेत के अनुसार आदम की स्त्री ने एक लड़की भी नहीं जनी, फिर भी उसके लड़के किसी स्त्री के विना हि बच्चे पैदा करते हैं, और मनुष्य सृष्टि बढ़ती जाती है!!

मुसलमानों की हदीस के अनुसार नूर मुहम्मदी को पहले सत्तर हज़ार वर्ष तक जप करना पड़ा, तब कहीं आदम की उत्पत्ति हुई, परन्तु ईसाइयों की बाईबिल के अनुसार परमेश्वर छै दिन में सारी सृष्टि पैदा

करके सातवें दिन खूब आराम करता रहा!!

अब! यह सब शेखचिल्ली की मिथ्या कल्पनाओं की न्याईं मिथ्या कल्पनाएं नहीं, तो और क्या हैं ?

प्र०—अच्छा विज्ञानमूलक सत्यधर्म्म को न जानकर लोगोंने जिन २ कल्पनामूलक धर्म्मों की सृष्टि की है, वह किस प्रकार के हैं ?

उ०—वह नाना प्रकार के हैं। यथा :—

(१) लाखों जन किसी प्रकार के **मत** वा **विश्वास** को धर्म्म समझते हैं, अर्थात् किसी ईश्वर वा ईश्वर के अवतार, किसी देवी देवता, किसी शिक्षक, पैग़म्बर, प्रभु और गुरु, किसी पुस्तक और मोक्ष विषयक एक वा दूसरी कहानी, द्वैत वा अद्वैतवाद आदि के मानने वा विश्वास करने का नाम धर्म्म समझते हैं। अब यह कुछ मानना वा विश्बास करना धर्म्म नहीं है ।

(२) लाखों जन शारीरिक **वेशभूषा** को धर्म्म समझते हैं, यथा—शिखा रखना; केश, कंघा, करदम, कच्छ और कड़ा रखना; जटा रखना, अथवा, दाढ़ी मूंछ आदि कुछ न रखना, भभूत मलना, चन्दन लगाना, तिलक लगाना, कंठी, माला, कोपीन, श्वेत, गेरुए, नीले, रेशमी आदि वस्त्र पहनना, कान फुड़वाना, तोंबा रखना, चिमटा रखना, चोला, रोब, क्रास, कमरबन्द, सेली, खड़ाऊं, आदि पहनना, इत्यादि। अब यह सब वेशभूषा **धर्म्म नहीं है।**

(३) लाखों जन **तीर्थस्थानों** की यात्रा, वहां पर मूर्तियों वा समाधियों वा क़बरों आदि के दर्शन और बास और विशेष २ जलाशयों में स्नान और उनके पानी पीने आदि को धर्म्म समझते हैं। यथा हरिद्वार, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, काशी, मथुरा, वृन्दावन, गया, बदरीनाथ, जगन्नाथ, द्वारका और रामेश्वर आदि की यात्रा, गंगा, नर्वदा, सरजू, आदि नदियों में स्नान, गंगाजल पान, विविध दरगाहों, मक्का, मदीना, यरोसिलम आदि की यात्रा। इत्यादि २। अब यह यात्रा, और स्नान आदि **धर्म्म नहीं हैं।**

(४) लाखों जन **योगाभ्यास** अर्थात् वायु खैंचने, रोकने, "सुरत"

के चढ़ाने और विविध प्रकार के आसनों के जमाने आदि की क्रिया को धर्म्म समझते हैं। परन्तु यह कोई क्रिया **धर्म्म नहीं**।

(५) लाखों जन किसी **स्तोत्र** वा **पुस्तक** आदि के पाठ, भजनों के गान वा कीर्तन, किसी मन्त्र वा नाम के जप, किसी मूर्ति आदि पर पानी और फूल और पत्रादि चढ़ाने, उसके सन्मुख धूप और दीप जलाने, खाने पीने की कोई वस्तु आगे रखने, क़बरों पर फूल और तवाफ़ चढ़ाने, ताज़िया बनाने आदि को धर्म्म समझते हैं। परन्तु केवल इस प्रकार की कोई क्रिया **धर्म्म नहीं**।

(६) लाखों जन मिथ्या वर्ण वा **कुल भेद** और खान पान विषयक अनुचित छूतछात की रक्षा को धर्म्म समझते हैं, परन्तु यह **धर्म्म नहीं**।

(७) लाखों जन विशेष २ दिनों में **उपवास** अथवा विशेष २ वस्तुओं के आहार करने का नाम धर्म्म समझते हैं। जैसे कृष्ण जन्म-अष्टमी को निर्जल और निराहार रहना, एकादशी वा मंगल आदि के दिन व्रत रखना इत्यादि। यह सब बातें **धर्म्म नहीं**।

(८) लाखों जन एक वा दूसरे **अनुष्ठान** को धर्म्म समझते हैं, यथा मुण्डन, यज्ञोपवीत, रखड़ी, अनन्त, ख़तना, बपतिस्मा, पौहल, बकरों, भेड़ों, ऊंटों, आदि की बलि वा क़ुरबानी; इत्यादि। परन्तु यह **धर्म्म नहीं**। किन्तु पशुओं की बलि तो पूर्णतः **अधर्म्म** या पाप है।

पैंतीसवां परिच्छेद

कर्म्म तत्त्व

पुनर्जन्म विषयक विश्वास के मिथ्या होने के प्रमाण में सन् १८८७ ई० से लेकर १८९९ई० तक मैंने बहुत से उर्दू लेख पुस्तकाकार में प्रकाशित किए थे। उन में से पहले ट्रैक्ट का नाम "रद्देतनासुख़" था; दूसरे का नाम "तनासुख़ की ख़ौफ़नाक बुराइयां;" तीसरे का "तनासुख़ के शरमनाक नतीजे;" चौथे का "तनासुख़ के इख़लाक़ी और सोशियल नतायज;" पांचवें का "तनासुख़ की लग़वियत" और छठे का "तनासुख़ की तरदीद" था। यहां पर मैं उन सब का ख़ुलासा तैयार करके नहीं लिख सकता। परन्तु उपरोक्त ट्रैक्टों के भिन्न संवत् १९६२ वि०के "जीवनपथ" में मैंने देवधर्म्म की विज्ञानमूलक धर्म्म शिक्षा को प्रश्नोत्तर के ढंग पर प्रगट करने के समय और उससे पहले १९०० ई० में "विज्ञानमूलक मत और कल्पनामूलक मत" नामक पुस्तक में एक जगह उसके प्रसंग में संक्षेपरूप से जो कुछ लिखा था, उसे आवश्यक संशोधन के बाद दो नम्बरों में विभक्त करके नीचे दर्ज करता हूं :—

(१)

जिज्ञासु—क्या "आर्य्य" "सनातन धर्म्मी" थियोज़ोफ़िस्ट और बौद्ध आदि जनों का यह विश्वास कि मनुष्य आत्मा अपने स्थूल शरीर के छोड़ने पर अपने कर्म्मों के अनुसार कीट, पतंग, मछली, सर्प, पक्षी और चोपाए आदि के आकार ग्रहण करता है, सत्य है ?

शिक्षक—नहीं। उनका यह विश्वास पूर्णतः मिथ्या है। जीवन विषयक तत्त्व ज्ञान के न होने से यह सब लोग ऐसी **मिथ्या गप्पों** पर विश्वास करते हैं।

मनुष्य का **अस्तित्व** जिस **जीवनी शक्ति** और **शरीर** से विशिष्ट है,

उसकी यह जीवनी शक्ति किसी कीट वा मछली वा पक्षी वा चौपाए आदि की जीवनी शक्ति से **बिल्कुल भिन्न** है । इसीलिए **मनुष्य** की जीवनी शक्ति **मनुष्य के आकार** के भिन्न किसी और पशु के आकार को **निर्माण नहीं कर सकती**—क्योंकि ऐसा करना उसके लिए **प्राकृतिक नियम के अनुसार असम्भव है।**

मनुष्य की जीवनीशक्ति मनुष्य नारी के गर्भाशय में गर्भित जीवन्त सेल से केवल मनुष्य आकार हि संगठित करती और कर सकती है। शेर वा भेड़िए, तीतर वा बटेर, खटमल वा मच्छर आदि अन्य जीव का शरीर निम्मर्माण नहीं करती और नहीं कर सकती । गर्भ कोष्ट में मनुष्य आकार के निम्मर्माण होचुकने पर जब बच्चा बाहर आता है, तब भी यही जीवनीशक्ति उसका पालन करती है ; और प्रति दिन आहार आदि के द्वारा उस आकार को **उसी रूप** में रखती है । जिस प्रकार मनुष्य की जीवनीशक्ति अपने शरीर के लिए उन्हीं चीज़ों को ग्रहण करके जिन्हें और कितने हि पशु खाते पीते हैं, अपने **मनुष्य आकार** को हि क़ायम रखती है, उसी प्रकार और जन्तुओं की जीवनीशक्तियां भी उन्हीं चीज़ों को खा पीकर भी **अपने २ आकरों** को हि क़ायम रखती हैं। और जिस प्रकार मनुष्य की जीवनीशक्ति प्राकृतिक नियमों के अनुसार मनुष्य आकार के भिन्न अपने लिए किसी गौ वा घोड़े वा शेर वा रीछ आदि का आकार **नहीं** बना सकती, उसी प्रकार किसी गौ वा घोड़े आदि की जीवनीशक्ति अपने लिए गौ वा घोड़े आदि के भिन्न मनुष्य का विशेष आकार **नहीं** बना सकती ।

जि०—तब क्या मनुष्य आत्मा अपने शरीरको छोड़ने के अनन्तर किसी अन्य पशु के आकार को धारण नहीं करता ?

शि०—कदापि नहीं । ऐसा करना उसके लिए **सर्वथा असम्भव** है । वह जैसे यहां अपने शरीर को किसी अन्य जन्तु के रूप में बदल नहीं सकता, वैसे हि मरने के अनन्तर भी कोई और रूप ग्रहण नहीं कर सकता ।

जि०—फिर यहां के स्थूल शरीर के छोड़ने पर मनुष्य का क्या

हाल होता है ?

शि०—मनुष्य की जीवनीशक्ति अपने स्थूल शरीर के छोड़ने के अनन्तर कोई और स्थूल शरीर नहीं बना सकती। और न बिना शरीर के जीवित रह सकती है। परन्तु **अनुकूल अवस्था** के मिलने पर अपने स्थूल शरीर के **सूक्ष्म** परमाणुओं को आकृष्ट करके उसके **अनुरूप** एक **नया सूक्ष्म शरीर** अवश्य निर्म्माण कर लेती है, और अन्य सूक्ष्म शरीर धारी आत्मा जो उसे पहले से जानते हों, वह उसे देखकर उसी प्रकार पहचान लेते हैं, जिस प्रकार कोई जन वर्षों के अनन्तर अपने बाप वा बेटे वा भाई आदि को देखकर पहचान लेता है।

जि०—तब क्या "आवागवन" अथवा "पुनर्जन्म" का विश्वास बिलकुल मिथ्या है ?

शि०—बिलकुल मिथ्या है।

जि०—फिर मनुष्य को अपने भले वा बुरे कर्म्मों का फल क्योंकर मिलता है ?

शि०—मनुष्य को अपने भले और बुरे कर्म्मों का फल साथ २ मिलता जाता है। उसे अपने कर्म्मों के फलों के लिए किसी कल्पित "ईश्वर" वा "यमराज" वा "धर्म्मराज" आदि के सन्मुख खड़ा होना नहीं पड़ता।

जि०—किस प्रकार ?

शि०—जैसे मनुष्य खाने पीने, चलने-फिरने, उठने-बैठने और वायु में प्रति मुहूर्त श्वास लेने के द्वारा अपनी शारीरिक दशा को साथ २ बदलता रहता है, वैसे हि आत्मा अपने वा अपने विश्वगत विविध सम्बन्धियों के सम्बन्ध में अपने भीतर से जिस २ **भाव वा चिन्ता** वा क्रिया को उत्पन्न करता है, उस के साथ हि साथ अपनी दशा में **परिवर्तन** लाभ करता है। **मनुष्य की प्रत्येक शारीरिक वा मानसिक वा हार्दिक क्रिया अपने साथ २ एक वा दूसरे प्रकार का परिवर्तन लाती है।** व्यायाम के समय जैसे एक बार भी जब कोई जन डंड पेलता वा मुगदर हिलाता है, तब उसके साथ हि साथ वह अपने पट्ठों में **परिवर्तन** उत्पन्न करता है,

वैसे हि मनुष्य आत्मा किसी सम्बन्ध वा किसी विषय में जब एक वार भी किसी प्रकार की कोई चिन्ता वा चेष्टा करता है, तब उस क्रिया के द्वारा अपनी अवस्था को परिवर्तित कर देता है। इसी परिवर्तन के अटल नियम के द्वारा मनुष्य को अपने प्रत्येक भले वा बुरे भाव और **प्रत्येक भले वा बुरे कार्य्य के लिए तत्काल फल मिलता रहता है।**

जि०—क्या फल मिलता रहता है ?

शि०—अपने नीच वा उच्च भाव वा क्रिया के अनुसार वह नीच वा उच्चरूप ग्रहण करता है। और नीच भाव वा क्रिया के द्वारा **कदर्य्य, मलिन** और **रोगी** बनकर अपनी जीवनीशक्ति को **क्षय** करता है। और जैसे शरीर के विचार से क्षयी रोग का रोगी दिनों दिन अपने रूप और बल को **क्षय** करता रहता है, और यदि उस रोग से वह मुक्त न होसके, तो एक दिन उसका शरीर पूर्णतः मृत्यु को प्राप्त होता है; वैसे हि प्रत्येक आत्मा नीचगतियों को ग्रहण करके अपने आन्तरिक रूप और बल को **क्षय** करता रहता है, और यदि वह अपनी इन नीचगतियों से मोक्ष पाने के योग्य न होसके, तो इस दशा में पड़ा रह कर और विविध प्रकार के दुःखदाई फलों को भोगकर अपने व्यक्तिगत अस्तित्व के विचार से वह एक दिन **पूर्णतः विनष्ट** होजाता है।

जि०—यह तो महा भयानक परिणाम है ?

शि०—निस्सन्देह। इसके विपरीत प्रत्येक आत्मा अपने विश्वगत विविध सम्बन्धियों के सम्बन्ध में उच्चगति ग्रहण करके उच्च और भीतर के विनाशकारी रोगों और विकारों से **मोक्ष** पाकर सुस्थ और **पवित्र** बनता है। अपनी जीवनीशक्ति को **उन्नत** करता है। और सुन्दर रसमय कल्याणकारी और आनन्दमय रूप में **विकशित** होता है।

जि०—यह तो परम व वांछनीय और महा सुन्दर परिणाम है ?

शि०—निश्चय। इसीलिए विश्वगत विविध सम्बन्धों में विनाशकारी सब नीचगतियों से मोक्ष और उच्चजीवन विकाशक सब प्रकार की शक्तियों को **विकशित** करके विकाशकारी **एकता** स्थापन करने के योग्य बनना हि मनुष्य का सत्य और विज्ञानमूलक परम **आदर्श**

और **परम उद्देश्य** है ।

जि०—मनुष्य जीवन के सम्बन्ध में ऐसा सत्य और विज्ञान-मूलक **परम आदर्श** और **परम उद्देश्य** तो इस पृथिवी में किसी धर्म्म सम्प्रदाय के किसी शिक्षक ने नहीं बतलाया ।

शि०—नहीं । इससे पहले कभी और किसी ने नहीं जाना और नहीं बतलाया ।

जि०—इस आदर्श के सन्मुख आने पर तो पृथिवी के नाना धर्म्म मतों की पाप, पुण्य, नरक और स्वर्ग आदि विषयक सब कहानियां **कल्पित** दिखाई देती हैं ।

शि०—हां । वह सब कल्पित और **मिथ्या** हैं ।

(२)

पुर्नजन्म के विषय में पण्डित दयानन्द ने जिस पुरानी गप्प पर कुछ अपना नया हाशिया चढ़ाकर उसे "आर्य्यासमाज" में प्रचलित किया है, वह यह है :—

इस दुनिया में प्रतिदिन जितने मनुष्य मरते हैं, उन के आत्मा पहले **वायु** में रहते हैं, और फिर परमेश्वर उनके अच्छे वा बुरे कर्म्मों के अनुसार उन्हें फल प्रदान करता है । परमेश्वर से दण्ड पाकर प्रत्येक जीव किसी खाने वा पीने की वस्तु वा शरीर के किसी छिद्र के द्वारा मनुष्य वा पशु आदि के भीतर घुसकर और उसके वीर्य्य में पहुंच कर फिर जन्म लेता है । और यदि उसने अपने शरीर के द्वारा चोरी और व्यभिचार आदि कोई पाप कर्म्म किया हो, तो वह वृक्ष वा पौदे आदि के आकार में जन्म लेता है । और यदि उसने वाक्य के द्वारा कोई पाप किया हो, तो भंगी आदि बनता है । इसी प्रकार अपने अच्छे कर्म्मों के बदले किसी राजा वा अमीर के यहां जन्म लेता है, और बहुत धन और सुन्दर स्त्रियां और सुस्वादु पदार्थ खाने के लिए और मूल्यवान वस्त्र पहनने के लिए और नौकर चाकर आदि सेवा के लिए लाभ करता है । इन्हीं कुल सुखों का नाम "सामान्य स्वर्ग" है, और यहां के नाना प्रकार के दुःखों का नाम "नरक" है ।

मनुष्य की जब तक कर्म्मों से मुक्ति नहीं होती, तव तक वह ऐसे हि नरक और स्वर्ग में फिरता रहता है। फिर जब उसकी अपने कर्म्मों से मुक्ति हो जाती है, तब उसे परमेश्वर इस दुनिया में जन्म नहीं देता, किन्तु अपने भीतर हि रख लेता है, और वह विना किसी शरीर के केवल उसी को आधार बनाकर सारे आकाश में विचरता फिरता है, और जो सुख चाहता है, वही अपनी इच्छा के अनुसार लाभ कर लेता है। इस सुख का नाम "विशेष स्वर्ग" है।

इस मुक्त अवस्था में कोई जीव कितने काल तक रहता है, उसका हिसाब यह है:—

पैंतालीस लाख बीस हज़ार वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। दो हज़ार चतुर्युगियों का एक रात-दिन होता है। ऐसे तीस रात दिनों का एक महीना होता है। ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष होता है। ऐसे सौ वर्षों का एक प्रान्तकाल वा महाकल्प होता है। इस गिनती के अनुसार (कि जो गणित विद्या के विद्वान् परमेश्वर जी ने आप बतलाई है) जो जन मुक्ति पाकर आसमानी विशेष स्वर्ग में रहता है, उसकी संख्या इकत्तीस नील दस खरब और चालीस अरब वर्ष (३११०४०००००००००) है। जिसके बाद वह इस "विशेष स्वर्ग" से निकाला जाता है और अपने कल्पित कर्म्मों के अनुसार (क्योंकि कर्म्मों से पहले तो वह एक बार मुक्त होकर हि इस विशेष स्वर्ग में पहुंचा था) वह फिर इस दुनिया में भेजा जाता है, और यहां पहुंच कर फिर अच्छे और बुरे कर्म्मों के चक्र में पड़कर नाना प्रकार के जीवों के रूप ग्रहण करता है।

ओह! कैसी मिथ्या गप्पें हैं! ईसाई और मुसलमानी मिथ्या गप्पों से दयानन्दी मिथ्या गप्पों का केवल इतना प्रभेद है; कि

(१) ईसाइयों और मुसलमानों की मिथ्या गप्पों के अनुसार ईश्वर किसी नियत समय में अपना दर्बार लगाकर मनुष्यों के भले और बुरे कर्म्मों पर अपना फ़ैसला दे देता है, परन्तु दयानन्द का ईश्वर प्रति दिन कचहरी करता है, और प्रति दिन मनुष्यों के मरने पर अपने फ़ैसले देता रहता है।

(२) मुसलमानी ईश्वर अपने मोमिनों पर ख़ुश होकर उन्हें आसमानी स्वर्ग में भेजकर उन्हें मेवे और हूरें आदि देता है। परन्तु "आर्य्य" ईश्वर लोगों को भले कर्म्मों के बदले में ऊपर के किसी स्वर्ग में भेजने के स्थान में "सामान्य स्वर्ग" का सुख देने के लिए इसी दुनिया में जन्म देता है; अर्थात् उसे किसी राजे वा अमीर के यहां पैदा करके ख़ूब रुपए और खाने पीने, पहनने की चीज़े, सुन्दर स्त्रियां और नौकर चाकर और सवारियां आदि प्रदान करता है।

दोनों के हि यह सुख एक हि प्रकार के और पूर्णतः वासनामूलक हैं।

(३) ईसाइयों और मुसलमानों का ईश्वर जिन्हें स्वर्ग में नहीं भेजता, उन्हें नरक में भेजता है। "आर्य्य" ईश्वर भी यही करता है।

(४) ईसाइयों और मुसलमानों के ईश्वर ने जो नरक वा स्वर्ग बनाया है, वह **अनन्त काल** के लिए है! "आर्य्यों" का "विशेष स्वर्ग" भी यद्यपि अनन्त काल के लिए नहीं, फिर भी अरबों वर्षों के लिए है। और इनका नरक जो इस दुनिया में है पुनर्जन्म के चक्कर के अनुसार अवश्य **अनन्त काल** के लिए है।

ईश्वरवादी अपने २ ईश्वर को सर्वशक्तिमान बताते हैं। परन्तु वास्तव में वह इतनी शक्ति भी नहीं रखता, कि वह इन सब सम्प्रदायों के नेताओं को अपने समीप बुलाकर उन्हें यह कहदे, कि तुम सब मेरी शिक्षा कहकर जो इतनी भिन्न २ कहानियां लोगों को सुनाते हो, यह **सब** मिथ्या हैं, वा उनमें से **अमुक** २ मिथ्या हैं। और तुम लोग मेरे नाम से इन मिथ्या कहानियों का प्रचार मत करो। परन्तु यह तो तब सम्भव हो, कि जब वास्तव में कोई ईश्वर मौजूद हो। जिस ईश्वर का अपना अस्तित्व हि कल्पनामूलक हो, वह अन्य किसी को क्या कोई बात बता सकता है, और क्या शिक्षा दे सकता है? कुछ नहीं।

पुनर्जन्मवादी कहते हैं, कि यदि पुनर्जन्म न माना जावे तो उनका परमेश्वर **न्यायकारी** नहीं रहता। न रहे। क्या किसी कल्पित पुरुष को कल्पित रूप से न्यायकारी बनाने के लिए किसी मिथ्या गप्प का

घड़ना और मान लेना उचित हो सकता है ? यदि धर्म्म के नाम से झूठी गप्पों पर विश्वास करना आवश्यक हो, तो और जिन नाना सम्प्रदायों में कर्म्म फलों के विषय में एक वा दूसरे प्रकार की मिथ्या गप्पें घड़ी गई हैं, वह भी **क्यों** न मानी जावें ? और यदि यह कहो, कि उन गप्पों से हमारे ईश्वर का न्याय पूरा नहीं होता, तो तुम्हारी पुनर्जन्म वाली गप्प से कब पूरा हो जाता है ? क्या यह सत्य नहीं, कि जिस पृथिवी में तुम्हारे न्यायकारी ईश्वर सर्वव्यापी होकर विराजमान हैं, उसी में उसकी वर्तमानता में सैकड़ों प्रकार का रात दिन अत्याचार होता है और लाखों जन एक दूसरे के अत्याचार और उत्पीड़न से दुःखी पाए जाते हैं ? सैंकड़ों निर्दोष जनों के ख़ून होते हैं । हज़ारों जन लड़ाइयों में मारे जाते हैं । लाखों पशुबध होते हैं । करोंड़ों अंडे चट किए जाते हैं । जन समाज में जगह २ चोरियां होती हैं । डाके पड़ते हैं। व्यभिचार होता है । नशों के पिलाने और लोगों को व्यभिचारी बनाने के लिए हज़ारों दुकानें खुली हुई हैं । रुपया लूटने के लिए नाना प्रकार के धोखे और फ़रेब जारी हैं । लाखों सत प्रतिज्ञाएं भंग होती हैं । और अन्य नाना प्रकार के पाप और अपराध जारी हैं। यदि गहरी दृष्टि से देखो, तो इस दुनिया में चारों ओर अन्याय और निर्दयता का एक कुहराम मचा हुआ है । परन्तु तुम्हारे परमेश्वर जी महाराज इसी दुनिया में विराजमान रहकर और तुम्हारे द्वारा न्यायप्रिय और सर्वशक्तिमान कहलाए जाकर चुपचाप मौज से यह सब भयानक लीला देखते रहते हैं । अब उनका न्याय वा दया भाव कहां छिपा हुआ हैं ? मनुष्यो में तो फिर भी ऐसे जन मिलते हैं, कि जो अपनी सन्तान को एक वा दूसरी बुराई वा दुःख से बचाने के लिए हाथ पांव हिलाते हैं, परन्तु तुम्हारे ईश्वर जी तो परम पिता और परम जननी कहलाकर भी अपनी सन्तान पर नाना अत्याचार होते हुए देखकर और इस से भी बढ़कर भूचाल और प्लेग आदि के द्वारा उनपर **ख़ुद भी** तबाही लाकर मौज से तमाशा देखते हैं । कोई अत्याचारी किसी को सता रहा है, परन्तु ईश्वर जी मौन व्रत लिये हुए बैठे रहते हैं । कोई जन किसी पतिव्रता स्त्री को

पकड़कर उसके सतीत्व को नष्ट करना चाहता है, वह सख्त् विपद और दुःख में हृदय की व्याकुलता के साथ तुम्हारे ईश्वर को अपनी सहायता के लिए पुकारती है, परन्तु उसका दयावान् हृदय कुछ भी नहीं पसीजता। मनुष्य के जीते जी तो तुम्हारे न्याय और दयावान् ईश्वर जी की किसी के लिए एक उंगली भी नहीं हिलती, परन्तु उसके मरने पर उसके कर्म्मों के सम्बन्ध में फ़ैसला करने के लिए उनकी प्रति दिन कचहरी खुल जाती है। कैसा मिथ्या विश्वास !!

फिर क्या पुनर्जन्म के मानने वालों को यह बात मालूम नहीं, कि किसी कचहरी के हाकिम का हुक्म उस समय तक किसी काम का नहीं, जब तक उसके पास अपने हुक्म को पूरा कराने के लिए कोई **शक्ति** न हो ? किसी हाकिम के लिए यह आज्ञा देना काफ़ी नहीं है, कि अमुक जन अमुक अपराध के लिए क़ैद किया जावे, किन्तु उसके पास पुलिस आदि का फोर्स (force) भी होना चाहिए, कि जो अपराधी से उसकी आज्ञा को पूरा करा सके। अब प्रश्न यह है, कि जो जन क़यामत के दिन कल्पित ईश्वर का कल्पित दरबार लगाते हैं, वह तो उस के इर्द-गिर्द कुछ कल्पित फ़रिश्ते भी खड़े कर लेते हैं, परन्तु पुनर्जन्म के "आर्य्य" विश्वासी तो उस के दरबार में कोई फ़रिशते भी नहीं खड़े करते और केवल उसकी "**प्रेरणा**" पर बस करते हैं। अब यदि पापी अपनी पिछली परीक्षा के अनुसार यह समझे कि जैसे पहले जब मैं चोरी करने जाता था, तब मैं यह जानकर भी, कि यह काम ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध है, केवल **अपने बल** से बेधड़क जहां चाहता चला जाता था, और परमेश्वर जी यह जानकर भी, कि मैं उनकी न्यायमूलक आज्ञा को भंग कर रहा हूं, मुझे मेरे कर्म्म से रोक नहीं सकते थे, और मेरी ओर देखते के देखते रह जाते थे, और आप कुछ कर नहीं सकते थे, वैसे हि वह अब मेरे कर्म्मों के विषय में अपना फ़ैसला देकर भी मेरा कुछ नहीं कर सकते, और अपने इस तजरबे के अनुसार यदि वह ईश्वर की किसी दण्ड-आज्ञा को न माने, तो फिर तुम्हीं बताओ, कि तुम्हारे ईश्वर जी उसका क्या कर लेंगे ?

यहां भी तो कई सम्प्रदायों के विश्वास के अनुसार एक वा दूसरे बुरे काम से बचने के लिए किसी के हृदय में ईश्वर अपनी ओर से **"प्रेरणा"** करता है, परन्तु क्या यह सच नहीं, कि यदि ऐसी कोई प्रेरणा परमेश्वर की ओर से मान भी ली जाय, तो भी उसकी हज़ारों जन कुछ परवाह नहीं करते, और ठीक उसके विरुद्ध जाते हैं ? अब अगर एक स्थान में उसकी प्रेरणा के विरुद्ध चलना संभव है, तो दूसरे स्थान में क्यों नहीं ? अतएव तुम्हारा ईश्वर यदि किसी पापी जन के भीतर यह प्रेरणा भी करे कि, "तू अमुक वृक्ष वा कीड़ा बन," परन्तु वह उसकी "प्रेरणा" की परवाह न करे, तो फिर वह उसका क्या कर सकेगा ? कुछ नहीं। जिस प्रकार एक पंजाबी स्त्री अपने किसी लड़के को (जो उसका कहना नहीं मानता) यह कह कर कि "तू आखे नहीं लगदा" चुप हो जाती है, परमेश्वर को भी अपने किसी पापी बच्चे को दण्ड-आज्ञा देते समय इसी प्रकार कुछ कहकर चुप हो जाना पड़ेगा।

अब यदि यह कहो, कि मरने के अनन्तर मनुष्य का आत्मा जिस समय **वायु** में रहता है (यदि वह किसी मछली का आत्मा हो तो क्या उसके लिए पानी में रहना आवश्यक नहीं ?) उस समय वह ऐसा बेसुध हो जाता है, कि परमेश्वर उसकी इच्छा के विरुद्ध जिस मनुष्य वा पशु वा वृक्ष के वीर्य में उसे पहुंचाना चाहे, उसी में अपनी प्रेरणा के बल से उसे पहुंचा देता है, तो प्रश्न यह है, कि जब मनुष्य का आत्मा मुक्ति की अवस्था में पहुंच कर तुम्हारे कहने के अनुसार **जाग्रत्** अवस्था में होता है, और आकाश के नाना लोकों में घूमता फिरता है, तब यदि वहां के निवास-काल के समाप्त होने पर वह इस दुनिया में जन्म लेने के लिए न आवे तो फिर तुम्हारे परमेश्वर की आज्ञा किधर जाएगी ? याद रखना चाहिए कि जो बात मिथ्या है, वह मिथ्या हि रहती है—यदि तुम एक ओर से उसे ठीक करने की कोशिश करोगे, तो वह दूसरी ओर से बिगड़ जाएगी।

फिर कुछ देर दलील के लिए यदि यह भी मान लिया जाय, कि परमेश्वर की प्रेरणा से लाखों मनुष्य आत्मा वृक्षों के बीजों में घुस २

कर वृक्ष और पौदे बनते हैं, और लाखों मनुष्य आत्मा लाखों अंडों में घुस २ कर नाना प्रकार के कीड़े-मकोड़े और पक्षी आदि बनते हैं, और लाखों गौओं, गधों आदि पशुओं और मनुष्यों के वीर्य में घुसकर नाना प्रकार के पशु और मनुष्य बनते हैं, तो भी क्या ? क्या यह सत्य नहीं कि लाखों चनों के दाने (जिनमें तुम्हारे विश्वास के अनुसार लाखों आत्मा वृक्ष बनने के लिए घुसेड़े गए हैं) वृक्ष बनने से पहले हि **भूनकर** चबा लिये जाते हैं और गेहूं और जव आदि के वह लाखों दाने (जिन में तुम्हारी गप्प के अनुसार लाखों आत्मा प्रविष्ट हो चुके हैं) पिस कर आटा बन जाते हैं, और उनकी रोटियां बनकर किसी मनुष्य वा किसी पशु के पेट में चली जाती हैं ? अब क्या जो दाने भुन गए उनके भीतर के आत्मा भी भुन गए ? अगर कहो, कि भुन गए, तो फिर परमेश्वर की आज्ञा किधर गई ? और अगर कहो कि वह नहीं भुने और केवल चबाने वालों के पेट में चले गए, तो फिर आगे चलकर उनका क्या होता है ? अगर वह किसी मनुष्य वा पशु के आहार में दाख़िल होकर उनके वीर्य के द्वारा बच्चे बनते हैं, तो भी वह छोले वा गेहूं वा जव आदि के **पौदे** तो नहीं बन सके कि जो परमेश्वर की **इच्छा** थी। फिर उसका न्याय किधर गया ? इसी प्रकार जो लाखों अंडे प्रति दिन खाए जाते हैं, उनके भीतर के आत्माओं का क्या होता है ? वह अंडे मनुष्य के पेट में जाकर सांप वा मछली वा कोई पक्षी तो नहीं बन सकते ? फिर तुम्हारे परमेश्वर का न्यायमूलक फ़ैसला किधर गया ? बात यह है, कि क्या पुनर्जन्म और क्या उसके आधार पर मुक्ति का विश्वास **मिथ्या** कल्पना या **झूठी** गप्प के भिन्न और कुछ नहीं है।

छत्तीसवां परिच्छेद

जीवन पथ से अन्धता

सं० १९५८ (१९०१ ई०) में मैंने उपरोक्त विषय पर जो दोहे रचे थे, वह यह हैं :—

(१)

जीवन पथ कुछ और है, धन सम्पद् कुछ और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ १
जीवन पथ कुछ और है, मान बड़ाई और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ २
जीवन पथ कुछ और है, राज भोग कुछ और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ ३
जीवन पथ कुछ और है, नाम उपाधि और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ ४
जीवन पथ कुछ और है, रत्न और भूषण और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ ५
जीवन पथ कुछ और है, यश गौरव कुछ और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ ६
जीवन पथ कुछ और है, जाति-कुल कुछ और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ ७
जीवन पथ कुछ और है, विद्या-बुद्धि और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ ८

(२)

जीवन पथ कुछ और है, सभा वक्तृता और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ ९

जीवन पथ कुछ और है, रीति शोधन और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ १०
जीवन पथ कुछ और है, राज अन्दोलन और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ ११
जीवन पथ कुछ और है, बनज उन्नति और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ १२

(३)

जीवन पथ कुछ और है, मत प्रचार कुछ और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ १३
जीवन पथ कुछ और है, जाप पाठ कुछ और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ १४
जीवन पथ कुछ और है, तीर्थ भ्रमण कुछ और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ १५
जीवन पथ कुछ और है, "रहित" ग्रहण कुछ और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर। १६

(४)

जीवन पथ कुछ और है, योग समाधि और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ १७
जीवन पथ कुछ और है, ग्रस्थ त्याग कुछ और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ १८
जीवन पथ कुछ और है, कथा श्रवण कुछ और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ १९
जीवन पथ कुछ और है, वार्षिक उत्सव और।
जीवन तत्त्व से अन्ध रह, विनसत लाख करोर॥ २०

सैंतीसवां परिच्छेद

आत्मा के अस्तित्व के विषय में मिथ्या और कल्पित विश्वास

संवत् १९६० (सन् १९०३ ई०) में मैंने एक छोटी-सी पुस्तक लिखकर छापी थी, उसमें मैंने आत्मा के विषय में प्रचलित मिथ्या विश्वासों पर जो कुछ अति संक्षिप्त रूप से उल्लेख किया था, वह नीचे लिखा जाता है :—

१—करोड़ों मनुष्य अपने आत्मा के विषय में कोई सत्यज्ञान नहीं रखते; और केवल खाने, पीने, सोने, जागने, खेलने, कूदने, गप्पें मारने, धन कमाने, जायदाद, इज्ज़त और प्रशंसा वा वाहवा लाभ करने और इन्द्रिय आदि सम्बन्धी विविध सुख चाहने और अपने विविध सम्बन्धों में अपनी मूर्खता और अपने मिथ्या विश्वासों और कुसंस्कारों, और नाना प्रकार के पापों और अपराधों के द्वारा अपने और औरों के लिए महा भयानक हानियां और दुःख और क्लेश और उत्पीड़न पहुंचाने के भिन्न और कुछ नहीं करते। वह जीवधारी होकर भी अपने अमूल्य जीवन के विषय में अज्ञानी रहते हैं। वह जीवन रखते हैं, पर नहीं जानते, कि जीवन क्या वस्तु है, और वह विश्व के परिवर्तन सम्बन्धी **अटल नियम** के **अधीन** होकर किस प्रकार **बनता** और **बिगड़ता** है, और किस प्रकार बिगड़ते २ एक दिन बिलकुल **नष्ट** हो जाता है। यह ज्ञान उनमें नहीं। वह इस महा आवश्यक ज्ञान से खाली हैं। वह अपने हि अस्तित्व के सम्बन्ध में घोर **अन्धकार** में हैं।

२—ऐसे करोड़ों मनुष्य (जिन में बादशाह और राजे, विद्वान् और मूर्ख, धनी और निर्धन, पुरोहित और पंडित, मौलवी और पादरी, पूज्य और फुंगी, उपदेशक और वायज़, उस्ताद और शागिर्द, शिक्षक और

विद्यार्थी, शिल्पी और कृषक, दुकानदार और व्यापारी, बैरिस्टर और वकील, जज्ज और मजिस्ट्रेट, डाक्टर और इंजीनियर, गवर्नर और हाकिम आदि सब प्रकार के लोग शामिल हैं, जो कुछ आत्मा के विषय में एक या दूसरे प्रकार की प्रचलित कहानियों पर विश्वास करते हैं, वह सब प्राकृतिक नियम और सत्य के विरुद्ध होने के कारण **मिथ्या कल्पना** के भिन्न और कुछ नहीं। कल्पना मूलक मिथ्या विश्वास जैसे जुदा २ और नाना प्रकार के होते हैं, वैसे हि वह महा हानिकारक भी होते हैं।

३—मनुष्य आत्मा के जीवन से हि धर्म्म का सम्बन्ध है। इसलिए जब तक आत्मा के विषय में किसी को सच्चा ज्ञान प्राप्त न हो, तब तक उसे धर्म्म का सच्चा और पूर्ण ज्ञान भी नहीं हो सकता।

४—मनुष्य आत्मा के सम्बन्ध में जो कितने हि मिथ्या और कल्पित विश्वास इस पृथिवी में फैले हुए हैं, वह यह हैं, यथा:—

(१) वह (मनुष्यात्मा) सच्चिदानन्द स्वरूप पूर्ण ब्रह्म है। माया के संग मिलकर जीव बन गया है।

(२) वह ईश्वर का रूप अथवा अंश वा "हुक्म" है।

(३) वह ईश्वर का रचा हुआ और उसकी संतान है।

(४) वह अविनाशी है और अनादि काल से है।

(५) उसकी उत्पत्ति तो है, परन्तु उसका विनाश नहीं है।

(६) "क़यामत" वा इन्साफ़ के नियत दिन में वह ख़ुदा की अदालत में हाज़िर किया जाएगा। वह अपने कर्म्मों का इनाम वा दंड पाएगा। उस दिन से वह हमेशा के लिए स्वर्ग वा नरक में रहेगा और उसकी हालत में कोई तबदीली न आएगी।

(७) इन्साफ़ का नियत दिन कोई नहीं। वह अपने स्थूल शरीर के छोड़ने पर परमेश्वर के पास जाकर अपने कर्म्मों के अनुसार या तो कुछ काल स्वर्ग में रहता है, और या इस पृथिवी में आकर कभी मनुष्य, कभी पशु और कभी वृक्ष आदि बनता है।

(८) वह शरीर के मरने पर ख़ुद भी हमेशा के लिए मर जाता

है। और उसका कुछ बाक़ी नहीं रहता। इत्यादि, इत्यादि, इत्यादि।

इतनी भिन्न २ कल्पनाएं क्यों ? इसीलिए कि देवधर्म्म प्रवर्तक से पहले कोई मनुष्य इस पृथिवी में मनुष्यतत्त्व को वैज्ञानिक विधि के अनुसार खोजने और मालूम करने के योग्य नहीं हुआ, और नहीं हो सकता था; क्योंकि एक ओर जैसे वह काल वैज्ञानिक काल न था, वैसे हि दूसरी ओर देवधर्म्म प्रवर्तक, इस अपूर्व तत्त्वज्ञान के लाभ करने के लिए, जिन विशेष शक्तियों को लेकर जन्मे, वह शक्तियां भी किसी में वर्तमान नहीं थीं। इसीलिए प्राचीन काल में आत्मा तो एक ओर सूर्य्य, चन्द्र और पृथिवी आदि जड़ पदार्थों के सम्बन्ध में भी नाना प्रकार के **मिथ्या** विश्वास कल्पना किए गए थे, कि जो बहुत से लोगों में अब तक भी जारी हैं।

श्री देवधर्म्म प्रवर्तक ने मनुष्य आत्मा के सम्बन्ध में जिन वैज्ञानिक तत्त्वों को जाना और प्रकाश किया है, वह यह हैं :—

(१) जैसे मनुष्य का शरीर भौतिक जगत् के जड़ पदार्थों, अर्थात् आक्सीजन, हाईड्रोजन और कार्बन आदि को लेकर विकशित हुआ है, उसी प्रकार उसका आत्मा उस जीवनी शक्ति से विकशित हुआ है, कि जो भौतिक शक्ति का हि रूपान्तर है। गठनकारी जीवनी शक्ति ने हि भिन्न २ अवस्था में भिन्न २ प्रकार के उद्भिद, पशु और मनुष्य आकारों की सृष्टि की है।

(२) गठनकारी जीवनी शक्ति हि अनुकूल अवस्था में अपने लिए आकार **गठन** वा **निर्माण** करती है; वही उसका **पालन** करती है; वही उसे **जीवित** रखती है; और वही उसके सदृश और आकार **उत्पन्न** करती है; और एक से बहुत प्रकार की बन जाती है।

(३) गठनकारी जीवनी शक्ति भी अपना उसी प्रकार गठित (organized) रूप रखती है, जिस प्रकार उसका भौतिक शरीर।

(४) जिस प्रकार अनुकूल वा प्रतिकूल सम्बन्धों में पड़कर शरीर बनता वा बिगड़ता है; उसी प्रकार आत्मा भी अपनी विविध शक्तियों में परिवर्तन लाभ करके बनता वा बिगड़ता है। अर्थात् यह दोनों ही

विश्व के और सब पदार्थों की न्याईं अपने अनुकूल वा प्रतिकूल आवृत्त-कारी सम्बन्धों (environment) के अनुसार नीच वा उच्च परिवर्तन लाभ करते हैं, और विश्व के विकाश वा विनाशकारी अटल नियमों के सर्वदा अधीन रहते हैं।

(५) जैसे मनुष्य का शरीर प्रतिकूल सम्बन्धों में पड़कर रोगी हो जाता है, और रोगी होकर अपने सौन्दर्य्य और बल को खोता जाता है, और यदि यह सिलसिला बराबर जारी रहे, तो एक दिन वह बिलकुल नष्ट हो जाता है; उसी प्रकार उसका आत्मा भी प्रतिकूल सम्बन्धों में पड़कर दिनों दिन नीच बनता है, और इस नीचता के अनुसार अपने सौन्दर्य्य और बल को खोता जाता है। और यदि यही सिलसिला जारी रहे, तो वह भी एक दिन पूर्णतः नष्ट हो जाता है।

(६) जैसे किसी शारीरिक रोग को दूर करने वा उसकी पालना के लिए किसी ईश्वर वा देवता आदि के विश्वास की आवश्यकता नहीं, उसी प्रकार आत्मा को नीचगति वा विनाश से बचाने के लिए उपरोक्त प्रकार के किसी कल्पित विश्वास की आवश्यकता नहीं।

(७) जैसे शारीरिक रोग के दूर करने में सुविज्ञ चिकित्सक और ओषधि से सहाय मिलती है, उसी प्रकार अधिकारी आत्मा को अपने जीवन के सम्बन्ध में अज्ञानता, कल्पित विश्वास, मोह और पाप सम्बन्धी नीचगति दायक अवस्था से मोक्ष पाने और उच्च विकाश लाभ करने में देवजीवन-प्राप्त सतगुरु से सहाय मिल सकती है।

(८) अपनी पतनकारी प्रत्येक नीचगति का ज्ञान और बोध लाभ करके, उससे **मोक्ष** पाना, और उच्चजीवन सम्बन्धी नाना अंगों को विकशित करके, विश्व के प्रत्येक विभाग के साथ अपने लिए विकाश-कारी सम्बन्ध स्थापन करने के योग्य बनना हि मनुष्य आत्मा का एक-मात्र **सच्चा** और **मुख्य** लक्ष्य है।

५—इन विज्ञान-मूलक सच्चे महातत्त्वों का प्रकाश करके श्री देवधर्म्म प्रवर्तक मनुष्य मात्र को जिस **सत्य विज्ञान-मूलक** धर्म्म की शिक्षा देते हैं, उसी का नाम **देवधर्म्म** है।

६—इन विज्ञानमूलक महातत्त्वों का महा कल्याणकारी ज्ञान लाभ करके, उन्होंने मज़हवी दुनिया की सारी काया पलट दी है, और वह इस पृथिवी के नाना सम्प्रदायों में (१) सृष्टि और स्रष्टा, (२) स्वर्ग और नरक, (३) परलोक, (४) इन्साफ़ और क़यामत, (५) पूजा वा इवादत, (६) तीर्थ और व्रत, (७) भजन और कीर्तन, (८) जप और पाठ, (९) योग और समाधि, (१०) देवी और देवते, (११) मोक्ष और निर्वाण, (१२) पाप और पुण्य, और उनके फलों आदि नाना विषयों के सम्बन्ध में जो **मिथ्या विश्वास** पाए जाते हैं, उनकी असलीयत ज़ाहिर करके उनके सम्बन्ध में विज्ञान-मूलक **सत्य शिक्षा** प्रदान करते हैं।

७—यह सब शिक्षा ऐसे सब स्त्री पुरुषों को दी जाती है कि जो अपने सच्चे हित की आकांक्षा रखते हों, और अहंकारी और मिथ्या पक्षपाती (मुतास्सिब) न हों, और श्रद्धा और दीनता के साथ किसी तत्त्व को सीखकर उसपर युक्ति पूर्वक विचार कर सकते हों।

८—इस महा हितकर और अमूल्य शिक्षा के भिन्न सैकड़ों आत्माओं ने उनकी शरण लेकर और उनकी ज्योति और शक्ति का दान पाकर अपनी २ योग्यता के अनुसार नाना प्रकार के पापों से इसी पृथिवी में सच्ची मोक्ष और उच्चजीवन विषयक कुछ न कुछ विकाश लाभ करके अपने आप को कृतार्थ किया है।

देवसमाज के १७ वें वार्षिकोत्सव पर मैंने विश्व और आत्म तत्त्व के सम्बन्ध में जो उपदेश दिया था, उसका अति संक्षिप्त वृतान्त एक कर्म्मचारी ने लिखा था, और वह फाल्गुन संवत् १९६० के "जीवन पथ" में छपा था। उसमें से जो वर्णन जीवनी शक्ति और आत्म-तत्त्व से सम्बन्ध रखता है, वह नीचे उद्धृत होता है:—

"इसके अनन्तर श्री देवगुरु भगवान् ने एक और अति गूढ़ और विचित्र सत्य का ऐसी सुगमता के साथ प्रकाश किया, कि जिसे सन्मुख लाकर हृदय उनकी अपूर्व मानसिक शक्तियों पर बार २ बलिहार जाता था। उन्होंने गुलाब के पेड़ की एक ताज़ा कटी हुई शाखा को अपने हाथ में लेकर बताया, कि यह शाखा अब तक जीवन्त दशा में है, और यदि

हम उसे मार डालना चाहें, तो उसे बिलकुल मार सकते हैं । अग्नि में रख देने से, उसके ताप से उसका बहुत शीघ्र ख़ात्मा कर सकते हैं । परन्तु यदि उसी को ऐसी भूमि में गाड़ दें, जहां जलवायु और आवश्यक ताप आदि से उसे **अनुकूल** सहाय प्राप्त हो सके, तो थोड़े दिनों में हम क्या देखेंगे कि वही जीवनीशक्ति जो इस शाखा के भीतर वर्तमान थी, इन अनुकूल सम्बन्धियों को पाकर एक आश्चर्य लीला दिखलाती है—अर्थात् इस शाखा के भीतर से जड़ और पत्ते और अन्य टहनियां और कलियां और फूल आदि निकाल कर उसे एक सुन्दर गुलाब के पौदे में परिणत कर देती है । अब प्रश्न यह है, कि इस सुन्दर पौदे को किस ने संगठित कर दिया ? उत्तर—जीवनीशक्ति ने । यदि इस जीवनी-शक्ति को निकाल दो, तो फिर उसकी सूखी शाखा से कोई पेड़ उत्पन्न नहीं हो सकता, चाहे हम किसी कल्पित विश्वास के द्वारा लाख बार "ईश्वर" २ कह कर कोई प्रार्थना भी करते रहें ।

निदान यही गठनकारी जीवनीशक्ति हि अनुकूल अवस्था में अपने लिए भौतिक आकार वा शरीर को संगठन करती है । उसकी पालना और रक्षा करती है और उस के सदृश और आकार उत्पन्न करती है । जैसे जीवनधारी अस्तित्वों में **यह जीवनीशक्ति** हि **प्रधान वस्तु** है, वैसे हि यह जीवनीशक्ति योग्यता रखने पर अनुकूल सम्बन्धों को प्राप्त होकर **उन्नत** होती है, और प्रतिकूल सम्बन्धों को प्राप्त होकर धीरे २ **नष्ट** हो जाती है । श्री देवगुरु भगवान् ने इस तत्त्व को "पैन्सी" के एक हरे भरे यौवन अवस्था प्राप्त और सुन्दर पत्रों और पुष्पों से सुशोभित पौदे और तुलसी के एक सूखे और मुरझाए हुए पेड़ को दिखलाकर अत्यन्त उत्तमता के साथ प्रगट किया और बतलाया, कि यह दोनों हि पौदे यद्यपि इसी मौसम में वर्तमान हैं; तथापि एक के लिए यह ऋतु प्रतिकूल प्रमाणित हो रही है, और इसलिए उसकी गति नीचे की तरफ को है; और दूसरे के लिए यही ऋतु अनुकूल है, और उसकी गति ऊपर को है, और वह हरा भरा और पुष्पों आदि से सुशोभित हो रहा है । अब जब तक इन दोनों

पौदों का इस ऋतु के साथ सम्बन्ध है तब तक इस सम्बन्ध जनक फल से वह बच नहीं सकते। अभी थोड़े दिनों में इस ऋतु में भी परिवर्तन आएगा, और उसके साथ इन दोनों पौदों की गति में भी परिवर्तन आ जाएगा, अर्थात् जो तुलसी इस समय पत्रहीन और मुरझाई हुई दिखाई देती है, उसकी जीवन्त शाखाओं में नई कोंपलें फूटेंगी, नई पत्तियां निकलेंगी, और यह तुलसी नए २ हरे २ और नरम २ पत्रों आदि से शृंगार लाभ करके सुन्दर रूप धारण करेगी। और यह "पैन्सी" जो इस समय हरी भरी दिखाई देती है, सूख कर मर जाएगी।

श्री देवगुरु भगवान् ने यह तत्त्व भी प्रगट किया, कि ऋतु के साथ सम्बन्ध रख कर जहां इन पौदों में इस प्रकार का परिवर्तन उत्पन्न होता है, वहां इसी परिवर्तन में हम एक और विचित्र लीला भी देख सकते हैं; और वह यह, कि जहां तुलसी के पेड़ की कितनी हि टहनियों में नए सिरे से पत्ते और पुष्प आदि निकल आएंगे, वहां कुछ वह टहनियां जो अब बिलकुल सूख चुकी हैं (उन्होंने तोड़कर कुछ ऐसी टहनियां दिखलाईं) और जिन के भीतर से जीवनीशक्ति नष्ट हो चुकी है, वह कोई पत्ता न निकालेंगी। क्यों? इसलिए कि उन में **जीवनीशक्ति नहीं रही**। अब तुम देखते हो, कि यह उत्पत्ति और पालना आदि का कार्य्य कोई कल्पित ईश्वर वा परमेश्वर वा ख़ुदा **नहीं** करता, किन्तु **जीवनीशक्ति** हि करती है। अतएव तुम इन प्रत्यक्ष प्रमाणों से जान सकते हो, कि किसी जीवनधारी अस्तित्व में उसकी **जीवनीशक्ति हि मुख्य वस्तु** है। उसी से ऐसे अस्तित्व का जीवन और उसी से उसकी रक्षा और उसका सौन्दर्य्य और विकाश है। उसके लोप वा नष्ट होजाने पर वह अस्तित्व नहीं रहता, और उसे "ईश्वर" वा "ईश्वर" आदि विषयक मनुष्य का कोई मिथ्या विश्वास **जीवित** नहीं कर सकता। उन्होंने यह भी प्रगट किया, कि यही जीवनीशक्ति नाना प्रकार के सम्बन्धों को प्राप्त होकर नाना प्रकार की होगई है। अर्थात् उद्भिद् जगत् में वह एक प्रकार के रूप और गुण रखती है, पशुओं में वह और गुण और लक्षण प्रकाश करती है, और मनुष्यों में और। इसी के अवस्था

भेद से कोई जीवन उच्च और कोई नीच होता है।

अन्त में श्री देवगुरु भगवान् ने इन सब तत्त्वों का प्रकाश करके वतलाया, कि सभ्य जगत् के वड़े २ वैज्ञानिक पण्डित भी जीवन विज्ञान के कुछ मोटे २ साधारण तत्त्वों के भिन्न, उन महा सत्यों को नहीं जान सके, कि जिनका आत्मा के धर्म्म वा अधर्म्म जीवन और उनके फलों से सम्वन्ध है। वह नहीं जानते कि मनुष्य की जीवनी शक्ति क्योंकर अपने रूप में विकशित और क्योंकर क्षय और विनष्ट होती है, अथवा क्योंकर मनुष्यात्मा का विकाश और क्योंकर उसका विनाश होता है। वह नहीं जानते कि कौनसी शक्तियों के अधीन होकर वह नीचगति प्राप्त होता है, और किन २ अनुराग शक्तियों के उत्पन्न वा उन्नत होने से उसकी गति उच्च होती है। वह उच्च बन कर और अपनी स्थूल देह को छोड़ कर किस प्रकार उच्च लोकों का अधिकारी बनता है, और किन सूरतों में अपनी स्थूल देह को त्याग करते हि अथवा उसके अनन्तर सूक्ष्म देह पाकर भी, अपनी नीचगति के द्वारा कुछ काल तक बिगड़ते २ और क्षय होते २ एक दिन बिलकुल नष्ट होजाता है, और इस विनाश पथ में उसका कल्पित मत वा विश्वास उसकी कुछ सहाय नहीं करता। और जब इस काल के वैज्ञानिक पण्डितों का यह हाल है, तब फिर कल्पना मूलक मतों के संस्थापकों का तो क्या कहना है ! हां, जब कि उनके समय में प्रकृत विज्ञान की हि उत्पत्ति वा यथेष्ट उन्नति नहीं हुई थी, तब वह **विज्ञानमूलक-धर्म्म** की शिक्षा कहां दे सकते थे ? जैसे विज्ञान विषयक नाना तत्त्वों के आविष्कार करने के लिए नेचर ने उचित समय के आने पर विशेष २ योग्य पुरुषों का पहले प्रकाश किया है, वैसे हि इस वैज्ञानिक काल में, धर्म्म को कल्पित मतों और मिथ्या विश्वासों से उद्धार करने और **विज्ञानमूलक एकमात्र सत्य धर्म्म** के निगूढ़ तत्त्वों को देख और जान कर मनुष्य मात्र को उनकी शिक्षा देने के लिए धर्म्मावतार श्री देवगुरु भगवान् को आविर्भूत किया है। इस धर्म्मावतार ने हि प्रगट होकर **जीवनीशक्ति** के विनाश और विकाश के **अटल** और विज्ञानमूलक सत्यों को देखकर उन पर धर्म्म की वह **अटल** बुनियाद रक्खी है, कि जिसका दृष्टान्त इस पृथिवी ने इससे पहले कभी नहीं देखा था।"

अड़तीसवां परिच्छेद

आत्मा की विनाश से मुक्ति और उसमें उच्चजीवन का विकाश

इस विषय में मैंने सं० १९६० वि० में एक लेख छापा था, वह लेख कुछ आवश्यक संशोधन के बाद नीचे दर्ज किया जाता है :—

वह देखो ! कीकर के वृक्ष पर मोटे २ धागों की न्याईं एक बेल फैली हुई है। उस की रंगत कुछ पीली सी है। उसे अमरबेल कहते हैं। उस बेल में पत्ते नहीं, फूल भी नहीं। वह बेल तो है, परन्तु पत्र और पुष्प विहीन है। इधर इस चमेली की लता को देखो ! यह भी बेल है। परन्तु वह अमरबेल की न्याईं पत्तों और फूलों से ख़ाली नहीं। इसमें हरे २ हज़ारों पत्ते और सफ़ेद रंग के सैकड़ों सुगंधि-दायक फूल लगे हुए हैं। अमरबेल में पत्ते और फूलों का विकाश नहीं हुआ, परन्तु चमेली में हुआ है। इसी प्रकार लाखों मनुष्य जो इस वा उस मत को मानते हैं; इस वा उस इष्टदेव की पूजा करते हैं; वह उपरोक्त अमरबेल की न्याईं अपने आत्माओं में पाप सम्बन्धी कोई सच्चे और मोक्ष दायक **बोध** और विकाश सम्बन्धी कोई उच्चगति दायक **अनुराग** नहीं रखते। और इसीलिए नाम मात्र किसी "धर्म्म समाज" वा "धर्म्म सम्प्रदाय" के मेम्बर कहला कर भी, वह एक ओर जहां सच्चे धर्म्म जीवन से वंचित पाए जाते हैं, वहां दूसरी ओर नीचगति-प्राप्त होकर अपनी आत्मिक अवस्था के विचार से दिनों दिन नीच और रोगी बनते जाते हैं। वह दिनों दिन उस क्षयीरोगी की न्याईं जिसका शरीर सूखता जाता है, जिसका रुधिर और मांस घटता जाता है, अपने आत्मा की **जीवनी-शक्ति** की पूंजी को नष्ट करते जाते हैं। उनका आध्यात्मिक जीवन दिनों दिन **क्षय** होता जाता है, और वह समय निकट आता जाता है,

जब कि उनका यह जीवन घटते २ एक दिन बिलकुल नष्ट हो जाएगा।

यह लोग जीवन विषयक तत्त्वज्ञान के न रखने से उस नन्हें से बच्चे की न्याईं हैं, कि जो अतिसार रोग से रोगी है, जिसे दस्त पर दस्त आते हैं, और उसके शरीर की शक्ति धीरे २ घटती जा रही है, परन्तु वह मूर्ख नहीं जानता, कि इस रोग के कारण मेरे शरीर की क्या दशा होती जाती है, और वह किस प्रकार धीरे २ शक्ति हीन होता जाता है, और वह समय निकट आता जाता है, जब कि उसके शरीर की सब शक्ति क्षय हो जाएगी, उसके शरीर के बड़े २ प्रतिपालक अंग शिथिल होकर अपना २ काम छोड़ देंगे, और उसका शरीर मर जाएगा। यह लोग अज्ञानता से यह नहीं समझते, कि जैसे शारीरिक शक्ति की एक **सीमा** है, वैसे ही आत्मा की **जीवनीशक्ति** की भी एक **सीमा** है, और जैसे **शरीर** पर **विकाश और विनाश के अटल नियम** काम करते हैं, वैसे हि **आत्मा** पर। और जैसे प्रकृति के अटल नियम के अधीन होकर रोगी होने से शारीरिक शक्ति **क्षय** होती है, वैसे ही विश्व के विविध सम्बन्धों में पाप और मोह आदि उत्पादक नाना प्रकार की नीचगतियों के रोगों से आत्मा की अपनी जीवनीशक्ति भी **नष्ट** होती रहती है, और वह ऐसी नीचगति में पड़ा रहकर एक दिन अपनी सब जीवनी शक्ति खोकर बिलकुल **मर जाता** है। यह लोग पुराने कुसंस्कार के वशीभूत होकर यह विश्वास करते हैं, कि शरीर के लिए अवश्य मृत्यु है, परन्तु आत्मा के लिए कोई मृत्यु नहीं। शरीर अवश्य मरता है, परन्तु आत्मा नहीं मरता, वह अमर है। यह लोग यह नहीं जानते, कि जिस काल में उनके पूर्वजों ने आत्मा को अमर समझा था, उस काल में वह **जीवन विषयक** प्रकृत ज्ञान के विचार से **पूर्ण अन्धकार** में थे। उस काल में न केवल आत्मा के सम्बन्ध में, परन्तु और कितने हि पदार्थों के सम्बन्ध में भी वह पूर्ण रूप से अज्ञानी थे, इसीलिए जिन पुस्तकों को मनुष्य रचित न बताकर "ईश्वर रचित" तक बताया जाता है, उनमें भी प्रकृति के नियमों के विरुद्ध नाना प्रकार की **मिथ्या** बातें भरी हुई हैं।

विश्व के भीतर जो प्राकृतिक नियम काम करते हैं, और सदा से करते रहे हैं, उनकी **अटलता** का सत्यज्ञान इस काल में भी सब मनुष्यों को नहीं, किन्तु केवल गिनती के मनुष्यों को है। और जीवन विषयक तत्त्वज्ञान के विचार से तो ऐसे सभी धर्म्म सम्प्रदायों के लोग अन्धकार में पड़े हुए हैं, कि जो प्रत्येक आत्मा को अमर विश्वास करते हैं। इस महा भयानक अज्ञानता के कारण पृथिवी के मनुष्यों को धर्म्म की वह सच्ची नींव नहीं मिली, कि जो प्रकृति के **अटल नियमों** पर स्थापित है। और इसीलिए जब लोगों को यही पता नहीं, कि प्रकृत धर्म्म क्या है, और वह मनुष्य की किस चीज़ से सम्बन्ध रखता है, और वह चीज़ प्रकृति के नियमों के अधीन है, या नहीं, तब फिर उनके धर्म्म-मत मिथ्या कल्पना के भिन्न और क्या हो सकते हैं? इसीलिए लोग जीवन रखकर भी, जीवन विषयक तत्त्व ज्ञान की ज्योति से वंचित हैं; और प्रकृत धर्म्म को न जानकर और नाना प्रकार के कल्पित मतों में फंसे रहकर अत्यन्त शोचनीय अवस्था रखते हैं!!

किसी एक वा दूसरे मज़हब वा धर्म्म के मानने वालों की संख्या करोड़ों तक पहुंचती है, परन्तु इन करोड़ों मनुष्यों में कितने आदमी ऐसे हैं, जो उन दस बड़े २ पापों से भी विरत हैं, कि जिन से विरत होकर और विरत रहने की प्रतिज्ञा करके हि कोई जन देवसमाज में सब से निम्न श्रेणी का सेवक (मेम्बर) बनता है? यथा :—

(१) मैं व्यवसाय विषयक चार प्रकार के पाप न करूंगा, अर्थात् :—

(अ) मैं रिशवत न लूंगा।

(इ) मैं धोखा देने की नीयत से कम वा अधिक न तोलूंगा, अथवा कम वा अधिक न नापूंगा।

(क) मैं धोखा देने की नीयत से कुछ की कुछ चीज न दूंगा।

(ख) मैं किसी काम के सम्बन्ध में कुछ उजरत वा दाम नियत करके अथवा जो पहले से नियत हो, उसके लेने वा देने में बेईमानी न करूंगा।

(२) मैं चोरी न करूंगा।

(३) मैं किसी से उधार ली हुई अथवा अपने पास किसी की धरोहर (अमानत) रक्खी हुई कोई वस्तु दवा न लूंगा।

(४) मैं बिना उचित अधिकार के किसी की कोई वस्तु छीन न लूंगा। और उसके छीनने में किसी की मदद न करूंगा।

(५) मैं जुआ न खेलूंगा।

(६) मैं सामर्थ्य रखने पर निकम्मा न रहूंगा।

(७) मैं व्यभिचार अथवा कोई और अप्राकृतिक पाप न करूंगा। और न एक पत्नी के इस दुनिया में जीते जी दूसरा विवाह करूंगा।

(८) मैं किसी मादक द्रव्य अर्थात् शराब, अफ़ीम, भंग, तम्बाकू, चरस, चण्डू और कोकेन आदि का **मादकता के लिए** न आप सेवन करूंगा, न उन्हें किसी और को दूंगा, न उन्हें अपने वा किसी और के लिए मोल लूंगा वा बेचूंगा, न उनमें से किसी की खेती करूंगा और न उन्हें किसी और प्रकार से तैयार करूंगा, और न ऐसी दुकान वा जन की नौकरी करूंगा, कि जिस का काम केवल मादक द्रव्य बेचना हो, और मुझे उसके लिए यही काम करना पड़े।

(९) मैं मांस अथवा मांस की बनी हुई कोई वस्तु न खाऊंगा, न मांस बेचने का व्यापार करूंगा, और न उसे किसी को खाने के लिए दूंगा, न ऐसी दुकान में वा ऐसे जन की नौकरी करूंगा, जिसका काम केवल मांस वा मांस की बनी हुई वस्तुएं बेचना हो, और मुझे उसके लिए यही काम करना पड़े।

(१०) मैं बिना उचित कारण के किसी जीव को बध न करूंगा।

अब क्या यह सच नहीं, कि जो लोग एक ईश्वर के पुजारी कहलाने का अभिमान करते हैं, उनमें भी करोड़ों जन उपरोक्त पापों से मुक्त नहीं हैं ? क्या यह सच नहीं, कि कितने हि जन एक ईश्वर के उपासक कहला कर जिन कई पापों को करते हैं, वह बहुदेव उपासक अथवा मूर्ति पूजक कहलाने वाले नहीं करते ? फिर ईश्वर और ईश्वरोपासना की विशेषता कहां ? जीवन तत्त्व की ज्योति के न मिलने से ऐसे लोग

केवल संस्कार के वश होकर अपने २ मतों को लेकर फूलते हैं और अपने मतों को सच्चा और दूसरे के मत को झूठा कहते हैं। नहीं तो यदि जीवन विषयक तत्त्व ज्ञान को लेकर विचार किया जाय, तो साफ़ मालूम हो सकता है कि वह सभी मत कल्पित हैं, और उनके फलों के विचार से उनमें कोई बड़ी विशेषता नहीं है। "ईश्वर कृत" एक २ धर्म्म पुस्तक का, जिसकी रचना को हज़ारों और कितनों के कथन के अनुसार करोड़ों वर्ष हो चुके हैं, उसके मानने वालों पर इतना प्रभाव भी नहीं पड़ा, कि उन सब से चोरी, व्यभिचार, प्रवंचना, और उत्कोच (घूस) आदि प्रकार के कुछ बड़े २ पाप हि चले जाते। हां, इन में से कोई एक हि चला जाता। फिर ईश्वर और उसकी रची हुई पुस्तकों ने क्या किया ? यही लाखों और करोड़ों पाप करने वाले जब एक २ दो २ महीने के बच्चे थे, तब क्या वह चोरी करते थे ? व्यभिचार करते थे ? रिशवत लेते थे ? प्रवंचना करते थे ? नहीं। फिर यह और इस प्रकार के और कितने हि पाप उनमें कहां से उत्पन्न हो गए ? जब वह बच्चे थे, और कोई धर्म्म मत न जानते और न मानते थे तब वह उन पापों से बचे हुए थे; परन्तु वयस के बढ़ने के साथ २ जहां वह इस वा उस मत वा मज़हब के आदमी कहलाने लगे, वहां विविध प्रकार के पापों के कर्ता भी बन गए। फिर तुम्हारे मत ने तुम्हारे लिए क्या किया ? तुम्हारी धर्म्म पुस्तक ने तुम्हारे लिए क्या किया ? तुम्हारी पूजा ने तुम्हारे लिए क्या किया ? तुम्हारे ऋषियों, पैग़म्बरों और तुम्हारे पादरियों और भिक्षुकों, प्रचारकों और उपदेशकों ने क्या किया ? तुम्हारे नदियों के स्नान, तीर्थ यात्रा, जप, पाठ और होम ने क्या किया ? तुम्हारे देवतों और ईश्वर और ईश्वर के अवतारों ने क्या किया ? तुम जब बच्चे थे, तब ऐसे न थे, परन्तु बड़े होकर और मत के मतवाले बन कर, पहले से अधिक नीच और बुरे हो गए। क्यों ? यह सब कुछ इसलिए हुआ और हो रहा है कि तुम्हारे भीतर बचपन में जिन वासनाओं और उत्तेजनाओं आदि के कोष वर्तमान थे, वह कोष तुम्हारी वयस के बढ़ने के साथ २ अपनी ख़ुराक पाकर फूटे और

बढ़े, और तुम्हारा आत्मा उन वासनाओं और उत्तेजनाओं की शक्तियों के अधीन होकर और धन, मान और विविध शारीरिक सुखों आदि का अनुरागी बन कर पापों में खुशी २ प्रवृत्त हो गया। और तुम उनसे परिचालित होकर स्वभावतः नाना प्रकार के पाप कर्म्मों में लिप्त हो गए। और अब एक वा दूसरा धर्म्म मत मान कर भी तुम उन नाना पापों से अपने हृदय में कोई क्लेश वा दुःख अनुभव नहीं करते। उल्टा कई पापों को करके तुम बहुत सुख अनुभव करते हो। और इसीलिए उन्हें छोड़ने के स्थान में उलटा तुम उनके अधिक अनुरागी बनते जाते हो। और तुम्हारा मत और तुम्हारा मज़हब, तुम्हारा पाठ और पूजन, तुम्हारा जप और तुम्हारा होम, तुम्हारे आत्मा को नीचगति से बचाने में कुछ सहायक नहीं होता, और नहीं हो सकता।

देवसमाज में भी जो लोग प्रविष्ट हुए हैं, वह भी पहले तुम्हारी न्याईं थे। वह भी एक वा दूसरा धर्म्ममत रखते थे। उन में कितने हि पूजा, पाठ, जप और भजन, संध्या और प्रार्थना आदि भी करते थे। परन्तु इससे उनकी आन्तरिक अवस्था में कुछ **कल्याणकारी परिवर्तन** नहीं होता था। वह जिन वासनाओं और उत्तेजनाओं के वशीभूत थे, उनके दासत्व में रहकर विविध प्रकार के कितने हि पाप बराबर किए जाते थे। और इन पापों को करके सब प्रकार से सुखी और संतुष्ट रहते थे, और अपने मत और पूजनादि के द्वारा अपेक्षाकृत अच्छे बनने के स्थान में दिनों दिन अधिक से अधिक नीच बनते जाते थे। वह नीच-गतियों के अधीन थे, और इसीलिए वह उस समय तक उनके अधिकार से निकल नहीं सकते थे, जब तक कि कोई **उच्चगति दायक शक्ति** उनके आत्मा को पकड़कर उन्हें ऊपर को न खैंचे।

देवसमाज-स्थापक श्री देवगुरु भगवान् के आविर्भाव की यही मूल विशेषता है। वह अपने भीतर जैसे एक ओर जीवन विषयक तत्त्वज्ञान की **ज्योति** रखते हैं, वैसे हि दूसरी ओर नीचगतियों से मोक्ष दायक और सर्वांग धर्म्म जीवन उत्पादक **शक्तियां** भी रखते हैं। इसलिए जिन २ आत्माओं तक उनकी कुछ भी वह **ज्योति** और **शक्ति** पहुंची है, उन्हीं

की अवस्था उनकी योग्यता के अनुसार बदलकर कुछ की कुछ हो गई है। वह आत्मा जो पहले पाप की धार में विवश बहे जाते थे, और किसी की नहीं सुनते थे, और किसी प्रकार उस गति से मुड़ना नहीं चाहते थे, और मन्त्र-मुग्ध की न्याईं नीचगति के बल से खिंचे हुए नीचे से नीचे को हि जारहे थे, और भव सागर में अधिक से अधिक डूबते जाते थे, उन्हें जब श्री देवगुरु भगवान् की नीचगति विनाशक **शक्ति** ने पकड़ करअपनी ओर खैंचना आरम्भ किया, तब उनका मुंह फिरगया। वह पाप पथ में बहने के स्थान में उससे लौट पड़े। वह जो चोर थे, उनकी चोरी चली गई। जो शराब, अफ़ीम, भंग, तम्बाकू आदि नशों के दास थे,उनके यह नशे छूट गए। जो व्यभिचारी थे, उनका यह पाप दूर होगया। जो जुवारी थे, उनका जुआ चला गया। जो शिकारी थे, और जीवबध करने में सुखी होते थे, उनका शिकार चला गया। जो औरों से बध किए हुए पशुओं का मांस खाते थे, अथवा मांस के लिए आप खुद निर्दोष पशुओं का बध करते थे, उनका मांस खाना छूट गया। जो केशधारी सिक्ख अपनी कन्याओं के उत्पन्न होने पर उन्हें मार कर महा हत्या करते थे, उनकी यह हत्या छूट गई; और बेचारी कन्याओं की रक्षा होने लगी। जो अपने व्यवसाय (पेशे) में तरह २ की प्रवंचना करते थे, और रिशवतें लेते थे, उनकी वह प्रवंचनाएं और रिशवतें नष्ट हो गईं। जो औरों से ऋण लेकर कभी उसके परिशोध करने की इच्छा न रखते थे, उनकी यह नीच इच्छा चली गई। जो लोग कुछ काम न करते थे, वह काम करने लगे। जो अदालतों में झूठी साक्षियां देकर लोगों को नाना प्रकार की हानि पहुंचाते थे, और न्याय़ के खून में सहाय होते थे, वह इस झूठी गवाही के पाप से विरत हो गए। जो अपने माता-पिता, भाई-बहिन, पति-पत्नी आदि निकट से निकट के सम्बन्धियों के लिए भी बहुत हानिकारक और दुःखदाई बन रहे थे, उनकी यह नीच अवस्था चली गई, और उनके घरों में कलह और लड़ाई और दुःख और क्लेश के स्थान में शान्ति और सुख का राज्य आ गया। कितने हि जनों ने जिन २ को ठगा था, वा जिनका चोरी के द्वारा कोई पदार्थ अपहरण

किया था, उन्होंने यथेष्ट पाप बोध के उत्पन्न होने पर, उनका अपहरण किया हुआ धनादि सब वापिस कर दिया, और अपने अपराधों को स्वीकार किया। कितने हि लोग जो केवल स्वार्थपर थे, और किसी के सच्चे भले के लिए कुछ हिलना और कुछ काम करना नहीं चाहते थे; वह अब औरों की **सेवा** के निमित्त विविध प्रकार के शुभ काम करते हैं—कोई अपने तन से सेवा करते हैं, कोई अपने धन से, कोई अपनी विद्या से, और कोई अपने धर्म्म जीवन से औरों का हित साधन करते हैं।

यह सब इस काल की सच्ची और महा आश्चर्य्य जनक करामातें हैं। यह सब करामातें क्योंकर और कहां से ? प्रत्येक चिन्ताशील मनुष्य के हृदय में यह प्रश्न उत्पन्न होने चाहियें। यदि यह प्रश्न उदय हों, तो फिर उनके यथार्थ उत्तरों के मिलने पर, वह देवसमाज और उसके स्थापक और नेता की कुछ सच्ची महिमा देख सकते हैं। **तभी यह सत्य भी उनकी समझ में आ सकता है, कि बिना उच्चगति प्रदर्शक ज्योति और नीच गति विनाशक शक्ति के लाभ करने के कोई जन किसी मत वा मजहब को मानकर वा पूजा वा अनुष्ठानादि करके उनके अधिकार से उद्धार लाभ नहीं कर सकता; और बिना उच्चगति प्रदर्शक ज्योति और उच्चगति उत्पादक शक्ति के लाभ करने के, सच्चे धर्म्म जीवन में विकाश लाभ नहीं कर सकता।** यही कारण है, कि हर एक देश में विविध मत वालों की भयानक दुर्दशा दिखाई देती है, और उन सब की तुलना में देवसमाज-स्थापक और देवसमाज की जो विशेषता है, वह प्रत्यक्ष नज़र आती है।

फिर जीवनतत्त्व विषयक महाकल्याणकारी ज्योति को प्राप्त होकर मनुष्य यह सत्यज्ञान भी लाभ करता है, कि यदि कोई जन उपरोक्त प्रकार के सब अथवा उनमें से बहुत से मोटे २ पापों से बचे हुए भी हों, (जैसा कि कई धर्म्म मतों के लोगों में कुछ न कुछ ऐसे जन मिल सकते हैं) और उन में कुछ ऐसे जन भी पाए जाते हों, कि जो "योग समाधि" अथवा किसी की पूजा वा उपासना आदि में भी रत रहते हों, और इस से भी बढ़कर ऐसे लोगों में कुछ वह जन भी हों, कि

जो नाम, धन, प्रशंसा, पद और उपाधि आदि किसी वासना से परिचालित न होकर, केवल शुद्ध दया वा उपकार भाव से परिचालित होकर परोपकार विषयक नाना काम भी करते हों, तो भी यह कुछ जन "भले" ओर "परोपकारी" कहलाकर भी, विश्व के विविध विभागों के सम्बन्ध में, उन्हें जिन नाना प्रकार की अन्य नीचगतियों के विषय में नाना **बोधों** के लाभ करने की आवश्यकता है, उनके न होने से, और उनके आत्माओं के जिन अंगों में उच्चगति-दायक नाना **अनुरागों** के उत्पन्न होने की आवश्यकता है, उनके लाभ न करने से, और धन सम्पत्ति आदि के गौण लक्ष्य से मुक्त होकर उच्चजीवन विषयक **मुख्य लक्ष्य** के न रखने से, एक दिन (चाहे वह दिन और कितने हि महा नीचों की अपेक्षा बहुत काल के अनन्तर हि आवे) **विनष्ट हो जाने के बिना नहीं रह सकते**। इसीलिए देवसमाज में जो जन उपरोक्त दश पापों से विरत भी होजाते हैं, वह भी जब तक प्रकृत **धर्म्म अभिलाषी** नहीं बनते, अथवा नीचगति-विनाशक बोधों और उच्चगति विकाशक कुछ भावों को लाभ नहीं करते और पहले से कुछ अधिक पवित्र नहीं होते, तब तक समाज की उच्च श्रेणियों में प्रवेश नहीं कर सकते। देवसमाज में जहां एक ओर विविध सम्बन्धों में पापों के बोध लाभ करने पर योग्य आत्माओं को उनसे अधिक से अधिक मोक्ष और पवित्रता लाभ करने का अवसर मिलता है, वहां दूसरी ओर उच्चगति-दायक शक्तियों को लाभ करके उच्चजीवन में विकशित होने का महोच्च अधिकार भी प्राप्त होता है। इसी कारण न केवल भारतवर्ष के प्रचलित धर्म्म मतों और धर्म्म सम्प्रदायों से, किन्तु पृथिवी भर के सारे धर्म्म मतों और धर्म्म सम्प्रदायों से **देवधर्म्म और देवसमाज की जो विशेषता है**, वह उसके जानने और देखने वालों से छिपी हुई नहीं है।

तब हे लोगो ! जिस देवसमाज-स्थापक और देवसमाज का यह सब अति आश्चर्य-जनक और महान् कार्य्य तुम्हारी आंखों के सामने है, वह परलोक की कोई कल्पित कहानी नहीं, किन्तु वह सब कुछ इसी लोक में तुम्हारी आंखों के आगे हो रहा है। उसके इस महान् और

अद्वितीय कार्य्य की ओर से अचेत अवस्था में न रहो। किन्तु उसके कार्य्य और उसके फलों की जो घटनाएं तुम्हारे सामने हो रही हैं, उन को **अपनी चिन्ता और अपने विचार की वस्तु बनाओ; क्योंकि इस में तुम्हारा सब प्रकार से भला है।** तुम अपने इस वा उस मत के पीछे अपने अमूल्य जीवन को नष्ट न करो। तुम सोचो, कि यदि तुम पर प्लेग (ताऊन) ने आक्रमण किया हो, तो क्या तुम अपने शरीर को मृत्यु से बचाने के लिए यह देखोगे, कि यह ओषधि किस मत वा सम्प्रदाय के मनुष्य की है? कदापि नहीं। फिर जब शरीर को मृत्यु से बचाने के लिए इतने उत्सुक होते हो, तब क्या यह सम्भव है, कि तुम यदि अपने आत्मा की ज़िन्दगी और मौत के विषय में कुछ भी सच्चा ज्ञान पा सको, तो तुम उसे बचाने के लिए उन तक दौड़ कर न पहुंचो, कि जो आत्मा और धर्म्म के विषय में वह सच्ची और विज्ञानमूलक शिक्षा देते हैं, कि जो आज तक किसी ने नहीं दी? और जिनकी **ज्योति और शक्ति** को लाभ करके अब तक सैकड़ों नर-नारियों का जिस प्रकार विविध पापों वा नीचगतियों से उद्धारहुआ है, उस प्रकार किसी के द्वारा कभी और कहीं नहीं हुआ? और उन की योग्यता के अनुसार उन्हें जो सच्चा **धर्म्मज्ञान** और **धर्म्मजीवन** मिला है, वह किसी और जगह नहीं मिलता और नहीं मिल सकता?

ऐसा हो, कि तुम में से जो जन विनाशकारी **अहंकार** और हठ और दुराग्रह और कुसंस्कार और मिथ्या पक्षपात के दास न बन चुके हों, वह जिस देवसमाज में **जीवन के सर्व्वोच्च दान का महा कल्याण-कारी सदाव्रत खुला हुआ है,** उससे, अपनी योग्यता के अनुसार उसे प्राप्त होकर, अपना परम हित साधन करें; और आप हित पा कर ऐसी समाज के इस महा अद्‌भुत और परम हितकर कार्य्य में अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार साथी और सेवाकारी बन कर अपने जीवन को सफल और सार्थक करें।

उन्तालीसवां परिच्छेद

देव धर्म्म को जय पताका का विकाश

राज राजेश्वरी महारानी विक्टोरिया के भारत में जुबिली महोत्सव के शुभ अवसर पर अर्थात् १६ फ़रवरी सन् १८८७ ई० के दिन देवधर्म्म घोषणा के सम्बन्ध में जो अनुष्ठान सम्पन्न हुआ था, उसमें देवधर्म्म की **जय पताका** स्थापन की गई थी। यह जय पताका पहले पहल हमारे प्रचार आफ़िस की छत पर खड़ी की गई थी। फिर देवाश्रम के बनने पर वह वहां स्थापन की गई। उसके अनन्तर उसी वर्ष उस के नीचे खड़े हो कर दो प्रचारकों ने अपने व्रत के सम्बन्ध में प्रतिज्ञाएं कीं। फिर सन् १८८८ ई० के समाजोत्सव पर चार और प्रचारक उसके नीचे दीक्षित हुए। फिर जब समाज के छठे वार्षिकोत्सव अर्थात् फ़रवरी सन् १८६३ ई० से सेवकों की दीक्षा आरम्भ हुई, तब से सब सेवक भी उसी के नीचे खड़े करके दीक्षित होने लगे। इस समय उसे जो आकार दिया गया उसमें उसका ऊपर का भाग सफ़ेद और नीचे का भाग नील, पीत और लाल रंगों के तीन रंगों में विभक्त किया गया। सन् १६०३ ई० में उसके रूप में कुछ और परिवर्तन हुआ। अर्थात् उस पर **एकता** तत्त्व के प्रदर्शक कई नए चिह्न बढ़ाए गए और उसका नाम **एकता-पताका** रक्खा गया। और देवसमाज यज्ञ के दिनों में उसे विशेष रूप से सुसज्जित करके उसके सम्बन्ध में साधन आरम्भ हुए। उससे अगले वर्ष अर्थात् १६०४ ई० में उसके सम्बन्ध में एक विशेष गीत रचा गया। वह गीत यह था :—

गीत

एकता संकेत कारी, एकता पताका।
तू हमारा जय निशान, एकता पताका।१।

तेरे तले होके खड़े, की जो प्रतिज्ञाएं;
सच्चे बनें पाल उन्हें, एकता पताका।२।
तुझे देख हो अह्लाद, एकता की आए याद;
एकता का भाव बढ़े, एकता पताका।३।
नगर-नगर ग्राम-ग्राम, घर-घर फहराय तू;
देवधर्म्म फैले चहुं दिग, एकता पताका।४।

देवसमाज के नाना साधन आश्रमों में अब इसी पिछले आकार में यह **एकता पताका** स्थापित होकर देवधर्म्म की जय घोषणा करता है; और उसके सम्बन्ध में प्रत्येक अनुष्ठान के समय उपरोक्त संगीत गाया जाता है।

चालीसवां परिच्छेद

शक्ति तत्त्व से अन्धता

इस विषय में श्रावण सं० १९६५ वि० के "जीवनपथ" में यह लेख प्रकाशित हुआ था:—

सारे विश्व में शक्ति की लीला जारी है। हर एक शक्ति चाहे वह भौतिक हो, चाहे जीवनी, कार्य्य कारी रूप में एक वा दूसरे प्रकार के अस्तित्वों को परिवर्तन करती है; और अपनी क्रिया से आप भी परिवर्तित होती है। इसीलिए सारे विश्व में प्रत्येक समय **परिवर्तन-चक्र** जारी रहता है। परिवर्तन विश्व का सर्वव्यापी नियम है। इस परिवर्तन से कोई अस्तित्व बनता, और कोई बिगड़ता है। बनने के क्रम को **विकाश** और बिगड़ने के क्रम को **विनाश** कहते हैं। शक्ति का कार्य्य अटल है।

श्री देवगुरु भगवान् के आत्मा में विश्व के विकाश क्रम के अनुसार जिन विचित्र देव शक्तियों का आविर्भाव हुआ है वह जैसे उनके आत्मा को हिलाती हैं, अथवा उसमें गति (हरकत) पैदा करती हैं, वैसे हि वह औरों को भी हिलाने और उनमें गति उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखती हैं। उनके उपदेशों को सुनकर, उनके लेखों को पढ़कर, और कितनी बार उनके पुण्यमय मुख को देख कर, अथवा उनके समीप रहकर हज़ारों आत्माओं में परिवर्तन आया है। उनके एक २ व्याख्यान वा उपदेश के समय नाना प्रकार के लोगों ने उनकी इन शक्तियों के प्रभावों को नाना प्रकार से अनुभव किया है। एक जन ने (जो वासनाओं का दास था) एक बार कहा था, कि मैं जब उनके उपदेशों को सुनने जाता था, तब मेरी कुछ और हि हालत होने लगती थी। ऐसा मालूम होता था, कि मेरा दिल उनकी तरफ़ खिचा जाता है, और उस पर उनका अधिकार होता जाता है। मैं ऐसे समय के आने पर झट वहां से उठकर भाग जाता

था, जिससे मुझ पर उनका और अधिक असर न हो ! सचमुच शक्ति का कार्य्य अनिवार्य्य है ।

ईश्वर अथवा उसकी ओर से रची हुई कहलाने वाली किसी पुस्तक वा किसी अन्य देव, देवी, यथा––ब्रह्मा, शिव, विष्णु, दुर्गा, काली, इन्द्र, वायु और अग्नि आदि के कल्पित और **मिथ्या** विश्वास का इन **सत्य** शक्तियों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। जैसे रेल का एंजिन जो किसी देव या देवी पर विश्वास नहीं करता, यदि अपने भीतर भाप शक्ति रखता हो, तो वह अवश्य गाड़ियों को खेंचने और उन्हें खैंचकर कहीं का कहीं पहुंचा देने की सामर्थ्य रखता है, और जैसे सूर्य्य किसी ईश्वर वा देवता का विश्वासी वा पुजारी न होकर भी, अपनी ज्योति की किरणों को पहुंचाकर लाखों घरों के अन्धकार को दूर करके उन्हें ज्योतिर्मान कर देता है; और अपनी ताप शक्ति के द्वारा समुद्रों, झीलों और नदियों और तालाबों आदि जलाशयों से असंख्य जल परमाणुओं को खैंचकर उन्हें हवा में भर देता है, अथवा एक प्रदेश की हवा को अत्यंत गरम और हलका करके उसे ऊपर की तरफ़ भेज देता है, और उसके स्थान में दूसरी वायु के वेग पूर्वक आने से हवा का तूफ़ान पैदा कर देता है; वैसे हि श्री देवगुरु भगवान् अपनी युवावस्था से हि अपनी उपरोक्त शक्तियों के द्वारा आत्माओं में परिवर्तन पैदा कर रहे हैं। कल्पित ईश्वर के कितने हि विश्वासी और पुजारी इस **शक्ति तत्त्व** को नहीं समझते। इसलिए सन् १८९४ ई० में जब श्री देवगुरु भगवान् ने ईश्वर के विश्वास को मिथ्या जानकर छोड़ दिया, और उसके अनन्तर अपने उच्च से उच्च विकाश के द्वारा अपनी शक्तियों के कार्य्य को और भी अद्भुत रूप में प्रकाश करना शुरू किया, तब भी "शक्ति तत्त्व" से अज्ञानी कितने हि ईश्वरवादी अपने मिथ्या विश्वास की हक़ीक़त को न समझ सके। किन्तु कितने ही विरोधी नीच जनों ने यह सोचा, कि यदि साधारण लोगों पर यह बात भली भान्त विदित की जाय, कि यह ईश्वर को नहीं मानते, तो इन के प्रति चारों ओर घृणा फैल जाएगी; और फिर कोई मनुष्य इनकी ओर मुंह फेरकर भी न देखेगा—यहां तक, कि जो आदमी अब

इनके अनुगत बने हुए हैं, वह भी इस भेद के प्रगट होने पर भाग जाएंगे, और फिर देवसमाज भी न रहेगी। और उसके स्थापक के काम के बन्द होजाने से लोगों को ईश्वर-विश्वास और ईश्वर-पूजन के द्वारा अन्धता, मोह और पाप आदि में दिनों दिन उन्नत होने का भली भान्त अवसर मिलेगा। इसलिए उनके उपदेशकों और अख़बारों और पुस्तकों आदि के द्वारा चारों ओर इस बात के प्रचार की कोशिश जारी हुई, कि देव-समाज का बानी ईश्वर को नहीं मानता, और ऐसे पुरुष का केवल यही नहीं, कि दर्शन करना पाप है, किन्तु जहां कोई ऐसा पुरुष रहता हो, वहां रहना भी पाप है। मानों यह लोग पाप से हि पवित्रता लाभ करने के लिए सदा व्याकुल रहते हैं ! ! कैसी घोर कपटता ! ! परन्तु विश्व उनकी इस मूर्खता और कपटता पर हंसता था। वह जानता था, कि उसमें कुल परिवर्तन शक्तियों के द्वारा हो रहा है, और उसमें जहां २ जो २ शक्ति काम कर रही है, वहां २ बराबर परिवर्तन आरहा है। विश्व का यह नियम अटल है। इसीलिए श्री देवगुरु भगवान् के विरोधी अपने कल्पित ईश्वर को सर्वशक्तिमान् बनाकर और उसकी ऐसी कल्पित शक्ति का सहारा लेकर उनके विकाशकारी अद्वितीय कार्य्य को रोक न सके। वह ईश्वर की न्याईं कोई कल्पित वस्तु नहीं; किन्तु सचमुच के **देवता** हैं। वह सचमुच की **देवशक्तियां** रखते हैं, और सच-मुच के जगत् में सचमुच के **परिवर्तन** पैदा कर रहे हैं, और दिनों दिन अधिक से अधिक और विशेष से विशेष और **हितकर से हितकर परि-वर्तन ला रहे हैं** ! ! जिनके आंखें हैं, वह उनकी इन शक्तियों के **अलौ-किक कार्य्य** को देखते हैं, और उनकी शरण लेकर और उनकी अद्वितीय महिमा का प्रचार करके अपना और अन्य अधिकारी जनों का हित साधन कर रहे हैं।

सैकड़ों नर नारीगण, जो श्री देवगुरु भगवान् की शक्ति से परि-वर्तित हुए हैं, भली भान्त जानते हैं, कि उनके चरणों में आने से पहले यद्यपि वह "ईश्वर" को मानते थे, कई देवी देवतों पर विश्वास करते थे, ब्रह्मो, आर्य्य, मुसलमान, सिक्ख और सनातन धर्म्मी आदि कहलाते

थे, तो भी उनके यह विश्वास उनकी नीच गतियों को न बदल सके, किन्तु उलटा उन्हें अधिक से अधिक पापी और नीच बनाते रहे—मांस भक्षण आदि कई पाप तो वह ईश्वर की आज्ञा समझकर ही करते थे। कल्पित ईश्वर अथवा उसकी रची हुई किसी कल्पित पुस्तक, वा उनके गुरु, वा विवेक आदि ने उन्हें **सत्य धर्म्म** विषयक कभी कोई **ज्योति** न दी। आत्मा के बनने वा बिगड़ने अथवा उसके **विकाश** वा **बिनाश** के सम्बन्ध में कोई शिक्षा न दी। पुण्य और पाप की कोई सच्ची हक़ीक़त न बताई। नीचगति विषयक कोई बोध वा उच्चगति दायक कोई भाव उत्पन्न न किया। और जब तक श्री देवगुरु भगवान् की ज्योति और शक्ति उन तक न पहुंची, तब तक उनके ईश्वर वा किसी देवी देवते ने न तो उन्हें **सत्यधर्म्म** का हि कुछ ज्ञान दिया, और न उनके हृदय की गतियों को हि परिवर्तित किया—मानों श्री देवगुरु भगवान् ने अपनी धर्म्मशक्तियों के द्वारा जो २ कुछ उनका हित किया, वह ईश्वर वा कोई अन्य कल्पित देवता आदि न कर सका। यह सब कुछ सैकड़ों लोगों का **ज़ाती तजरबा** है। इस पर भी यदि ईश्वरवादी अथवा कल्पित मतों के विश्वासी देव-धर्म्म प्रवर्तक की अद्वितीय शक्तियों और उनकी और उनके अद्वितीय परिवर्तन कार्य्य वा फलों की महिमा को न देख सकें, तो यह उनकी अपनी अन्धता वा उदासीनता का दोष है, न कि किसी और का।

इकतालीसवां परिच्छेद

देवशास्त्र

जल वायु के परिवर्तन के द्वारा मैं अपनी रोगी अवस्था के दूर करने के निमित्त अगस्त सन् १८९४ ई० में मंटगुमरी गया हुआ था। वहां के निवास के दिनों में हि देवशास्त्र की रचना का प्रथम सूत्रपात हुआ था। तब से उसकी रचना का काम प्रतिवर्ष जारी रहा। यह शास्त्र क्या है ? इसकी और धर्म्म शास्त्रों से क्या विशेषता है ? इसमें किन विषयों पर कैसी शिक्षा दी गई है; इत्यादि बातों पर वैशाख सं० १९६५ के "जीवन पथ" में जो लेख छपा था, उसमें से एक भाग नीचे दर्ज किया जाता है :—

१—देवशास्त्र क्या है ?

देवशास्त्र क्या है ? इसका उत्तर यह है, कि देवधर्म्म की सर्व्वोच्च, सच्ची, एकता प्रतिपादक और पूर्ण कल्याणकारी शिक्षा का जो शास्त्र, वा पुस्तक है, उसका नाम देवशास्त्र है।

इस शास्त्र वा पुस्तक का प्रकाशक **कौन** है ? देवधर्म्म प्रवर्तक।

देवधर्म्म क्या ? देव शब्द दिव धातु से बना है, जिस का अर्थ दीप्ति, प्रकाश वा चमक वा ज्योति है। धर्म्म का अर्थ (उच्च) स्वभाव वा जीवन है, और इसीलिए देवधर्म्म का अर्थ ज्योतिर्मय उच्चजीवन है। इसका दूसरा अर्थ यह है:—

"देवस्य धर्म्मः स देवधर्म्मः" अर्थात् देव वा देवात्मा का जो धर्म्म है, वह देवधर्म्म है।

देवात्मा कौन ? देवधर्म्म प्रर्वतक।

इस पृथिवी में जीवन्त आकार रखने वाली जीवनीशक्ति का

प्रकाश, और फिर लाखों वर्षों तक उसके उच्च विकाश में मनुष्य का प्रकाश, और फिर मनुष्य के सहस्रों वर्षों के उच्चविकाश के अनन्तर जिस आत्मा ने अपनी गठन में **पूर्णता** को प्राप्त होकर **देवजीवन** लाभ किया है, उसी देवजीवन प्राप्त आत्मा का नाम **देवात्मा** है।

इस देवात्मा के भीतर जिस देवजीवन का प्रकाश हुआ है, उस प्रकाश में उसने विश्वगत जो २ मूल सत्य देखे हैं; मनुष्य की पूर्ण-गठन के सम्बन्ध में जो २ तत्त्व अवलोकन किए हैं; मनुष्य आत्मा के विनाश और विकाश अथवा उसके जीवन की अधोगति और उच्चगति के सम्बन्ध में, विश्व के विविध विभागों के साथ उसके सम्बन्ध सूत्रों के विषय में, प्रकृत धर्म्म और अधर्म्म के सम्बन्ध में, सच्ची मोक्ष और सत्य और पूर्णाङ्ग धर्म्म जीवन के सम्बन्ध में, और इसी प्रकार पूर्णाङ्ग धर्म्म सम्बन्धी नाना यज्ञों और व्रतों के सम्बन्ध में, जो सत्य वा तत्त्व उसने देखे और उपलब्ध किए हैं; उन्हें इस पृथिवी के सब अधिकारी मनुष्यों के परम कल्याण के लिए उचित विभाग और रचना प्रणाली के द्वारा जो आकार दिया है, उसका नाम **देवशास्त्र** है। अथवा अल्प शब्दों में यह वह धर्म्म पुस्तक है, कि जो एक देवात्मा के **सर्व्वोच्च ज्ञान** और **जीवन** का प्रकाशक है।

२—देवशास्त्र की शिक्षा और उसकी विशेषता

इस पृथिवी में ऐसी कितनी हि पुस्तकें पाई जाती हैं कि जिन को लोग उन्हें मनुष्य की रची हुई पुस्तक जानने और मानने के स्थान में "ईश्वर कृत" अर्थात् ईश्वर नामक किसी कल्पित पुरुष की रची हुई विश्वास करते हैं। और कितने हि लोग अपने अन्तर ऐसा विश्वास न रखकर भी केवल कपटता के द्वारा उनके सम्वन्ध में ऐसा विश्वास प्रगट करते हैं, परन्तु देवधर्म्म प्रवर्तक की शिक्षा यह है, कि जिस प्रकार पीतल का लोटा अथवा चांदी का कटोरा किसी को कहीं मिले, भूमि पर पड़ा हुआ मिले वा भूमि के खोदने से प्राप्त हो, उसके ऊपर उसके बनाने वाले का नाम खुदा हुआ हो; उसके बनने के ठीक काल

का पता हो वा न हो; तो भी वह निश्चय **मनुष्य** के भिन्न किसी और का बना हुआ नहीं हो सकता; उसी प्रकार कोई पुस्तक हो; कहीं हो, किसी भाषा में हो, उसके कर्ता वा कर्ताओं का कुछ पता हो, वा न हो, जिस काल में उसका कोई विषय रचा वा लिखा गया हो, उसका भी कोई ठीक प्रमाण मिलता हो वा न मिलता हो, तो भी यह निश्चय जानो, कि वह मनुष्य की रचना के भिन्न किसी और की रचना नहीं है।

किसी पुस्तक को किसी कल्पित ईश्वर की रची हुई वा किसी कल्पित फ़रिश्ते के द्वारा आई हुई विश्वास करने से उसकी उसी प्रकार कोई महिमा नहीं हो सकती, जिस प्रकार बड़े २ विषधर सांपों को किसी कल्पित ईश्वर का रचा हुआ मानने से, उनके भयानक विष की कोई महिमा स्थापन नहीं होती। किसी पुस्तक की महिमा उसकी शिक्षा की महिमा के विचार से तो अवश्य हो सकती है, परन्तु कुसंस्कार वा कल्पित विश्वास के कारण उसकी कोई महिमा नहीं हो सकती। देवशास्त्र की महिमा उसकी उस महान् शिक्षा के कारण है, कि जो किसी ईश्वर-रचित कहलाने वाली पुस्तक में नहीं पाई जाती। यदि तुम अपने अस्तित्व के विषय में सत्यज्योति वा सत्यज्ञान के आकांक्षी बन चुके हो, और अपने आत्मा के सम्बन्ध में नीच और उच्चगतियों और उनके फलों के विषय में कुछ भी प्रकृत ज्ञान लाभ कर चुके हो, तो तुम परीक्षा करके देख सकते हो, कि "ईश्वर" वा अन्य मनुष्य रचित पुस्तकों में से कोई ऐसी पुस्तक नहीं, जो ऐसी शिक्षा देती हो, कि जो **देवशास्त्र** देता है। जब तक कोई मनुष्य अपने अस्तित्व विषयक ज्ञान के विचार से अन्धकार में पड़ा हुआ है; मूर्ख, असभ्य, विद्वान्, वा सुसभ्य होकर भी अपने जीवन की गतियों के विषय में कोई प्रकृत-ज्ञान नहीं रखता, और नहीं जानता कि उसकी नीचगतियां क्या और उच्चगतियां क्या? नहीं जानता, कि **परिवर्तन का अटल नियम** जो सारे विश्व में रात-दिन काम कर रहा है, वह उसके अस्तित्व को बदल कर किस ओर ले जा रहा है? नहीं जानता, कि इस परिवर्तन तत्त्व,

और उसके जीवन की गठन, के विषय में जब तक उसे प्रकृत ज्योति न मिले, तब तक उसकी कोई और विद्या उसके लिए बहुत मूल्यवान् नहीं हो सकती, तब तक देवशास्त्र की, पृथिवी की और साधारण पुस्तकों को छोड़कर "ईश्वर रचित" कहलानेवाली धर्म्म पुस्तकों की अपेक्षा भी जो **असंख्य गुणा बढ़कर विशेषता है,** उसे वह उपलब्ध नहीं कर सकता।

३—देवशास्त्र की अद्भुत रचना प्रणाली

देवशास्त्र जैसे अद्वितीय शास्त्र है, वैसे हि उसकी रचना प्रणाली भी निराली है। उसकी रचना में वर्षों व्यतीत हुए हैं। जब खगोल विषयक एक २ नक्षत्र और भूगोल विषयक एक २ तत्त्व के खोजने में वैज्ञानिक जनों को वर्षों तक बड़ी २ कठिनाइयां उठानी पड़ी हैं, तब फिर देवशास्त्र में जिन महा दुष्प्राप्य तत्त्वों और साधनों का वर्णन है, उनके खोजने, देखने, पहचानने और लिपिबद्ध करने की कठिनाइयों का कौन अनुमान कर सकता है? जब यह देखा जाता है, कि एक २ साधारण जन बाहर की आंखों से किसी घटना वा वस्तु को देख कर उसके ठीक २ समझने और वर्णन करने की शक्ति नहीं रखता; जब यह देखा जाता है, कि एक वा दूसरे तत्त्व की शिक्षा पाकर भी एक २ मनुष्य अनेक बार उसे ठीक तरह से लिपिबद्ध नहीं कर सकता; हां कई बार बाहर की आंखों से देखी हुई एक २ घटना को भी ठीक और उचित शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता, तब फिर यह अनुमान किया जा सकता है, कि देवशास्त्र विवृत विविध गूढ़ तत्त्वों के देखने और जानने की विचित्र योग्यता को छोड़कर उन्हें केवल शब्दों के द्वारा प्रगट करने का काम भी कितना कठिन था—विशेषत: जब एक ओर एक बात को जहां तक हो, **संक्षिप्त से संक्षिप्त** रूप में वर्णन करना अभिप्राय हो, और दूसरी ओर **भाषा ऐसी हीन अवस्था में हो,** कि जिसमें किसी बात को अपने भाव वा अनुभव के अनुसार ठीक २ वर्णन करने के लिए यथेष्ट रूप से आवश्यक **पारिभाषिक शब्द** भी न मिलते

हों; फिर उसके विषय भी उन "ईश्वर-रचित" पुस्तकों के सदृश न हों, जिनमें या तो बच्चों की सी नाना प्रकार की **कहानियां** भरी हुई हों, या सांसारिक पदार्थ और शारीरिक सुख अभिलाषी जनों की ओर से सोने, चांदी, गौ और घोड़े आदि पदार्थों के लिए **प्रार्थनाएं** लिखी हुई हों। किन्तु यह सम्पूर्ण शास्त्र जिन २ बड़े २ भागों में विभक्त है, उनमें से प्रत्येक भाग, जैसे धर्म्म विषयक सम्पूर्ण देह के लिए एक २ अंग की न्याईं आवश्यक है, वैसे हि एक २ अंग के विषय भी प्रत्येक प्रत्यंग में विभक्त होकर एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं। तब देवशास्त्र क्या अपनी अतुल धर्म्म शिक्षा के विचार से, और क्या इस शिक्षा विषयक अपनी रचना प्रणाली के विचार से निश्चय एक **अद्वितीय धर्म्मशास्त्र है।**

४—देवशास्त्र के कई भाग और उनके विषय

देवशास्त्र चार भागों में विभक्त है।

देवशास्त्र के पहले भाग का नाम "मूल-सत्य" है।

इस में दो अध्याय हैं, जिनमें से पहले अध्याय में, (१) सम्भव और असम्भव, (२) सत्य और असत्य, (३) श्रेय और अश्रेय, (४) मुख्य और गौण ज्ञान के लक्षणों का वर्णन है।

दूसरे अध्याय में,

विश्व के तत्त्वों का वर्णन है—अर्थात् विश्व क्या है ? जड़ और शक्ति क्या है ? मनुष्य को उनका बोध किस प्रकार होता है ? उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है ? उनके परस्पर कार्य्य से किस प्रकार नाना स्थूल और सूक्ष्म जगतों की उत्पत्ति होती है ? शक्ति कै प्रकार की है ? जीवनीशक्ति के लक्षण क्या हैं ?

विश्व के बड़े २ विभाग क्या हैं ? उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है ? विश्व के नियमों से क्या अभिप्राय है ? अटल नियम क्या होते हैं ?

शक्ति गतिरूप में प्रकाशित होकर क्या २ निर्म्माण अथवा ध्वंस-कारी क्रिया करती है ?

निर्म्माणकारी गतियों के द्वारा विविध अस्तित्वों का किस प्रकार उच्च विकाश साधन होता है ? और ध्वंसकारी गतियों के द्वारा वह

किस प्रकार नीच अवस्था और विनाश को प्राप्त होते हैं ?

निम्र्माण वा विकाशकारी शक्तियों के द्वारा विश्व के विविध विभागों के एक अंश में किस प्रकार हितकर एकता आती है और दूसरे में हानिकारक अनेकता उत्पन्न होती है ?

एकता तत्त्व को उपलब्ध करके मनुष्य अपने लिए किस परम लक्ष्य और परम-आदर्श का सत्य और अटल ज्ञान लाभ करता है ?

देवशास्त्र के दूसरे भाग का नाम "मनुष्य तत्त्व" है।

इस के पहले अध्याय में,

१—आदिम मनुष्य आत्मा से लेकर देवात्मा के आविर्भूत होने तक उसमें जिन नाना प्रकार की शक्तियों का विकाश हुआ है, उनकी कुल श्रेणियों का वर्णन है। यथा:—

(१) आकार निम्मर्माण और रक्षाकारी शक्तियां।
(२) इन्द्रियगत् बोध शक्तियां।
(३) वासना शक्तियां।
(४) उत्तेजना शक्तियां।
(५) अहं शक्तियां।
(६) मानसिक शक्तियां।
(७) सात्विक शक्तियां।
(८) देव शक्तियां।

२—मनुष्य के भौतिक शरीर की व्याख्या है।

दूसरे अध्याय में,

आत्मा के नीच वा उच्च परिवर्तन; उसकी नीचगतियों; नीच-गतियों के कारणों; उसकी उच्चगतियों; नीच और उच्चगतियों के फलों; और आत्मा के गौण वा मुख्य लक्ष्य का वर्णन है।

तीसरे अध्याय में,

आत्मा के लिए मोक्ष और उच्चजीवन की प्राप्ति का वर्णन है।

चौथे अध्याय में,

(१) सत्य और कल्पित धर्म्म,

(२) सत्य धर्म्म विषयक ज्ञान और आकांक्षा की प्राप्ति,
(३) सत्य और पूर्णांग धर्म्म जीवन के आविर्भाव,
(४) देवधर्म्म प्रचार और उसके फलों,
का वर्णन है।

देवशास्त्र के तीसरे भाग का नाम "मृत्यु और परलोक तत्त्व" है।

इसमें इन बातों का वर्णन है, कि आत्मा अपने स्थूल शरीर को छोड़कर किस प्रकार उसी के अनुरूप सूक्ष्म शरीर निर्म्माण करता है ? कब और किस अवस्था में यह सूक्ष्म शरीर निर्म्माण कर सकता है, और कब नहीं ? किन २ प्रतिकूल अवस्थाओं में आत्मा अपने लिए कोई सूक्ष्म शरीर निर्म्माण नहीं कर सकता और इसीलिए पूर्णतः नष्ट हो जाता है ? स्वाभाविक मृत्यु के आने पर मुमूर्षु की किस २ प्रकार से सहाय करने की ज़रूरत है ? सूक्ष्म शरीर धारण करके आत्मा अपनी २ नीच वा उच्च अवस्था के अनुसार कहां जाते और रहते हैं ? अधम लोक क्या है ? सूक्ष्म शरीरधारी आत्माओं और अन्य जीवों के निवास के लिए सूक्ष्म लोक कौन २ से हैं, और कहां हैं ? जो अधम आत्मा परलोक में नहीं पहुंच सकते, वह कहां और किस प्रकार रहते हैं, और कब तक जीते हैं और कब नष्ट हो जाते हैं ?

यदि आत्मा अपनी नीचगतियों से उद्धार और उच्चगतियों में विकाश लाभ न कर सके, तो वह इस पृथिवी में ईसाई, मूसाई, मुसलमान, ब्राह्मो, आर्य्या, सनातन धर्म्मी, सिक्ख, कबीर पंथी, संतमती, शैव, शाक्त, योगी, वैरागी, उदासी, निर्मला, संन्यासी, विरक्त, धनी, विद्वान् और कुलीन, आदि कहलाकर भी अपनी अधम अवस्था के कारण किस प्रकार अधम लोक के भयानक दुःखों को भोगता हुआ एक विशेष काल के अनन्तर पूर्णतः नष्ट हो जाता है, और उसका ख़याली वा कल्पित विश्वास उसके लिए महा हानिकारक प्रमाणित होता है। उच्च लोकों और उच्च लोक वासियों की अवस्था क्या होती है ? प्रत्येक मनुष्य आत्मा के लिए अपने हित और अहित का बोध लाभ करने और अपने हित के साधन और अहित से रक्षा के लिए जीवन

विषयक तत्त्व ज्ञान और जीवनपथ दर्शक ज्योति और जीवन दायिनी शक्ति की क्यों आवश्यकता है ? और जिसे वह प्राप्त हो, उसके समान सौभाग्यवान् और कोई क्यों नहीं ?

देवशास्त्र के चौथे भाग का नाम "यज्ञसाधन" है।

इसमें विश्वगत नाना सम्बन्धियों के सम्बन्ध में नीचगतियों अथवा अधर्म्म से परित्राण और उच्चगतियों में विकाश, अर्थात् धर्म्म रूप में ढलने के लिए जिन २ यज्ञों के साधनों की आवश्यकता है, उनका वर्णन है। यह यज्ञ सोलह प्रकार के हैं । प्रत्येक यज्ञ के साधन के सम्बन्ध में अलग २ कर्तव्य कर्म्मों और वर्जित कर्म्मों, और साधन विधि आदि का उल्लेख है। इस में जिन सोलह प्रकार के यज्ञों के साधन आवश्यक बताए गए हैं, उनके नाम यह हैं :—

(१) **मात-पिता सन्तान यज्ञ**—इसमें माता-पिता के सम्बन्ध में सन्तान की ओर से, और सन्तान के सम्बन्ध में माता पिता की ओर से जिन २ उच्च सम्बन्ध सूत्रों के स्थापन करने और नीच सूत्रों के काटने और जिन २ कर्तव्य कर्म्मों के पालन करने और जिन २ वर्जित कर्म्मों से उद्धार पाने की आवश्यकता है, उनका और उनकी साधन प्रणाली आदि का वर्णन है।

(२) **भाई-भग्नि यज्ञ**—इसमें भाई बहिनों के सम्बन्ध में एक दूसरे के लिए जिन २ उच्च सम्बन्ध सूत्रों से बंधने और नीच सूत्रों के काटने और कर्तव्यों के पालन करने और नीच कर्म्मों से उद्धार पाने की आवश्यकता है, उनका और उनकी साधन प्रणालो आदि का वर्णन है।

(३) **देवसमाज यज्ञ**—इसमें साधन कर्ता के लिए देवसमाज के सम्बन्ध में जिन २ उच्च सम्बन्ध सूत्रों से बंधने और नीच सूत्रों के काटने और कर्तव्य पालन करने और नीच कर्म्मों से उद्धार पाने की आवश्यकता है, उनका और उनकी साधन प्रणाली का वर्णन है।

(४) **पति-पत्नी यज्ञ**—इसमें पति-पत्नी के लिए एक दूसरे के प्रति जिन २ उच्च सम्बन्ध सूत्रों से बंधने और नीच सूत्रों के काटने और कर्तव्य पालन करने और नीच कर्म्मों से उद्धार पाने की आवश्यकता

है, उनका और उनकी साधन प्रणाली आदि का वर्णन है।

(५) **भृत्य-स्वामी यज्ञ**—इसमें भृत्य के लिए अपने स्वामी के प्रति और स्वामी के लिए अपने भृत्य के प्रति जिन २ उच्च सम्बन्ध सूत्रों से बंधने और जिन २ नीच सम्बन्ध सूत्रों के काटने और कर्तव्य पालन करने और नीच कर्म्मों से उद्धार पाने की आवश्यकता है, उनका और उनकी साधन प्रणाली आदि का वर्णन है।

(६) **उद्भिद् यज्ञ**—इसमें साधन कर्ता के लिए उद्भिद् जगत् के सम्बन्ध में जिन २ उच्च सम्बन्ध सूत्रों से बंधने और नीच सम्बन्ध सूत्रों के काटने और कर्तव्य पालन करने और नीच कर्म्मों से उद्धार पाने की आवश्यकता है, उनका और उनकी साधन प्रणाली आदि का वर्णन है।

(७) **देवशास्त्र यज्ञ**—इसमें साधन कर्ता के लिए देवशास्त्र के सम्बन्ध में जिन २ उच्च सम्बन्ध सूत्रों से बंधने और नीच सम्बन्ध सूत्रों के काटने और कर्तव्य पालन करने और नीच कर्म्मों से उद्धार पाने की आवश्यकता है, उनका और उनकी साधन प्रणाली आदि का वर्णन है।

(८) **स्वदेश यज्ञ**—इसमें साधन कर्ता के लिए अपने देश के सम्बन्ध में जिन २ उच्च सम्बन्ध सूत्रों से बंधने और जिन २ नीच सम्बन्ध सूत्रों के काटने और कर्तव्य पालन करने और नीच कर्म्मों से उद्धार पाने की आवश्यकता है, उनका और उनकी साधन प्रणाली का वर्णन है।

(६) **सेवक यज्ञ**—इसमें साधन कर्ता के लिए अपने साथी धर्म्मावलम्बियों के सम्बन्ध में जिन २ उच्च सम्बन्ध सूत्रों से बंधने और नीच सम्बन्ध सूत्रों के काटने और कर्तव्य पालन करने और नीच कर्म्मों से उद्धार पाने की आवश्यकता है, उनका और उनकी साधन प्रणाली आदि का वर्णन है।

(१०) **स्वास्तित्व यज्ञ**—इसमें साधन कर्ता को अपने अस्तित्व की विनाश से रक्षा और उसके विकाश के सम्बन्ध में जिस ज्ञान की

आवश्यकता है, और उसकी आकांक्षा और सिद्धि के लिए जिन २ कर्तव्य कर्म्मों के पालन और वर्जित कर्म्मों से उद्धार के पाने की आवश्यकता है, उनका और उनकी साधन प्रणाली आदि का वर्णन है।

(११) **पशु यज्ञ**—इसमें साधन कर्ता को पशु जगत् के सम्बन्ध में जिन २ उच्च सूत्रों से बंधने और नीच सूत्रों के काटने और कर्तव्य पालन करने और नीच कर्म्मों से उद्धार पाने की आवश्यकता है, उनका और उनकी साधन प्रणाली आदि का वर्णन है।

(१२) **परलोक यज्ञ**—इसमें साधन कर्ता को अपने मृत वा परलोक वासी सम्बन्धियों के सम्बन्ध में जिन २ उच्च सम्बन्ध सूत्रों से बंधने और जिन २ नीच सम्बन्ध सूत्रों के काटने और कर्तव्य पालन करने और नीच कर्म्मों से उद्धार पाने की आवश्यकता है, उनका और उनकी साधन प्रणाली आदि का वर्णन है।

(१३) **स्वजाति यज्ञ**—इसमें साधन कर्ता के लिए अपने जाति जनों के सम्बन्ध में जिन २ उच्च सम्बन्ध सूत्रों से बंधने और जिन नीच सम्बन्ध सूत्रों के काटने और कर्तव्य पालन करने और नीच कर्म्मों से उद्धार पाने की आवश्यकता है, उनका और उनकी साधन प्रणाली आदि का वर्णन है।

(१४) **भौतिक यज्ञ**—इसमें साधन कर्ता के लिए भौतिक जगत् के सम्बन्ध में जिन २ उच्च सम्बन्ध सूत्रों से बंधने और जिन २ नीच सम्बन्ध सूत्रों के काटने ओर कर्तव्य पालन करने और नीच कर्म्मों से उद्धार पाने की आवश्यकता है, उनका और उनकी साधन प्रणाली आदि का वर्णन है।

(१५) **मनुष्य-मात्र यज्ञ**—इसमें साधन कर्ता को इस पृथिवी के मनुष्यमात्र के सम्बन्ध में जिन २ उच्च सम्बन्ध सूत्रों से बंधने और नीच सम्बन्ध सूत्रों के काटनेऔर कर्तव्य पालन करने और नीच कर्म्मों से उद्धार पाने की आवश्यकता है, उनका और उनकी साधन प्रणाली आदि का वर्णन है।

(१६) **महायज्ञ**—इसमें साधन कर्ता को अपने पूर्णाङ्ग विकाशक

गुरु के सम्बन्ध में जिन २ उच्च सम्बन्ध सूत्रों से बंधने और नीच सम्बन्ध सूत्रों के काटने और कर्तव्य पालन करने और नीच कर्म्मों से उद्धार पाने की आवश्यकता है, उनका और उनकी साधन प्रणाली आदि का वर्णन है।

बयालीसवां परिच्छेद

आत्म-विज्ञान और विश्व-विज्ञान की आवश्यकता और महिमा

मनुष्य का सारा अस्तित्व विश्व का एक अंश है। वह विश्व के अटल नियमों के उसी प्रकार अधीन है, जिस प्रकार उसके अन्य अंश। इसलिए विश्वगत मूल तत्त्वों के ज्ञान के बिना आत्मा के सम्बन्ध में भी मूल तत्त्वों का कोई सत्यज्ञान लाभ नहीं हो सकता। फिर विश्व वा आत्मा के सम्बन्ध में परिवर्तन विषयक दो अटल सत्यों अर्थात् विनाश और विकाश तत्त्वों को जानकर भी जब तक किसी को आत्मा की गठनकारी शक्तियों के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान न हो, तब तक जैसे एक ओर आत्म-विज्ञान पूर्ण नहीं होता, वैसे हि दूसरी ओर कल्पना मूलक नाना मिथ्या विश्वासों वा मतों के महा भयानक और हानिकारक जाल से भी किसी का उद्धार नहीं होता, और नहीं हो सकता। इसी लिए जब तक किसी आत्मा में अपनी हि नाना प्रकार की शक्तियों और उनकी गतियों और उनके भले वा बुरे फलों के विषय में प्रकृत ज्ञान न हो, तब तक वह **आत्मज्ञानी** नहीं होता। और जब कि धर्म्म और अधर्म्म जीवन उसके आत्मा में उसकी अपनी हि शक्तियों से उत्पन्न वा उन्नत होता है, तब आत्मज्ञानी होने के बिना कोई मनुष्य क्योंकर धर्म्म और अधर्म्म के विषय में सत्यज्ञान लाभ कर सकता है? नहीं कर सकता; इसीलिए मुझ से पहले धर्म्म और अधर्म्म विषयक सत्यज्ञान आज तक किसी "धर्म्म सम्प्रदाय" के किसी कहलाने वाले ईश्वर-अनु-प्राणित वा प्रेरित वा अन्य प्रवर्तक को नहीं हुआ; और इसीलिए सत्य धर्म्म के मूल तत्त्वों का कहीं और किसी सम्प्रदाय की शिक्षा में कोई निशान तक नहीं मिलता। जैसे विश्व-विज्ञान सम्बन्धी मूलतत्त्व मनुष्य-

मात्र के लिए एक हि हैं, और नाना समाजों और नाना सम्प्रदायों के लिए भांत २ के नहीं, वैसे हि आत्म-विज्ञान-गत धर्म्म और अधर्म्म सम्बन्धी मूलतत्त्व भी मनुष्यमात्र के लिए एक हि हैं। इस आत्म-विज्ञान से रहित रहकर हि नाना सम्प्रदायों के स्थापक अपनी भांत २ की कल्पना के अनुसार धर्म्म और अधर्म्म के नाम से भान्त २ की भिन्न २ और कितनी हि बातों के विचार से ठीक एक दूसरे के विरुद्ध मत की शिक्षा देते रहे हैं। इसलिए विश्व और आत्म-विज्ञान-मूलक मूलतत्त्वों के प्रचार से जहां एक ओर क्रम २ से अधिकारी मनुष्यों को सत्य धर्म्म और अधर्म्म विषयक **महा हितकर ज्ञान** की प्राप्ति हो सकती है, वहां दूसरी ओर सत्य धर्म्म विषयक अज्ञान और कल्पना मूलक मिथ्या धर्म्मज्ञान वा अन्धविश्वास के कारण जन समाज में जो साम्प्रदायिक द्वेष, संकीरणता वा अनुदारता, अनुचित घृणा, हिंसा, अत्याचार और उत्पीड़न का प्रवाह जारी है; और धर्म्म के नाम से नाना प्रकार का अधर्म्म फैला हुआ है, उससे भी उनकी **रक्षा** हो सकती है।

मेरी मेज़ पर इस समय अमेरिका की एक सामयिक पुस्तक मई १६०७ ई० की रक्खी हुई है। इसका नाम "टुमारो" है। इस के २१वें सफ़े में एक विचारशील जन "आत्म-विज्ञान" के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखते हैं:—

"In order to direct one's own mind or that of another a real knowledge of psychology is essential, and there has heretofore been no real knowledge of psychology, because that Science is based on Biology and the correlation between the two Sciences has only been understood in the last few decades—not long enough to make a successful application of its principles to humanity, for which several generations will, at the very least, be necessary."

भावार्थ—"अपने वा किसी और आत्मा के ठीक परिचालन के लिए आत्म-विषयक ज्ञान नितान्त आवश्यक है, परन्तु अब तक आत्म-विज्ञान के विषय में सत्यज्ञान का बहुत अभाव रहा है, क्योंकि यह

विज्ञान, जीवन-विज्ञान पर स्थापित है, और अभी बीस, तीस साल से हि इन दोनों विज्ञानों के परस्पर के सम्बन्ध के विषय में कुछ असल ज्ञान प्राप्त हुआ है, और इसीलिए जीवन-विज्ञान के तत्त्वों का अभी तक मनुष्य जीवन पर भली भान्त प्रयोग नहीं कर सकते; और उसकी पूर्णता में अभी कम से कम कई पीढ़ियों (नसलों) की ज़रूरत है।"

यदि चार वर्ष के एक छोटे बालक के पास एक सीने की कल रखदी जाए, और उससे कहा जाए, कि इसे चलाओ और तुम्हारे लिए जो कोट मैंने काट दिया है, उसे सी डालो, तो क्या वह उस मैशीन को ठीक तौर से चला सकेगा, और अपना कोट सी सकेगा ? कदापि नहीं। परन्तु यह सीने की कल, मनुष्य आत्मा की नाना प्रकार की शक्तियों से विशिष्ट और अत्यन्त जटिल या पेंचदार कल की तुलना में क्या हक़ी-क़त रखती है ? हां, नाना पुरज़ों से विशिष्ट एक रेल का एंजिन भी उसकी तुलना में कोई चीज़ नहीं। हज़ारों वर्षों से मनुष्य सभ्यता में उन्नति कर रहा है। इस काल में उसने नाना विज्ञानों में नाना प्रकार की आश्चर्य्य उन्नति की है। परन्तु अपने अस्तित्व के विषय में उसने अब तक साधारण रूप से जो कुछ जाना है, वह किस गिनती में है ? विश्वगत विनाश और विकाशकारी परिवर्तन के महा नियम का स्पष्ट ज्ञान भी उसे थोड़े काल से हुआ है। जीवनीशक्ति और उसके क्रम विकाश के विषय में भी उसे थोड़े दिनों से कुछ असल ज्ञान मिला है। वैज्ञानिक तत्त्वों के अनुसन्धान के लिए जिस वैज्ञानिक विधि की आव-श्यकता है, उसका ज्ञान भी उसे कुछ बहुत काल पहले नहीं था। फिर किसी अनुसन्धान में वैज्ञानिक विधि को भली भान्त काम में लाने के लिए जिस प्रकार के योग्य जनों की आवश्यकता है, उनका प्रकाश भी—वह भी अत्यन्त अल्प संख्या में—कुछ काल से हि हुआ है। फिर ऐसे जनों के सत्य सिद्धान्तों के समझने और ग्रहण करने के लिए जिस प्रकार के योग्य मनुष्य दरकार हैं, उनका भी बहुत बड़ा अभाव है। साधा-रणतः क्या अनपढ़ और क्या लिखे पढ़े और क्या उनसे भी ऊपर विद्वान् कहलाने वाले अपने अस्तित्व अर्थात् "आत्म-विज्ञान" सम्बन्धी सार

तत्त्वों के ज्ञान के विचार से **घोर अंधकार से आवृत** हैं। आत्मा के बनने और बिगड़ने, विकशित और विनष्ट होने के सम्बन्ध में उन्हें कोई प्रकृत ज्ञान नहीं। साधारणतः क्या मूर्ख, क्या विद्वान् दोनों हि मिथ्या कल्पना, मिथ्या संस्कारों वा मिथ्या विश्वासों के दास बने हुए हैं। वैज्ञानिक विधि के अनुसार जैसे एक कल्पित "काली" देवी का पुजारी अपने पूजनीय देवता की **सच्ची परीक्षा** करना नहीं चाहता, वैसे हि "ईश्वर" वा "ख़ुदा" वा "गाड" नामक देवता का। दोनों के निकट आत्मा अमर है, जब कि आत्मा उसी जीवनीशक्ति का एक उच्चविकाश-प्राप्त रूपान्तर है, कि जो एक २ सेल विशिष्ट जीवों में वर्तमान है, और उसमें भी वह एक भौतिक शक्ति का हि रूपान्तर है। यह भी साफ़ २ दिखाया और प्रमाणित किया जा सकता है, कि जीवनीशक्ति विनष्ट हो जाती है। परन्तु ऐसे प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष सत्य भी, कि जो उनके विश्वास के विरुद्ध हों, साधारण मनुष्यों के लिए चाहे वह मूर्ख हों, चाहे विद्वान्, **इस क़दर** आदर की वस्तु नहीं, **जिस क़दर** मिथ्या विश्वास। अब वैज्ञानिक युग के आरम्भ हो जाने पर भी जब कि साधारण मनुष्यों की यह दशा है, तब इसी बात के विचार से आज से सौ, दो सौ, चार सौ, पांच सौ वा हज़ार वा दो हज़ार वा पांच हज़ार वर्ष पहले उनकी जैसी कुछ् दशा हो सकती है, वा थी, उसका अनुमान किया जा सकता है। आह ! उन मनुष्यों की कितनी बड़ी धृष्टता, अथवा महा शोचनीय मूर्खता, कि जो सांसारिक राज्य वा वैभव आदि के उद्देश्य और उनके साधन के लिए मिथ्या पालिसी, वा विश्वास के अनुगत बनकर और विश्व के विकाश सम्बन्धी महा नियम के प्रकृत ज्ञान से अन्ध रहकर, यह घोषणा करते हैं कि इस काल के विद्वान् और वैज्ञानिक मनुष्यों की अपेक्षा वह जंगली मनुष्य अधिक ज्ञानवान् थे, कि जो मनुष्य जगत् के आदिम प्रकाश के समय प्रगट हुए थे !! यद्यपि आत्मज्ञान की आकांक्षा इस पृथिवी के किसी २ मनुष्य में आज से कई हज़ार वर्ष पहले भी जाग्रत् हुई थी, तथापि जैसे ऊपर उल्लेख हो चुका है, उस काल में उनकी यह आकांक्षा सफल नहीं हो सकती थी, क्योंकि

उसकी सफलता के लिए उस सयय आवश्यक सामग्री वर्तमान न थी। जैसे बेकन से पहले वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए पूर्णाङ्ग नियम प्रणाली का, और स्टीफेन्सन से पहले वाष्प शक्ति का आविष्कार नहीं हुआ था, क्योंकि उनसे पहले के लोगों में उनकी न्याईं न तो कोई विशेष गर्भजात-योग्यता लेकर जन्मा था, और न उसे ऐसी सफलता के लिए अपने समय में वह विशेष और सहायकारी सामग्री प्राप्त थी, कि जो इन पिछले जनों को प्राप्त हुई—और यह दोनों ही प्रकार की विशेष घटनाएं विकाश के नियम के अनुसार उचित समय से पहले उत्पन्न हो नहीं सकती थीं—वैसे हि आत्मा की गठन और उसके विकाश और विनाश और धर्म्म और अधर्म्म आदि के सम्बन्ध में जो २ सत्य मुझे प्राप्त हुए, वह मुझ से पहले न किसी मनुष्य को प्राप्त हुए थे और न हो सकते थे। मनुष्य के लिए **आत्मज्ञान हि सब से श्रेष्ठ ज्ञान है,** क्योंकि उससे अन्ध रहकर न वह अपने जीवन की प्रकृत **रक्षा** कर सकता है, और न उसका **उच्चविकाश** साधन कर सकता है। तब आत्म-विज्ञान सम्बन्धी जिन सत्य सिद्धान्तों का मुझ पर प्रकाश हुआ है, वह जो इस पृथिवी के धन, रत्न, राज्य और सम्पद् से अनन्त गुणा बढ़कर क़ीमती हैं, उसमें किसी समझदार जन को क्या सन्देह हो सकता है ? और यदि कोई योग्य आत्मा उन्हें उनके प्रकृत रूप में उपलब्ध कर सके, तो उसके इस श्रेष्ठ अधिकार की भी क्या सीमा हो सकती है ?

तेतालीसवां परिच्छेद

विश्व-विज्ञान विषयक मूलतत्त्व

यह सम्भव नहीं, कि विश्व विषयक सत्यज्ञान को छोड़कर जीवन विषयक—विशेषतः मनुष्य जीवन विषयक—सत्य और पूर्णज्ञान की किसी जन को प्राप्ति हो सके। क्योंकि मनुष्य का अस्तित्व विश्व का एक अंश है, और वह उसके नाना विभागों के साथ अपने नाना सूत्रों के द्वारा बहुत गहरे तौर से जुड़ा हुआ है। इसीलिए मनुष्य विषयक अनुसन्धान के साथ २ मेरा **विश्व विषयक** अनुसन्धान भी जारी रहा। और मैंने बहुत गहरे अध्ययन और विचार के द्वारा उपलब्ध किया, कि क्या पूर्ण विश्व और क्या उसके मनुष्य विभाग से जिन महातत्त्वों का सम्बन्ध है, वह मूलतः एक ही हैं। इस मूल पथ को अवलम्बन करके मैंने विश्व के चार महातत्त्वों के विषय में एक लेख लिखा, कि जो ज्येष्ठ संवत् १९६२ वि० के "जीवन पथ" में प्रकाशित हुआ। यहां पर वही लेख आवश्यक परिशोधन के बाद नीचे दर्ज किया जाता है :—

विश्व विषयक चार महातत्त्व

१—गठन तत्त्व

हमारी यह पृथिवी, जिस पर हम लोग वास करते हैं, और इस पृथिवी से ऊपर जो वायुमण्डल फैला हुआ है, और उससे ऊपर हमारा सौर जगत् है, और उसके भिन्न अन्य असंख्य नक्षत्र जो आकाश में फैले हुए हैं, और इन सब के अन्तर्गत जो कुछ स्थूल वा सूक्ष्म वर्तमान है, वह सब कुछ प्रकृति (Nature) वा विश्व (Cosmos) है।

विश्व केवल दो प्रकार के पदार्थों से भरा हुआ है। इनमें से एक प्रकार के पदार्थ का नाम **जड़** (Matter) और दूसरे प्रकार के पदार्थ

का नाम **शक्ति** है। सोना, चांदी, ताम्बा, लोहा, मट्टी, पत्थर, कोयला, जल, वायु आदि **जड़** वा **भौतिक** पदार्थ कहलाते हैं। और जो चीज़ इन के परमाणुओं को एकत्र रखकर उनके रूप को स्थिर रखती है, उसे और उसके भिन्न, तड़ित, ताप और आलोक आदि के नाम से जो चीज़ें उनके परमाणुओं को दूर अथवा भिन्न अवस्था में कर देती हैं, उन्हें **शक्ति** कहते हैं।

प्राचीन लोग समझते थे, कि जड़ पदार्थ केवल चार वा पांच प्रकार के हैं, यथा मट्टी, जल, वायु, अग्नि अथवा इनके भिन्न पांचवां, आकाश। हमारे देशीय पंडित इन्हीं पांच को "पंचभूत" कहते थे, परन्तु उनका यह विश्वास मिथ्या था। इस काल के वैज्ञानिक लोगों ने जड़ पदार्थों को (रासायनिक विधि से) फाड़ २ कर मालूम किया है, कि प्राचीन लोग जिस जल को एक तत्त्व वा भूत समझते थे, वह **एक** भूत नहीं, किन्तु यौगिक पदार्थ है, और **दो** भूतों से मिलकर बना है। इसी प्रकार **अग्नि** वा ताप **जड़** वा भूत **नहीं**, किन्तु **शक्ति** हैं। इन वैज्ञानिक लोगों ने अब तक जड़ पदार्थ को फाड़ २ कर जितने रूढ़िक वा भूत पदार्थ मालूम किए हैं, उनकी संख्या सत्तर से भी अधिक है। यथा—दहक (Oxygen), अब्जनक (Hydrogen), अंगार (Carbon), गन्धक (Sulphur), हरितक (Chlorine), पत्रक (Potassium), सर्ज (Sodium), लोहा, पारा, सोना, रूपा, रांगा, सीसा आदि।

जड़ पदार्थ कई प्रकार की अवस्था रखते हैं यथा :—

(१) **घन वा ठोस अवस्था**—जैसे किसी पत्थर, कोयले और लोहे का टुकड़ा।

(२) **तरल अवस्था**—जैसे पानी, तेल, पारा आदि।

(३) **वायवीय अवस्था**—जैसे आक्सीजन और हाइड्रोजन आदि।

(४) **व्योमिक अवस्था**—जैसे ईथर और उससे भी बढ़ कर ईथरायन।

कोई भूत वा **जड़** पदार्थ ऐसा नहीं, कि जिस के साथ **शक्ति**

संयुक्त न हो। जड़ और शक्ति में **अकाट्य** सम्बन्ध है। वह दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रहते। यह दोनों अविनाशी हैं। उनकी **सम्पूर्ण मात्रा** कभी कम नहीं होती, वह सदा ज्यों की त्यों रहती है। जो लोग ईश्वर आदि के नाम से इस विश्व का कोई **अलग** स्रष्टा वा रचने वाला मानते हैं, उनका ऐसा मानना वा विश्वास करना **मिथ्या कल्पना** के भिन्न और कुछ नहीं।

२—सम्बन्ध तत्त्व

विश्व **एक** है; और इसीलिए उसका प्रत्येक विभाग उसके अन्य विभागों से **जुड़ा** हुआ है। जैसे मनुष्य के शरीर के साथ उसके सब अंग जुड़े हुए होते हैं, वैसे हि एक महान् विश्व के साथ उसके सब विभाग **जुड़े** हुए हैं।

विश्व जिन चार बड़े विभागों में विभक्त हो सकता है, वह यह हैं :—

(१) भौतिक जगत्, (२) उद्भिद् जगत्, (३) पशु जगत्, (४) मनुष्य जगत्।

यह चारों विभाग आपस में उसी प्रकार जुड़े हुए हैं, जिस प्रकार किसी वृक्ष की **जड़ें** उसके **तने** से जुड़ी हुई होती हैं, **तना** उसकी **शाखों** से जुड़ा हुआ होता है, और उसकी **शाखाएं** उसके **पत्ते** वा फूलों वा **फलों** से जुड़ी हुई होती हैं।

भौतिक जगत् से हि अन्य तीनों जगतों की उत्पत्ति हुई है, अर्थात् उद्भिद्, पशु और मनुष्य जगत् का विकाश इसी जगत् से हुआ है।

भौतिक जगत् के कई पदार्थों यथा दहक, अब्जनक, मरुतक और अंगार आदि से उद्भिद्, पशु और मनुष्य का **आकार** वा **शरीर** बना है। इसी भौतिक जगत् की शक्ति क्रम २ से उन्नति वा विकाश लाभ करके **जीवनीशक्ति** बन गई है, और जीवनीशक्ति बनकर उद्भिद्, पशु और मनुष्य सम्बन्धी करोड़ों आकारों में प्रकाशित हुई है। उद्भिद् जगत् के आकारों में जो जीवनीशक्ति विराजमान है, वह भौतिक जगत् के कितने ही **पदार्थों** को आकृष्ट करके उन्हें अपनी जीवन्त देह

में परिणत करती है। कितने हि मनुष्य और पशु केवल इसी उद्भिद् को **खाद्य** बनाकर और जल और वायु आदि को ग्रहण करके जीवित रहते हैं। और जैसे वृक्ष अपने बीज से विकशित होता है, उसी प्रकार उद्भिद् पशु और मनुष्य जगत् सम्बन्धी विश्व का प्रत्येक विभाग भौतिक जगत् से **विकशित** हुआ है। यह सब जगत् विश्व के शरीर में **अंगों** की न्याईं हैं, और एक दूसरे के साथ विविध **सम्बन्ध सूत्रों** के द्वारा जुड़े हुए हैं। विश्व के कुल विभागों में इसी परस्पर के **बन्धन** का नाम **सम्बन्ध तत्त्व** है।

३—परिवर्तन तत्त्व

विश्व (के नाना सम्बन्धों) में शक्ति के **आकर्षण** और **विकर्षण** रूप में प्रकाशित होने से **गति** उत्पन्न हो रही है। विश्व के प्रत्येक विभाग और उसके प्रत्येक अंश के परस्पर सम्बन्ध में गति (motion) वर्तमान है, और गति के द्वारा सारे विश्व में परिवर्तन जारी है। विश्व में कोई जीवित वा अजीवित अस्तित्व ऐसा नहीं, कि जो परिवर्तन की अवस्था में न हो, गति के द्वारा सब कुछ बदल रहा है, और हर क्षण बदल रहा है। यही गति किसी अस्तित्व को परिवर्तित करके उसे अपेक्षाकृत **श्रेष्ठ** वा **अश्रेष्ठ** बना देती है। जब कोई अस्तित्व पहले की अपेक्षा **श्रेष्ठ** अवस्था ग्रहण करता है, तब उसकी इस गति को **उच्चगति** कहते हैं। और जब वह पहले की अपेक्षा **अश्रेष्ठ** अवस्था की ओर बदलता है, तब उसकी इस गति को **नीचगति** कहते हैं।

नीचगति के द्वारा परिवर्तित होकर जब कोई अस्तित्व पहले की अपेक्षा बिगड़कर अपनी अच्छी अवस्था को **खोना** आरम्भ करता है, तब उसके ऐसे परिवर्तन को **विनाश** कहते हैं। और यदि उसपर नीच-गति का अधिकार लगातार जारी रहे, तो वह क्रम २ से अपने विशेष आकार के विचार से **क्षय** होते २ पूर्णतः **नष्ट** हो जाता है। **विनाशतत्त्व** को समझने के लिए दो दृष्टान्त दिए जाते हैं :—

(१) किसी कपड़े को आग के साथ युक्त करो। देखो वह धीरे २ अपने आकार को खोना आरम्भ करेगा। और लगातार उसी गति के

अधीन रहकर कुछ काल में पूर्णतः **विनाश** हो जाएगा, अर्थात् फिर वह **"कपड़ा"** न रहेगा।

(२) किसी पशु वा मनुष्य के मर जाने अर्थात् उसके शरीर से उसकी जीवनीशक्ति के चले जाने पर, उसका शरीर धीरे २ अपने पहले आकार को खोना आरम्भ करता है, और बिगड़ते २ एक समय में पूर्णतः **विनष्ट** हो जाता है, अर्थात् वह पहला आकार नहीं रहता।

किसी अस्तित्व का किसी और के साथ ऐसा सम्बन्ध जो उसे बिगाड़ता वा नाश करता हो, **नीचगति दायक** वा **विनाशकारी सम्बन्ध** कहलाता है, और जिन बन्धन सूत्रों के द्वारा ऐसा सम्बन्ध स्थापन होता है, वह **नीचगति दायक वा विनाशकारी सम्बन्ध वा बन्धन सूत्र** कहलाते हैं।

इसी प्रकार जब कोई अस्तित्व उच्चगति के द्वारा परिवर्तित होकर पहले की अपेक्षा **श्रेष्ठ** बनना आरम्भ करता है, तब उसके इस परिवर्तन को **विकाश** कहते हैं। और जब कोई अस्तित्व किसी और से सम्बन्ध स्थापन करके **विकाश** लाभ करता है, तब उसका ऐसा सम्बन्ध **उच्चगति दायक** वा **विकाशकारी** सम्बन्ध कहलाता है, और जिन सूत्रों से ऐसा सम्बन्ध स्थापन होता है, वह उच्चगति दायक वा **विकाशकारी सूत्र** कहलाते हैं।

४—एकता अथवा एकता विषयक लक्ष्य तत्त्व

विश्व के विविध विभागों में विनाशकारी गतियों की तुलना में विकाशकारी गतियों का कार्य्य जितना अधिक हो, उतना ही उनका **विकाश** होता है। और इस विकाश के कार्य्य की जितने अंश **उन्नति** हो उतने हि अंश उनमें उच्च एकता स्थापन होती है। विश्व के सारे विभागों में उच्च विकाश विषयक जहां तक कार्य्य हो रहा है, वहां तक उसके द्वारा उनमें यही एकता वा **परम एकता** विषयक **महालक्ष्य** विजयी हो रहा है।

जैसे शरीर के विविध अंगों में जहां तक उसमें **मेल** स्थापन हो, वहां तक **आरोग्यता** आती है, ओर वह अंग एक दूसरे के लिए

कल्याणकारी बनते हैं, वैसे हि इस विश्व के भीतर जहां २ और जिस २ सम्बन्ध में **उच्चगति मूलक एकता** आती है, उसके आने से उस में **नाना शुभों** की उत्पत्ति होती है ।

यह वह महासत्य हैं, जो सर्व-विज्ञान-सम्मत हैं। और इसीलिए अटल हैं ।

चवालीसवां परिच्छेद

तत्त्व अनुसन्धान विषयक महा कठिन काम और उसकी सिद्धि के लिए मेरा महा संग्राम

(आखिरी बयान)

मुझे अपने इस महा कठिन अनुसन्धान में यहां तक जो कुछ सफलता हुई, वह भी बहुत विचित्र है। इन सत्यों के इस अमूल्य ज्ञानभण्डार को पाकर मैं अवश्य बहुत धन्य २ हुआ। मेरे आत्मा का भी बहुत कुछ उच्च विकाश हुआ। देवशास्त्र के प्रथम भाग अर्थात् मूल सत्यों के अत्यन्त संक्षिप्त रूप से लिपिबद्ध करने के लिए बखूबी सामग्री मिल गई। मनुष्य तत्त्व विषयक दूसरे भाग के लिखने के लिए भी एक सीमा तक पथ खुल गया। परन्तु इससे आगे चलकर फिर रासता बन्द हो गया। मनुष्य आत्मा की नाना प्रकार की शक्तियों को विस्तारपूर्वक जानने और उन्हें नाना कोषों में श्रेणीबद्ध करने का काम पहले के महा कठिन काम से भी बढ़कर कठिन कार्य्य प्रतीत हुआ। ओह ! में इस कठिनाई को किसी प्रकार भी शब्दों के द्वारा यथेष्ट रूप में वर्णन नहीं कर सकता। हिमालय पहाड़ के यात्री को जैसे अपने सामने उसकी एक बहुत ऊंची चोटी दिखाई देती हो, और वह समझता हो, कि वह यहीं तक ऊंचा होगा, और जब वह चलते २ उस पर पहुंच जाएगा, तब वह अपना पथ पूरा कर लेगा; परन्तु जब वह गिर-पड़ कर और बहुत परिश्रम उठाकर और क्लेश सहकर उस तक पहुंचता है, और अपने आपको सफल काम जान कर प्रसन्न होता है, तभी आगे दृष्टिपात करने पर मालूम करता है, कि यह तो सब से ऊंची चोटी नहीं, अभी तो इस से आगे एक और ऊंची चोटी वर्तमान है, और उसे देखकर मुरझा जाता है, वैसा हि मेरा हाल था। मैं कितने हि काल तक नाना प्रकार का

परिश्रम करके मनुष्य आत्मा की नाना शक्तियों और उनके भिन्न २ कार्यों आदि के सम्बन्ध में जब अपने नोट करता, और अपने विचार में उन्हें श्रेणीबद्ध करके उस समय यह समझता, कि अब तो मनोरथ सफल हो गया, तब कुछ काल के बाद मुझे कुछ और अधिक ज्योति प्राप्त होती, और उसके द्वारा मुझे अपने इस काम में कई प्रकार की ऐसी त्रुटियां दिखाई देतीं; कि जिन्हें देखकर मैं कुछ निराश चित्त होकर यह समझता, कि यह तो प्रायः सब परिश्रम निष्फल गया !! ऐसी घटनाएं एक वा दो वर्ष तक अथवा अपनी संख्या में दो वा चार वा छै बार तक हि नहीं हुईं, किन्तु उससे अधिक बहुत वर्षों तक और अनेक बार होती रहीं। विकाश के क्रम में मेरे साथ नेचर का यह अजीब खेल यद्यपि स्वाभाविक था, परन्तु मेरे लिए एक २ बार विरक्तकर और निराशाजनक था। पर मैं क्या कर सकता था ? यह रासता इसी तरह तै हो सकता था; इसके सिवाय और किसी तरह नहीं। मेरे लिए भी इसके भिन्न कोई और उपाय न था, कि मैं अपने गहरे इश्क़ के अनुसार अपने माशूक़ की तलाश में चला चलूं—वह जब मिले, और जिस तरह मिले, और जहां मिले, उसका पाना मेरे लिए ज़रूरी, मेरे प्राण के लिए ज़रूरी, मेरी जान के लिए ज़रूरी, मेरी ज़िन्दगी के लिए ज़रूरी। उसे छोड़कर मेरी किसी तरह सेरी नहीं हो सकती; मेरी किसी तरह बेचैनी नहीं जा सकती। उसकी प्राप्ति के बिना मेरे रोग की कोई और ओषधि नहीं। इसलिए मेरा प्रियतम जिस क़दर मुझसे दूर भागता था, मैं भी उसी क़दर उसका पीछा करता था। कभी तो वह मेरे हाथ आएगा ! कभी तो वह मेरा बनेगा ! मेरा प्रेम सच्चा था। यह शेर मेरे दिल का शाहिद था, और इसीलिए मेरे हस्ब हाल था :—

"असर है जज़्बे उल्फ़त में,
तो खिचकर आहि जाएंगे;
हमें परवा नहीं इसकी,
अगर वह दूर बैठे हैं।"

हरदफ़ा की नाकामयाबी ने मुझे अपनी प्यारी प्रियतमा अर्थात्

सफलता देवी के निकट करना शुरू किया, और आखिरकार वह मुझे मिल गई और मेरी बन गई। जिन काग़ज़ों पर मैंने उपरोक्त प्रकार के नोट लिये हैं, और इन नोटों के अनुसार नाना लेख लिखे हैं, वह यद्यपि सब मेरे पास मौजूद नहीं, मगर फिर भी इस समय जितने मौजूद हैं उनकी एक अच्छी पोट बन सकती है।

पैंतालीसवां परिच्छेद

विज्ञानमूलक दार्शनिक सत्य सिद्धान्त

अब मैं अपने अनुसन्धान विषयक किसी और ब्योरे को छोड़कर उन सत्य सिद्धान्तों को मूल रूप में (कहीं २ कुछ टिप्पणी के साथ) दर्ज करता हूं, कि जो मुझे अपने विश्व और मनुष्य तत्त्व विषयक विचित्र परन्तु महा कठिन और वर्षों के लगातार संग्राम के द्वारा प्राप्त हुए हैं।

विश्व के सम्बन्ध में

१—सिद्धान्त

विश्व **एक** है; अर्थात् उसके नाना विभाग और उनके अन्तर्गत नाना प्रकार के अस्तित्व एक दूसरे से **पूर्णतः अलग २ वा निराबद्ध और स्वतंत्र नहीं** हैं, किन्तु एक दूसरे से **जुड़े** हुए अथवा आबद्ध और परतंत्र हैं, और उसी पूर्ण **एक** के **अंश** हैं।

२—सिद्धान्त

विश्व दो प्रकार के विभिन्न पदार्थों से संगठित है। इनमें से एक प्रकार के पदार्थों का नाम **जड़** और दूसरे प्रकार के पदार्थों का नाम **शक्ति** है।

३—सिद्धान्त

जो पदार्थ **भारविशिष्ट** हों, वह **जड़** और जो **भार विहीन** हों, वह **शक्ति** कहलाते हैं। यह दोनों पदार्थ सर्वथा जुदा २ लक्षण रखते हैं। वह कभी एक नहीं थे, और न कभी एक हो सकते हैं; अर्थात् जड़ कभी शक्ति रूप में परिणत नहीं होता, और शक्ति कभी जड़ रूप में परिणत नहीं होती।

४—सिद्धान्त

जड़ और शक्ति में अकाट्य सम्बन्ध है। वह कभी एक दूसरे से पृथक् नहीं होते, किन्तु सदा एक दूसरे के साथ रहते हैं।

५—सिद्धान्त

जड़ पदार्थ कई अवस्था रखते हैं; यथा :—

घन, तरल, वाष्पीय, व्योमिक, (अध: और ऊर्ध्व)। व्योम सब से सूक्ष्म होने के कारण सर्व्वव्यापी है।

[टि०—मट्टी, पत्थर, कोयला, लोहा, ताम्बा आदि घन; जल और तेल आदि तरल; वायु, दहक, अब्जनक आदि वाष्पीय और इनसे सूक्ष्म श्रेणी वाले पदार्थ व्योमिक अवस्था रखते हैं।]

६—सिद्धान्त

जड़ पदार्थ जड़ परमाणुओं से विशिष्ट होते हैं। शक्ति के कार्य्य से वह सब कम्पन अवस्था ग्रहण करते हैं। और इस कम्पन से उनमें छोटी बड़ी नाना प्रकार की लहरें उत्पन्न होती हैं।

[टि०—वायु आदि की लहरें शब्द की वाहक, अध: व्योम आलोक आदि का वाहक और वह और उससे ऊपर का व्योम चिंता वा भाव विषयक लहरों का वाहक है।]

७—सिद्धान्त

शक्ति **आकर्षण और विकर्षणकारी दो गतियों में** प्रकाशित होती है। वह अपनी गति से आप भी नए से **नए रूप** ग्रहण करती है,और जड़ को परिवर्तित करके उसे भी नए से **नए रूप** देती है।

८—सिद्धान्त

शक्ति के अच्छिन्न कार्य्य से विश्व **सदा परिवर्तन** की दशा में रहता है। उसका कोई विभाग और उसके किसी विभाग का कोई अस्तित्व ऐसा नहीं, जो **परिवर्तित** न होता हो। विश्व में **परिवर्तन का महा नियम अटल और सर्वव्यापी है।**

[टि०—परिवर्तन के महा नियम से शक्ति और जड़ पदार्थ परस्पर परिवर्तित होकर असंख्य अन्य जगतों के भिन्न, हमारे सौर्य्य मण्डल, और उसके अन्तर्गत हमारी पृथिवी और हमारी इस पृथिवी के अन्तर्गत अगणित प्रकार के उद्भिद्,

पशु और मनुष्य आकारों के प्रगट करने के योग्य हुए हैं। इसी नियम से जैसे नाना जगत् और जीवित आकार सदा प्रगट होते रहते हैं, वैसे हि वह क्षय प्राप्त होकर अपने २ रूपों के विचार से लय भी होते रहते हैं।]

९—सिद्धान्त

विश्व के **परिवर्तनकारी** अटल नियम के अनुसार उसका कोई अंश **उच्चगति** ग्रहण करके **उच्च रूप** ग्रहण करता है, और कोई अंश **नीचगति** ग्रहण करके **नीच रूप** ग्रहण करता है। इन दोनों गतियों के अनुसार एक हि समय में विश्व का कोई अंश वा अस्तित्व **बनता** है और कोई **बिगड़ता** है। कोई उन्नत होता है, और कोई **अवनत** होता है, कोई **विकशित** होता है, और कोई **विनष्ट** होता है।

१०—सिद्धान्त

विश्व के अन्तर्गत किसी अस्तित्व का उच्चगति ग्रहण करके पहले की अपेक्षा उच्च वा श्रेष्ठ बनना उसका **विकाश** और नीचगति ग्रहण करके पहले की अपेक्षा नीच वा अश्रेष्ठ बनना अर्थात् अपनी पहली दशा को खो देना उसका **विनाश** कहलाता है।

११—सिद्धान्त

जड़ और शक्ति के रूप में परिवर्तन अवश्य होता है, परन्तु उनमें से कभी किसी का **मूलतः नाश** नहीं होता। वह दोनों **अविनाशी** हैं। इसलिए विश्व **नित्य** है।

[टि०—विश्व को किसी ईश्वर, खुदा वा गाड आदि नामक किसी पुरुष ने उत्पन्न वा सृजन वा निर्म्माण नहीं किया। साधारण जनों का उसके सम्बन्ध में यह **विश्वास** कि विश्व को ईश्वर नामक किसी पुरुष ने सृजन किया है, अथवा रचा है, सर्वथा **मिथ्या** है।]

१२—सिद्धान्त

जड़ और शक्ति का परस्पर अकाट्य सम्बन्ध है और उनका पारस्परिक परिवर्तन कार्य्य हि सब प्रकार के भौतिक, उद्भिद्, पशु और मनुष्य जगत् सम्बन्धी करोड़ों प्रकार के आकारों के प्रकाश और लय का **मूल कारण** है। इनके भिन्न उन आकारों का कोई और "आदि" वा "मूल" कारण नहीं है।

१३—सिद्धान्त

किसी जीवित वा अजीवित अस्तित्व का अच्च वा नीच परिवर्तन जिन बातों पर अवलम्बित है, वह यह हैं :—

(१) उसमें परिवर्तन की योग्यता।

(२) उसके आवृत्तकारी नाना सम्बन्धी।

(३) आवृत्तकारी सम्बन्धियों के साथ उसका किसी सूत्र वा सूत्रों के द्वारा सम्बन्ध।

(६) सम्बन्धगत परिवर्तनकारी प्रभाव।

१४—सिद्धान्त

यदि कोई अस्तित्व अपने आवृत्तकारी सम्बन्धियों के साथ ऐसे सम्बन्ध सूत्रों के द्वारा जुड़ा हुआ हो, कि जिनके द्वारा परिवर्तित होकर वह नीच दशा को प्राप्त होता हो, तो उसके वह सूत्र **नीचगति दायक** कहलाते हैं। और यदि वह उन्नत दशा को प्राप्त होता हो, तो उसके वह सम्बन्ध सूत्र **उच्चगति दायक** कहलाते हैं।

१५—सिद्धान्त

कोई अस्तित्व अपने आवृत्तकारी सम्बन्धियों से जुड़कर यदि नीच गति को प्राप्त होता हो, तो उसके यह सब सम्बन्धी **प्रतिकूल** वा **विनाशकारी** सम्बन्धी और यदि उच्चगति को प्राप्त होता हो, तो **अनुकूल** वा **विकाशकारी** सम्बन्धी कहलाते हैं।

१६—सिद्धान्त

विश्व के अन्तर्गत नाना अस्तित्व उच्चगति दायक सूत्रों और अनुकूल वा विकाशकारी सम्बन्धियों को प्राप्त होकर **उच्च से उच्च रूप** ग्रहण करते हैं, और कितने हि नीचगति दायक सूत्रों और प्रतिकूल वा विनाशकारी सम्बन्धियों को प्राप्त होकर उच्च रूप से **पतित** होकर **नीच रूप** ग्रहण करते हैं।

छियालीसवां परिच्छेद

विज्ञानमूलक दार्शनिक सत्य सिद्धान्त

मनुष्य के सम्बन्ध में

जीवनी शक्ति

१—सिद्धान्त

जितने प्रकार के जीवित जड़ आकार हैं, उनमें वर्तमान रहकर जो शक्ति जीवन सम्बन्धी कई क्रियाएं सम्पादन करती है, उसे (गठन-प्राप्त वा गठनकारी) **जीवनीशक्ति** कहते हैं।

२—सिद्धान्त

गठन-प्राप्त जीवनीशक्ति हि अपने जीवित शरीर वा जड़ आकार को **निर्म्माण** करती है। वही आहार के द्वारा उसे **पालन** करके जीवित रखती है। वही उसे **परिचालन** करती है। और वही अपने और अपने जड़ आकार के सदृश और आकार **उत्पादन** करती है। इसीलिए जीवनीशक्ति उपरोक्त चारों क्रियाओं से पहचानी जाती है, अर्थात् (१) निर्माण (२) पालन (३) परिचालन (४) उत्पादन।

[टि०—गठन प्राप्त जीवनीशक्ति के आहार और रक्षा सम्बन्धी शारीरिक कार्य्य में सब से निम्न श्रेणी का कुछ **बोध** भी वर्तमान होता है।]

३—सिद्धान्त

इस पृथिवी में इस समय से लाखों वर्ष पहले पानी के भीतर जीवनीशक्ति सब से निम्न श्रेणी के जिन आकारों में प्रगट हुई थी, उन्हें आदि जीवित आकार (Monera) कहते हैं।

[टि०—वह आदि जीवित आकार इतने छोटे हैं कि वह अणुवीक्षण यंत्र (ख़ुर्दबीन) से हि दिखाई देते हैं। इन जीवित आकारों का डीलडौल एक इंच के सात हज़ारवें भाग से लेकर ढाई हज़ारवें भाग तक के लगभग पाया जाता है।

यह सब अवयव वा अंग, रुधिर और हड्डी आदि विहीन केवल एक २ अपूर्ण-अणु-विशिष्ट जीवन्त आकार हैं।]

यह दो प्रकार के हैं :—(१) उद्भिदाणु (Protophytes) (२) पश्वाणु वा कीटाणु,[१] (Protozoa) पहले प्रकार के अपना आहार अजीवित पदार्थों से ग्रहण करते हैं। दूसरे पहलों को खाकर जीते हैं। पहलों से हि दूसरों की उत्पत्ति हुई है।

पहले प्रकार के यह जीवित आकार (जो अत्यन्त सूक्ष्म गोलियों की न्याईं होते हैं) अपने सारे रूप में क्या भीतर क्या बाहर सब तरफ़ों में एक हि प्रकार का (Homogeneous) जीवित पदार्थ रखते हैं।

इन्हीं में से कुछ आवृत्तकारी अनुकूल अवस्था को प्राप्त होकर एक २ पूर्ण अणु वा "सेल" (cell) के जीव बन गए हैं, अर्थात् उनके भीतर का कुछ मध्य भाग कठिन होगया है और ऊपरी भाग पहलों की न्याईं नरम है। इस कठिन विन्दुवत् भाग को "न्यूकलियस" अथवा **बीज** और ऊपर के नरम भाग को खोल वा **आवरण** कहते हैं।

४—सिद्धान्त

एक २ पूर्ण अणु वाले अर्थात् न्यूकलियस धारी नाना जीव अपनी आवृत्तकारी विविध अवस्थाओं के साथ जुड़कर एक अणु से बहु-अणु विशिष्ट जीव बनते २ और अपनी शक्तियों और बाह्यक देहों में धीरे २ परिवर्तित होते २ लाखों वर्षों में लाखों प्रकार के छोटे और बड़े उद्भिद् और पशु आकारों को प्राप्त हुए हैं। इसी पशु जगत् के विकाश में प्रकृति के लाखों वर्षों के संग्राम के अनन्तर **मनुष्य** का आकार अर्थात उसका **आत्मा और शरीर** विकशित[२] हुआ है।

[टि०—जीवनी शक्ति के भिन्न किसी उद्भिद्, पशु वा मनुष्य के आकार का

---

[१] यह वही कीटाणु हैं, जिन्हें अंग्रेजी में बैकटीरिया (Bacteria) कहते हैं, और जिनमें से कई जातियों के कीटाणु मनुष्यों के शरीर में घुसकर उनमें प्लेग, हैज़ा, क्षयी, आदि नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं।

[२] विकाश तत्व के सम्बन्ध में डारविन, हक्सले, स्पेन्सर, क्लाड और हैकल आदि विख्यात तत्त्व वेत्ताओं की पुस्तकों का पाठ करो।

निर्म्माता वा स्रष्टा "ईश्वर" वा अन्य नाम का कोई और कल्पित देव वा देवी नहीं]

गठन

५—सिद्धान्त

मनुष्यात्मा शक्तिमय है, अर्थात् वह नाना शक्तियों से विशिष्ट है। किसी साधारण आत्मा की यह नाना शक्तियां जिन कई एक कोषों वा श्रेणियों में विभक्त हो सकती हैं, वह यह हैं :—

(१) **शरीर निर्म्माण और रक्षाकारी शक्तियां।**

(२) **इन्द्रियगत् बोध शक्तियां**—यथा, रूप वा आकार, शब्द, गन्ध, रस, ताप, शीत, क्षुधा, पिपासा, पीड़ा और आराम आदि बोधक शक्तियां।

(३) **वासना शक्तियां**—यथा, जीवन वासना, शोक, दुःख और विनाश से मोक्ष वासना, और स्वाद, सुगन्ध, गान वा वाद्य, श्रवण, मैथुन, पदार्थ, प्रशंसा आदि सम्बन्धी अन्य नाना वासनाएं।

(४) **उत्तेजना शक्तियां**—यथा, क्रोध, द्वेष, हिंसा, ईर्षा, आदि।

(५) **अहं शक्तियां**—यथा, अभिमान, दम्भ, इच्छा, आग्रह, अकड़, आडम्बर आदि।

(६) **मानसिक शक्तियां**—यथा, देशविवेक, काल विवेक, सौन्दर्य्य विवेक, स्वर विवेक, धारणा, कल्पना, स्मरण, शब्द रचना, विचार आदि।

यह शक्तियां भी सब में समान संख्या और समान बल में नहीं, किन्तु, न्यूनाधिक रूप में पाई जाती हैं। इन छै कोषों के विकाश तक आत्मा की गठन पूर्ण नहीं होती, किन्तु बहुत अपूर्ण रहती है। इन शक्तियों के भिन्न कुछ आत्माओं में **सात्विक** भाव विषयक शक्तियां[१] अल्पाधिक संख्या और अल्पाधिक बल में प्रस्फुटित हुई हैं। और इसी-लिए इन सात्विक भावों के विचार से कितनों में किसी अंश तक एक

---

[१] यथाः—दयाभाव, कृतज्ञभाव, सहानुभूति, बाध्य वा कर्तव्य भाव, सन्मान-भाव, स्नेह भाव, अपहरण विषयक कोई घृणा भाव आदि।

सातवां कोष भी पाया जाता है। इस कोष से ऊपर एक और उच्च कोष है, कि जिसे **देवकोष** कहते हैं। इस कोष को प्राप्त होकर आत्मा की गठन जहां एक ओर **पूर्णता** लाभ करती है, वहां दूसरी ओर सम्पूर्ण सात्विक शक्तियां भी लाभ करती है।

६—सिद्धान्त

शक्तिमय आत्मा और उसके जड़ आकार में अकाट्य सम्बन्ध है। मनुष्य के पूर्ण अस्तित्व के लिए **दोनों** आवश्यक हैं। एक को छोड़ कर दूसरे का अस्तित्व **नहीं** रह सकता। आत्मा से अलग होकर जैसे मनुष्य का शरीर जीवित नहीं रहता, और अपने आकार के विचार से **नष्ट** हो जाता है, वैसे हि यदि उसका आत्मा उससे वंचित होने पर अपने लिए कोई नया शरीर निर्म्माण न कर सके, तो वह भी जीवित नहीं रहता, और **नष्ट** होकर भौतिक शक्ति में परिणत हो जाता है।

[टि०—आत्मा के जीवित रहने के लिए उसके साथ उसके जीवित जड़ शरीर के (स्थूल वा सूक्ष्म रूप से) रहने की उसी प्रकार आवश्यकता है, जिस प्रकार उसके जड़ शरीर को जीवित रखने के लिए उसके साथ आत्मा के रहने की आवश्यकता है।]

७—सिद्धान्त

परिवर्तन के अटल और विश्वव्यापी **महानियम** के अनुसार मनुष्यात्मा अपने शक्ति विशिष्ट आकार में भी उसी तरह परिवर्तित होता रहता है, जिस प्रकार वह अपने बाहर के खोल अर्थात् भौतिक आकार में।

८—सिद्धान्त

परिवर्तन के महानियम के अनुसार क्या उद्भिद् जगत्, क्या पशु जगत् और क्या मनुष्य जगत् के करोड़ों अस्तित्व **भिन्न २ आकार** रखते हैं, और अपने भिन्न २ गुण और रूप के विचार से **भिन्न २** हैं और भिन्न २ उच्च वा नीच अवस्था रखते हैं। करोड़ों मनुष्यात्मा भी अपनी उच्च वा नीच, श्रेष्ठ वा अधम अवस्था के विचार से करोड़ों प्रकार के हैं।

टि०—अद्वैतवादियों वा वेदान्तियों का यह मत मिथ्या है, कि करोड़ों मनुष्य-देहों के भीतर **एकमात्र निर्विकार और सर्वव्यापी ब्रह्म** वास करता है, कि जिसका प्रत्येक मनुष्यात्मा एक **अंश** है, किन्तु सत्य यह है कि उनमें करोड़ों हि व्यक्तिगत **जुदा २ और भान्त २ के आत्मा** वास करते हैं, इनमें से कोई अपनी गठन में पूर्ण और अन्य करोड़ों में से कोई बहुत अपूर्ण, कोई कम अपूर्ण; कोई बहुत अधम, और कोई कम अधम; कोई बहुत बुरी, कोई कम बुरी; कोई बहुत भली और कोई कम भली अवस्था रखते हैं।]

९—सिद्धान्त

परिवर्तन के अटल और महानियम के अनुसार जो आत्मा जहां तक अपनी गठन में उच्चगति दायक शक्तियों के विकशित करने की योग्यता को पाकर जन्म लेता है, और उनके विकाश के लिए अनुकूल सम्बन्धियों को भी प्राप्त होता है, वहां तक वह उच्चजीवन में विकशित होता है; और यदि उच्चगति दायक पूर्ण शक्तियों के विकशित करने की योग्यता को लेकर जन्मा हो, और उनके विकाश के लिए सदा अनुकूल सम्बन्धियों को प्राप्त हो, तो सदा के लिए जीवन लाभ करने का अधिकारी भी हो सकता है।

१०—सिद्धान्त

जो आत्मा जीवनदायक उच्च शक्तियों को अपने भीतर से विकशित वा प्रशस्त करने के अयोग्य हो, वह इस दशा में क्षय प्राप्त होते २ एक दिन **पूर्णतः नष्ट** हो जाता है।

[टि०—एक ओर इस महातत्त्व से अज्ञानी और दूसरी ओर जीने के महा प्रबल अभिलाषी किन्तु नाना मिथ्या संस्कारों में ग्रस्त होने के कारण, जो लोग **प्रत्येक** मनुष्यात्मा को **अमर** विश्वास करते हैं, उनका यह विश्वास **सर्वथा मिथ्या** है।]

११—सिद्धान्त

प्रत्येक जीवित मनुष्य में उसकी अपनी जीवनीशक्ति अर्थात् उसका आत्मा हि **मूल** और **सार** वस्तु है। उसीकी स्थिति से उसकी स्थिति, और उसीके नाश से उसका नाश है। यदि वह अपने नाना बोधों के साथ जीवित रह सके, तो एक ओर जैसे वह अपनी प्रकृतिगत

जीवित रहने की सत् और महा प्रबल आकांक्षा को चरितार्थ कर सकता है, वैसे हि दूसरी ओर अपनी अवस्था के अनुसार एक वा दूसरे प्रकार के सुखों के भोगने के योग्य भी रह सकता है।

परन्तु यदि वह ख़ुद ज़िन्दा न रहे, तो फिर उसके इस नाश के साथ उसकी प्रकृतिगत सुख अभिलाषा का भी नाश हो जाता है; और वह किसी प्रकार के किसी भी सुख भोगने के योग्य नहीं रहता।

१२—सिद्धान्त

मनुष्य के लिए अपने आत्मा की विनाश से रक्षा अर्थात् उसकी सब नीचगति दायक शक्तियों के दासत्व और विकार से मुक्ति और उसका उच्च विकाश अर्थात् उच्चगति दायक धर्म्म शक्तियों का लाभ करना उसका मुख्य उद्देश्य है।

भली और बुरी गतियाँ और उनका बोध

१३—सिद्धान्त

मनुष्य किसी जीवित वा अजीवित अस्तित्व के सम्बन्ध में जो कुछ आन्तरिक वा बाह्यक क्रिया (गति वा चेष्टा) करता है, उसमें से उसकी आन्तरिक क्रिया वा गति को चिन्ता, और बाह्यक क्रिया वा गति को आचरण, आचार, कर्म्म वा कार्य्य कहते हैं।

१४—सिद्धान्त

मनुष्य के हृदयस्थ नाना भाव हि उसकी सब भली वा बुरी चिन्ता और उसके सब भले वा बुरे कर्म्मों का मूल कारण हैं, इसीलिए जिस मनुष्य में जो भाव वर्तमान न हो, उसके सम्बन्ध में उससे कोई क्रिया भी नहीं होती।

[टि०—दयाभाव विहीन मनुष्य के हृदय में किसी पीड़ित वा दुखिया मनुष्य वा पशु के सम्बन्ध में, अपनी वासना को छोड़कर केवल उसी के दुःख निवारण के निमित्त, कोई चिन्ता वा आकांक्षा उत्पन्न नहीं होती, और न इस सम्बन्ध में उससे कोई कार्य्य हि होता है। इसके विपरीत एक २ दया विहीन मनुष्य अपनी किसी तृप्ति के लिए किसी मनुष्य वा पशु को अयथा पीड़ा वा दुःख पहुंचाने अथवा उनकी हत्या करने से भी नहीं रुकता। हिंसाभाव धारी अपने इस नीच भाव की तृप्ति के लिए नाना निर्दोष जीवों को बध करता है। धन का लालची चोरी और ठगी करता

है, धरोहर दबाता है, रिशवत लेता है, और अन्य असत्कर्म्म करता है। ईर्षा भाव-धारी अपने से किसी को भली बातों के विचार से भी अधिक प्रशंसित देखकर दुःखी होता है, और उसका बुरा चाहता है, इत्यादि २।]

१५—सिद्धान्त

मनुष्यात्मा नाना वासना, उत्तेजना, अहं और मानसिक शक्तियों के अनुचित वा अयथा परिचालन से नाना प्रकार की नीचगतियां ग्रहण करता है, और विश्व के नाना विभागों के सम्बन्ध में अनुचित वा अयथा चिन्ताएं और क्रियाएं करके अपने अस्तित्व की महा हानि करता है। यथा :—

(१) सुखप्रद नाना वासना शक्तियों के अधीन होकर उनकी तृप्ति के लिए विश्वगत नाना विभागों के सम्बन्ध में नाना प्रकार की नीचगतियां (असत् चिन्ता और असत् आचार) ग्रहण करके नीच बनता है, और औरों की हानि के भिन्न अपने अस्तित्व की महा हानि करता है।

(२) नाना उत्तेजना शक्तियों के वशीभूत होकर उनकी तृप्ति के लिए विश्वगत नाना अस्तित्वों के सम्बन्ध में अयथा आन्तरिक चिन्ताएं वा बाह्यक क्रियाएं करके नीचगतियां ग्रहण करता है, और उनके द्वारा औरों की हानि के भिन्न अपने अस्तित्व की भी महा हानि करता है।

(३) अहं शक्तियों के वशीभूत होकर उनकी तृप्ति के लिए विश्व के नाना अस्तित्वों के सम्बन्ध में अयथा आन्तरिक चिन्ताएं और क्रियाएं करके नीचगतियां ग्रहण करता है, और उनके द्वारा अपने अस्तित्व की महा हानि करता है।

(४) कल्पनामूलक मिथ्या संस्कारों वा विश्वासों के अधीन होकर विश्व के नाना विभागों के सम्बन्ध में नीचगतियां ग्रहण करता है, और उनके द्वारा अपने अस्तित्व की महा हानि करता है।

१६—सिद्धान्त

यद्यपि सत् और असत् सम्बन्धी दोनों प्रकार की प्रेरणाएं मनुष्य

के अपने हि हृदय के विविध भावों के द्वारा उदय होती हैं, तथापि उनके उद्दीपित करने में उसके भिन्न कभी २ इस लोक वा परलोक के आत्मा भी सहाय बनते वा बन सकते हैं।

[टि०—इन सच्चे अस्तित्वों के भिन्न "ईश्वर" वा "शैतान" नामक कोई कल्पित अस्तित्व उनकी इन प्रेरणाओं का कारण नहीं है, इसीलिए ईश्वर की ओर से **विवेक-वाणी** विषयक विश्वास सर्वथा मिथ्या है।]

१७—सिद्धान्त

आत्म-अनात्म विषयक प्रकृत बोध के जाग्रत् होने के बिना मनुष्य अपने आत्मा के हित और अहित की ओर से पूर्णतः प्रमाद की अवस्था में रहता है, और जिन सुख वा दुःखप्रद वासना और उत्तेजना आदि शक्तियों के अधीन होता है, उन्हीं के द्वारा परिचालित होकर आयु व्यतीत करता है। ऐसा मनुष्य धर्म्म जीवन सम्बन्धी उच्च शक्तियों के विकाश और नीचगति दायक शक्तियों से मोक्ष लाभ करने के लिए अपने भीतर कोई प्रकृत आकांक्षा अनुभव नहीं करता।

१८—सिद्धान्त

अपने वा औरों के जिस २ हित और अहित के सम्बन्ध में किसी मनुष्य में कोई यथेष्ट बोध वर्तमान न हो, उस २ के सम्बन्ध में वह भले वा बुरे का कोई साक्षात् ज्ञान नहीं रखता। ऐसी दशा में उसके लिए अपनी हि कल्पना वा अनुमान शक्ति वा औरों से प्राप्त किसी संस्कार वा विश्वास के अनुसार किसी बात को भला वा बुरा, शुभ वा अशुभ, नेक वा बद, पुण्य वा पाप आदि कहना वा मानना लाज़मी होता है।

१६—सिद्धान्त

अपनी कल्पना वा अनुमान शक्ति, वा किसी संस्कार वा विश्वास के द्वारा किसी विषय में मनुष्य सत् वा असत्, भले वा बुरे, शुभ वा अशुभ, पुण्य वा पाप के सम्बन्ध में जो कुछ ज्ञान रखता है, वह सत्य भी हो सकता है, और असत्य भी। इसीलिए पृथिवी के नाना धर्म्म समुदायों में सत् और असत्, पुण्य और पाप आदि कर्म्मों के विषय में भिन्न २ और कितनी हि बातों के विचार से परस्पर विरोधी मत

प्रचलित हैं, अर्थात् एक के मत में जो कुछ पाप है, दूसरे के मत में वह या तो पाप नहीं, या उससे भी बढ़कर पुण्य माना जाता है ।

[टि०—"ईश्वर" नामक पूर्ण हित स्वरूप के विश्वासियों में भी उसकी ओर से पाप और पुण्य कर्म्मों के विषय में परस्पर विरोधी आदेश प्रचलित हैं, और जब कि ईश्वर विषयक विश्वास हि पूर्णतः मिथ्या है, तव उसके नाम से भिन्न २ अवस्था के मत प्रवर्तकों का भी पाप और पुण्य विपयक भिन्न २ और फिर उससे भी बढ़कर विरोधी आदेश प्रचार करना कोई आश्चर्य की बात नहीं ।]

२०—सिद्धान्त

किसी ऐसे पूर्णाङ्ग धर्म्मावतार वा सच्चे देवात्मा के भिन्न कि जिसमें विश्व के विकाश क्रम में उसके अन्य सब जीवित और अजीवित विभागों के सम्बन्ध में हित और अहित विषयक सब अंगों के **बोध** विकशित हुए हों, और कोई मनुष्य वा कल्पित देवता—ईश्वर नामधारी वा कोई और—सत् और असत्, शुभ और अशुभ, नेक और बद, पुण्य और पाप के विषय में कोई सच्चा ज्ञान वा बोध नहीं दे सकता ।

संग वा योग के द्वारा उच्च और नीच प्रभाव

२१—सिद्धान्त

अन्यान्य नाना जीवित और अजीवित अस्तित्वों की न्याईं मनुष्य भी अपने अस्तित्वों में से प्रतिक्षण एक वा दूसरे प्रकार के **सूक्ष्मांश** निकालता रहता है । यह सूक्ष्मांश धुएं के सदृश होता है; और उसकी भली वा बुरी अवस्था के अनुसार भला वा बुरा रूप रखता है ।

२२—सिद्धान्त

मनुष्य के अस्तित्व से भले वा बुरे अति सूक्ष्म कण निकल कर उसके चारों ओर फैलते हैं, और आसपास की वायु, घर की दीवारों, कपड़ों आदि नाना वस्तुओं, अन्य मनुष्यों, पशुओं और वृक्षों आदि में से जो २ अजीवित वा जीवित पदार्थ उन्हें जहां तक आकृष्ट वा ग्रहण कर सकता है, वहां तक उस में प्रवेश करते रहते हैं, और उस पर अपना भला वा बुरा प्रभाव डालते रहते हैं ।

२३—सिद्धान्त

जिस प्रकार सुगन्धि और दुर्गन्धि दायक भौतिक कण यद्यपि यहां के मनुष्यों को आंखों से दिखाई नहीं देते, परन्तु नाक की विशेष घ्राण स्नायु से टकराने पर वह अपने भले वा बुरे प्रभाव का परिचय देते हैं, और जिस में यह बोध वर्तमान न हो, उसे यद्यपि उनका बोध नहीं होता, तो भी वह उस पर अपना भला वा बुरा असर डालते हैं, उसी प्रकार यद्यपि यहां के साधारण जनों को अपनी आंखों से उच्च वा नीच प्रभाव-वाहक नाना सूक्ष्मांश दिखाई नहीं देते, किन्तु उच्च आत्माओं को वह यहां भी अनुभव होते हैं, और जिन अन्य अयोग्य जनों को उनका अनुभव नहीं होता, वह भी चुपचाप अपनी ग्रहण शक्ति के अनुसार उनके भले वा बुरे असर से भले वा बुरे बनते रहते हैं।

२४—सिद्धान्त

उच्च आत्माओं के संग से जैसे उनके घर वा वास-स्थान के नाना अजीवित पदार्थ उच्च प्रभाव ग्रहण करते हैं, वैसे हि नाना जीवित उद्भिद्, पशु और मनुष्य भी। इसी प्रकार नीच आत्माओं के संग से घर, वस्त्र आदि नाना अजीवित और उद्भिद्, पशु और मनुष्य आदि नाना जीवित अस्तित्व नीच प्रभाव लाभ करके नीच रूप ग्रहण करते हैं।

२५—सिद्धान्त

नीच प्रभाव संचारक मनुष्य, वा पशु, वा वृक्ष, वा घर, वा वस्त्र, वा वायु वा स्थान, वा अन्य किसी वस्तु के **संग** से जो जन अपने आप को जितना दूर और उच्च प्रभाव संचारक मनुष्य वा पशु, वा वृक्ष, वा घर, वा वस्त्र, वा वायु, वा स्थान, वा अन्य किसी वस्तु के निकट रखता है, उतना हि अपना कल्याण साधन करता है।

२६—सिद्धान्त

उच्चगति दायक एक २ उच्च भाव किसी आत्मा में उत्पन्न और उन्नत होकर जैसे उसे कुछ न कुछ उच्च करता है, वैसे हि उसके भौतिक शरीर के परमाणुओं को भी कुछ उच्च बना देता है। इसी प्रकार एक २ नीचगतिप्रद वासना, उत्तेजना वा अहं शक्ति वा

मिथ्या विश्वास भी आत्मा को नीच बनाने के भिन्न, उसके भौतिक शरीर के परमाणुओं को भी नीच बनाता है ।

२७—सिद्धान्त

मनुष्य के आत्मा में जो २ चिन्ता वा भाव की लहरें उठती हैं, वह दोनों व्योमों के द्वारा एक २ क्षण में दूर २ तक चली जाती हैं, और नाना मनुष्यों के नाना प्रकार के भले वा बुरे भाव आकाश मंडल में घूमते फिरते हैं, और जिस २ अवस्था के मनुष्य उनमें से जिन २ के आकृष्ट करने की जहां तक योग्यता रखते हैं, वहां तक वह उन्हें आकृष्ट करके ज्ञात वा अज्ञात रूप से उनके भले वा बुरे रूप में ढल जाते हैं, अथवा एक वा दूसरे प्रकार का सुख वा दुःख अनुभव करते हैं ।

२८—सिद्धान्त

व्योमगत चिन्ता वा भाव की लहरों के द्वारा, यहां का एक २ मनुष्य अपने से दूर रहने वाले इस लोक वा परलोक के किसी सम्बन्धी के किसी विशेष शोक, दुःख वा विपद्ग्रस्त होने पर, उसके गुप्त प्रभाव को लाभ करके अपने विचार में बिना किसी कारण के शोकग्रस्त वा उदास हो जाता है । और किसी २ को (जो इस विषय में बहुत तीव्र बोध रखता हो) अपने हृदय के भीतर साक्षात् रूप से ऐसा अनुभव होता है, कि उसका अमुक सम्बन्धी विपद्ग्रस्त है, कितनों को अपनी आन्तरिक दृष्टि से इस प्रकार का एक वा दूसरा दृश्य यूंहि वा स्वप्न में दिखाई अथवा आन्तरिक श्रवण शक्ति के द्वारा उनके सम्बन्धी का कोई वाक्य वा कथन सुनाई दे जाता है ।

[टि०—जिन विशेष २ स्त्री पुरुषों में यह आन्तरिक दृष्टि वा श्रवण शक्ति आवश्यक रूप में वर्तमान हो, वह "मीडियम" होकर इच्छा रखने पर और लोगों के परलोकगत सम्बन्धियों के साथ भी उनके परस्पर के आलाप परिचय कराने में सहायक बन सकते हैं ।]

२९—सिद्धान्त

आत्मा हि अपने शरीर का स्रष्टा है । यही उसके प्रत्येक अंग में वास करता है । यह उसके प्रत्येक अंग के साथ जुड़ा हुआ है । इसलिए

जैसे एक ओर यह अपनी भली वा बुरी अवस्था का प्रभाव अपने शरीर तक पहुंचाता है, वैसे हि उसका शरीर भी अपनी भली वा बुरी अवस्था का कुछ न कुछ असर उस पर डालता है।

३०—सिद्धान्त

आत्मा के नाना भाव उसके शरीर के चेहरे पर से फूट कर प्रगट होते हैं। उसका दुःख, शोक, हर्ष, विषाद, काम, क्रोध, द्वेष और उसकी कुटिलता, दुष्टता, सरलता, लज्जा, भद्रता आदि को उसके चेहरे को देखकर मालूम कर सकते हैं। भले आत्मा का प्रतिबिम्ब उसके मुख पर सुहावना पड़ता है, और भले जन को सुहावना हि प्रतीत होता है। बुरे अथवा दुष्ट वा नीच आत्मा का प्रतिबिम्ब उसके मुख पर भी बुरा और डरावना पड़ता है, और भले जन को बुरा और घिनौना मालूम होता है। नीचगति दायक विकारों से आत्मा जितना पवित्र हो, उतना हि उसके मुख पर से भी, उसका पवित्र प्रकाश होता है, और उच्चगति दायक भावों और अनुरागों से जितना विभूषित और सुन्दर हो, उतना हि उसका यह आन्तरिक सौन्दर्य्य उसके मुख पर से भी विशेष झलक दिखाता है। नीचजीवन प्रत्येक आत्मा को कदाकार, घृणित और उच्चजीवन उसे सुन्दर और आकर्षणीय बनाता है।

उच्च और नीच गतियों के फल

३१—सिद्धान्त

परिवर्तन के अटल नियम के अनुसार जैसे नीचगति के ग्रहण करने से मनुष्य के शरीर को तत्काल उसका फल मिल जाता है, अर्थात् वह **विकृत** अवस्था को प्राप्त होता है, वैसे हि नीचगति के ग्रहण करने से आत्मा भी अपने रूप में विकृत होकर तत्काल उसका फल लाभ करता है।

३२—सिद्धान्त

जैसे मनुष्य विष खाकर अपने शरीर में उसके प्रभाव का स्वयं फल चखता है, और इस फल भोग के लिए उसे किसी और **दण्डदाता** की आवश्यकता नहीं, वैसे हि आत्मा को अपने नीचगति मूलक कर्म्मों का

फल पाने के लिए किसी और दण्डदाता की आवश्यकता नहीं। उच्च-गति के सम्बन्ध में भी यही नियम है।

इसीलिए किसी ईश्वर वा ख़ुदा वा गाड, वा यमराज के पास किसी ख़ास दिन में दण्ड वा पुरस्कार के प्राप्त होने का विश्वास पूर्णत: मिथ्या और कपोलकल्पित है।

३३—सिद्धान्त

मनुष्य समूह वा समाज में एक सीमा तक बाह्यक शान्ति की रक्षा के लिए शासन विषयक जो अपराध वा दण्ड विधि धीरे २ उत्पन्न और प्रचलित हुई है, वह और है, और विश्वगत **अटल नियम मूलक** शासन विधि और है। पहली नाना देशों में नाना प्रकार की है; दूसरी सब देशों में एक हि प्रकार की है। पहली समय के साथ २ बदलती रहती है; दूसरी कभी नहीं बदलती। पहली विविध लोगों में विविध प्रकार की है, दूसरी मनुष्यमात्र के लिए एक है। पहली से सैकड़ों लोग अपने एक २ अपराध का कोई दण्ड नहीं पाते; दूसरी के फल से कोई मनुष्य वा पशु, वा वृक्ष वा अन्य पदार्थ अपने आपको कभी भी और कहीं भी बचा नहीं सकता।

३४—सिद्धान्त

जैसे माता के गर्भ में मनुष्य की जीवनीशक्ति अपने पिता-माता के भौतिक शरीर के सदृश हि अपने लिए भौतिक शरीर निम्माण कर सकती है, और उसके भिन्न किसी अन्य प्रकार के पशु, यथा—हाथी, घोड़े गधे, बिल्ली, चूहे, कबूतर, तीतर, कव्वे, आदि अथवा किसी अन्य वृक्ष यथा—आम, जामन, शहतूत, गेंदा, गुलमेंहदी, चम्बेली, मूली, धनिया, पालक, मेथी, आदि का आकार नहीं बना सकती, वैसे हि स्थूल शरीर के छोड़ने पर उसके सूक्ष्म परमाणुओं से वह मनुष्य आकार के भिन्न उप-रोक्त प्रकार के किसी पशु वा उद्भिद् आदि के रूप को नहीं बना सकती, और नहीं ग्रहण कर सकती। ऐसा होना प्रकृति के नियम के हि विरुद्ध है। इसीलिए जो लोग यह विश्वास करते हैं, कि मनुष्य मरने के अनन्तर अपने कर्म्मों का फल भोगने के लिए इसी पृथिवी में कोई पशु वा वृक्ष

आदि बनता है, वह पूर्णतः मिथ्या है। "पुनर्जन्म" अथवा "योनिभ्रमण" का विश्वास पूर्णतः कपोलकल्पित है।

सुख ग्रौर विकाश

३५—सिद्धान्त

सुख और विकाश एक नहीं। विकाश के द्वारा सुख की सदा उत्पत्ति होती है, परन्तु सुख से केवल यही नहीं, कि उसकी सदा उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु अनेक बार अहित और दुःख की उत्पत्ति होती है।

३६—सिद्धान्त

पूर्ण सुखार्थी बनकर कोई मनुष्य अपना विकाश साधन नहीं कर सकता, परन्तु विकाशार्थी बनकर वह न केवल उचित सामान्य सुखों को, किन्तु उनसे ऊपर नाना उच्च सुखों को भी लाभ करता है।

सैंतालीसवां परिच्छेद

विज्ञानमूलक दार्शनिक सत्य सिद्धान्त

सत्य धर्म्म के सम्बन्ध में

१—सिद्धान्त

गठन प्राप्त सब प्रकार के छोटे और बड़े अस्तित्वों में से प्रत्येक उद्भिद् अस्तित्व,

(१) जीना चाहता है।

(२) नष्ट होना नहीं चाहता।

इसीलिए विनाश से बचने और जीवित रहने के लिए प्रति मुहूर्त संग्राम करता है। उद्भिद् जगत् से ऊपर पशु और मनुष्य जगत् सम्बन्धी, प्रत्येक जीवित अस्तित्व, कि जिसमें जीने के भिन्न कोई सुख विषयक वासना भी उत्पन्न होचुकी है,

(१) जीना चाहता है।

(२) नष्ट होना नहीं चाहता।

(३) सुखी होना वा रहना चाहना है।

(४) दु:खी होना वा रहना नहीं चाहता।

इसीलिए वह मृत्यु और दु:ख से बचने, और जीवित और सुखी रहने के लिए संग्राम करता है,और एक सीमा तक दु:ख पाकर और दु:खी रहकर भी प्रति मुहूर्त जीवित रहने के लिए चेष्टा करता है।

यह एक ओर जीवित रहने और उसके साथ सुख पाने और दूसरी ओर नष्ट न होने और दु:ख न पाने की सत् आकांक्षा पशु और मनुष्य-जगत् की प्रकृतिगत सत् और मूल आकांक्षा है।

फिर जीने और सुखी रहने की आकांक्षाओं में भी जीने की आकांक्षा उनमें बहुत प्रबल रूप में पाई जाती है, और किसी विकृत अवस्था के

प्राप्त होने के भिन्न कोई मनुष्य और पशु कभी अपने आपको विनष्ट करने की चेष्टा नहीं करता, किन्तु सदा जीवित रहने के लिए हि संग्राम करता है।

सत्य धर्म्म की शिक्षा इसी मूल आकांक्षा और उसकी सफलता वा विफलता के सम्बन्ध में विश्वव्यापी अटल नियमों के ज्ञान पर स्थापित है।

२—सिद्धान्त

किसी मनुष्य वा पशु वा उद्भिद् का जीवित रहना, उसकी अपनी जीवनीशक्ति की स्थिति पर निर्भर करता है; अर्थात् उसकी जीवनीशक्ति के रहने से हि उसके जीवन का प्रकाश हो सकता है। यदि उसकी यह जीवनीशक्ति किसी प्रकार से नष्ट होजावे, अथवा वह अपने बाह्यक शरीर वा आकार के क़ायम रखने की योग्यता को खो बैठे, तो फिर वह खुद भी क़ायम नहीं रहती, और अपने गठन-प्राप्त रूप को खोकर भौतिक शक्ति में परिणत होजाती है, और उसके इस रूप के नष्ट हो जाने से वह व्यक्तिगत विशेष मनुष्य वा पशु वा वृक्ष भी पूर्णतः नष्ट होजाता है।

इसलिए जब तक किसी मनुष्य को अपनी जीवनीशक्ति अर्थात् अपने आत्मा की गठन और उसके विकाश अर्थात् जीवित रहने और अधिक से अधिक जीवन पाने और विनाश अर्थात् जीवन खोने और खोते २ एक दिन पूर्णतः नष्ट हो जाने के सम्बन्ध में एक ओर सत्य और अटल नियमों का ज्ञान और दूसरी ओर विनाश से रक्षक और जीवन विकाशक नाना उच्च बोधों की प्राप्ति न हो, तब तक वह जीवित रहने और विनष्ट न होने की अपनी सच्ची और प्रबल आकांक्षा को पूरा नहीं कर सकता।

३—सिद्धान्त

जिन उच्चशक्तियों के विकाश से आत्मा में जीवनदायिनी नई शक्तियों की उत्पत्ति और उन्नति होती है, और उसका आत्मा पूर्णता लाभ करता है, **उन्हीं उच्च शक्तियों का नाम धर्म्म है।** यह धर्म्म

शक्तियां जितने अंश में किसी आत्मा में वर्तमान हों, उतने हि अंश में वह धर्म्म जीवन रखता है, और धार्म्मिक कहलाने के योग्य है। इन शक्तियों को छोड़ कर नाना देशों के मनुष्यों में मत, वा बाह्यक वेश भूषा, वा कोई अनुष्ठान, वा क्रिया आदि जो कुछ धर्म्म के नाम से प्रचलित है, वह धर्म्म नहीं है।

४—सिद्धान्त

जो २ वासना, उत्तेजना, अहं और मिथ्यामत वा विश्वासमूलक कोई चिन्ता वा क्रिया मनुष्यात्मा को नीचगति परायण बनाती है, और उसमें धर्म्म शक्तियों के विरुद्ध विकार युक्त नीच वा विकृत जीवन की उत्पत्ति करती है, वह सब अधर्म्म है।

५—सिद्धान्त

मनुष्य मात्र की शारीरिक गठन में जैसे उसकी रक्षा और पालना के लिए नाना अंग एक हि प्रकार के हैं, वैसे हि आत्मा की (विनाश से) रक्षा और उसका विकाश करने वाले नाना धर्म्म अंग मनुष्य मात्र के लिए एक हि प्रकार के हैं, अर्थात् मनुष्य मात्र के लिए पूर्णांग धर्म्म जीवन अथवा उसका आदर्श एक हि प्रकार का है।

६—सिद्धान्त

जिस प्रकार मनुष्य सम्बन्धी शरीर-विज्ञान विषयक सब सत्य शिक्षा मनुष्य मात्र के लिए एक हि प्रकार की है, उसी प्रकार उसके आत्मा की गठन और उसके विनाश ओर विकाश के सम्बन्ध में विज्ञान-मूलक धर्म्म और अधर्म्म शिक्षा भी एक हि प्रकार की है।

सात्विक और देवकोष अथवा पूर्णांग धर्म्म जीवन

७—सिद्धान्त

जिन उच्च शक्तियों के विकाश से आत्मा में सच्चे धर्म्म जीवन की उत्पत्ति और उन्नति होती है, और वह अपनी गठन में धीरे २ नाना उच्च अंगों को प्राप्त होकर पूर्णता लाभ करने के योग्य होता है, वह दो कोषों में विभक्त हैं, जिनमें से एक को सात्विक और दूसरे को देवकोष कहते हैं।

८—सिद्धान्त

सात्विक और देव शक्तियों के प्रस्फुटित और उन्नत करने से आत्मा में उच्च गतियों वा उच्चजीवन की उत्पत्ति और उन्नति होती है। यही उसका **विकाश** कहलाता है। उसके विरुद्ध अहं, वासना, और उत्तेजना सम्बन्धी नाना प्रकार की शक्तियों और कुसंस्कारों अथवा मिथ्या विश्वासों के अधीन रहने से आत्मा में नीचगतियों वा नीच जीवन की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। इन्हीं नीचगतियों से उसमें नाना प्रकार के हानिकारक दुःखों की उत्पत्ति होती है, और वह घुल २ कर एक दिन अपने व्यक्तिगत रूप के विचार से पूर्णतः नष्ट हो जाता है। यही उसका **विनाश** कहलाता है।

९—सिद्धान्त

सात्विक-अंग-प्राप्त आत्माओं के क्रम में जब कोई ऐसा आत्मा आविर्भूत हो, कि जो अपनी गठन में उन सब उच्चशक्तियों को विकशित कर सके, जिन्हें प्राप्त होकर उसकी गठन अपने सब अंगों के विचार से पूर्ण होती हो, और वह इस पूर्ण गठन को प्राप्त होकर एक ओर विश्व के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में असत्य और अहित मूलक सब नीचगतियों से मुक्त हो, और दूसरी ओर सत्य और हित मूलक सब उच्चगतियों का अनुरागी हो, और इस प्रकार विश्व के उच्च विकाश के साथ पूर्ण **एकता वा मेल** स्थापन करने के योग्य हो, तब वह अन्य सब प्रकार के सात्विक भावधारी आत्माओं से ऊपर परम पूजनीय **देवरूप** ग्रहण करता है। ऐसा देवात्मा विश्व के प्रत्येक विभाग के साथ केवल उच्चगति दायक सम्बन्धों के रखने और नीचगति दायक सब प्रकार के सम्बन्धों से मुक्त होने के कारण, दिनों दिन आप उच्च विकाश के लाभ करने के योग्य और उसके उच्च विकाश में एक अति श्रेष्ठ और आवश्यक अंग बन जाता है।

१०—सिद्धान्त

जब किसी आत्मा में कोई ऐसा भाव अंकुरित हो, कि जो उसे विश्व के किसी विभाग के अस्तित्वों के सम्बन्ध में किसी प्रकार के

निष्काम हित करने के लिए परिचालित करता हो, तव उसमें उच्च गति दायक एक नया अंग उत्पन्न होता है, और उसके द्वारा उसमें कुछ उच्चगति आरम्भ होती है। यह उच्चगति दायक भाव नाना प्रकार के होते हैं और **सात्विक** भाव कहलाते हैं।

११—सिद्धान्त

मनुष्य जगत् के प्रकाश और परिवर्तन में कितने हि आत्मा ऐसे हैं, कि जो उच्च विकाश की सीढ़ी में एक वा कई **सात्विक भाव** बीज रूप में लेकर जन्मे वा जन्मते हैं; और उन्हें अपनी हृदय-भूमि में से अपनी २ अवस्था के अनुसार अल्प वा अधिक संख्या वा परिमाण में प्रस्फुटित करने के योग्य हुए हैं, वा होते हैं। यह भाव किसी आत्मा में औरों की अपेक्षा जितने अधिक और जितने अंश गहरे हों, और विश्व के किसी एक वा दूसरे विभाग के सम्वन्ध में हित उत्पन्न करते हों, उतने हि अंश वह आत्मा अपनी गठन में उच्च होता है।

१२—सिद्धान्त

सात्विक कोष सम्बन्धी जो भाव जिस आत्मा में वर्तमान न हो, वह उस भाव के सम्बन्ध में किसी अस्तित्व का, वासना रहित कोई हित साधन नहीं करता, और नहीं कर सकता; और यदि उसके विपरीत कोई भाव उस में वर्तमान हो, तो उससे परिचालित होकर किसी की एक वा दूसरी अनुचित हानि अवश्य करता, वा कर सकता है।

[टि०—यथा—दया विपयक सात्विक भावधारी के लिए जैसे दयामूलक किसी सत्कर्म्म के लिए आकांक्षा वा प्रेरणा अनुभव करना स्वाभाविक है, वैसे हि उत्तेजना कोष विषयक हिंसा भावधारी मनुष्य के लिए अपने भीतर किसी के सम्वन्ध में असत् आकांक्षा वा प्रेरणा अनुभव करना भी स्वाभाविक है।]

१३—सिद्धान्त

एक वा कई सात्विक भाव विशिष्ट आत्मा यद्यपि अपने एक वा दूसरे सात्विक भाव से परिचालित होकर एक वा दूसरे प्रकार से विश्व के सम्बन्ध में हितकर प्रमाणित होता है, तथापि वह उन सत्य और हित विषयक पूर्ण अनुराग, और असत्य और अहित विषयक पूर्ण विराग

शक्तियों के न रखने से कि जो पूर्ण-गठन-प्राप्त देवात्मा में पाई जाती हैं, कितने हि अंशों में असत्य और अहित परायण रहता है। और केवल ऐसा रहकर नीचगतियों से पूर्ण मोक्ष और उच्चगतियों में पूर्ण विकाश लाभ करने के योग्य नहीं बनता।

१४—सिद्धान्त

सात्विक भावी आत्मा अपनी अल्प वा अधिक श्रेष्ठता के अनुसार (यदि कोई विशेष दुर्घटना पैदा न हो,) अपने से नीचे अन्य सब आत्माओं की अपेक्षा अधिक काल तक जीने, और अपेक्षाकृत उच्च लोकों में जाने और रहने और उच्च रस वा सुख पाने का अधिकारी होता है।

१५—सिद्धान्त

करोड़ों मनुष्यात्माओं में बहुत से ऐसे हैं, कि जो अपने भीतर उच्च वनने की कोई **योग्यता** नहीं रखते, अर्थात् वह कभी और किसी प्रकार उच्च नहीं बन सकते, किन्तु उसके विरुद्ध दिनों दिन नीच बनने की हि योग्यता रखते हैं। कुछ ऐसे हैं, कि जो कुछ दूर तक तो उच्च बनने की योग्यता रखते हैं, किन्तु उससे अधिक नहीं। और कुछ ऐसे हैं कि जो लगातार उच्च बनने की योग्यता रखते हैं।

१६—सिद्धान्त

मनुष्य जगत् के प्रकाश और परिवर्तन में लाखों आत्मा ऐसे हैं, कि जिनमें केवल यही नहीं, कि कोई सात्विक भाव पाया नहीं जाता, किन्तु उनकी हृदय भूमि में किसी ऐसे भाव के उत्पन्न करने की योग्यता हि वर्तमान नहीं होती। इसलिए उन "ईश्वरवादियों" का यह कथन विलकुल मिथ्या है कि प्रत्येक मनुष्यात्मा "ईश्वरीय रूप" वा "डिवीनिटी" को लेकर पैदा हुआ है, और वह अनन्त काल तक उन्नति करने की योग्यता रखता है।

ज्ञान

सम्भव और असम्भव

१७—सिद्धान्त

मनुष्य अपनी किसी **बोध शक्ति** के द्वारा हि किसी विषय में कोई **साक्षात् ज्ञान** लाभ करता वा कर सकता है।

१८—सिद्धान्त

जिस मनुष्य में जो बोध शक्ति वर्तमान न हो, वह उस बोध-शक्ति मूलक कोई **साक्षात् ज्ञान** लाभ **नहीं** कर सकता।

१९—सिद्धान्त

मनुष्यों में बोध शक्तियों की **संख्या** और **गहराई** आदि की विभिन्नता के कारण उनका ज्ञान **समान** नहीं होता, किन्तु अपेक्षाकृत अल्प वा अधिक होता है!

२०—सिद्धान्त

मनुष्य अपनी सब प्रकार की बोध शक्तियों से अतीत कोई ज्ञान लाभ नहीं कर सकता।

सत्य और असत्य

२१—सिद्धान्त

मनुष्य के लिए अपनी जिस किसी प्रकृत रूप सम्पन्न बोधशक्ति के द्वारा किसी बात में विश्वास करना **अनिवार्य्य** और अविश्वास करना असम्भव हो, उसके उस ज्ञान को **स्वतः सिद्ध** वा साक्षात् सत्यज्ञान कहते हैं।

२२—सिद्धान्त

किसी स्वत:सिद्ध अथवा साक्षात् सत्यज्ञान के भिन्न जो मनुष्य जिस विषय में जो कुछ ज्ञान रखता है, उसे **असाक्षात्** ज्ञान कहते हैं।

२३—सिद्धान्त

असाक्षात् ज्ञान तीन प्रकार का होता है :—

(१) संस्कारमूलक।

(२) विश्वासमूलक।

(३) अनुमानमूलक।

२४—सिद्धान्त

मनुष्य का असाक्षात् ज्ञान सत्य भी हो सकता है, और असत्य भी।

२५—सिद्धान्त

मनुष्य का जो असाक्षात् ज्ञान,

(१) साक्षात् प्रकृत बोध।

(२) ठीक परीक्षा।

(३) ठीक युक्ति वा तर्क प्रणाली, और

(४) प्रथम लब्ध सत्य ज्ञान।

के अनुकूल हो, वह सत्य; और जो इन चारों में से किसी कसौटी के विरुद्ध हो, वह असत्य है।

२६—सिद्धान्त

मनुष्य की कल्पनाशक्ति उसके सत्यज्ञान के लाभ करने में **सहाय** हो सकती है, परन्तु केवल उसी के द्वारा सर्वदा सत्यज्ञान लाभ **नहीं** हो सकता।

२७—सिद्धान्त

मनुष्य के लिए सत्यज्ञान सर्वथा श्रेय और इसीलिए ग्राह्य है।

२८—सिद्धान्त

मनुष्य के लिए असत्यज्ञान सर्वथा अश्रेय और इसीलिए त्याज्य है।

मुख्य और गौण

२९—सिद्धान्त

मनुष्य के लिए आत्म विषयक सत्यज्ञान हि सर्वोच्च और इसीलिए **मुख्यज्ञान** है; क्योंकि उसे प्राप्त होकर हि मनुष्य अपने अधिकार के अनुसार जहां तक सम्भव हो, अपने अस्तित्व की रक्षा और अपने आत्मा का विकाश साधन कर सकता है।

३०—सिद्धान्त

मनुष्य के लिए आत्म विषयक सर्वांग सत्यज्ञान को छोड़कर अन्य प्रत्येक प्रकार का ज्ञान मुख्य नहीं; किन्तु **गौण** ज्ञान है।

३१—सिद्धान्त

मनुष्य के लिए आत्म विषयक सर्वांग सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिए **विश्व** के **मूल तत्त्वों** का ज्ञान लाभ करना **आवश्यक** और इसी लिए **वांछनीय** है।

३२—सिद्धान्त

श्रद्धावान् अधिकारी मनुष्यों में आत्म विषयक सर्वांग सत्यज्ञान का प्रचार, अन्य प्रत्येक प्रकार के ज्ञान की अपेक्षा **अधिक आवश्यक** और इसीलिए अधिक **वांछनीय** है।

विश्वास

३३—सिद्धान्त

किसी विषय में किसी और के कथन वा उसके आचरण पर भरोसा करने के भाव को **विश्वास** कहते हैं।

३४—सिद्धान्त

किसी न किसी जन के किसी कथन वा उसके आचरण पर विश्वास करना प्रत्येक मनुष्य के लिए जैसे एक ओर नितान्त आवश्यक है, वैसे हि दूसरी ओर स्वाभाविक भी है।

३५—सिद्धान्त

विश्वास दो प्रकार का होता है, (१) सत्य (२) मिथ्या। जो विश्वास सत्यमूलक हो, उसे सत्य और जो मिथ्यामूलक हो, उसे मिथ्या विश्वास कहते हैं।

३६—सिद्धान्त

जिस जन के सम्बन्ध में जितना अधिक विश्वास हो, उसके कथन और आचरण पर उतनी हि अधिक आस्था वा निष्ठा होती है।

३७—सिद्धान्त

सत्यज्ञान से हि मनुष्य का प्रकृत और श्रेष्ठ कल्याण हो सकता है; मिथ्या से नहीं। इसलिए कल्याण आकांक्षी प्रत्येक मनुष्यात्मा के लिए यह आवश्यक है, कि वह अपने विश्वासों की सत्यज्ञान विषयक

कसौटी के द्वारा परीक्षा करे और फिर उसका जो २ विश्वास सत्य के विरुद्ध अथवा मिथ्या प्रमाणित हो, उसे (और लाखों जनों के उस पर जमे हुए होने पर भी) तत्काल त्याग करदे।

३८—सिद्धान्त

सत्यज्ञान से हि मनुष्य का प्रकृत और श्रेष्ठ कल्याण हो सकता है; मिथ्या से नहीं। इसलिए कल्याण आकांक्षी प्रत्येक मनुष्यात्मा के लिए यह आवश्यक है कि उसका जो विश्वास सत्यज्ञान विषयक कसौटी के अनुसार ठीक प्रमाणित हो, उस पर वह दृढ़ता के साथ आरूढ़ रहे, और लाखों जनों के कहने अथवा उनकी ओर से विरोधिता के होने पर भी उसे कभी परित्याग न करे।

३९—सिद्धान्त

सत्य मुक्ति और धर्म्म की प्राप्ति के निमित्त यह अत्यन्त आवश्यक है, कि अधिकारी आत्मा सत्य-मुक्ति और धर्म्म के दाता और अपने परम हिताकांक्षी और परम हितकर्ता गुरु पर **पूर्ण विश्वास** रखता हो।

४०—सिद्धान्त

सत्य-मोक्ष और धर्म्म का आकांक्षी होकर जो जन जितने अंश **अपनत्व** अर्थात् **अपनी** किसी वासना, उत्तेजना, अहं और उनके द्वारा परिचालित समझ वा विचार शक्ति पर विश्वास न करके, अपने जीवन दाता सतगुरु को अपने से **श्रेष्ठ और महान्** जान कर उन पर धीरे २ अधिक **विश्वास** के बढ़ाने का जितना अभ्यास करता हो, उतना हि वह उनका **अधिक श्रद्धावान्** बनकर उनके साथ कल्याणकारी गाढ़ सम्बन्ध स्थापन करने और उनसे अधिक से अधिक उच्च ज्योति और बोध पाने के योग्य बनता है।

उपासना वा पूजा

४१—सिद्धान्त

नाना कोष सम्बन्धी नीचगतियों से मुक्ति और नाना उच्चगति उत्पादक धर्म भावों में विकाश लाभ करने का आकांक्षी बनकर जब

कोई आत्मा पूर्णांग धर्म्म-जीवन-प्राप्त अपने सच्चे उपास्य देव और पूर्ण उच्चजीवन दाता को अपना परम लक्ष्य और परम आदर्श जानकर,

(१) उनसे अपने आत्मा को जोड़ने और अपने अन्धकारग्रस्त हृदय में उनसे उच्चज्योति पाने,

(२) उनकी उच्चज्योति से अपनी एक वा दूसरी नीचगति को देखकर उसके प्रति विकर्षण वा घृणा उत्पन्न करने,

(३) उनकी इस उच्चज्योति में अपने एक वा दूसरे नीचगति मूलक विकार को देखकर उससे पवित्रता लाभ करने के निमित्त आवश्यक परिशोध करने,

(४) उनके अद्वितीय धर्म्म रूप सम्बन्धी एक वा दूसरे उच्चगति दायक भाव के सौन्दर्य्य को देखने और उसके प्रति अपने हृदय में आकर्षण उत्पन्न करने और उसे अधिक से अधिक उन्नत करने और इन सब बातों में सिद्ध काम होने के लिए,

जो २ साधन ग्रहण करता है, उन्हीं की प्रणाली का नाम **सत्य उपासना** वा **पूजा** है।

४२—सिद्धान्त

जिस साधन विधि से किसी आत्मा को अपनी नाना नीचगतियों के देखने और उनसे मोक्ष पाने और उच्चगतियों के विकशित करने के निमित्त जिस उच्च ज्योति और जिन २ उच्च बोधों की आवश्यकता है, उनकी प्राप्ति न हो, अथवा उससे उलटा वह और भी अन्ध, कठोर, पापी, मलिन वा नीच बनता हो, वह सब **मिथ्या और हानिकारक उपासना** वा **पूजा** है।

[टि०—इस पृथिवी के नाना सम्प्रदायों और मतों में जैसे नाना प्रकार के मिथ्या उपास्य देवी वा देवते पाए जाते हैं, वैसे हि उनके सम्बन्ध में नाना प्रकार की मिथ्या पूजा भी प्रचलित है।]

४३—सिद्धान्त

जब तक किसी मनुष्य में अपने आत्मा की गठन और उसके विनाश और विकाश के सम्बन्ध में आवश्यक बोध जाग्रत न हों, तब तक वह

किसी सच्चे उपास्य और उपासना सम्बन्धी किसी सच्ची प्रणाली के ग्रहण करने का अधिकारी नहीं बनता ।

४४—सिद्धान्त

किसी मनुष्य को अपने आत्मा की सत्य गठन और उसके विनाश और विकाश के सम्बन्ध में आवश्यक बोधों की प्राप्ति ऐसे हि आत्माओं की **कृपा** और उनके **सत्संग** से हो सकती है, कि जिनमें वह बोध **वर्त-मान** हों ।

उपास्य और उपासक

४५—सिद्धान्त

किसी अस्तित्व को अपना हानिकारक वा हितकारक मानकर, जब कोई मनुष्य उसके सम्बन्ध में आराधना, ध्यान, प्रार्थना और भेंट आदि विषयक किसी क्रिया वा पूजा का साधन करता है, तब वह अस्ति-त्व उसका **पूज्य** वा **उपास्य** कहलाता है । इस उपास्य अस्तित्व को साधा-रण बोलचाल में देवता वा देवी भी कहते हैं । और पूजा कर्ता उसका पुजारी वा उपासक वा भक्त वा सेवक कहलाता है ।

४६—सिद्धान्त

इस पृथिवी में नाना मनुष्यों में नाना प्रकार के उपास्य देव वा देवी पाए जाते हैं, जिनमें से कुछ सत्य और बहुत से मिथ्या कल्पनामूलक हैं ।

४७—सिद्धान्त

इस पृथिवी में कभी वा अब जिन सचमुच के अस्तित्व रखने वालों की पूजा प्रचलित रही है, वा है, वह यह है :—

(१) अपने वा किसी और के पूर्वजों की पूजा—यह पूजा पितृ-पूजा, गुरु पूजा, साधु पूजा, अवतार पूजा, पैग़म्बर पूजा, पीर पूजा, वीर-पूजा, "सेंट वरशिप," "हीरो वरशिप" आदि कहलाती है ।

(२) कई हितकर और कई दुष्ट पशुओं की पूजा—यथा **गौ, बैल**, घोड़े और सांप आदि की पूजा ।

(३) कई वृक्षों की पूजा—यथा पीपल और बड़ आदि की पूजा।

(४) कई भौतिक पदार्थों की पूजा—यथा आकाश, पृथिवी, सूर्य्य चन्द्र, अग्नि, विद्युत्, वायु, जल आदि की पूजा।

४८—सिद्धान्त

इस पृथिवी में जिन कई प्रकार के मिथ्या कल्पनामूलक अस्तित्वों की पूजा प्रचलित है, वह यह हैं :—

(१) विश्व के कल्पित सृजन वा निर्माण कर्ता नाना पुरुषों, यथा ब्रह्मा, ईश्वर, विष्णु, शिव, अल्ला, खुदा, गाड आदि।

(२) मन्सा वा मनोवांक्षा पूर्ण कर्ता कल्पित देवी देवते, यथा दुर्गा, सरस्वती, काली, सीतला, गणेश, भैरव, आईसिस, क्वानन आदि।

४९—सिद्धान्त

इस पृथिवी में जितने पुजारी वा उपासक पाए जाते हैं, वह कई प्रकार के हैं :—

(१) वह जो अपनी किसी सांसारिक आकांक्षा के पूर्ण होने के निमित्त कोई पूजा करते हैं, यथा धन, धरती, सन्तान, आरोग्यता आदि के लिए।

(२) वह जो मरने के बाद किसी सुख दायक लोक अर्थात् स्वर्ग वैकुण्ठ, गोलोक, शिव लोक, बहिश्त और हैवन आदि में पहुंचने की कामना करते हैं।

(३) वह जो अपनी आजीविका प्राप्त करने की कामना करते हैं।

(४) वह जो किसी सात्विक-भाव-गत उच्च रस वा तृप्ति वा आनन्द की प्राप्ति की कामना करते हैं।

५०—सिद्धान्त

किसी ऐसे मनुष्य के लिए,

(१) जिसे सत्यदेव की धर्म्म विषयक तत्त्व प्रकाशक उच्च ज्योति प्राप्त हुई हो,

(२) जिसमें अधर्म्म से सत्य-मोक्ष और सत्यधर्म्म में विकाश

लाभ करने की आकांक्षा उत्पन्न हुई हो, उसे,

(१) उन सब देवी देवतों के पूर्णतः **त्याग** करने की आवश्यकता है, जो मिथ्या कल्पनामूलक हैं।

(२) उन सब "उपास्यों" के पूर्णतः त्याग करने की ज़रूरत है, कि जो सत्य और पूर्णांग धर्म्म शक्तियों के अवतार वा आविर्भाव नहीं थे, वा नहीं हैं, यद्यपि वह पहले कोई सच्चा अस्तित्व ज़रूर रखते थे, वा अब रखते हैं।

५१—सिद्धान्त

ऐसे मनुष्यात्मा को कि जिसमें विनाशकारी जीवन से मोक्ष और उच्चजीवन विषयक विकाश लाभ करने की कुछ भी योग्यता वर्तमान हो, अपने हृदय में उपरोक्त प्रकार का परम वांछनीय परिवर्तन लाभ करने के निमित्त ऐसे देवात्मा के साथ योग-युक्त होना अर्थात् जुड़ना नितान्त आवश्यक है, कि जो पूर्णांग धर्म्म शक्तियों का आविर्भाव वा अवतार हो, और जिसने इन शक्तियों के द्वारा अपने आत्मा की पूर्णांग गठन लाभ की हो।

५२—सिद्धान्त

सर्वांग देवजीवन-प्राप्त आत्मा के साथ जुड़कर हि अधिकारी आत्मा वह उच्च और विचित्र अमूल्य ज्ञान और भाव उत्पादक ज्योति और शक्ति लाभ कर सकता है, कि जिनके मिलने से उसमें अपनी नीचगतियों के सम्बन्ध में नाना आवश्यक बोधों की उत्पत्ति और उन्नति हो सकती है, और उन बोधों के उत्पन्न और उन्नत होने से उन गतियों से मुक्ति मिल सकती है, और उच्चगति दायक बोधों की उत्पत्ति और उन्नति से विकाशकारी शक्तियां लाभ हो सकती हैं।

यही पूर्णांग गठन और देवजीवन-प्राप्त देवात्मा मनुष्य मात्र में से उन सब का एक मात्र सत्य उपास्य देव है, कि जो सत्य मोक्ष और सत्य धर्म्म जीवन के आकांक्षी वा अभिलाषी हों। इसी एक मात्र सत्य देव की सत्य उपासना वा पूजा करना प्रत्येक सत्य धर्म्मावलम्बी अधिकारी आत्मा का मुख्य कर्तव्य है।

सत्य मुक्ति और सत्य धर्म्म की प्राप्ति

५३—सिद्धान्त

जिस २ कोष की जिन २ शक्तियों के अनुचित परिचालन से कोई आत्मा नीचगतियां ग्रहण करके विकृत अवस्था वा विनाश का भागी बनता है, उन शक्तियों की अहित वा विनाशकारी गतियों के सम्बन्ध में जब तक नाना प्रकार के विराग-उत्पादक बोध जाग्रत न हों, तब तक उनके अनुचित परिचालन वा दासत्व से (विशेष कर जब कि यह दासत्व उसके लिए **सुखकर** प्रतीत होता हो) केवल यही नहीं, कि वह उद्धार या मोक्ष या मुक्ति नहीं पा सकता, किन्तु अनेक अवस्थाओं में किसी ऐसी मुक्ति की आकांक्षा हि नहीं करता; यहां तक कि यदि उसकी अपेक्षा कोई और उच्च आत्मा उसे किसी ऐसी नीचगति से निकालने के लिए चेष्टा भी करे, तो वह उसकी इस चेष्टा का विरोधी बनकर उसे सफल होने नहीं देता, और अपनी इस सुखकर परन्तु विनाशकारी गति को बराबर जारी रखना चाहता है।

[टि०—तब इस प्रकार के लाखों मनुष्यों की ऐसी अवस्था जितनी भयानक है और उनके उद्धार का कार्य्य जितना कठिन है, उसका अनुमान किया जा सकता है।]

५४—सिद्धान्त

जब तक किसी आत्मा में धर्म्मजीवन विषयक सत्यज्ञान और धर्म्मजीवन की प्राप्ति के लिए सच्ची आकांक्षा उत्पन्न न हो, तब तक वह धर्म्म सम्बन्धी किसी ऐसी शक्ति के पाने के लिए, जो उसमें वर्त-मान नहीं है, केवल यही नहीं, कि किसी प्रकार का कोई यत्न वा उपाय वा साधन ग्रहण करना नहीं चाहता और नहीं करता, किन्तु यदि कोई उच्च आत्मा, उसके हित के निमित्त, उसे ऐसा करने की प्रेरणा करता हो, तो उसकी यह प्रेरणा उसे क्लेशदायक वा बुरी मालूम होती है, और वह अपनी एक वा दूसरे प्रकार की **धर्म्म शक्ति विहीन** अवस्था में **संतुष्ट** रहना चाहता है, और रहता है।

[टि०—तब ऐसे किसी आत्मा में धर्म्मजीवन विषयक किसी अंग के लिए

कोई सच्ची आकांक्षा उत्पन्न करना (यदि उसमें उसके उत्पन्न हो जाने की सम्भावना भी वर्तमान हो) जितना अठिन और दुःसाध्य कार्य्य हो सकता है, उसका अनुमान किया जा सकता है ।]

५५—सिद्धान्त

प्रत्येक आत्मा के लिए सत्य मुक्ति और धर्म्मजीवन की प्राप्ति के सम्बन्ध में विश्व व्यापी परिवर्तन के अटल नियम के अनुसार यह आवश्यक है, कि

(१) एक ओर उसमें उन दोनों के सम्बन्ध में जहां तक सम्भव हो, विविध बोधों के जाग्रत होने की योग्यता वा सम्भावना वर्तमान हो ।

(२) ऐसे बोधों के जाग्रत होने के लिए अनुकूल सम्बन्धी प्राप्त हों ।

५६—सिद्धान्त

जिन आत्माओं में सत्य मुक्ति और सत्य धर्म्म जीवन के सम्बन्ध में ।

(१) विविध बोधों के जाग्रत होने की कोई योग्यता वर्तमान न हो ।

अथवा,

(२) योग्यता वर्तमान हो, परन्तु उनके उत्पन्न करने के लिए **अनुकूल सम्बन्धी** प्राप्त न हों, उनके लिए इन दोनों की प्राप्ति असम्भव है ।

५७—सिद्धान्त

मनुष्य जगत् के विकाश क्रम में पूर्णांग धर्म्म के अवतार वा आविर्भाव श्री देवगुरु भगवान् हि मनुष्यमात्र के लिए एकमात्र **सर्वांग सत्य मोक्ष और उच्चजीवन के आदर्श हैं**। वही एकमात्र सत्य मोक्ष और उच्चजीवन के सम्बन्ध में **पूर्ण शिक्षक** और **ज्ञान दाता हैं**।

५८—सिद्धान्त

किसी मनुष्य में सत्य, मुक्ति और धर्म्म जीवन विषयक आकांक्षा

के जाग्रत करने के लिए यह आवश्यक है, कि उसमें एक ओर अपने आत्मा और शरीर के अलग २ अस्तित्व और दूसरी ओर उनके परस्पर के सम्बन्ध में ठीक बोध जाग्रत हों।

५९—सिद्धान्त

मनुष्य में जीवित रहने की आकांक्षा और सब आकांक्षाओं की अपेक्षा स्वभावतः अधिक बलवान है। इसलिए यदि उसमें अपने आत्मा और शरीर के अलग २ अस्तित्व और उनके परस्पर के सम्बन्ध में **ठीक बोध** उत्पन्न हो, तो वह सत्य मुक्ति और सत्य धर्म्म जीवन की प्राप्ति के लिए अवश्य आकांक्षी बन सकता है।

६०—सिद्धान्त

सत्य मुक्ति और सत्य धर्म्म जीवन की प्राप्ति के लिए कोई मनुष्य अपनी जिन चार प्रकार की शक्तियों के द्वारा नाना साधनों को ग्रहण कर सकता है, वह यह हैं :—

(१) चिन्ता वा विचारमूलक नाना साधन।

(इसमें पाठ, गान, जप और ध्यान भी शामिल हैं)

(२) आकांक्षामूलक साधन।

(इसमें अपने और अन्य के सम्बन्ध में प्रत्येक शुभ कामना शामिल है)

(३) स्थूल वाणीमूलक साधन।

(४) स्थूल अन्य अंगमूलक नाना साधन।

(इनमें से दो आत्मिक और दो शारीरिक हैं।)

६१—सिद्धान्त

पूर्ण विश्व का **अंश** होकर मनुष्य के लिए यह आवश्यक है, कि वह उसके प्रत्येक विभाग, अर्थात् मनुष्य, पशु, उद्भिद् और भौतिक जगत् के सम्बन्ध में अपनी नाना नीचगतियों से मोक्ष लाभ करे, और उनके विषय में नाना बोधों की प्राप्ति के सब आवश्यक साधन ग्रहण करे।

६२—सिद्धान्त

पूर्ण विश्व का **अंश** होकर मनुष्य के लिए यह आवश्यक है, कि वह

अपने आत्मा में उच्चजीवन के विकाश के लिए उसके प्रत्येक विभाग अर्थात् मनुष्य, पशु, उद्भिद् और भौतिक जगत् के सम्बन्ध में नाना उच्चगति दायक धर्म्म शक्तियों की उत्पत्ति के आवश्यक सब साधन ग्रहण करे।

[टि०—विश्व के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में सत्य-मुक्ति और धर्म्म जीवन की प्राप्ति के लिए मनुष्य जिन नाना साधनों को ग्रहण करता है, वह उस विभाग के सम्बन्ध में यज्ञ वा व्रत के साधन कहलाते हैं। ऐसे सब प्रकार के साधनों के सम्बन्ध में आवश्यक आदेशों और विधि का देवशास्त्र में वर्णन दिया गया है।]

६३—सिद्धान्त

सत्य मुक्ति और धर्म्म जीवन की प्राप्ति के लिए सब **साधनों** का उद्देश्य यथार्थ सिद्धि है; अर्थात्—

(१) मनुष्य को विश्व के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में अपनी नाना नीचगतियों के विषय में ज्योति मिले, और उनसे भावी उद्धार और उनके पिछले विकार से मुक्ति पाने के लिए उसमें,

(अ) पूर्ण विवेक,
(इ) पूर्ण विकर्षण (घृणा) वा विराग,
(उ) पूर्ण अनुताप, और
(ए) हानि परिशोध वा पवित्रता,

(२) उच्चगति उत्पादक धर्म्म बोधों वा शक्तियों के सम्बन्ध में ज्योति के मिलने पर उसमें उनके प्रति,

(अ) पूर्ण विवेक,
(इ) पूर्ण आकर्षण वा अनुराग,
(उ) उच्चरस वा सुख, और
(ए) उच्च बल,

की उत्पत्ति हो।

६४—सिद्धान्त

सच्ची मुक्ति से अज्ञानी रहकर इस पृथिवी के नाना "धर्म्म सम्प्रदायों" ने इस विषय में जितनी कल्पनामूलक मिथ्या शिक्षा दी है, वह

सब महा हानिकारक और इसीलिए त्याज्य है। यथा :—

वैदिक हिन्दू मुक्तियां

त्रिताप से मुक्ति

त्रिताप क्या ? तीन प्रकार का ताप वा दुःख। आदिम उपनिषद्-कारों ने विचार करते २ मालूम किया, कि मनुष्य सुख का अभिलाषी हो कर कोई दुःख नहीं चाहता। और मनुष्य को तीन प्रकार के दुःख मिलते हैं :—

(१) **अध्यात्मिक**—अर्थात् ज्वर आदि रोग से और किसी अभिलषित वस्तु के वियोग वा उसके न मिलने से।

(२) **आधिभौतिक**—अर्थात् किसी मनुष्य वा पशु आदि के मारने, काटने, डंक लगाने आदि से।

(३) **आधिदैविक**—अर्थात् गर्मी, सर्दी, बारिश आदि से।

अब यदि मनुष्य को यह "तत्त्व ज्ञान" हो जाय, कि जिस शरीर के साथ रहने से मुझे यह दुःख मिलते हैं, मैं वह शरीर नहीं हूं; किन्तु मैं आत्मा हूं, और शरीर से भिन्न हूं, और मैं अज्ञान वशतः अपने आपको शरीर समझता हूं, और उसके साथ अभिन्न होकर, उसके सुख वा दुःख को अनुभव करता हूं, तो इस अभ्यास से वह इन तीनों प्रकार के दुःखों से मुक्त हो सकता है। उपनिषद्कारों की यह पहले काल की शिक्षा थी। उसके अनन्तर की शिक्षा यह थी :—

भ्रम अथवा माया से मुक्ति

जिस संसार में रहकर मनुष्य अपने आपको कभी सुखी और कभी दुःखी अनुभव करता है, वह संसार हि भ्रम मात्र है। "एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म" के भिन्न और कुछ सत् नहीं। वह चित्तस्वरूप, निर्लिप्त और निर्विकार और अकर्ता है। जीव भी उसी का रूप वा अंश है। माया अथवा भ्रम के वशीभूत होकर वह अपने आप को वद्ध और सुखी वा दुःखी अनुभव करता है। योग विषयक साधनों से जब उसका यह अज्ञान दूर हो जाता है, तब वह इन महा वाक्यों के अनुसार कि अहं "ब्रह्मास्मि"

(मैं ब्रह्म हूं) "अयमात्मा ब्रह्म" (यह आत्मा ब्रह्म है) अपने रूप के विषय में "तत्त्वज्ञान" और माया से मुक्ति पाकर पूर्ण आन्नद रूप बन जाता है।

पुनर्जन्म वा योनि भ्रमण से मुक्ति

मनुष्य आत्मा अपने सुकृत अथवा दुष्कृत कर्म्मों के अनुसार उनका फल भोगने के लिए इस संसार में बार बार जन्म लेता है, और मनुष्य, पशु, और वृक्ष आदि योनियों में भ्रमण करता है। भले कर्म्मों से धन, पदार्थ, रत्न, सवारी, अच्छे आहार, आरोग्यता, सुन्दर स्त्रियों और संतान आदि की प्राप्ति होती है; और बुरे कर्म्मों से इन सुखों से वंचित होकर कई प्रकार के दुःख मिलते हैं, अथवा मनुष्य योनि से निकलकर बैल, घोड़ा, गधा, मच्छर, खटमल, सांप, बिच्छू, आम, अंगूर वा धतूरे आदि का आकार ग्रहण करना पड़ता है। इसीलिए भले और बुरे दोनों प्रकार के कर्म्मों से मुक्त होने की आवश्यकता है। और उपरोक्त योग साधन के द्वारा "तत्त्वज्ञान" के प्राप्त होने से जब यह मुक्ति मिलती है, तब सब भले और बुरे कर्म्मों का नाश हो जाने से आत्मा सदा के लिए ब्रह्म में लीन वा लय हो जाता है, और फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता। इस प्रकार की मुक्ति को मोक्ष, निश्श्रेय, अपवर्ग और निर्वाण भी कहते हैं।

पुनर्जन्म से पौराणिक हिन्दू मुक्तियां

स्नान के द्वारा

किसी विशेष नदी, कुंड, झील, सरोवर, बावली, वा झरने आदि में स्नान करने से शरीर की मैल के साथ २ मनुष्य आत्मा के सब पाप भी धुल जाते हैं, और उनके लिए उसे पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता, और वह मरने के बाद बड़े २ सुखों के लोक अर्थात् स्वर्ग में वास करता है।

दर्शन के द्वारा

किसी स्थान विशेष वा मन्दिर की किसी २ मूर्ति आदि के दर्शन से हि पाप कर्म्मों के फलों और पुनर्जन्म से मोक्ष मिल जाती है।

चिह्न धारण के द्वारा

शरीर के ऊपर विशेष २ प्रकार के चिह्न, यथा—केश, कच्छ, कड़ा, कर्द, तिलक, भस्म, कंठी, माला, छाप, मुद्रा, आदि के धारण करने से उपरोक्त प्रकार की मुक्ति मिल जाती है ।

मरने के द्वारा

किसी स्थान विशेष यथा काशी आदि में मरने से उपरोक्त प्रकार की मुक्ति मिल जाती है ।

शब्द उच्चारण के द्वारा

किसी २ विशेष मंत्र वा अपने इष्ट देव के विशेष नाम के उच्चारण करने से उपरोक्त प्रकार की मुक्ति मिल जाती है ।

तान्त्रिक हिन्दू मुक्तियां

बलि के द्वारा

विशेष २ देवताओं को विशेष २ पशुओं की बलि देने से उपरोक्त प्रकार की मुक्ति मिल जाती है ।

खान-पान और व्यभिचार के द्वारा

विशेष विधि के अनुसार, मांस, मदिरा, मछली, मुद्रा, (नशे के वाद खाने की चीज़ें) और मैथुन का सेवन करने से उपरोक्त प्रकार की मुक्ति मिल जाती है ।

बौद्ध मुक्ति

मनुष्य का अस्तित्व दुःखमय है । वह अपने अस्तित्व में नाना प्रकार के दुःख पाता है; यथा :—

(१) जन्मने का दुःख, बुढ़ापे का दुःख, बीमारी का दुःख, मृत्यु का दुःख, प्रिय वस्तु के वियोग का दुःख, अप्रिय के साथ रहने का दुःख, किसी आशा वा आकांक्षा के पूर्ण न होने का दुःख ।

(२) इन दुःखों का कारण उसके भीतर जीने और सुख भोगने की तृष्णा है, कि जिससे परिचालित होकर वह बारी २ से नाना रूपों में जन्म लेता है ।

(३) यह दुःख दूर हो सकते हैं, अर्थात् उसे पुनर्जन्म से मुक्ति मिल सकती है।

(४) इन दुःखों से मुक्ति पाने वा निर्वाण लाभ करने के आठ उपाय हैं, जिनको अष्ट मार्ग कहते हैं। यथाः—

(१) सद् विश्वास।
(२) सत् चिन्ता।
(३) सत् वाक्य।
(४) सत् व्यवहार।
(५) सत् आजीविका।
(६) सत् चेष्टा।
(७) सत् स्मृति।
(८) सत् ध्यान।

(टि०—यह प्राय आठों बातें ऐसी हैं, कि जिनके सम्बन्ध में यदि प्रत्येक शिक्षा सत्य हो, और उनके अनुसार किसी आत्मा में आवश्यक परिवर्तन भी आ सकता हो तो वह सदाचारी बन सकता है और सांसारिक विषयों के ध्यान से ऊपर होकर एक प्रकार की निर्मल शान्ति भी अवश्य पा सकता है, परन्तु जैसे पुनर्जन्म विषयक मत मिथ्या कल्पना है, वैसे हि उससे मुक्ति भी मिथ्या कल्पना के भिन्न और कुछ नहीं। फिर बौद्धमत के अनुसार पुरुष के भिन्न कोई स्त्री यह मुक्ति नहीं पा सकती; और पुरुष को भी वह पूर्ण मुक्ति तब तक नहीं मिल सकती जब तक वह कुमार व्रत ग्रहण न करे, अथवा अपनी पत्नी का पूर्णतः त्याग न करे।]

बौद्ध धर्म्म "ईश्वर" नामक किसी पुरुष वा उसकी पूजा वा कृपा आदि के द्वारा मुक्ति की कोई शिक्षा नहीं देता। बौद्धमत में इस प्रकार का सब विश्वास मिथ्या माना गया है।

ईसाई मुक्ति

ईसा नामक एक जन, जो ईश्वर का इकलौता पुत्र और ईश्वर का पूर्ण अवतार माना गया है, और जिसने पापी मनुष्यों को सदा के नरक सम्बन्धी महा दुःखों से बचाने के लिए सूली पर चढ़कर उनके सब पापों के दुःखों को अपने ऊपर ले लिया है; उस पर जो जन यह विश्वास करे, कि वह मेरा परित्राता है; उसके सब पापों को ईश्वर क्षमा कर

देता है; अर्थात् उनके लिए उसे कोई दंड वा अवांछनीय फल नहीं मिलता, प्रत्युत स्वर्ग प्राप्त होता है, और उनके सब भयानक फलों से पूरी मुक्ति मिल जाती है।

मुसलमानी मुक्ति

ख़ुदा समय २ में अपने बन्दों (मनुष्यों) के पास अपने रसूल भेजता रहता है, ताकि वह उसकी हिदायत के मवफ़िक एक उसीको अपना माबूद (उपास्य) मानें, और उसके भिन्न किसी और देवी देवता को अपना उपास्य न मानें और न बनावें। मुहम्मद साहिब इस प्रकार के आख़री रसूल हैं। जो लोग उन्हें अपना रसूल और उनके माने हुए ख़ुदा को अपना माबूद मानेंगे, उनके गुनाहों को उनका ख़ुदा इनसाफ़ वाले दिन माफ़ कर देगा, अर्थात् उन्हें अपने गुनाहों का कोई दण्ड वा फल न भोगना पड़ेगा, और अगर तराज़ू में तोलते वक़्त सवाब (पुण्य) के मुक़ाबिल में उनके गुनाहों का पलड़ा भारी होगा, तो रसूल मज़कूर, जो उस वक्त ख़ुदा की अदालत में अपने मोतक़िदों (विश्वासियों) की शफ़ाअत (रक्षा) के लिए मौजूद होंगे, दूसरे पलड़े को हाथ लगा देंगे, जिससे उनके सवाब के बोझ से वह पहले पलड़े की अपेक्षा अधिक भारी होजाएगा, और इस तरकीब से उनके विश्वासियों को एक ओर पाप के दण्ड से मुक्ति, और दूसरी ओर बहिश्त में हमेशा के लिए रहायश मिल जाएगी। बाक़ी और सब लोग सदा के लिए ऐसे दहकते हुए नरक में डाले जावेंगे, जहां की आग कभी नहीं बुझती, और वह हमेशा अज़ाब भोगेंगे।

ब्राह्मो मुक्ति

ब्राह्मो लोग भी ईसाइयों और मुसलमानों की न्याईं अपना एक उपास्य अथवा ईश्वर रखते हैं। जो लोग उनके इस उपास्य ईश्वर को "दयामय" जानकर अपने किसी पाप के लिए शोकग्रस्त होकर उसके फल वा दण्ड से बचने के लिए क्षमा प्रार्थना करेंगे, उनकी इस प्रार्थना को सुनकर वह उन्हें क्षमा कर देगा। उनके इस ईश्वर ने हर एक मनुष्य के लिए यह ज़रूरी रक्खा है, कि वह कभी न कभी अपने पापों

से अनुतप्त होकर और उनके दण्ड से बचने के लिए उससे क्षमा प्रार्थना करे, और पवित्र होकर उनकी इच्छा का पालन करे। इनके विश्वास के अनुसार प्रत्येक मनुष्य हि उनके ईश्वर को कभी न कभी ग्रहण करके उसका उपासक बनेगा, और उसका उपासक बनकर अपने पापों से मोक्ष और अनन्त उन्नति लाभ करेगा।

आर्य्या मुक्ति

"आर्य्या समाज" के स्थापक पण्डित दयानन्द के कथन के अनुसार मनुष्य का आत्मा अपने स्थूल शरीर को छोड़कर पहले बिना किसी शरीर के हवा में रहता है। फिर ईश्वर नामक पुरुष उसके कर्म्मों के अनुसार उसे किसी मनुष्य वा पशु वा वृक्ष आदि के आकार के भीतर (उसके किसी छिद्र वा आहार की वस्तु के द्वारा) पहुंचा देता है, और फिर वह उसके भीतर से एक नई देह धारण करके जन्म लेता है, और अपने पिछले कर्म्मों के अनुसार सुख वा दुःख भोग करता है। यदि शरीर के द्वारा उसने चोरी वा व्यभिचार विषयक कोई पाप कर्म्म किया हो, तो वह किसी वृक्ष वा घास के आकार में जन्म लेता है। यदि वाणी के द्वारा उसने कोई पाप किया हो, तो भंगी आदि[१] बनता है। अच्छे कर्म्म करके किसी राजा वा धनी के यहां जन्म लेकर अच्छे खाने, अच्छे वस्त्र, और नौकर, और सवारियां आदि लाभ करता है। इस पृथिवी में इस प्रकार जन्म लेकर यह जो २ सुख भोगता है, वही यहां का "सामान्य स्वर्ग" और जो २ दुःख पाता है, वह "सामान्य नरक" है। जब तक उसकी इन कर्म्मों से मुक्ति नहीं होती, तब तक वह इसी प्रकार "स्वर्ग" और "नरक" भोगता रहता है। फिर जब सब कर्म्मों से मुक्ति हो जाती है, तब फिर वह शरीर धारण करने के बिना "ब्रह्म" की गोद के "विशेष स्वर्ग" में रहता है; और सब लोकों में आनन्द से विचरण करता है, और इकत्तीस नील दस खरब और चालीस अरब

---

[१] और यदि इन दोनों से हि पाप करता रहा हो, तो खबर नहीं क्या रूप ग्रहण करता है—लेखक।

वर्ष तक इस **"विशेष स्वर्ग"** में रहने के अनन्तर फिर इस "विशेष स्वर्ग" से निकाला जाता है, और फिर इस पृथिवी में जन्म[१] लेता है। और कर्म्मों के चक्र में पड़कर फिर नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करता है। "आर्य्या" विश्वास के अनुसार कोई आत्मा सदा के लिए पुनर्जन्म से मुक्ति नहीं पाता।

---

१ किस योनि में और किस कर्म्म के अनुसार—लेखक।

अड़तालीसवां परिच्छेद

विज्ञानमूलक दार्शनिक सत्य सिद्धान्त

परलोक के सम्बन्ध में

१—सिद्धान्त

हमारे स्थूल सौर्य्य मंडल के संगठित होजाने पर उसका प्रत्येक लोक, परिवर्तन के अखण्ड नियम के अनुसार परिवर्तित होकर अपने भीतर से जिन सूक्ष्म कणों को निकालता रहा है, उनके द्वारा भार विषयक नियम के अनुसार जो इसी मंडल के अनुरूप एक और सूक्ष्म सौर्य्य मंडल बन गया है, उसकी **सूक्ष्म पृथिवी** का नाम **परलोक** है।

२—सिद्धान्त

सूक्ष्म पृथिवी भी अपेक्षाकृत अधिक से अधिक नाना सूक्ष्म विभागों में विभक्त है। उसके यह विभाग भी **लोक** कहलाते हैं। इन लोकों में पहले से दूसरा, दूसरे से तीसरा, तीसरे से चौथा, चौथे से पांचवां, पांचवें से छठा, छठे से सातवां, सातवें से आठवां, आठवें से नवां, नवें से दसवां आदि लोक अपेक्षाकृत अधिक से अधिक श्रेष्ठ और सुन्दर अवस्था रखते हैं। पहले लोक से अपेक्षाकृत कुछ नीचे तीन प्रकार के कुछ और प्रदेश भी हैं, कि जिनमें बहुत निम्न श्रेणी के प्राणी और जीव आदि वास करते हैं।

३—सिद्धान्त

किसी मनुष्य के मरने पर उसका आत्मा यदि अपने स्थूल शरीर से आवश्यक सूक्ष्म परमाणु प्राप्त कर सकता हो, और अपने भीतर आकार निर्म्माणकारी यथेष्ट सामर्थ्य भी रखता हो, तो वह इन दोनों बातों के पूरा होने पर अपने पहले आकार के सदृश थोड़ी सी देर में हि एक नया सूक्ष्म आकार बनाकर और उससे सम्मिलित होकर, फिर

पहले की न्याईं एक गठन-प्राप्त जीवित आकार बन जाता है। और इस नए परन्तु पहले के **अनुरूप** अस्तित्व को प्राप्त होकर उसकी उच्च वा नीच दशा के अनुसार वह या तो परलोक सम्बन्धी किसी लोक वा प्रदेश में जाकर वास करता है, वा यदि परलोक सम्बन्धी किसी लोक वा प्रदेश में जाने के योग्य न हो, तो इसी पृथिवी में अथवा इसके आस पास वास करता है। ऐसे आत्मा अपनी अवस्था के विचार से **अधम-आत्मा** कहलाते हैं, और उनका यह वास स्थान **अधम-लोक** कहलाता है।

४—सिद्धान्त

जो आत्मा अपेक्षाकृत जितना उच्च हो, वह अपनी शक्तियों से अपने स्थूल शरीर में अपेक्षाकृत उतने हि अंश उच्च सूक्ष्म परमाणु उत्पन्न करता है, और अपने स्थूल शरीर के छोड़ने पर सूक्ष्म शरीर के निर्म्माण करने के लिए उतने हि अंश उच्च श्रेणी के आकार वाले सूक्ष्म परमाणु लाभ करता है, और इसीलिए उच्च श्रेणी के आकार के निर्म्माण और ग्रहण करने के योग्य होता है। और जिस दर्जे वह आप उच्च हो, उसी दर्जे के अनुकूल सूक्ष्म-परमाणु-निर्म्मित उच्च लोक में प्रवेश और वास करने के योग्य होता है।

५—सिद्धान्त

जो आत्मा जितना नीच वा अधम होता है, वह उतने हि दर्जे अपने भौतिक शरीर में नीचे दर्जे के सूक्ष्म-परमाणु उत्पन्न करता है, और स्थूल शरीर के छोड़ने पर (यदि वह शरीर निर्म्माणकारी शक्ति रखता हो) नीच श्रेणी के सूक्ष्म शरीर को प्राप्त होकर या तो इसी पृथिवी में रह जाता है, या सूक्ष्म पृथिवी में पहुंच कर अपनी दशा के अनुसार किसी नीचे के लोक में वास करता है।

६—सिद्धान्त

जो आत्मा जहां तक उच्च बनने की योग्यता रखता है, वहां तक उच्च बनने से जैसे एक ओर वह अधिक जीवित रह सकता है, वैसे हि

उच्च से उच्च लोकों में पहुंचने और वास करने का भी अधिकारी बनता है।

७—सिद्धान्त

जो आत्मा उच्च बनने की योग्यता नहीं रखता, वह चाहे किसी लोक में हो, धीरे २ अपनी दशा में क्षय प्राप्त होते २ एक दिन उसी में वा किसी अन्य लोक में पूर्णतः नष्ट हो जाता है।

८—सिद्धान्त

नीचगति परायण आत्मा अपने भौतिक शरीर के जिस अंग के द्वारा (यथा—हाथ, पांव, मुंह, आंख, कान, गुप्त-इन्द्रिय आदि) विश्व के किसी विभाग की जितने अंश में अधिक हानि करता है, उतने हि अंश में अपने उस अंग के सम्बन्ध में सूक्ष्म परमाणुओं के उत्पन्न करने की क्षमता को नष्ट करता रहता है, और इसीलिए अपने भौतिक शरीर के छोड़ने पर उसके जिस अंग के सम्बन्ध में उसे जितने अंश सूक्ष्म परमाणुओं के मिलने की आवश्यकता है, वह यदि पूर्णतः प्राप्त न हों, तो वह अपना वह अंग निर्माण नहीं कर सकता, और यदि अधूरे प्राप्त हों, तो उसका वह अंग भी अधूरा बनता है।

९—सिद्धान्त

स्थूल शरीर के छोड़ने पर कितने हि पापिष्ट आत्मा अपने सूक्ष्म शरीर के बन जाने पर या तो एक वा कई अंगों से पूर्णतः विहीन होते हैं, या अपूर्ण अर्थात् अधूरे और निकम्मे अंग रखते हैं। इन अंगों के न बनने वा अधूरे बनने से वह जिस दारुण दुःख के भागी बनते हैं, उसके भिन्न वह अपने अधोगति-प्राप्त जीवन के कारण अन्य प्रकार के दुःखों को भी प्राप्त होते हैं।

१०—सिद्धान्त

अपने सम्बन्धियों वा अन्य लोगों के घरों में जो आहार बनता है, अथवा बिक्री के लिए अन्य दुकानों में रहता है, वहां अधम आत्मा पहुंचकर या तो उसमें से जो सूक्ष्मांश निकलता है, उसे, या वृक्षों के खाद्य फलों के पास पहुंचकर उनके सूक्ष्मांश को खाकर, और जल के

सूक्ष्मांश से अपनी प्यास बुझाकर जीवन धारण करते हैं। मांसाहारी अधम आत्मा बूचड़ख़ानों और क़साईयों की दुकानों से रुधिर और मांस के सूक्ष्मांश के भिन्न, ऐसे पशुओं को भी खाकर गुज़ारा करते हैं, कि जो मरने के बाद सूक्ष्म शरीर ग्रहण करने पर अधम लोक से ऊपर पर-लोक सम्बन्धी किसी लोक में नहीं पहुंच सकते, और अधम लोक में हि रह जाते हैं। इनके भिन्न कई बार मनुष्यों के उन छोटे २ बच्चों को **भी** खा जाते हैं कि जो स्थूल शरीर के छोड़ने और नए शरीर के ग्रहण करने पर, और ऐसे समय में अपने किसी अधम लोक वासी सम्बन्धी वा अन्य परलोक वासी अभिभावक वा संरक्षक आत्मा की अवर्तमानता में अपनी रक्षा आप नहीं कर सकते, और इन दुष्ट आत्माओं के हाथ आ जाते हैं।

११—सिद्धान्त

इस पृथिवी में पशु जगत् के वह लाखों जीव, जो पूर्णतः हिंसक वा हानिकारक होते हैं, अपने स्थूल शरीर के छोड़ने के बाद हि **पूर्णतः नष्ट** हो जाते हैं। परन्तु उनके भिन्न और कितने हि जीव मरने के बाद परलोक में जाते हैं। इनमें से जो जीव अपने विश्वगत नाना सम्बन्धों में जितने २ अंश अपेक्षाकृत अधिक हितकर होते हैं, उसी के अनुसार वह किसी उच्चलोक में गमन करते हैं। लाखों नीचगति परायण पापिष्ट मनुष्य (जिनमें हज़ारों ईश्वरवादी भी होते हैं) मरने पर अधम लोक में हि रह जाते हैं; अथवा पहले वा दूसरे लोक से आगे जाने की योग्यता नहीं रखते; परन्तु गौ, बैल आदि कितने हि हितकर पशु सूक्ष्म देह के प्राप्त होने पर, उनसे भी ऊपर के लोकों में गमन करते हैं।

उद्भिद्-जगत् सम्बन्धी प्राणियों के सम्बन्ध में भी यही नियम है। परन्तु उद्भिद्-जगत् सम्बन्धी कोई छोटा वा बड़ा पौदा वा वृक्ष मरने पर अपने स्थान के निकट हि कोई आकार ग्रहण नहीं करता, किन्तु परलोक में पहुंचने की योग्यता के रखने पर अपने सूक्ष्मांश के साथ

वहां जाकर, और वहां की भूमि में प्रविष्ट होकर फिर अपने पहले रूप के सदृश आकार ग्रहण करता है ।

१२—सिद्धान्त

परलोक सम्बन्धी जिन विविध लोकों में मनुष्य, पशु और वृक्ष वास करते हैं, वहां वह सब अपने २ सूक्ष्म आकारों के साथ उसी प्रकार अपना २ दैनिक जीवन व्यतीत करते हैं, जिस प्रकार इस पृथिवी में स्थूल आकारों के साथ व्यतीत करते थे। प्रभेद केवल इतना होता है, कि वहां पर किसी लोक में, यहां के ग्राम वा नगर वासियों की तरह सब प्रकार के उच्च वा नीच मनुष्य वा पशु आदि एक हि जगह गड्डमड्ड होकर वास नहीं करते, किन्तु प्रत्येक लोक में उसी अवस्था वाले मनुष्य और पशु आदि वास करते हैं, कि जो उसमें पहुंचने के अधिकारी होते हैं ।

१३—सिद्धान्त

परलोक सम्बन्धी जो लोक जितना अधिक उच्च है, वह उतना हि अधिक उच्च श्रेणी के मनुष्यों, पशुओं और वृक्षों और जल-वायु आदि का वास स्थान है, और इसलिए उसमें उतना हि अधिक परस्पर मेल और सुख का राज्य पाया जाता है, अर्थात् उनके सम्बन्ध परस्पर के लिए उतने हि अधिक मीठे, शान्तिदायक, आनन्ददायक और जीवन-दायक होते हैं। इसके विपरीत जो लोक अपेक्षाकृत जितना नीचे है, उसके अधिवासी मनुष्य, और पशु आदि, उतने हि नीचे की श्रेणी के होते हैं, और उनके सम्बन्ध परस्पर के लिए अपेक्षाकृत उतने हि कम मीठे और कम शान्ति-दायक और कम सुखकर होते हैं, और बहुत नीचे के लोकों की अवस्था अपेक्षाकृत बहुत बुरी, और अधम लोक वासियों की सबसे अधिक निकृष्ट और दुःखदाई है ।

१४—सिद्धान्त

सैकड़ों परलोकवासी आत्मा, अपने इस लोकवासी किसी सम्बन्धी के विपद्ग्रस्त होने पर उसके पास पहुंचकर अपनी प्रेरणा वा मंगल कामना विषयक शक्ति के द्वारा एक वा दूसरे प्रकार से उसकीसहायता

करते हैं। और यदि वह मुमूर्षु अवस्था में हो, तो उसके नए सूक्ष्म शरीर के ग्रहण करने में आवश्यक सहाय करने के भिन्न, उसके शरीर-धारी हो जाने पर यदि वह परलोक में जाने के योग्य हो, तो उसे वहां अपने साथ ले जाते हैं; और वहां पर यथासाध्य उसकी एक वा दूसरी मदद करते हैं।

१५—सिद्धान्त

जब तक किसी आत्मा में कोई सात्विक भाव उत्पन्न न हो, और उसके द्वारा विश्व के किसी विभाग के सम्बन्ध में वासना रहित किसी हित की उत्पत्ति न हो, तब तक वह सूक्ष्म पृथिवी में दूसरे लोक से आगे नहीं जाता। फिर कुछ सात्विक भावों की उत्पत्ति और उन्नति से यद्यपि आत्मा उच्चगति को प्राप्त होकर कई उच्च लोकों तक गमन करता है, परन्तु जब तक सर्वांग देवजीवन प्राप्त न हो, तब तक वह विश्व के उच्च विकाश के साथ सर्वांग मेल स्थापन और इसीलिए सदा के लिए उच्चजीवन में विकाश लाभ नहीं कर सकता।

१६—सिद्धान्त

सात्विक भावों से विहीन और केवल सुख परायण आत्माओं में भी जो आत्मा इस लोक में नाम वा सन्मान अथवा परलोक में सुख पाने अथवा दोनों प्रकार की वासनाओं से परिचालित होकर परहित सम्बन्धी कोई काम करते हैं, अथवा मानसिक उन्नति और शारीरिक संयम का साधन रखते हैं, उससे भी कुछ अंश तक उनका हित होता है, और जीवन उन्नत होता है। और वह ऐसे सब आत्माओं की अपेक्षा जो इस प्रकार से भी अपना कोई हित साधन नहीं करते, अधिक जीवन और विकार रहित सुख लाभ करते हैं।

उनचासवां परिच्छेद

देवसमाज के मूल तत्त्व

१८६६ई० में मरी पर्वत के शिखर पर पहले पहल मैंने उर्दू में एक छोटी सी पुस्तक लिखी, जिसका नाम "देवसमाज, शिक्षा और काम" था। यह पुस्तक उसी साल छापी गई थी।

इसके अनन्तर मैंने मनुष्य जीवन सम्बन्धी मूल तत्त्वों के भिन्न, वह जीवन जिस विश्व का अंश है, उसके सम्बन्ध में भी, कई एक आवश्यक सिद्धान्त उसके साथ संयुक्त करके, उन्हें कई साल तक कई रूपों में लिपिबद्ध करने की चेष्टा की। यह मूल तत्त्व हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं में लिपिबद्ध होते रहे। और मार्गशिर संवत् १६६० विक्रमी के "जीवनपथ" में यह मूल तत्त्व हिन्दी में प्रकाशित हुए। फिर फ़रवरी सन् १६०६ ई० के "विज्ञान मूलक धर्म्म" नामक अंग्रेज़ी मासिक पुस्तक में अंग्रेजी भाषा में यही मूल तत्त्व प्रकाशित किए गए।

इसके बाद दिसम्बर सन् १६०७ ई० में मेरे जुबिली महोत्सव पर अंग्रेज़ी और उर्दू में यही मूल तत्त्व एक और नए आकार में प्रकाशित हुए, फिर इसके अनन्तर सन् १६०६ ई० में यही मूल तत्त्व जिस आकार में प्रकाशित किए गए, वह नीचे दर्ज किए जाते हैं :—

देवसमाज के वैज्ञानिक, सत्य, और एकमात्र सार्वभौमिक धर्म्म के मूल तत्त्व

१—विश्व और उसके साथ मनुष्य का सम्बन्ध

(१) **सम्पूर्ण जड़** और **सम्पूर्ण शक्ति** की समष्टि का नाम विश्व है, और वह **एक** है।

(२) जड़ और शक्ति **अविनाशी** हैं; इसीलिए वह **सदा** से हैं।

वह एक वा दूसरे आकार में सदा वर्तमान रहते हैं। उन्हें किसी ने कभी **सृजन वा उत्पन्न** नहीं किया।

(३) विश्व में शक्ति से **गति** और गति से **परिवर्तन** की उत्पत्ति होती है। विश्व में इसी **परिवर्तन के अटल कार्य्य** से नाना प्रकार के अस्तित्व **प्रगट** और **लोप** होते रहते हैं।

(४) विश्व के चार विभाग हैं, कि जो एक दूसरे के साथ गाढ़ सम्बन्ध रखते हैं। अर्थात् :—

(१) भौतिक[1] (२) उद्भिद् (३) पशु (४) मनुष्य। **भौतिक जगत्** हि **मूल जगत्** है। उसी से धीरे २ जीवनीशक्ति विकशित होकर अन्य तीनों जगतों के विविध आकारों में प्रगट हुई है।

२—मनुष्य की जीवनीशक्ति और उसका विकाश और विनाश

(५) मनुष्य की **जीवनीशक्ति** हि उसके शरीर की **निर्माता, रक्षक** और **परिचालक है**। इसीलिए उसके अस्तित्व में एक वही **मुख्य और सार वस्तु** है। मनुष्य की जीवनीशक्ति को हि **आत्मा** कहते हैं।

(६) मनुष्य के शरीर की न्याईं उसका **आत्मा** भी नाना प्रकार के **अंग** रखता है। अर्थात् उसकी **गठन** में वासनाओं, उत्तेजनाओं और मानसिक और कितने हि और भावों की अंग रूप बहुतसी शक्तियां पाई जाती हैं।

(७) मनुष्य का आत्मा इस विश्व का **एक अंश** होने के कारण उसी प्रकार उसके **परिवर्तन के अटल नियम के अधीन** है, जिस प्रकार उसके **अन्य** अस्तित्व।

(८) विश्व में परिवर्तन के अटल नियम के अधीन रहकर मनुष्य का आत्मा या तो **उच्च** बनकर **विकाश** पाता है, या **नीच** बनकर **अवनत** होता है, और अवनत होते २ एक दिन पूर्णतः **नष्ट** होजाता है।

(९) मनुष्य का आत्मा एक ओर अपने भीतर **उच्च बनने की**

---

[1] निर्जीव जगत्

योग्यता रखने और दूसरी ओर **विकाशकारी सम्बन्धियों** के प्राप्त होने पर **उन्नत** वा **विकशित** होता है।

(१०) मनुष्यात्मा **उच्च बनने की योग्यता न रखने** अथवा **विकाशकारी सम्बन्धियों के प्राप्त न होंने** पर **अवनति** वा **विनाश** को प्राप्त होता है। विनाश को प्राप्त होने पर उसका मनुष्य नामक सारा अस्तित्व लोप होजाता है।

(११) मनुष्यात्मा अपने **स्थूल शरीर की मृत्यु** के अनन्तर भी, आवश्यक नियमों के पूर्ण होने पर, अपने पहले शरीर के अनुरूप सूक्ष्म शरीर निर्माण करके **वर्तमान** रहता है।

३—मनुष्य में सत्य और पूर्णांग धर्म्म जीवन

(१२) मनुष्यात्मा में सत्य धर्म्म जीवन का उस समय आरम्भ होता है, जबकि उसमें,

(क) अपने विश्वगत विविध सम्बन्धों में अपनी नीचगतियों में से किसी गति का **बोध** और उसके सम्बन्ध में **सब प्रकार** के हानिकारक प्रभावों से **उद्धार** लाभ करने के लिए **संग्राम** उत्पन्न हो; अथवा

(ख) अपने विश्वगत किसी सम्बन्ध में वासना रहित कोई शुभ कामना वा चेष्टा करने की आकांक्षा जाग्रत हो।

मनुष्य आत्मा में जिस प्रकार की उच्चशक्तियों के विकशित होने से पूर्णांग धर्म्म जीवन की उत्पत्ति हो सकती है, वह यह हैं :—

(क) सब प्रकार की **असत्य** और **अहित** विषयक **पूर्णांग विराग** शक्तियां, कि जो उसके आत्मा की **अवनति** और **विनाश** से रक्षा करती हैं।

(ख) सब प्रकार की **सत्य** और **हित** विषयक **पूर्णांग अनुराग** शक्तियां, कि जो एक ओर उसका पूर्ण **विकाश साधन** करती हैं; और दूसरी ओर **विकाशकारी** सब सम्बन्धियों के साथ उसका **मेल** वा उसकी **एकता** स्थापन करती हैं।

उच्चजीवन का नाम हि सत्य-धर्म्म है, और पूर्णांग उच्चजीवन का नाम हि पूर्णांग सत्य धर्म्म है।

पूर्णांग उच्चजीवन को प्राप्त होकर हि कोई जन अपने अस्तित्व को पूर्ण **अवनति** वा **पूर्ण विनाश** से रक्षा करने की आशा कर सकता है।

(१३) अपने आत्मा की एक ओर **अवनति और विनाश से पूर्ण रक्षा करना** और दूसरी ओर उसमें **पूर्णांग उच्चजीवन का विकाश** करके अपने सब विकाशकारी सम्बन्धियों के साथ **पूर्ण मेल वा एकता** स्थापन करना हि मनुष्य का सबसे **उच्च** और **श्रेष्ठ** और एकमात्र **सत्य** और **परम आदर्श** है।

(१४) उच्चजीवन सम्बन्धी सत्यज्ञान की प्राप्ति और विराग और अनुराग शक्तियों के पूर्ण विकाश के लिए अधिकारी आत्मा को ऐसे विशेष आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापन करने की आवश्यकता है, कि जिसमें वह सब शक्तियां वर्तमान हों।

(१५) श्री देवगुरु भगवान् में सत्य और पूर्णांग धर्म्मजीवन सम्बन्धी सब शक्तियों के विकाश से उनके आत्मा ने अपनी गठन में पूर्णता लाभ की है, और इसीलिए वह मनुष्यात्माओं के लिए **सत्य और पूर्णांग विकाशक सम्बन्धी हैं।**

४—देवधर्म्म का अद्वितीय आविर्भाव

श्री देवगुरु भगवान् में पूर्णांग उच्चजीवन के अविर्भाव और इस उच्चजीवन सम्बन्धी देव ज्योति के प्रकाश का नाम हि **देवधर्म्म** है। इस धर्म्म के सम्बन्ध में तत्त्व ज्ञान की जो शिक्षा दी जाती है, वह प्रकृति के अटल और सत्य नियमों के अनुसार है। इसलिए,

(क) देवधर्म्म मनुष्य मात्र के लिए प्रकृति का **सब से श्रेष्ठ और सबसे उच्च दान** है;

(ख) देवधर्म्म हि **एकमात्र विज्ञानमूलक** और मनुष्य मात्र के लिए **सत्य, सार्वभौमिक** और **पूर्ण धर्म्म है;**

और उसे छोड़कर इस दुनिया के अन्य सब धर्म्म मत और उनके आदर्श कि जो ऐसी कोई वैज्ञानिक बुनियाद नहीं रखते,

(क) मिथ्या और विविध प्रकार से हानिकारक हैं, और

(ख) वह न केवल मनुष्य को **सत्य और पूर्ण धर्म्म जीवन की प्राप्ति और उसके विषय में सत्यज्ञान से परे रखते** हैं, किन्तु उसके और विश्व के और अस्तित्वों के लिए नाना प्रकार से बहुत **हानिकारक** प्रमाणित हुए, और हो रहे हैं ।

पचासवां परिच्छेद

देवधर्म्म की फ़िलासफ़ी का संक्षिप्त सार

(१) विश्व **सत्य** और **नित्य** है ।

(२) विश्व **जड़** और **शक्ति** सम्पन्न है ।

(३) विश्व में **जड़** और **शक्ति** के परस्पर कार्य्य से अविश्राम **परिवर्तन** होता रहता है ।

(४) विश्व में यह अविश्राम परिवर्तन उसके विविध अस्तित्वों के लिए **विकाश** अथवा **विनाश** कारी प्रमाणित होता है ।

(५) विश्व के अस्नित्वों का विकाश वा विनाशकारी परिवर्तन उनकी **उच्च वा नीच गति** पर निर्भर करता है । विश्व का प्रत्येक अस्तित्व **नीचगति** को प्राप्त होकर **नीच** और **उच्चगति** को प्राप्त होकर **उच्च** बनता है ।

(६) मनुष्यात्मा भी अपनी नीचगतियों के द्वारा **नीच** बनता है, और यदि वह अपनी नीचगतियों से **मोक्ष** लाभ न कर सके, तो **अवनत** होते २ एक दिन **पूर्णतः नष्ट** हो जाता है ।

(७) आत्मा में **उच्च विकाशदायिनी शक्तियों को हि धर्म्म शक्तियां** कहते हैं । इन धर्म्म शक्तियों से जिस जीवन की उत्पत्ति होती है, उसी का नाम **धर्म्मजीवन** है ।

(८) सत्य धर्म्म जीवन और उसकी सत्य शिक्षा को छोड़कर धर्म्म के नाम से पृथिवी में और जो कुछ प्रचलित है, वह सब **मिथ्या** कल्पना है । मिथ्या कल्पनामूलक किसी मत वा विश्वास वा साधन से आत्मा को केवल यही नहीं, कि कोई लाभ नहीं होता; किन्तु उसको और उसके द्वारा और अस्तित्वों को बहुत हानि पहुंचती है ।

(९) मनुष्य जगत् के विकाश में श्री देवगुरु भगवान् के आत्मा ने

पूर्णांग गठन लाभ की है। उनमें पूर्णांग धर्म्मजीवन का आविर्भाव हुआ है। उनकी उच्च शक्तियों के प्रभावों को प्राप्त होकर अधिकारी आत्मा नीचगतियों से **मोक्ष** और **धर्म्मजीवन में विकाश** लाभ करते हैं।

(१०) मनुष्यात्मा हि अपने लिए आवश्यक नियमों के पूर्ण होने पर स्थूल शरीर निर्माण करता है। वह स्थूल शरीर की मृत्यु के पश्चात् भी आवश्यक नियमों के पूर्ण होने पर, उसके अनुरूप, परन्तु अपनी उच्च वा नीच दशा के अनुसार, उच्च वा नीच आकार निर्माण करके जीवित रहता है।

(११) विश्व के भीतर स्थूल लोक भी हैं, और सूक्ष्म लोक भी। सूक्ष्म लोकों में जो लोक जितना अधिक श्रेष्ठ है, वह अपने सब अंशों में उतना हि अधिक उच्च **मेल** रखता है।

(१२) सूक्ष्म शरीर ग्रहण करने के अनन्तर अत्यन्त अधम आत्मा इस पृथिवी से ऊपर किसी सूक्ष्म लोक में नहीं पहुंच सकते। परन्तु उनसे ऊपर के आत्मा अपनी २ दशा के अनुसार एक वा दूसरे प्रकार के सूक्ष्म लोकों को प्राप्त होते हैं।

जो आत्मा जहां तक अपनी नीचगतियों से **मोक्ष** और उच्चगतियों **में विकाश** पाकर किसी उच्च लोक में पहुंचते हैं, वहां तक वह वहां नाना प्रकार के उच्च और सुखप्रद प्रभाव लाभ करते हैं, और अधिक योग्यता होने पर और भी अधिक विकशित होते हैं।

जो आत्मा किसी ऐसे उच्च लोक को प्राप्त होता है, जहां उसका प्रत्येक विभाग एक दूसरे के साथ **पूर्ण मेल** रखता है, वहां पहुंच कर वह सब प्रकार के पूर्ण हितकर सम्बन्धियों को प्राप्त होकर पूर्ण शान्ति और परमानन्द और सदा उच्च से उच्च विकाश लाभ करने के योग्य बन जाता है। पूर्णांग धर्म्मजीवन को लाभ करने के बिना कोई आत्मा इस लोक में नहीं पहुंच सकता।*

---

*परम पूजनीय भगवान देवात्मा की अन्तिम शिक्षा के लिए देवशास्त्र के पहले, दूसरे तथा तीसरे खण्ड का तीसरा संस्करण देखिए।

—प्रकाशक

दूसरा खण्ड

विषय प्रवेश

प्रत्येक मनुष्य का अस्तित्व जिन दो प्रकार की वस्तुओं अर्थात्,

(१) नाना जीवित शक्तियों से गठन-प्राप्त एक शक्तिमय आत्मा, और

(२) उसी आत्मा के द्वारा निर्मित एक जीवित जड़ अथवा भौतिक शरीर

से संगठित है, उनमें से आत्मा के सम्बन्ध में विविध प्रकार का सत्य ज्ञान लाभ करने के लिए जिन **हित और सत्य विषयक सर्वांग और पूर्ण अनुराग शक्तियों से उद्भूत देव ज्योति की आवश्यकता है,** उससे रहित होने के कारण, जैसे उसके प्रकृत रूप और उसके बनने और बिगड़ने के नियमों से पहले मनुष्य मात्र पूर्णतः अज्ञानी रहे, वैसे हि इन देव शक्तियों से सम्पन्न **देवात्मा** के प्रगट होने पर भी उसकी **देवज्योति के बिना** अब तक करोड़ों जन **अज्ञानी** हैं; और इस **आत्मिक अन्धकार** के कारण वह नाना प्रकार के **कल्पनामूलक मिथ्या विश्वासों** में लिप्त हैं। और यद्यपि यह सच है, कि मनुष्य जगत् के विकाश में नाना जनों के हृदयों में एक वा दूसरे प्रकार के ऐसे **सात्विक भाव** प्रगट हुए हैं, कि जिनके द्वारा (उनके अपने विविध सम्बन्धों में नीचगति परायण रहने पर भी) कई प्रकार के बहुमूल्य और बहुत प्रशंसनीय हित की उत्त्पत्ति हुई है, और उनमें से एक वा दूसरे भाव के द्वारा एक वा दूसरे प्रकार की बुराई भी घटी वा दूर हुई है; तथापि देवात्मा के भिन्न किसी जन में कभी **हित और सत्य विषयक सर्वांग और पूर्ण देव अनुरागों** का विकाश नहीं हुआ।

पशु जगत् की न्याईं मनुष्य जगत् के करोड़ों लोगों में कई प्रकार के सुख और दुःख विषयक बोधों के विकशित होजाने से, उनमें सुख के प्रति

स्वभावत: आकर्षण वा अनुराग और दु:ख के प्रति विकर्षण वा विराग उत्पन्न हो गया है; इसीलिए वह नाना प्रकार के सुखों और कई प्रकार की तृप्तियों के वशीभूत होकर उनकी प्राप्ति के लिए विविध प्रकार का यत्न वा विविध प्रकार की क्रियाएं करते हैं—चाहे उनकी ऐसी क्रियाओं से किसी और को कैसा ही **अनुचित दु:ख** भी मिलता वा **हानि** पहुंचती हो। इसीलिए एक ओर अपनी एक वा दूसरे प्रकार की सुख वा तृप्ति चाहने वाली नीच शक्तियों के वशीभूत वा दास हो कर और दूसरी ओर हित अनुराग से शून्य होकर, वह अपने विश्वगत नाना जगतों के सम्बन्ध में विविध प्रकार से **अनुचित क्रियाएं करने के लिए अपने आप को मजबूर पाते हैं**। यही कारण है, कि जिससे इस पृथिवी में भौतिक और उद्भिद् जगतों की कई प्रकार की हानियों के भिन्न मनुष्य क्या मनुष्य और क्या पशु जगत् के जीवों के सम्बन्ध में विशेष रूप से पाप और अपराध मूलक नाना प्रकार के दुराचारों में प्रवृत पाया जाता है, और अपनी इन क्रियाओं से क्या अपने और क्या उनके लिए विविध प्रकार से हानि-कारक होने के भिन्न दु:ख वा कष्टदायक बना हुआ है। और वह अपने सुख वा तुप्तिकर नाना भावों के **दासत्व** में फंसकर अपने आत्मिक जीवन की भी **महा हानि** कर रहा है।

यदि इस पृथिवी के किसी देश के सब प्रकार के मनुष्यों को इकट्ठा करके उनकी गवर्नमेण्ट की ओर से यह घोषणा की जाय, कि कई प्रकार के अन्य पाप कर्म्मों को छोड़कर, वह गवर्नमेण्ट जिन कर्म्मों को अपराध समझती है, उन्हीं सब कर्म्मों से तुम सब इसी समय से विरत हो जाओ, जिससे और जगतों को छोड़कर कम से कम मनुष्य जगत् में ही तुम्हारे अपराधमूलक नीच कर्मों से जितने प्रकार का अनुचित दु:ख और कष्ट उत्पन्न हो रहा है, और जितने प्रकार की अन्य हानि हो रही है, वह सब मिट जावे; और तुम्हारे इन अपराधों के कारण गवर्नमेण्ट को जितनी फ़ौज और पुलिस और कचहरियां रखनी पड़ती हैं, उनका खर्च न रहे, और वह रुपया तुम्हारी और कई प्रकार की श्रेष्ठ भलाईयों के काम में लगाया जाय, तो उनके सन्मुख ऐसी घोषणा वा उनसे इस

प्रकार की अपील करना **पूणतः निष्फल जाएगा** । क्यों निष्फल जाएगा ? इसलिए, कि उनके हितअनुराग विहीन हृदयों तक किसी की ऐसी अपील पहुंच नहीं सकती; और उनके हृदय किसी ऐसी अपील को उसी प्रकार अनुभव नहीं कर सकते, जिस प्रकार तुम लाखों बिल्लियों वा भेड़ियों वा शेरों को एकत्र करके और उनसे जीव वध से विरत होजाने की अपील करके, उन्हें **जीवहत्या वा मांसाहार से विरत नहीं कर सकते**; अथवा किसी भेड़ वा बकरी को वर्षों तक अपने पास बिठा कर और उनके सामने रेखा गणित की सारी शकलें खैंच कर और बार २ उनकी व्याख्या करके उन्हें **रेखा गणितज्ञ नहीं बना सकते** । हां, हित के विपरीत करोड़ों मनुष्यों में सुख के लिए इतना प्रबल आकर्षण वर्तमान है, कि यदि कोई जन किसी ऐसे लड़के वा युवक को कि जिसके हृदय में स्वभावजात किसी नशेदार वस्तु के लिए बहुत गहरी घृणा न आई हो, शराब, अफ़ीम, तम्बाकू, गांजा, भंग, कोकेन आदि में से किसी चीज़ के विषय में जिसका वह ख़ुद भी सेवन करता हो, यह कहे, कि उसके सेवन से बहुत सुख वा लुत्फ़ मिलता है, तो वह उसी समय वा कुछ दिनों में उसकी इस अपील को अपने लिए **हृदयग्राही** पाकर ग्रहण कर लेगा, और उनमें से एक वा दूसरी मादक वस्तु का सेवन आरम्भ कर देगा; इसीलिए लाखों मनुष्य इसी प्रकार की नीच अपील करने वाली कुसंगत के द्वारा एक वा दूसरे प्रकार के नशे के अभ्यासी बन जाते हैं। इसी प्रकार जिन जनों में रुपए का प्रबल लालच वर्तमान हो, वह उस लालच के वशीभूत होकर, एक वा दूसरे प्रकार के बद्दयानत आदमी की शिक्षा से ठग, रिश्वतख़ोर, चोर और डाकू आदि बन जाते हैं। यदि किसी जन में काम वासना विषयक सुख का बहुत प्रबल भाव वर्तमान हो, और व्यभिचार विषयक पाप से रोकने वाली उसमें कोई शक्ति वर्तमान न हो, तो वह उस सुख की प्राप्ति के लिए व्यभिचारी बन जाएगा; इसीलिए इस पृथिवी में लाखों नर और नारी व्यभिचारी बने हुए हैं, और धन के लालच के वशीभूत होकर कितने ही बड़े २ शहरों में सैकड़ों और हज़ारों की संख्या में स्त्रियां बाज़ारों

में खुल्लमखुल्ला बैठकर इसी महापाप के द्वारा धन उपार्जन करती हैं, इत्यादि २।

अब प्रश्न यह है, कि इन सब लाखों और करोड़ों जनों में यह सब नीचगतियां क्यों पाई जाती हैं ? इसीलिए कि **एक ओर उन में इन नीचगतियों की ओर ले जाने वाले प्रबल भाव वर्तमान हैं** और दूसरी ओर **उनके द्वारा उनका अपना वा किसी और का जो २ अहित होता है, उस अहित के प्रकृत रूप में अनुभव करने के लिए उनके हृदय में कोई प्रकृत बोध अर्थात् उनके प्रति यथेष्ट घृणा वा विराग भाव** वर्तमान नहीं। और केवल यही नहीं, कि करोड़ों जन अपने सूक्ष्म आत्मा और उसके जीवन के बिगड़ने अथवा विनाश और उसकी रक्षा और उन्नति के सम्बन्ध में कोई **बोध** नहीं रखते, किन्तु अपने स्थूल शरीर के सम्बन्ध में भी नाना हितकर बोधों से पूर्णतः शून्य पाए जाते हैं। इसीलिए वह सुस्वादु वस्तुओं और मादक द्रव्यों और जननेन्द्रिय विषयक आदि कई प्रकार के सुखों के **दास** बनकर अपने **शरीर** के सम्बन्ध में भी नाना प्रकार की **असंयममूलक** हानिकारक क्रियाओं के करने के लिए **मजबूर** होते हैं, और मजबूर होकर अपने **स्थूल शरीर** की भी आवश्यक रक्षा नहीं कर सकते, और उसकी भी **विविध प्रकार से हानि करने से रुक नहीं सकते।**

अब जब कि मनुष्य जगत् में यह महा शोचनीय अवस्था हज़ारों और शायद लाखों वर्षों से जारी थी, और **देवात्मा** के प्रगट होने से पहले, मनुष्य जगत् के करोड़ों जन एक ओर **हित विषयक सर्वांग अनुराग भावों** से विहीन थे, और **क्या इस लोक और क्या परलोक में केवल सुख की प्राप्ति के पूर्ण लालसी** बने हुए थे, और उसी का लाभ करना अपने अस्तित्व का **लक्ष्य** समझते थे, और वह विविध प्रकार के नीच भावों के वशीभूत होकर विश्व के नाना विभागों के नाना अस्तित्वों के सम्बन्ध में विविध प्रकार की **आन्तरिक हानिकारक चिन्ताएं और बाह्यक हानिकारक अन्य क्रियाएं करने के लिए मजबूर थे,** और दूसरी ओर **हित** और **सत्य अनुराग** और उससे उद्भूत **देवज्योति** से विहीन

होने के कारण अपने आत्मा के प्रकृत रूप और उसके जीवन के विनाश वा विकाशकारी नियमों, उपास्य, उपासना, उपासक, पाप, पुण्य और उनके फलों, मनुष्य के लक्ष्य और आदर्श, मोक्ष और धर्म्म विषयक सत्य ज्ञान के विचार से **अन्धकार में पड़े हुए थे**, और इन और अन्य नाना विषयों में नाना प्रकार के **मिथ्या विश्वासों में लिप्त होकर** अपनी और अपने साथ औरों की **महा भयानक हानि** कर रहे थे, **देवात्मा** का भारतवर्ष में **उपरोक्त परम वांछनीय देव अनुरागों को बीज रूप में पाकर प्रगट होना** और उसके हृदय में बाल्यकाल से उनमें से पहले पहल **हित विषयक सर्वांग अनुराग का** धीरे २ विकाश पाना, और फिर उसके यथेष्ट विकाश के अनन्तर उसकी हृदय-भूमि के **सत्य विषयक सर्वांग अनुराग के विकाश के लिए अनुकूल बन जाने पर**, उसका उसमें धीरे २ विकशित होना, और उसमें उन **दोनों प्रकार की देव शक्तियों से सम्पन्न देवजीवन और इस देवजीवन से देवतेज और देवज्योति का विकाश पाना** नेचर के विकाश क्रम में निश्चय एक ऐसी घटना है, कि जो एक ओर जैसे **अति अद्भुत और महा आश्चर्यजनक है,** वैसे हि दूसरी ओर **देवात्मा** का ऐसा आविर्भाव न केवल मनुष्य जगत्, किन्तु विश्व के अन्य सब जगतों के लिए जिस प्रकार से परम आवश्यक था, और इसीलिए वह **परम कल्याणकारी** प्रमाणित हुआ और हो रहा है, और होता रहेगा, उसके विचार से भी उसके **अध्ययन** करने और उसके विषय में **सत्य ज्ञान** लाभ करने और उसे सारे मनुष्य जगत् में प्रचार करने की **बहुत बड़ी आवश्यकता है** ।

इस पुस्तक के अगले पृष्ठों में **देवात्मा** के इन्हीं हित अनुराग विषयक देव भावों के विकाश का वर्णन होगा; क्योंकि इससे पहले खण्ड में उसके सत्य अनुराग विषयक देव भावों के विकाश का उल्लेख हो चुका है ।

लाहौर
दिसम्बर, सन् १९१७ ई०

स० न० अ०

पहला परिच्छेद

मुझ में देव जीवन के हित विषयक अनुराग और अहित विषयक विराग भावों का विकाश

(प्रायः १६ वर्ष की उमर तक)

१—हित अनुराग का प्रथम प्रकाश

मुझ में बाल्य काल से पहले पहल हित विषयक असाधारण और अति विचित्र अनुराग का विकाश आरम्भ हुआ; और मैं उसकी **प्रबल प्रेरणा** के अनुसार अपनी प्रत्येक ऐसी क्रिया के लिए कि जो मेरे अपने वा किसी और के लिए मुझे **हितकर** प्रतीत होती थी, उसका **साथ देने** और जो क्रिया मुझे अपने वा किसी और के लिए **अहितकर** प्रतीत होती थी, उसका **साथ न देने** के लिए **बाध्य** अनुभव करने लगा। इस हित अनुराग के विकाश के सम्बन्ध में उस काल की ऐसी कई घटनाएं जो मुझे अब तक याद हैं, यह हैं :—

मेरे पिता जी उस समय की प्रथा के अनुसार मुझे कई एक ज़ेवर पहनाया करते थे। बारहवें वर्ष की वयस में जब मेरा विवाह हुआ, तब भी वह मुझे बहुत से ज़ेवर पहनाकर ब्याहने के लिए ले गए थे। उसके बाद जब मैंने किसी पुस्तक में यह पढ़ा, कि लड़कों को ज़ेवर पहनाना उचित नहीं, और यह कि ज़ेवर के लालच में पड़कर कई बदमाश लोग मौक़ा पाकर लड़कों का ख़ून तक कर देते हैं, तब मैंने अपने हित भाव से परिचालित होकर उनका पहनना छोड़ दिया—यहां तक कि मेरे गौने के अवसर पर भी जब कि मुझे, कम से कम उन दिनों के लिए, ज़ेवर पहनने पर बहुत ज़ोर दिया गया था, मैंने उनका पहनना स्वीकार न किया।

मैं स्कूल में नियमित रूप से जाता था। मेरी पढ़ाई बहुत अच्छी तरह चलती थी। मैं अपनी श्रेणी में प्राय: प्रथम रहा करता था; परन्तु उसके साथ २ अपनी पढ़ाई के घण्टों को छोड़कर, मैं किसी और समय में खेलना भी बहुत पसन्द करता था। यद्यपि मेरे पिता जी मेरा इस प्रकार से खेलना कुछ अधिक पसन्द न करते थे, तथापि मैं उसे अपने लिए हितकर जानकर छोड़ना नहीं चाहता था, और उनसे कभी २ भर्त्सना पाकर भी खेलता रहता था। फिर जब एक बार मैंने एक पुस्तक में यह पढ़ा, कि लड़कों के लिए उचित सीमा तक खेलकूद उनकी सेहत के लिए अत्यन्त आवश्यक है, और उसमें उनके सुरक्षकों को बाधा न देनी चाहिए, तब मैं इस पुस्तक को उठाकर अपने पिता जी के पास ले गया, और जहां पर इस बात का उल्लेख था, उसे निकाल कर उन्हें पढ़ने के लिए दिया। उसे पढ़कर मेरे पिता जी ने उस समय मुझे क्या कहा, वह मुझे अब याद नहीं।

मुझ में **विद्या अनुराग** प्रबल रूप से विकशित हुआ था। इसी भाव से परिचालित होकर एक बार मैं घर से भी भागा था, परन्तु उसमें सफलकाम न हुआ। उसके अनन्तर जब मैं अपनी ओर से यत्न करके रुड़की के इन्जनियरिंग कालेज की प्रवेशिका विषयक परीक्षा को पास करके वहां जाने के लिए तैयार हुआ, तब मेरे पिता जी मुझे इतने लम्बे फ़ासले पर भेजने के लिए रज़ामन्द न हुए, और मेरी माता जी मेरे वहां जाने में विशेष रूप से विरोधिता करती थीं, और वह अपनी आंखों से किसी बहुत दूर के स्थान में मेरा महीनों तक घर से बाहर रखना किसी तरहं स्वीकार नहीं करती थीं; परन्तु मैंने उनमें से किसी की इस अनुचित बात का साथ न दिया, और उनकी विरोधिता की कुछ भी परवा न की। मैंने उन दोनों पर साफ़ २ ज़ाहर कर दिया, कि मैं विद्या उपार्जन के लिए वहां अवश्य जाऊंगा और यदि तुम मुझे अपनी अनुमति देकर वहां न भेजोगे, तो मैं यहां से चुपचाप भागकर वहां चला जाऊंगा। मेरी इस दृढ़ता पर वह दोनों ढीले हो गए, और मेरे पिता जी ख़ुद मुझे रुड़की छोड़ आए।

उस काल में स्त्रियों का पढ़ाना साधारणतः बहुत बुरा समझा जाता था। इसीलिए जब मैंने इस विषय में अपने आन्तरिक बोध और अपनी आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार, अपनी एक भावजा और एक भतीजी को विद्या पढ़ने के लिए तैयार और उन्हें आप पढ़ाना आरम्भ किया, तब यद्यपि मेरा यह काम बहुत बुरा समझा जाता था, तथापि मैंने औरों के डर से उसे किसी तरह परित्याग न किया।

२—कर्तव्य पालन विषयक प्रबल भाव की उत्पत्ति

हित अनुराग की उत्पत्ति और उन्नति के साथ २ मुझमें **कर्तव्य** भाव का उत्पन्न होना **अवश्यम्भावी** था; क्योंकि जब और जिस किसी के सम्बन्ध में मुझे यह प्रतीत होता, कि मैं अपनी किसी उचित प्रतिज्ञा अथवा किसी और कारण से उसके सम्बन्ध में एक वा दूसरी बात के पूरा करने के लिए बाध्य हूं, और यथासम्भव उसे पूर्णतः वा भलीभान्त पूरा न करने से मैं उसके लिए **हानिकारक** बनूंगा, तब मैं उसके पूरा करने के लिए अपने हृदय के **हित अनुराग** और **अहित विषयक विराग भाव** के कारण इतनी **प्रबल प्रेरणा वा आकांक्षा** अनुभव करता, कि उसके विरुद्ध कदापि न जा सकता—यहां तक कि उसके विरुद्ध किसी प्रकार की चिन्ता भी न कर सकता; और मैं उस बात को, चाहे वह कैसी ही कष्टकर भी हो, अपने इस आन्तरिक भाव के कारण पूरा करने के लिए अपने आप को **मजबूर** पाता। इसीलिए कई और हितकर भावों के साथ २ यह कर्तव्य विषयक भाव भी मुझ में बाल्य काल से ही विकशित होता गया।

मैं अपने इस भाव के कारण जिस किसी काम को अपने वा किसी और के सम्बन्ध में पूरा करना उचित और आवश्यक समझता था, उसे उस समय से पहले पहल पूरा कर देने के लिए अपने आपको बाध्य अनुभव करता था। मैं इस भाव से परिचालित होकर अपनी पढ़ाई के दिनों में अपने स्कूल में नियत समय से पहले ही पहुंच जाता था। इस विषय में और दैनिक साधारण घटनाओं को छोड़कर उस काल की जो एक विशेष घटना मेरे सामने आ रही है, वह यह है :—

मुझ में बाल्य काल में कई प्रकार के सुन्दर पक्षियों और कई अन्य पशुओं के बच्चों के पालने के लिए बहुत आकर्षण भाव उत्पन्न हुआ था, और मैंने उन दिनों कई प्रकार के पक्षियों आदि के भिन्न एक समय में एक बार कुछ कबूतर भी पाले थे। परन्तु मेरे पिता जी अपने एक कुसंस्कार के कारण उनका पालना मनहूस विश्वास करके मेरे लिए भी उनका रखना पसन्द नहीं करते थे। इसीलिए मैंने अपने ज़ोरदार भाव के अनुसार उनसे छिपाकर कई एक कबूतर रक्खे थे। हमारा मकान बहुत दूर तक फैला हुआ था, और उसमें ऊपर की छत पर एक ऐसा कमरा था, कि जो उन दिनों ख़ाली पड़ा रहता था। मैंने यह कबूतर उसी कमरे में रक्खे, और उसी कमरे में जाकर मैं उन्हें चुपचाप गेहूं के दाने और पानी आदि दे आता, और कुछ देर तक उन्हें चलते फिरते, खेलते और खुश देखकर, खुद भी हर्ष लाभ करता। उस समय मेरी उमर का बारहवां वर्ष आरम्भ हो चुका था, और मेरे विवाह की तैयारी हो रही थी। मेरे घर के दरवाज़े पर बाजे बज रहे थे, और बरात की रवानगी का समय निकट आ रहा था। मेरे घर में कई प्रकार से ख़ुशियां मनाई जा रही थीं; परन्तु विवाह की इस ख़ुशी के साथ २ मेरा हृदय इस फ़िक्र के बोझे से दबा हुआ था, कि मेरे पीछे मेरे कबूतरों का क्या हाल होगा—मेरी यहां से सात आठ दिन की ग़ैर हाज़री में इन बेचारों को कौन दाना पानी देगा, और यह बेचारे किस तरह जिएंगे !! सोचते २ एक हल निकल आया। मैंने कई सेर गेहूं के दाने ले जाकर अपने कबूतरों के कमरे में बिछा दिए, और एक मट्टी के बर्तन में बहुत सा पानी भरकर रख दिया, और उस कमरे को बंद करके उसमें ताला लगा दिया, और फिर बेफ़िकर होकर अपने विवाह के लिए बरात के साथ रवाना हो गया। विवाह हो जाने पर जब मैं कुशल पूर्वक घर को वापिस आया, तब उन कबूतरों के प्रति अपने आन्तरिक प्रेम और कर्तव्य भाव से परिचालित होकर, जहां तक शीघ्र सम्भव था, मैं उनके कमरे के पास पहुंचा, और जब मैंने उसे खोलकर देखा, कि मेरे सारे कबूतर केवल यही नहीं कि जीते हैं, किन्तु

बहुत हर्ष पूर्वक खेल रहे हैं, तब जैसी कि आशा हो सकती थी, मैं भी उन्हें इस सुन्दर अवस्था में देखकर बहुत ख़ुश हुआ ।

३—कृतज्ञता-मूलक पर सेवा भाव की उत्पत्ति

हित अनुरागी होने के कारण, मेरे लिए यह एक स्वाभाविक बात थी, कि मेरा जिस किसी के द्वारा कुछ भी हित हो, **उसके इस हित के सौन्दर्य को उपलब्ध करूं**, और इस **उपलब्धि** से उसके **सम्बन्ध में अपने आपको उपकृत वा ऋणी वा कृतज्ञ अनुभव करूं**, और अपने इस भाव से परिचालित होकर ऐसे किसी **ऋण के परिशोध** के लिए मैं उसके सम्बन्ध में, जिस २ प्रकार से और जहां तक **सेवाकारी** बन सकता हूं, उस २ प्रकार से वहां तक उसके लिए सेवाकारी बनकर अपने इस भाव की तृप्ति करूं। मैं इसी भाव से परिचालित होकर बाल्य काल से हि अपने माता पिता की इच्छा के अनुसार उनकी और घर सम्बन्धी अन्य कई प्रकार की सेवा किया करता था, और ऐसी कई प्रकार की सेवा के भिन्न मैं अपने इसी भाव से अपने मुख्य शिक्षक के घर पर जाकर उनके सम्बन्ध में भी सेवा विषयक एक वा दूसरे प्रकार का काम किया करता था, और अपने घर के अन्य कई कामों के भिन्न, मैं अनेक बार अपने पिता जी के पांव भी दबाया करता था ।

४—अभाव निवारण मूलक पर सेवा भाव की उत्पत्ति

मुझ में किसी धर्म्म भाव विषयक पुस्तक के मिल जाने पर उसे आप अनुराग पूर्वक पढ़ने और उसे वा उसके कथन वा अभिप्राय को औरों को सुना कर उसका प्रचार करने का भाव बाल्य काल से ही उत्पन्न हो गया था। एक बार जब मेरे पिता जी मुझे गंगा स्नान के लिए बिठूर के मेले पर ले गए, तब मैंने वहां से एक हिन्दी पुस्तक ख़रीदी, कि जिसमें एक और कथा के भिन्न भरत मिलाप की भी कविता में कथा थी। मैं इस कथा को बहुत प्रेम से पढ़ा करता था और उसमें भरत जी के विलाप का पाठ करते समय कई बार मेरा दिल फूट पड़ता, और मैं विवश होकर देर २ तक रोता रहता। मैं अपने पड़ोस में एक ब्राह्मण के घर पर जाकर इस पुस्तक की कथा को सुनाया करता, और

उस घर के कई लोग मेरे पास बैठकर वह कथा सुनते, और जब उसका एक अध्याय पूरा होता, तब मैं उसकी समाप्ति पर एक थाली बजवा-कर घड़ियाल बजवाने की नक़ल किया करता। इस प्रकार जो कुछ मैं **अपने लिए हितकर** अनुभव करता, उसका औरों में प्रचार करके, उनका हित करने के लिए भी अपने हृदय में **प्रेरणा** अनुभव करता था।

विद्या पढ़ने पर जब मुझे यह प्रतीत हुआ, कि उसका पढ़ना जैसे मुझ पुरुष के लिए हितकर है, वैसे हि वह स्त्रियों के लिए भी हितकर हो सकता है, तब इसी **हित भाव** से परिचालित होकर, मैंने अपनी एक भावजा और एक भतीजी को भी विद्या पढ़ने के लिए तैयार किया, और उस काल में जब लड़कियों को विद्या पढ़ाना साधारणतः बहुत बुरा समझा जाता था, मैं उन्हें बहुत दिनों तक विद्या पढ़ाता रहा।

५—औरों के उच्च और हितकर गुणों के प्रति आकर्षण भाव की उत्पत्ति

मुझ में हित अनुराग सम्बन्धी जिन उच्चभावों का बाल्य काल से ही विकाश आरम्भ हो गया था, उनमें से **प्रत्येक भाव हि मुझे अन्य निम्न भावों की तुलना में बहुत महान्, श्रेष्ठ और सुन्दर अनुभव होता था।** इसीलिए जब मैं अपनी बाल्यावस्था में भी यह सुनता, कि अमुक देवता, अपने **आश्रित भक्त की सदा रक्षा और सहाय करता है**, तब मुझे उसका यह हितकर गुण बहुत महान् और सुन्दर प्रतीत होता, और मैं उसके प्रति स्वभावता **श्रद्धा** और **आकर्षण** अनुभव करता।

मेरे माता पिता वैष्णव थे। वह राम और कृष्ण को विष्णु नामी एक देवता का अवतार मानते थे। मेरे पिता राम और कृष्ण की एक वा दूसरी कथा कहते और सुनते थे। वह रामनवमी और कृष्ण-अष्टमी के दिन व्रत रखते थे। वह राम के अनुचर हनुमान जी की रामभक्ति की महिमा सुनाते और कहते, कि राम अपने आश्रित भक्तों की सदा रक्षा, पालना, सहाय और मनोवांछा पूर्ण करते हैं। इसलिए मैं क्या राम और क्या उनके भक्त हनुमान जी के सम्बन्ध में इस प्रकार के महिमा प्रकाशक उच्च गुणों पर एक ओर केवल उनके कहने पर

विश्वास करके और दूसरी ओर ऐसे **गुणों** के सम्बन्ध में **अपने हृदय में श्रद्धा और आकर्षण भावों के वर्तमान होने के कारण** राम के सम्बन्ध में कई पद्य वचनों के भिन्न, हनुमान जी के सम्बन्ध में **स्तुति सूचक** नाना स्तोत्रों आदि को मुखस्थ करके उनका श्रद्धा और अनुराग पूर्वक पाठ किया करता था। मैं यह विश्वास करके कि हनुमान जी अपने अनुरागी जनों से प्रसन्न होकर गुप्तरूप से उनकी कई प्रकार से रक्षा और सहायता करते हैं, उनके साथ विशेष रूप से अपने **हृदय की लगन** अनुभव करता था। मैं जब घर से बाहर स्कूल वा किसी और स्थान को जाता, तब उनकी मूर्ति के आगे (जो मेरे घर में ही थी) खड़ा हो कर चुपचाप उनसे अपने लिए सहाय और रात को सोने से पहले एक मन्त्र का पाठ करके उनसे सारी रात में अपनी रक्षा के निमित्त प्रार्थना करता था। मैं अपनी किसी बीमारी के समय कई बार अपने पिता जी से आवेदन करता, कि वह मेरे पास बैठकर, हनुमान जी के सम्बन्ध में बीमारी के दूर करने वाले किसी स्तोत्र का पाठ करें, और उनके ऐसा करने से मुझपर बहुत सहारा देने वाले प्रभाव पड़ते थे।

मैं हर मंगलवार के दिन हनुमान जी के सम्बन्ध में **व्रत** का साधन किया करता था। मैं उस दिन चने के दानों के द्वारा गिन २ कर एक सौ एक बार "हनुमत कवच" का पाठ करता था, और अपने हाथ से मीठे पुए पकाकर और उन्हें दही के साथ खाकर रात दिन में केवल एक बार भोजन करता था। मैं कई बार उनकी मूर्ति के आगे कुछ बताशों की भेंट रखकर उन्हें उनके प्रसाद के नाम से और जनों में बांटा करता था। मैं यह जानकर कि राम की कथा उन्हें बहुत प्रिय है, कई बार उनकी प्रसन्नता के लिए अपने एक उस्ताद के घर के आगे एक चबूतरे पर बैठकर बहुत प्रेम से तुलसीदास की रामायण के छन्द गाया करता था।

इस कुल विश्वास और पूजा के साधन में जो बात विशेष रूप से समझने और ध्यान देने के योग्य है, वह यह कि मेरे हृदय में बाल्य काल से हि नाना **उच्च भावों के सौन्दर्य के देखने और उनके प्रति आकृष्ट**

होने का महा हितकर भाव वर्तमान था, और इस पृथिवी से अतीत कई ऐसे अस्तित्वों पर भी विश्वास था कि जिनसे मैं उन दिनों अपने शुभ के लिए सहाय चाहा करता था।

अपने हृदय के उपरोक्त उच्च आकर्षण वा प्रेम भाव के कारण, मैं जब कभी किसी और जन के हृदय में इस प्रकार के प्रेम का कुछ **उच्छ्वास** तक भी देखता था, तब उसके प्रति भी स्वभावता आकर्षण अनुभव करता था। एक बार ऐसा हुआ, कि मेरे पिता जी कार्तिक शुदि पूर्णिमा के दिन गंगा स्नान के लिए मुझे भी अपने साथ बिठूर ले गए। यह स्थान बाल्मीकि ऋषि का आश्रम बताया जाता है, और कानपुर से शायद पांच छै कोस के फ़ासले पर है। वहां पर इस अवसर पर बहुत वड़ा मेला लगता था। वहां जाकर मैंने देखा कि एक जवान साधु दाढ़ी मूंछ मुंड़ाए हुए, गेरुवे वस्त्र पहने हुए, और पांव में घुंघरू बांधे हुए और सितार हाथ में लिए हुए, गंगा के किनारे खड़ा हुआ, एक भजन गा रहा है। वह सितार बजा रहा है, और उसके साथ दो और जन तबला और कोई और बाजा, शायद मजीरे, बजा रहे हैं। और वह साधु प्रेम के उच्छ्वास से भरकर भजन गाते २ नाच रहा है। मेरे पिता जी मुझ समेत उसके समीप खड़े हो गए। इस साधु के देखते हि मेरे हृदय पर उसके इस प्रेम उच्छ्वास के बहुत आकृष्टकारी प्रभाव पड़े। वह सारा दृश्य मेरे भीतर यहां तक खुभ गया कि उसके भजन का पहला पद अब तक भी मुझे याद है और वह यह है :—

"तनक प्रभु चितवो हमारी ओर,
हम चितवत तुम चितवत नाहीं, ऐसे हो जिया के कठोर।"

मेले के और विविध दृश्यों का मुझ पर कुछ अधिक असर न पड़ा, हां, कितनों का कुछ भी न पड़ा; परन्तु इस दृश्य और इस प्रेम सूचक भजन का इतना गहरा असर पड़ा कि जिसे मैं इन पंक्तियों के लिखने के समय में भी स्मरण करके तुष्टि अनुभव कर रहा हूं।

६—व्रत पालन विषयक प्रबल भाव की उत्पत्ति

मैं अपने उस समय के विश्वास के अनुसार, हनुमान जी के सम्बन्ध

में व्रत करने के भिन्न, अपने घर की प्रथा के अनुसार, श्री कृष्ण जी के जन्म दिन अर्थात् भाद्र वदि अष्टमी को भी व्रत रखना अपने आत्मा के लिए हितकर समझ कर उसके रखने के लिए अपने हृदय में बहुत प्रबल प्रेरणा अनुभव करता था। इसलिए इस व्रत की पद्धति के अनुसार उस दिन प्रातःकाल से लेकर सारा दिन और उसके बाद आधी रात तक केवल यही नहीं कि मैं **लगातार उपवास** करता था और कुछ नहीं खाता था, किन्तु **एक बूंद पानी तक भी नहीं पीता था**—चाहे उस समय मुझे कैसी ही **तीव्र प्यास** क्यों न लगी हुई हो। और यद्यपि मेरे माता पिता चाहते थे कि मैं अपनी छोटी सी **उमर में** यह कठिन व्रत ग्रहण न करूं, तथापि मैं उसे उनकी तरह अपने लिए भी **हितकर** समझ कर, उसे **आग्रह** करके पूरा करता था। मुझे अच्छी तरह याद है, कि जब एक बार इस व्रत के दिन प्यास के मारे मेरा गला सूख रहा था, और मैं अपने पिता जी के कहने के अनुसार उसकी शुष्कता के घटाने के लिए पानी कीं कुल्लियां कर रहा था, तब मेरे हृदय में यह भाव बार २ प्रेरणा करता था कि ऐसा न हो कि उन कुल्लियों के करने के समय, उस पानी का कोई घूंट मेरे गले से नीचे उतर जाए, और मेरा व्रत भंग हो जाए, और मैं उस हितकर व्रत के सम्बन्ध में उसके हित से कुछ भी वंचित रह जाऊं।

७—पूर्णता विषयक शुभ भाव की उत्पत्ति

हित अनुराग के विकाश के साथ, मुझ में पूर्णता विषयक भाव का विकाश पाना भी अवश्यम्भावी था; क्योंकि किसी हितकर काम को यथासम्भव पूरा न करके और बीच में छोड़ देने से, उसके पूर्ण होने से जितने हित की उत्पत्ति होती, उसका खो देना मुझे बहुत अप्रिय बोध होता था। इसलिए किसी हितकर काम को आरम्भ करके उसे, जहां तक सम्भव हो, अधूरा न छोड़ना और पूरा करके ही छोड़ना, चाहे उसके पूरा करने में किसी दिक्क़त वा कठिनता आदि का सामना करना पड़े, और उसे पूरा करके और उसमें सफल काम होकर अपने इस भाव की जय करना, मुझे बहुत प्रिय था, और उसके विपरीत

विफल काम होना मुझे बहुत अप्रिय था।

८—हितकर मेल विषयक प्रबल भाव की उत्पत्ति

मुझ में जितने प्रकार के हित अनुराग विषयक विविध उच्चभाव विकशित हुए थे, वह सभी अपनी **तृप्ति** चाहते थे, और उनमें से किसी के सम्बन्ध में किसी वाधा वा विरोधिता के उत्पन्न होने पर, मुझे बहुत **आघात** पहुंचता था, और उससे मेरे हृदय में बहुत गहरी **अशान्ति** उत्पन्न हो जाती थी, और मैं बहुत **कष्ट** पाता था। इधर मैं इस कष्ट से स्वभावतः बचना चाहता था, उधर **अपने इन भावों के विरुद्ध और उन्हें मारकर किसी के साथ मेल स्थापन कर नहीं सकता था।** इसीलिए बाल्य काल से ही मेरा जीवन बहुत **संग्राम** का जीवन बन गया। मैं उस समय आप कुछ नहीं जानता था, कि जीवन विषयक संग्राम क्या होता है। परन्तु मेरे हृदय में जिन उच्चगति दायक महान् भावों का विकाश हो चुका था, वह मुझे **इस संग्राम की हालत में रखते थे।**

मैं अपने प्रत्येक सम्बन्धी और प्रत्येक मनुष्य के साथ अपने **उच्च भावों** को स्थिर रखकर **मेल और शान्ति** की हालत में रहने की **अत्यन्त गहरी आकांक्षा रखता था,** परन्तु एक ओर उन उच्च भावों से शून्य होने और दूसरी ओर उनके विरोधी भाव वर्तमान होने के कारण जैसे और लोग मुझ से **मेरे उच्च भावों के आधार पर मेल कर नहीं सकते थे, वैसे हि मैं भी उनमें से किसी के किसी नीचगति दायक भाव के आधार पर मेल नहीं कर सकता था।** इसलिए नेचर की इस विचित्र गति के अनुसार उस समय से लेकर इस प्रकार का जो **संग्राम** मेरे जीवन में आरम्भ हुआ था, वह उसके बाद भी केवल यही नहीं कि जारी रहा, किन्तु नाना समयों में उस ने जिस २ प्रकार का महाभंयकर रूप ग्रहण किया, उसका वर्णन नहीं हो सकता।

मैं बाल्य काल में हनुमान जी की ओर इसलिए आकृष्ट हुआ था, कि मुझ में बड़ों की शिक्षा के अनुसार उस समय यह विश्वास उत्पन्न हो गया था, कि वह राम के **विशुद्ध अनुरागी और विश्वस्त सेवक थे,** और यह उच्च गुण मुझे बहुत प्रिय थे। परन्तु जब मेरी मानसिक शक्तियां

इतनी उन्नत हो गईं, कि उनके उन्नत होने पर मुझे मालूम हुआ, कि वह सर्वज्ञ और सर्वव्यापी पुरुष नहीं, और वह मेरी हर स्थान और हर समय में कोई प्रार्थना नहीं सुन सकते, और उसे पूरा भी नहीं कर सकते, और यह विश्वास उत्पन्न हुआ, कि जिस "ईश्वर" के अवतार के वह खुद उपासक थे, वही "ईश्वर" केवल एक मात्र सर्वज्ञ और सर्वव्यापी और वही एक मात्र मनुष्य मात्र के **परम हितकार्ता हैं**, तब मैं अपने **इस विश्वास** के अनुसार उनके इस **परम हितकर्ता रूप की ओर आकृष्ट होकर, उनका उपासक बना;** परन्तु उस समय मैं अपने गुरु और गीता की शिक्षा के अनुसार **श्री कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानता** और **वेदान्त** की शिक्षा के अनुसार **इस जगत् को भी ब्रह्म रूप ही विश्वास करता था।** इस के अनन्तर जब मैं लाहौर में आया, तब ईश्वर के सम्बन्ध में अवतार और वेदान्त विषयक विश्वास के चले जाने पर, मैं "ईश्वर" को ज्ञानमय और मंगलमय के भिन्न, **निराकार** विश्वास करके उनका उपासक रहा, और **जब अपने आत्मा में सत्य अनुराग और देवज्योति के अधिक उन्नत होने पर** मुझ पर इस कल्पनामूलक मिथ्या विश्वास की भी **सत्यता** प्रगट हो गई, तब मैंने अपने बाल्य काल के और नाना मिथ्या विश्वासों की तरह **इस मिथ्या विश्वास** को भी सदा के लिए **त्याग** कर दिया। फिर अपनी इसी **देवज्योति** में यह देखकर कि यह **विश्व ही एक मात्र सत्य है और यही पहले भी सत्य था, अब भी सत्य है, और आगे भी सदा सत्य रहेगा,** इसी विश्व वा नेचर का **पूर्ण विश्वासी** और इसमें उसकी जिन अति सुन्दर और महान् विकाशकारी शक्तियों का कार्य हो रहा है, और जो हमारे अपने सौर जगत् के अजीवित और जीवित जगतों में जहां तक जिस २ जगत् के जिन २ अस्तित्वों में श्रेष्ठ बनने की योग्यता है, वहां तक उनमें **उच्च परिवर्तन** लाकर उन्हें एक दूसरे के सम्बन्ध में क्रम २ से अपेक्षाकृत **अधिक से अधिक मेल की अवस्था में ला रहा है,** और औरों को अपनी विनाशकारी शक्तियों के आधिपत्य से ऊपर जाने के योग्य न पाकर उन्हें रात दिन मिटा रहा है, और अपने विकास कार्य के द्वारा इन

जगतों में से जिन २ अस्तित्वों का उच्चगति दायक पूर्ण मेल की अवस्था में पहुंच जाना सम्भव है, उन्हें उस पूर्ण मेल की ओर ले जा रहा है, उसी के सौन्दर्य और कार्य में **अपने हित और सत्य विषयक सब देव अनुरागों की** पूर्ण तुष्टि और तृप्ति पाकर, मैं **विश्व के इसी पूर्ण हित-कर विकाश कार्य का पूर्ण अनुरागी बन गया;** और उसके इस विकाश के क्रम में जो २ अस्तित्व मेरे ज्ञान के अनुसार जहां तक श्रेष्ठ और सुन्दर हो गया है वा हो रहा है, वहां तक वह भी पहले की अपेक्षा मेरे लिए अधिक **प्रिय** बन गया, और मिथ्या कल्पनामूलक सब प्रकार के विश्वासों के चले जाने से मेरे देवजीवन के विकाश का पथ पूर्णतः बाधा रहित होकर, **मेरे लिए पूर्णरूप से खुल गया।**

दूसरा परिच्छेद

मुझ में अन्य हितकर भावों की उत्पत्ति

१—बड़ों के सम्बन्ध में श्रद्धा और सन्मान भाव

अपने घर और अपने वंश के अपने से बड़े सम्बन्धियों, अपने शिक्षकों और अन्य माननीय जनों के प्रति मेरे भीतर बाल्य काल से ही न्यूनाधिक सन्मान का भाव जाग्रत हो गया था। मैं उस काल की प्रथा के अनुसार अपने घर और वंश के बड़े २ सम्बन्धियों के भिन्न अपने मुख्य शिक्षक के **चरणों** को स्पर्श करके उन्हें प्रणाम करता था, और उनके भिन्न अन्य सब सन्मान के योग्य जनों को अपने माथे पर हाथ रखकर और उनके आगे सिर झुकाकर सलाम, बंदगी और आदाब अर्ज़ आदि कहकर सन्मान प्रदर्शन किया करता था। मैं उन सब के सामने खड़े होने, बैठने और उनके साथ बातचीत करने में भी अपने इसी सन्मान भाव से परिचालित होता था। मैं किसी बड़े की किसी बात को अपनी समझ के विपरीत पाकर, उसकी पीठ के पीछे परन्तु किसी और के सन्मुख उसकी खिल्ली नहीं उड़ाता था, और जैसे उसके सामने उसे सन्मान देता था, वैसे ही उसकी **अवर्तमानता** में भी उसके सम्बन्ध में अपने हृदय के उस उच्च भाव के अनुसार सन्मान सूचक ही कोई क्रिया करता था। और जैसे और सैकड़ों मनुष्य केवल किसीके डर से वा दिखलावे के लिए किसी के सन्मुख कोई बाह्यक सन्मान प्रदर्शन करते हैं, परन्तु उसकी पीठ के पीछे अपने नीच घमंड वा किसी अन्य नीच भाव की तृप्ति के लिए फिर उसी की एक वा दूसरी बात को कुछ का कुछ बनाकर वा उस पर अपनी घृणा सूचक कोई फबती बात मढ़कर, वा मख़ौल करके अपनी ऐसी नीच करतूतों के द्वारा ख़ुशी हासिल करते हैं, और ऐसी बुरी ख़ुशी के जोश में ख़ूब हंसते और खिलखिलाते हैं, और

अपनी ऐसी अनुचित क्रियाओं से अपने २ हृदय को मैला और पतित करते हैं, वैसा कोई भाव मुझ में वर्तमान न था। इसीलिए जिस किसी के सम्बन्ध में जितना कुछ श्रद्धा और सन्मान का भाव था, वह **पवित्र** था; और क्या अपने पिता माता और अन्य वंशीय जनों और क्या उनके भिन्न और जिन बड़े २ जनों के सम्बन्ध में मेरे हृदय में बाल्य काल में यह भाव प्रगट हुए थे, वह उसके बाद भी कई सम्बन्धियों के प्रति और भी उन्नत होते रहे।

२—औरों के कष्ट वा दुःख के सम्बन्ध में दया भाव

मेरे पिता, माता, दादा, दादी आदि नाना सम्बन्धी और मेरे वंश के अन्य नाना जनों में से कोई मांसाहारी न थे, और न शिकार आदि किसी और विधि के द्वारा वह लोग जीव हत्या करते थे, इसलिए केवल यही नहीं, कि मुझ में जीव **हिंसा** का भाव जन्म काल से ही उत्पन्न नहीं हुआ, और मुझे किसी जीव को भी अपनी प्रसन्नता के लिए छेड़ना वा सताना, दिक्क़ करना वा मारना प्रिय न था; किन्तु उसके विपरीत यदि कोई और जन किसी और जन वा जीव को कुछ कष्ट देता हो, अथवा कोई जन वा पशु अपने किसी शारीरिक रोग वा किसी अन्य पीड़ा के कारण उसका किसी बेचैनी वा किसी आर्त शब्द के द्वारा प्रकाश कर रहा हो, तो उसे देखकर वा उसका ऐसा हाल सुन कर मेरे हृदय में आघात लगता था, और मेरे हृदय में ऐसी कामना उठती थी, कि उसका यह कष्ट दूर हो जाए।

इस विषय में भी मुझे अपने बाल्य काल की एक घटना याद आ रही है; वह यह है :—

मुझे कई प्रकार के सुन्दर पक्षी और कई पशुओं के छोटे २ बच्चे बहुत आकृष्ट करते थे। एक दिन मैं अपनी बस्ती से बाहर एक मैदान में खेलने के लिए गया हुआ था, वहां एक कीकर के वृक्ष पर एक गिलहरी रहती थी। उसके शायद दो छोटे २ बच्चे थे। मैं उनमें से एक को पकड़ कर, उसे पालने के भाव से, अपने घर में ले आया। मेरे पिता जी को इस बात की ख़बर हुई। उन्होंने मुझे उसके पालने की आज्ञा न दी, और

यह कहा, कि उसकी मां दुःखी हो रही होगी, तू जा और इसको फ़ौरन उसकी मां के पास छोड़ आ। मेरे पिता की ओर से उस बच्चे की मां के विषय में दुःख की अपील मेरे हृदय तक पहुंच गई, और वह मुझे पूर्णतः ठीक बोध हुई, और मैंने उनकी इस अपील को सुन कर कहा, बहुत अच्छा। अब यद्यपि शाम का समय था, और वह जगह मेरे घर से प्रायः एक मील दूर थी, मैं छोटा सा लड़का था, फिर भी मैं उसे लेकर उस मैदान की तरफ़ रवाना हुआ। मैं उस समय किसी साधारण लड़के की न्याईं यह नहीं कर सकता था, कि कुछ दूर जाकर उसे किसी और जगह छोड़ दूं, और घर में जाकर यह कह दूं, कि मैं उसे उसकी मां के पास छोड़ आया हूं। मैंने ऐसा नहीं किया, क्योंकि मेरे हृदय के **दया भाव** ने मुझे ऐसा करने नहीं दिया, और मैं उसी मैदान के उसी वृक्ष तक जाने के लिए तैयार हो गया, जहां उसकी मां रहती थी। निदान धीरे २ मैं वहां जा पहुंचा, और मैंने उस वृक्ष के नीचे उस बच्चे को छोड़ दिया, और वह ख़ुशी की आवाज़ें निकालता हुआ उसके ऊपर चढ़ गया।

उस वृक्ष पर उसकी मां उसकी जुदाई से बहुत कष्ट की अवस्था में बैठी हुई थी, इसलिए वह उसकी आवाज सुनते ही उसकी ओर ज़ोर से दौड़ी, और उसे देखकर और पाकर एक ओर वह अपने उस कष्ट से मुक्त हो गई, और दूसरी ओर वह इतनी खुशी से भर गई, कि वह आप भी अपनी ख़ुशी की आवाज़ें निकालती हुई उसे अपने साथ ले गई। उनके इस पवित्र और अच्छे सम्मिलन का मुझ पर बहुत सुखप्रद असर हुआ, और मैं अपने दया विषयक हित भाव की तृप्ति से बहुत सन्तुष्ट हुआ, और इसी अवस्था में घर वापिस आ गया। हित अनुराग की उन्नति के साथ २ मेरे इस भाव को और भी पोषकता मिलती रही।

३—परिष्कारिता का भाव

मुझ में छोटी उमर में ही परिष्कारिता का प्यार विकशित हो गया था। मैं मुंह हाथ धोना और किसी बीमारी आदि के भिन्न प्रति

दिन स्नान करना, और अपने वस्त्रों और अपनी पुस्तकों आदि को साफ़ और सुथरा रखना पसंद करता था, और मैले और फूहड़पन को घृणा करता था।

४—वस्तुओं की उचित रक्षा का भाव

मैं अपनी पुस्तकों आदि वस्तुओं को केवल साफ़ और उन्हें, जहां तक सम्भव हो, सब प्रकार के दाग़ धब्बों से सुरक्षित ही नहीं रखता था, किन्तु उनके किसी सफ़े का मोड़ा तोड़ा या फाड़ा जाना भी पसन्द नहीं करता था, और इसीलिए उन्हें बहुत संभाल कर रखता था, और उनकी हानि से कष्ट बोध करता था। इसी भाव के अनुसार मैं अपने बर्तने की और चीज़ों को भी बहुत संभाल कर रखता था।

५—फूलों के प्रति आकर्षण भाव

बाल्य काल से ही मुझ में फूलों के प्रति कुछ २ आकर्षण प्रस्फुटित हो गया था। हमारे घर के ठाकुरों और तुलसी की पूजा के लिए हमारी मालिन विशेष २ दिनों में कुछ फूल और फूलों के हार ढाक आदि के किसी बड़े पत्ते में बन्द करके रख जाती थी; वह सब फूल मुझे बहुत प्यारे लगते थे। मेरे ताया के एक बेटे और इस सम्बन्ध में मेरे सब से बड़े भाई कानपुर में नौकर थे। वह जब वहां से अपने घर के ठाकुरों पर चढ़ाने के लिए एक वा दो गुलाब के फूल एक तर कपड़े में लपेट कर घर में लाते और उन्हें मेरे सामने खोलते, तब मैं उन्हें देखकर बहुत खुश होता, और बरसात के दिनों में जब हमारी बस्ती के पास से पानी के गढ़ों में से "बघौले" (एक प्रकार के छोटे कमल) के फूल अपनी बड़ी २ डण्डी के सहित बिकने के लिए आते, तब मैं भी कई बार उन्हें ख़रीद कर और उनकी डण्डी को विशेष विधि से हार की शकल में तैयार करके कि जिसमें कमल का फूल उस हार के बीच में लटका करता था, बहुत शौक़ से अपने गले में पहना करता था।

६—कई प्रकार के सुन्दर पक्षियों आदि के प्रति आकर्षण भाव

मुझे कई प्रकार के रंगीले पक्षी यथा कबूतर, बुलबुल, तोते और लाल आदि और कुत्तों और बिल्ली आदि के छोटे २ बच्चे बहुत आकृष्ट

करते थे—यहां तक कि मैं यथा सम्भव उन्हें अपने पास रखने और उन्हें पालने के लिए भी बहुत प्रबल प्रेरणा अनुभव करता था। इसी प्रबल भाव से परिचालित होकर और अपने पिता से अनुमति लेकर, मैंने एक बार एक सफेद रंग की बिल्ली का बच्चा पाला था। यह बच्चा नारी था, और चम्बेली के फूल की तरह सफ़ेद था, इसीलिए उसका नाम "चम्बेली" रक्खा गया। मैंने उसके गले में एक घुंघरू बांधा, और मैं उसे दिन में कई बार दूध पिलाता। चम्बेली हमारे घर में खूब कुदक्कड़े लगाती, और बहुत ख़ुश रहती। मैं भी उसे ख़ुश देखकर बहुत ख़ुश होता। कुछ दिन तक वह इसी प्रकार पलती रही। परन्तु एक दिन रात को जब हम लोग सोए हुए थे, तब दुर्भाग्य वशतः एक जंगली और ग़ैर पालतू बिल्ली हमारे घर में घुस आई, और वह उसे मार कर चली गई। सुबह जब मुझे इस दुर्घटना का पता लगा, तब मुझे बहुत कष्ट दायक आघात लगा; परन्तु अब धैर्य्य के भिन्न और कुछ हो नहीं सकता था। इसी प्रकार एक बार मैंने एक तोते का बच्चा भी पाला था, कि जो कुछ काल के बाद मर गया था, इस तोते के भिन्न एक दो प्रकार के और पक्षी भी पाले थे।

७—आत्म-सहाय का भाव

हित अनुरागी होकर मैं यह कभी पसन्द नहीं करता था कि मैं अपना जो काम आप करने के योग्य हूं, उसके लिए अकारण किसी और की सहाय का आकांक्षी वा प्रार्थी बनूं; और किसी आलस्य वा आराम के वशीभूत होकर वा कष्ट के भय से उसे आप न करूं, और किसी अनुचित हानि को होने दूं। मैं हित अनुरागी होकर, जान बूझ-कर, किसी अनुचित हानि का साथ नहीं दे सकता था, इसीलिए आत्म-सहाय का भाव मुझ में बाल्य काल से ही विकशित हो गया। और मैं इस भाव के कारण आवश्यक होने पर प्रत्येक ऐसे भले काम के करने के लिए भी तैयार होता गया, कि जिन्हें कितने ही लोग केवल किसी मिथ्या संस्कार वा रिवाज आदि के वशीभूत होकर नहीं करते वा नहीं करना चाहते, वा उनके करने में अपनी हेठी वा बेइज्ज़ती समझते हैं।

८—आत्म-सन्मान का भाव

किसी ऐसे जन के पास निज के तौर पर मिलने के लिए जाना वा किसी ऐसे जन के घर में ठहरना जो तुम से मिलना वा तुम्हें अपने घर में ठहराना पसन्द न करता हो, और तुम पर उसका यह भाव किसी प्रकार से प्रगट हो चुका हो, अथवा किसी से कोई ऐसी चीज़ मांगना, कि जिसे तुम ख़ुद अपने ख़र्च या यत्न से आसानी से अपने पास रख सकते हो, अथवा किसी छोटे के सम्बन्ध में कोई ऐसी क्रिया करना, कि जो बड़े के पद मर्यादा के विरुद्ध हो, अथवा किसी के द्वारा अनुचित रूप से आक्रमण किए जाने पर, बिना उचित कारण के चुप रहना और अपने उचित बचाव के लिए कुछ न करना, इत्यादि विविध प्रकार की क्रियाएं आत्म-सन्मान विषयक भाव के विरुद्ध हैं, और जिस में यह भाव भली भान्त विकशित हुआ हो, वह इस प्रकार की कोई क्रिया नहीं कर सकता।

मुझ में इस भाव का भी बाल्य काल से विकाश आरम्भ हो गया था।

[**नोट** :—हो सकता है, कि इन सब भावों के भिन्न मुझ में बाल्य काल में कोई और हितकर भाव भी विकशित हुआ हो, परन्तु वह इन पंक्तियों के लिखने के समय तक मुझे स्मरण नहीं होता।]

तीसरा परिच्छेद

हित अनुराग के विरोधी मेरा विविध नीच भावों से पूर्णतः रहित होना

मेरे आत्मा में देव जीवन विषयक जिन असाधारण देव अनुरागों के विकाश और उनके **विरोधी** जिन आत्म विनाशक महा नीच भावों से **पूर्ण रूप से रहित रहने की आवश्यकता थी**, और जिन नीच भावों से मैं अपने जन्म काल से ही पूर्णतः रहित रहा, वह यह थे :—

१—ईर्षा भाव

अपनी अपेक्षा बढ़ कर अथवा यूं भी किसी विषय में किसी जन का गौरव वा उसकी किसी उन्नति, समृद्धि वा अच्छी अवस्था को देखकर वा सुनकर जल उठना, कुढ़ने लगना वा दुःखी होना और उसके प्रति घृणा अनुभव करना वा इससे भी बढ़कर उसे किसी प्रकार की हानि पहुंचाने के लिए आकांक्षा वा यत्न करना, **ईर्षा भाव** कहलाता है। इस आत्म विनाशक महा नीच भाव का बीज तक मुझ में जन्म काल से ही वर्तमान न था।

२—द्वेष भाव

किसी जन से कोई उचित वा अनुचित कष्ट वा दुःख वा हानि पाकर वा उससे अपनी किसी कामना की तृप्ति न पाकर उसे **घृणा** करना और उससे कट जाना और उसके प्रति प्रतिशोध भाव से परि-चालित होकर उसे हानि पहुंचाने की चिन्ता वा यत्न करना, वा उसकी किसी और के द्वारा किसी अनुचित हानि की ख़बर पाकर हर्ष वा तृप्ति लाभ करना, अथवा किसी के अनुचित आक्रमण करने पर अपनी उचित रक्षा के लिए यथावश्यक कोई नैतिक और वैध उपाय अवलम्बन करने के भिन्न **बदला लेने की नीयत से** उसे किसी प्रकार की हानि

पहुंचाने के लिए कोई यत्न करना, **द्वेष भाव** कहलाता है। यह आत्म-जीवन-विनाशक महा नीच भाव मुझ में जन्म काल से ही उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि उसका उत्पन्न होना मेरे जन्मजात स्वभाव के हि विरुद्ध था। इसीलिए और विरोधियों की ओर से नाना अनुचित आघातों और कष्टों और विविध प्रकार की अन्य नाना हानियों को छोड़कर मेरे जब किसी उपकृत जन ने भी इस महा नीच और आत्म-जीवन-विनाशक द्वेष भाव से उत्तेजित होकर मेरे प्रति घृणा की है, अथवा इससे भी बढ़कर कृतघ्न बनकर मुझे विविध प्रकार से हानि पहुंचाने का प्रयत्न किया है, तब भी मैंने केवल उसकी इन **महा हानिकारक नीच गतियों को ही घृणित** रूप में देखा है, किन्तु **उसके प्रति कभी घृणा नहीं की।** हां, इसके विपरीत जब तक और जहां तक मुझे मुख्यत: उसके आत्मिक और गौणत: किसी अन्य कल्याण करने का अवसर मिला है, तब तक और वहां तक मैंने अपने हित भाव से परि-चालित होकर उसका केवल हित ही किया है।

३—हिंसा भाव

किसी मनुष्य वा पशु को किसी प्रकार का कोई अनुचित कष्ट पहुंचा कर वा बध करके अथवा किसी जीवित वृक्ष वा पौदे वा किसी अन्य अजीवित वस्तु को उचित कारण के बिना, किसी प्रकार की हानि पहुंचा कर वा बिगाड़ कर वा तोड़ फोड़कर हर्ष लाभ करने का भाव हिंसा भाव कहलाता है। यह महा नीच और आत्म-विनाशक भाव भी मुझ में बाल्य काल से ही कभी उत्पन्न नहीं हुआ, और न यह मेरे हित अनुराग की उत्पत्ति और उन्नति के कारण मुझ में उत्पन्न हो ही सकता था।

४—घमंड भाव

"मैं" वा "अहं" विषयक **सब प्रकार के अनुचित पक्ष भाव को मिथ्या अभिमान वा घमंड** कहते हैं। इस घमंड की उत्पत्ति के लिए मेरी हृदय भूमि जन्मकाल से ही अनुकूल न थी। मैं बाल्य काल से ही जब अपने हित अनुराग के विकाश के कारण किसी बात को हितकर

समझ कर उसके विरुद्ध कभी किसी के कुछ कहने वा किसी के डर वा किसी की ओर से किसी लालच की परवाह न करता था; तब यद्यपि कई लोग मेरी इस अनोखी चाल को अपने विरुद्ध देखकर, अपनी नादानी से मुझे बहुत **हठी, घमंडी** वा **मग़रूर** आदि कहकर मुझ पर **अन्याय** करते; तथापि मैं अपनी आत्मिक उन्नति के साथ २ न केवल मनुष्य जगत् के नाना जनों के **सद्गुणों** को अधिक से अधिक देखने के योग्य होते जाने, किन्तु उनके भिन्न विश्व के अन्य विभागों के साथ अपने अस्तित्व के अति **घनिष्ट सम्बन्ध** को धीरे २ अधिक उपलब्ध करने के योग्य होते जाने और इस सत्य के दिनों दिन अधिक से अधिक उपलब्ध करने के योग्य बनते जाने से, कि **मैं अपने आप कुछ भी नहीं और कहीं भी नहीं, और मेरा समस्त अस्तित्व इस विश्व के नाना विभागों के नाना अस्तित्वों और उनकी सहाय पर हि निर्भर करता है, दिनों दिन अधिक से अधिक सच्चा श्रद्धावान और दीन बनता गया** । और मैं जिन **देव शक्तियों** को बीज रूप में लेकर जन्मा था, उनके विकाश के साथ २ मेरा धीरे २ नेचर की महिमा और **उस पर अपने अस्तित्व के निर्भर करने की सत्यता** को अधिक से अधिक देखना और उसके परिवर्तन चक्र में यहां के और नाना सामान और सम्बन्धी तो कहीं रहे **अपने ही स्थूल शरीर** के सम्बन्ध को भी **क्षण-भंगुर** उपलब्ध करना अवश्यम्भावी था । इसीलिए किसी प्रकार का कोई मिथ्या अभिमान अथवा आत्म-विनाशक महानीच घमंड भाव मुझ में उत्पन्न नहीं हो सका और नहीं हुआ ।

चौथा परिच्छेद

मेरा अपनी वासनाओं पर पूर्ण आधिपत्य और उनके दासत्व से पूर्णतः रहित होना

मुझ में जैसे आत्म-विनाशकारी उत्तेजना विषयक ईर्षा, द्वेष, हिंसा और घमंड भाव बाल्य काल से ही उत्पन्न नहीं हुए, वैसे ही कई प्रकार के वासना विषयक जो २ भाव **उत्पन्न हुए**, उनमें से किसी का कभी मुझ पर अधिकार नहीं हुआ, और इसीलिए उनमें से मैं किसी का भी कभी **दास** नहीं बन सका, क्योंकि मेरे हृदय में हित विषयक जिस अद्वितीय अनुराग का प्रकाश और विकाश आरम्भ हुआ था, वह अपने आरम्भ से हि इतना **प्रबल** था, कि **वह मेरी प्रत्येक वासना पर अधिकार रखता था,** मैं इस प्रबल हित अनुराग के कारण उसे छोड़कर अपनी किसी भी वासना को चाहे वह कैसी ही सुखप्रद क्यों न हो, अपने ऊपर **अधिकार** नहीं दे सकता था। इसलिए दोनों की टकराहट होने पर, मेरा हित अनुराग भाव मेरे प्रत्येक वासनामूलक भाव को परास्त करके **जय** लाभ करता था, और मैं उसकी **इस महान् और विजयी शक्ति** के कारण अपनी **किसी भी वासना शक्ति का कभी दास** न बन सका, और न बना। इसीलिए मेरा आत्मा नाना वासनाओं को रखकर और **संसार में रहकर** और **संसार के नाना सम्बन्धियों के साथ सम्बन्ध रख कर भी** कभी **संसारासक्त** और **मोह ग्रस्त** नहीं बना, और **सांसारिक बन्धनों का बन्धुवा नहीं हुआ।** और **मैं** जिस **देवरूप** में विकशित होने और विकशित होकर अपने अद्वितीय उद्देश्य और उसकी सफलता के लिए अद्वितीय जीवन व्रत ग्रहण और उसके सम्बन्ध में अद्वितीय परन्तु **सच्चे और आवश्यक सब प्रकार के त्यागों** का दृष्टान्त प्रदर्शन करने के लिए विश्व के लाखों वर्षों के विकाश क्रम में प्रगट हुआ था, उसमें

सफलकाम हुआ ।

मेरी हित अनुराग सम्बन्धी नाना प्रकार की सब शक्तियां मेरी वयस और मानसिक शक्तियों की उन्नति, सत्य अनुराग के प्रकाश और विकाश और उनके सम्बन्ध में मेरे सब प्रकार के आवश्यक त्याग और अनुकूल अवस्थाओं के प्राप्त होने पर क्रम २ से किस प्रकार **बलिष्ट** और **प्रशस्त** हुईं, और मुझ में हित और अहित विषयक ज्ञान की क्रमशः किस प्रकार उन्नति हुई, और जीवित और अजीवित सब जगतों के सम्बन्ध में **उनके प्रयोग की किस प्रकार सीमा बढ़ती गई,** और में विश्व के **विकाश विषयक सर्वांग सुन्दर कार्य वा नियम के साथ किस प्रकार अपना आत्मिक मेल वा अपनी एकता स्थापन करने के योग्य हुआ,** उसका तत्त्वज्ञान मेरे नाना लेखों के विचार पूर्वक और लगातार अध्ययन से उन लोगों पर और केवल उन लोगों पर वहां तक प्रकाशित हो सकता है, कि जो जहां तक मेरे श्रद्धावान और अनुरागी और मेरी **देवज्योति** के पाने के योग्य हों ।

मेरे आत्मा में देवजीवन सम्बन्धी **सत्य विषयक महा अनुरागों** का कब और किस अवस्था में किस प्रकार **विकाश** हुआ और उनके क्रम विकाश के साथ २ मुझ में **देवज्योति** की किस प्रकार उत्पत्ति और उन्नति हुई, और इस **देवज्योति में सत्य-ज्ञान के क्रमशः प्रकाश से मेरे कई प्रकार के मिथ्या विश्वास क्योंकर दूर हुए,** और मैंने **आत्मा के रूप** और उसके **जीवन** आदि के सम्बन्ध में नेचर के अटल नियमों और उसकी प्रकृत घटनाओं के अनुसार धीरे २ **क्या २ तत्त्व और सत्य देखे** उनका वर्णन इस पुस्तक के पहले खण्ड में दिया जा चुका है ।

पांचवां परिच्छेद

मेरे वंशीय पूर्वज और उनके वंश में प्रगट होकर मेरे आत्मा में देव शक्तियों का आविर्भाव

"आर्य्य" जाति के सैकड़ों जनों ने "भारतवर्ष" में पहुंच कर जब अपने २ उपनिवास स्थापन किए, तब वह कई नैसर्गिक पदार्थों यथा, सूर्य्य, अग्नि, जल और वायु आदि के भिन्न अपनी जाति के मरे हुए नाना विशेष २ जनों की पूजा भी करते थे। वह उनमें से कुछ को "देव" और कुछ को "पितृ" कहते थे। यह "देव" और "पितृ" उनसे अपने लिए कई प्रकार की **बलि** और अन्य भेंटें चाहते थे, और इन बलियों और भेंटों के बदले में वह उनकी रक्षा और उनकी नाना प्रकार की सांसारिक कामनाओं के पूरा करने की प्रतिज्ञाएं करते थे। जो लोग उनमें से इस बलि वा भेंट विषयक पूजा को उस समय की प्रचलित विधि के अनुसार पूरा करा देने का कार्य वा व्यवसाय करते थे, वह पुरोहित वा ब्राह्मण कहलाते थे। फिर इन भारतवासी आर्य्य हिन्दुओं की सन्तान ज्यों २ बढ़ती गई, और वह पंजाब से निकलकर भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों में फैलती गई, त्यों २ उनके आपस में कई प्रकार के और विभाग होते गए। इन विभागों में से उत्तर प्रदेशों के रहनेवाले ब्राह्मण सारस्वत, गौड़, कान्यकुब्ज, उत्कल और मैथिल नामों से और दक्षिण प्रदेशों के रहनेवाले तैलंग, महाराष्ट्र, गुर्जर और द्राविड़ आदि नामों से पुकारे गए।

कान्यकुब्ज वंशीय ब्राह्मणों की उत्पत्ति के विषय में बाल्मीकि रामायण में यह कहानी लिखी हुई है, कि "ब्रह्माजी" के चार पोते थे, जिनमें से दूसरे पोते के एक सौ कन्याएं थीं। यह कन्याएं पाक्षाघात से

कुब्जी अर्थात् कुबड़ी हो गई थीं। यह सब कन्याएं महर्षि ब्रह्मदत्त को ब्याही गईं। उनके स्पर्श से उन कन्याओं का कुबड़ापन दूर हो गया। तब से उपरोक्त महर्षि के निवास स्थान का नाम कान्यकुब्ज हो गया; और इस कान्यकुब्ज (जिसे अब कन्नौज कहते हैं) प्रदेश के रहने वाले ब्राह्मण कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहलाने लगे।

कहा जाता है, कि इस कान्यकुब्ज प्रदेश के बहत्तर ऋषियों से कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के बहत्तर गोत्र और बहुत से प्रवर बन गए। इन गोत्रों में से ६ गोत्र उत्तम, दस गोत्र मध्यम और शेष छप्पन गोत्र निकृष्ट स्थिर किए गए। इनमें से ६ उत्तम गोत्रों के नाम यह हैं :—

(१) कात्यायन (२) कश्यप (३) शांडिल्य (४) सांकृत (५) उपमन्यु (६) भारद्वाज। इन्हें "षट कुल" भी कहते हैं। इन षट कुलों में से उपमन्यु ऋषि से मेरे अपने वंश का सम्बन्ध है, और उपमन्यु वशिष्ठ और याज्ञवल्क्य इन तीनों ऋषियों से मेरे "प्रवर" का सम्बन्ध है।

मेरी कई पीढ़ियों से पहले के पूर्वज युक्त प्रदेश अर्थात् हिन्दुस्तान में फ़तहपुर (हसुवा) के ज़िले में रिवाड़ी नामक एक गांव में रहते थे। कलकत्ते से "ईस्ट इंडियन रेलवे" नाम की जो सड़क देहली को जाती है, उसपर मलवां नामक एक स्टेशन है, जिससे शायद दो तीन मील की दूरी पर यह रिवाड़ी ग्राम आबाद है। यह ग्राम मेरे पूर्वजों में से श्रीयुत जानार्दन के पुत्र श्रीयुत रेव ने आबाद किया था। इसी गांव में उन्होंने एक बहुत बड़ा **अग्निहोत्र यज्ञ** किया था, कि जिसे पूरा करने पर उन्होंने "अग्निहोत्री" पदवी लाभ की थी। कहा जाता है, कि इस विख्यात यज्ञ के होमकुंड के चिह्न अब तक उस गांव में वर्तमान हैं।

इस यज्ञ के करने से पहले मेरे वंश के लोग **जयराजमौ के द्विवेदी** कहलाते थे। यजुर्वेद मेरे कुल का वेद और धनुर्वेद उपवेद माना जाता था। अग्निहोत्री यज्ञ के अनन्तर मेरे वंश के लोग "अग्निहोत्री" कहलाने लगे। फिर मेरे यहीं अग्निहोत्री पूर्वज रिवाड़ी को छोड़कर उसी

के पास के दौलतपुर नामी एक गांव में (जहां कि उनकी ज़मींदारी थी) जा बसे।

पण्डित जनार्दन के पीछे कई पीढ़ियों में पण्डित मन्साराम अग्निहोत्री का जन्म हुआ। यह मेरे पड़दादा के पिता थे। इनके तीन पुत्र थे, जिनमें से मेरे पड़दादा श्रीयुत गंगाप्रसाद अग्निहोत्री सबसे बड़े और श्रीयुत सुखराम अग्निहोत्री उनसे छोटे और श्रीयुत बेचूलाल अग्निहोत्री सबसे छोटे थे।

मेरे पड़दादा श्रीयुत गंगाप्रसाद अग्निहोत्री जी ने अपनी असाधारण बुद्धि और अपने बड़े अध्यवसाय से वाणिज्य आदि के द्वारा बहुत सा धन उपार्जन किया। इसके पीछे वह अकोढ़ी के राजा स्वरूपसिंह जी के दीवान नियुक्त हुए, और इसलिए वह दौलतपुर छोड़कर अकबरपुर ज़िले कानपुर में निवास करने लगे। धीरे २ उन्होंने बहुत से गांव ख़रीद किए, और वह उस ज़िले के एक बहुत बड़े रईस और धनाड्य बन गए। उन दिनों में जिन २ गांवों में उनकी ज़मींदारी थी उनके नाम यह हैं :—

तहसील भोगनीपुर में—(१) शाहजहांपुर, (२) सहावापुर, (३) जगदीशपुर, (४) मूसा नगर, (५) रसूलपुर, (६) डोभा, (७) असुआपुर, (८) बढ़ौली, (९) सेथरा ख़ुर्द, (१०) दोहरापुर (११) बिजईपुर, (१२) हरदुआहरी, (१३) मुहतरापुर, (१४) असेवा।

तहसील अकबरपुर में—(१) सलावतपुर, (२) बदलापुर, (३) सेरूआ, (४) आल्हापुर, (५) मुक्तापुर, (६) बाढ़ापुर, (७) कुरवां, (८) लहरापुर, (९) गौरियापुर।

तहसील घाटमपुर में—(१) गंड़ाथा, (२) अमरितेपुर। कुल २५ गांव।

यह गांव उन्होंने अपने कई सम्बन्धियों के नाम से ख़रीद किए थे। इस जायदाद के भिन्न कहा जाता है, कि वह मरते समय बहुत सा नक़द रुपया भी छोड़ गए थे।

मेरे दादा

मेरे दादा जिनका नाम श्रीयुत पण्डित रामजियावन अग्निहोत्री था, मेरे पड़दादा के एक ही पुत्र थे। वह युक्त प्रदेश में दौलतपुर ज़िले फ़तहपुर हसुवा में सन् १७६७ ई० के लगभग उत्पन्न हुए थे। वह कई प्रकार के अति असाधारण उच्च भावों को लेकर जन्मे थे। उन्होंने यह असाधारण उच्च भाव अपने पूर्वजों के क्रम में किस २ से और किस २ प्रकार लाभ किए थे, उनका मुझे कोई पता नहीं।

१. मेरे दादा में अपने आत्मिक कल्याण का महा प्रबल भाव—मेरे दादा में धन, सम्पत्ति, सन्तान, नाम, बड़ाई, सुस्वादु खान पान, बनाव सिंगार और काम विषयक भोग विलास आदि विविध वासनाओं और उनके सुखों की तुलना में **आत्मिक कल्याण विषयक आकांक्षा का बहुत प्रबल भाव प्रगट हुआ था।** इसीलिए वह अपने इस प्रबल भाव के अनुसार उसकी तुलना में वासनामूलक किसी भाव की तृप्ति को अपना लक्ष्य नहीं अनुभव करते थे।

उनके पिता दीवान गंगाप्रसाद ने यद्यपि कई बार चाहा, कि वह अकबरपुर में उनके पास जाकर रहें, और अपने आपको उनके कारोबार के संभालने के योग्य बनावें, तथापि उन्होंने ऐसा करना कभी पसन्द न किया। मेरे दादा ने अपने पिता जी के देहान्त के बाद भी उनकी जायदाद के लेने और संभालने के लिए कोई विशेष चेष्टा न की; इसीलिए वह सारी जायदाद उनके बड़े बेटे अर्थात् मेरे ताया श्रीयुत शिवदयाल अग्निहोत्रीजी के हाथ आई।

मेरे दादा के दो पुत्र थे, और दो ही कन्याएं थीं। वह सिवाय उन दिनों के जब कि वह तीर्थ स्थानों की यात्रा के लिए जाते थे, और दिनों में दौलततुर में ही अपने परिवार के साथ रहते थे। वह बहुत से बैल, गौवें और भैंसें और घोड़े आदि पशु रखते थे। उनके कई नौकर थे। और मेरे दादा अपने परिवार और वहां के मकानों और ज़मीनों आदि की सब ज़रूरी देखभाल रखते थे; परन्तु ग्रहस्थाश्रम में रहकर भी वह धन, सम्पत्ति, नाम, बड़ाई, सन्तान, शारीरिक वा इन्द्रिय सुख आदि

किसी वासना की तृप्ति को अपना लक्ष्य नहीं अनुभव करते थे। वह अपने आत्मिक कल्याण की तुलना में उनमें से किसी के लिए कोई प्रबल आकर्षण नहीं रखते थे। वह अपने आत्म-कल्याण के लिए ही एक मात्र प्रबल भाव रखते थे, और उसी का लाभ करना अपना **मुख्य लक्ष्य** अनुभव करते थे। **वह संसार में रहकर भी सांसारिक वासनाओं से अतीत सात्विक भावों के राज्य में पहुंचे हुए थे।** वह संसार में रहकर भी **सच्चे वैराग्य** की अवस्था रखते थे। वह अपने घर में रहकर जिस विधि से अपना दैनिक जीवन व्यतीत करते थे, वह यह थी :—

(१) वह आधी रात के बाद प्रायः दो वा तीन बजे उठकर और हाथ में माला लेकर जप किया करते थे। कुछ काली मिर्चें पानी में पीस कर अपने पास रख लिया करते थे, और जब उस समय उनपर कभी नींद आक्रमण करती थी, तब इन मिर्चों का थोड़ा सा अंजन अपनी आंखों में लगा लिया करते थे, कि जिसकी चटपटाहट से उनकी आंखों से बहुत सा पानी बहता और नींद भाग जाती। इस अंजन के लगाने के समय वह कई बार अपनी आंखों को यह कहकर सम्बोधन करते— "तुम मेरे भजन भाव में बाधा देती हो, लो तुम्हारी यही सज़ा है!"

(२) वह चार पांच बजे तड़के के लगभग शौच और स्नान आदि करके प्रातःकाल की सन्ध्या करते।

(३) वह प्रातःकाल की सन्ध्या के बाद अपने एक दो ब्राह्मण नौकरों को साथ लेकर गंगा स्नान के लिए पैदल रवाना होते, और रास्ते में चिउटियों के जहां कहीं बिल देखते, वहीं उनके खाने के लिए कुछ पंजीरी डालते जाते। इस प्रकार घर से प्रायः ६ मील चलकर वह गंगा जी के तट पर पहुंचते, और फिर उसमें स्नान करके अपनी पूजा करते। उन्होंने कुछ ऐसे ब्राह्मण भी नौकर रक्खे हुए थे, कि जो उनकी तरफ़ से कागज़ों पर राम नाम लिखा करते थे, और इन नामों को कागज़ों से अलग २ काटकर और उनमें से हर एक को गीले आटे में लपेट कर उन सब की गोलियां बनाया करते थे, और यह गोलियां मेरे दादाजी गंगाजी की मछलियों को खिलाया करते थे।

(४) वह दोपहर को घर वापिस आकर **नियत समय** पर खाना खाते, और इस विचार से कि खाने में किसी प्रकार का **असंयम** न हो, अपने लिए तुलवा कर खाना पकवाया करते थे।

(५) वह खाना खाने के अनन्तर कुछ देर आराम करते थे।

(६) वह दोपहर के बाद तीन बजे के लगभग फिर उठ बैठते और कुछ देर तक मेल मुलाक़ात और अपने आवश्यक कामों के निबटाने के अनन्तर, स्नान करके सन्ध्या का साधन करते। फिर भोजन करके अपने घर के पशुओं को इस भाव से जाकर देखते कि उनमें से हर एक को ठीक २ घास, भूसा, दाना और पानी आदि मिला है वा नहीं; उनमें से हर एक का स्थान साफ़ है वा नहीं; वह आपस में लड़ते भिड़ते तो नहीं; उनमें से कोई अनुचित रूप से तो बंधा हुआ नहीं; और इस प्रकार की देख-भाल करके वह नौ-दस बजे रात के लगभग सो जाते। फिर तीन बजे रात के लगभग उठकर वह अपने सब वही साधन और काम पूरे करते, कि जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है।

२. **मेरे दादा में दया और अभाव निवारण विषयक कई प्रकार के परोपकार भाव**—मेरे दादा में यह दोनों प्रकार के **सात्विक भाव** वर्तमान थे। वह किसी बीमार वा पीड़ित वा दुखिया को देखकर उसके सम्बन्ध में कष्ट और किसी दरिद्र वा कंगाल को देखकर उसके लिए सहानुभूति और उसकी सहायता के लिए अपने हृदय में प्रेरणा अनुभव करते, और यथा साध्य उसकी सहायता करते। कितने ही दरिद्र लोग जो उनके पास आया करते थे, उन्हें वह उनकी अवस्था के अनुसार दान किया करते थे। कितने हि ब्राह्मण लोग जो निर्धनता के कारण अपनी कन्याओं का विवाह न कर सकते थे, उनको वह धन देकर उनकी कन्याओं का विवाह करा देते थे। कितने हि और लोग जिनको धन की आवश्यकता होती, फटे पुराने कपड़े पहनकर उनके पास आते, और कभी उधार के नाम से और कभी यूं हि उनसे धन ले जाते। मेरे दादा इस सत्य को भली-भान्त समझते थे, कि **परोपकार करने से आत्मा का कल्याण होता है,** और इसीलिए ख़ुशी २ अवसर पाकर धनादि के द्वारा परोपकार किया

करते थे। उनमें पशु सेवा का जो भाव वतमान था, उसके दृष्टान्त ऊपर दिए जा चुके हैं।

३. **मेरे दादा में सरल भाव**—मेरे दादा का हृदय बहुत सरल था। वह अपने हृदय में किसी के सम्बन्ध में किसी प्रकार का छल वा कपट नहीं रखते थे। वह छल कपट को सम्पूर्ण रूप से घृणा करते थे।

४. **मेरे दादा में पूजा, पाठ, जप आदि विषयक साधन भाव**—मेरे दादा यह सब साधन निष्ठा के साथ पूरा करते थे। वह जब किसी साधन को भी ठीक जान कर एक वार उसे ग्रहण कर लेते, तब फिर उसे निष्ठा-पूर्वक हमेशा पूर्ण करते; और कभी किसी आलस्य वा अन्य रुचि वा प्रवृत्ति के वश होकर उसे कभी परित्याग न करते।

५. **मेरे दादा में तीर्थयात्रा का भाव**—मेरे दादा का तीर्थयात्रा पर बहुत बड़ा विश्वास था। ऐसे समय में जब कि हमारे देश में अब की न्याईं न कहीं रेल थी, और न सड़कें थीं; जब कि मनुष्य के लिए कुछ दिनों के लिए भी सफ़र करना बहुत मुशकिल समझा जाता था; तब वह अपनी प्रबल भावशक्ति के द्वारा परिचालित होकर महीनों और वर्षों के अति दुर्गम पथ को काटकर बड़े २ विख्यात तीर्थ स्थानों की यात्रा करते थे। उत्तर में उन्होंने बदरीनाथ और पूर्व में जगन्नाथ और दक्षिण में रामेश्वर के विख्यात तीर्थ की यात्रा की थी। फिर इन तीनों प्रसिद्ध और बड़े तीर्थों के अनन्तर जब वह चौथे बड़े तीर्थ अर्थात् द्वारिकाजी को जाना चाहते थे, तब ऐसा कहा गया है, कि एक विख्यात ज्योतिषी ने उनके सम्बन्ध में यह बात बतला दी थी, कि इस यात्रा से वह घर वापिस न आएंगे। इस बात से घरवालों को बहुत चिन्ता हुई और उन्होंने चाहा कि वह इस वृद्ध अवस्था में घर से बाहर न जावें। परन्तु मेरे दादा के हृदय में घर वा परिवार, स्त्री वा सन्तान आदि किसी के लिए मोह न था; इसलिए उन्होंने उनकी कुछ परवाह न की, और वह अपने मामा के पुत्र, और एक ख़िदमतगार नाई को अपने साथ लेकर द्वारिकाजी को रवाना हो गए। मेरे पिता ने मुझे कहा था, कि जब वह द्वारिकाजी

को रवाना हुए, तब वह कई कोस तक उनके पीछे २ गए, परन्तु उन्होंने उनकी ओर पीछे फिर कर न देखा। फिर कुछ दूर जाकर वह खड़े हो गए, और मुझ से बोले, कि "तुम घर जाओ, अब तुम्हें मेरे पीछे २ आने की कुछ आवश्यकता नहीं।" उनके मुंह से यह शब्द सुनते हि मेरे पिता विवश होकर रो पड़े, और उनके चरणों को छूकर और उनसे आशीर्वाद लेकर घर को वापिस आए।

मेरे दादा अपनी इस तीर्थ यात्रा में भी अपनी नियत प्रणाली के अनुसार सारे कार्य पूरे करते; अर्थात् वह प्रातःकाल के समय दौलतपुर से गंगाजी जाने के स्थान में प्रायः उतनी ही दूर द्वारिका जी की तरफ़ अपनी आगे की मंज़िल चला करते थे; घर से खाना खाने के स्थान में अपने मामा के पुत्र के हाथ का पका हुआ भोजन करते और बाक़ी यात्रा में वह पहले की न्याईं अपना सब पूजन पाठ आदि करते थे। इस यात्रा में वह बहुत दिनों तक आरोग्य रहे। परन्तु फिर कुछ बीमार हो गए, और कुछ दिनों के बाद वह फिर अच्छे हो गए; और फिर पहले की न्याईं यात्रा करने लगे। अभी वह एक ऐसे स्थान में पहुंचे थे, कि जहां से द्वारिका जी का तीर्थ बहुत समीप रह गया था; परन्तु वहां पहुंचकर जब वह अपने नियम के अनुसार दोपहर का भोजन करके सो गए, तब वह ऐसे सोए, कि अपने नियत समय पर न उठे। सेवाकारी भृत्य ने जब देखा कि सन्ध्या निकट आ गई है, तब उसने उनके भाई से कहा, कि तुम महाराज को जगा दो, बहुत देर हो गई है; ऐसा न हो कि वह हम लोगों पर नाराज़ हों, और कहें कि "हमें ठीक समय पर क्यों नहीं जगाया।" उनके भाई ने उनके बिस्तरे के पास जाकर और भाई २ कहकर आवाज़ दी; परन्तु कई बार बुलाने पर भी उन्हें कोई उत्तर न मिला। फिर उन्होंने कुछ और ज़ोर के साथ उन्हें बुलाया और तब वह हठात् उठ बैठे। उनके उठने पर उनके भाई ने कहा कि "अब शाम होने वाली है, आप सन्ध्या कब करेंगे ?" मेरे दादा ने उत्तर दिया कि "यहां की सन्ध्या अब हो चुकी; अब वहां जाकर सन्ध्या होगी। तुम्हारे

पास हमारा जितना सोना[१] है उसमें से उतना सोना अपने ख़र्च के लिए रखलो कि जितना तुम्हारे और दूसरे नौकर के लिए द्वारिकाजी तक पहुंचने और वहां से फिर घर तक प्रत्यागमन करने के लिए आवश्यक हो, और जो कुछ बाक़ी रह जावे, वह मेरे मरने पर सब यहीं दान कर देना। इसमें धोखा न करना, नहीं तो तुम्हारे लिए अच्छा न होगा।" उनके भाई यह बात सुनकर कुछ समझ न सके और घबराकर बोले कि "भाई क्या कहते हो ?" उनके इस प्रश्न का करना था कि वह फिर चादर तानकर लेट गए। उन्होंने घबराकर और भाई २ कहकर फिर आवाज़ दी; परन्तु भाई अब कहां थे, वह तो बेहोश हो चुके थे; कुछ देर के बाद वह अपनी स्थूल देह को छोड़ गए। मेरे दादा ने प्रायः ७२ वर्ष की उमर में अर्थात् संवत् १८९७ वि० (सन् १८४० ई०) के लगभग अपने स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर ग्रहण किया।

उनके मरने पर उनके साथियों ने रोना पीटना आरम्भ किया। फिर उन्होंने उनके मृत शरीर को जलाकर और वहां पर कुछ थोड़ा बहुत दान करके, कुछ दिनों के अनन्तर वहां से द्वारिका को प्रस्थान किया। कुछ दिन वहां रहकर और "द्वारिकाधीश" के दर्शन करके वह लोग फिर घर को वापिस चले। ऐसा प्रतीत होता है, कि उन्होंने लालच के वश में पड़कर आवश्यकता से अधिक सोना अपने पास रख लिया और इसीलिए उसके हिस्से बांट में दोनों में झगड़ा हो गया—यहां तक कि एक ने दूसरे का साथ छोड़ दिया। मेरे दादा के भाई कुछ दूर आकर बीमार होगए, और वह भी इस बीमारी में कूच कर गए।

नाई का बयान था, कि मेरे दादा के उपरोक्त भाई ने उसे एक मुसाफ़िर की मारफ़त अपनी बीमारी की ख़बर भेजी थी, परन्तु उसके

---

[१] पहले समय में अब की न्याईं नोट न थे, उस समय बड़े २ सफ़रों में लोग रुपए के भार और विविध रजवाड़ों में से (कि जिनके सिक्के भिन्न २ होते थे) गुज़रते हुए रुपयों के तुड़ाने की कठिनता से बचने के लिए अपने साथ सोना ले जाया करते थे, और आवश्यकता होने पर उसी को बेचकर रुपया लेकर काम चलाया करते थे।

वहां पहुंचने से पहले ही वह मर चुके थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि बाक़ी कुल सोना इस नाई के हाथ लगा, क्योंकि जब वह वापिस आया था, तब उसकी शकल से यह मालूम होता था, कि वह ख़ूब खाता पीता आया था। अपने घर पहुंचने पर कुछ दिनों के बाद वह भी मर गया था।

६. मेरे दादा उद्भिद् भोजी और नाना नशों से परहेज़गार थे—वह मांस, मछली वा अण्डे आदि की क़िसम से कोई चीज़ नहीं खाते थे, और जहां तक मुझे मालूम हो सका है, वह भंग, तम्बाकू, अफ़ीम, चरस, गांजा और शराब आदि किसी नशेदार चीज़ का सेवन नहीं करते थे।

मेरी दादी

मेरी दादी सन् १७७१ ई० के लगभग उत्पन्न हुई होंगी। प्राय: ९७ वर्ष की उमर में अकबरपुर ज़िला कानपुर में उन्होंने अपनी स्थूल देह त्याग करके सूक्ष्म देह ग्रहण की थी।

मेरी दादी में भी पूजा विषयक कई भाव वर्तमान थे। वह जप करती थीं। वह कई एक व्रत भी रखती थीं। वह चैत्र और आश्विन मास के शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा से लेकर नवमी तक देवी का व्रत रक्खा करती थीं, और इन दिनों में शुचि होकर देवी की स्थापना के समीप अलग बैठी रहती थीं। इन दिनों में वह घर के किसी आदमी को स्पर्श न करती थीं। वह दैनिक पूजा के अनन्तर चौबीस घण्टे में केवल एक बार फलाहार किया करती थीं; अर्थात् इन दिनों में अनाज की रोटी वा दाल आदि न खाती थीं, और सिंघाड़े के आटे के हलवे वा उसकी रोटी आदि का व्यवहार करती थीं।

मेरी दादी का सीधा सादा स्वभाव था। वह किसी से लड़ना-भिड़ना पसन्द न करती थीं। वह किसी के सम्बन्ध में अपनी ओर से कोई वैरभाव न रखती थीं। उनमें किसी प्रकार का छल कपट न था। वह ईर्षा परायण भी न थीं। वह अपनी अपेक्षा किसी की अधिक प्रशंसा सुनकर वा किसी का कोई महत्त्व देखकर जलती कुढ़ती न थीं।

मेरे पिता

मेरे पिता सन् १८१७ ई० के लगभग युक्त प्रदेश में दौलतपुर जिला फ़तहपुर में उत्पन्न हुए थे। ५६ वर्ष की उमर में अकबरपुर जिला कानपुर में उन्होंने अपने स्थूल शरीर को छोड़कर अपना सूक्ष्म शरीर ग्रहण किया था।

१. **मेरे पिता का शरीर**—मेरे पिता का शरीर लम्बा और पतला था। चेहरा सुडौल था। आंखें सुन्दर थीं, और होंठ पतले थे। वह जवानी की उमर में वर्षों तक कई प्रकार के और व्यायामों के भिन्न, कुश्ती भी लड़ते रहे थे। वह अपने सिर और अपनी मूछों के बाल बहुत छोटे २ और अपनी दाढ़ी मुंडी हुई रखते थे।

२. **मेरे पिता की समझ और मानसिक शिक्षा**—मेरे पिता की समझ बहुत अच्छी थी। वह हिन्दी लिख पढ़ सकते थे। उसके भिन्न वह महाजनी अक्षरों में बहीखाते का हिसाब जानते और रखते थे। वह अपने पास कई प्रकार की हिन्दी पुस्तकें रखते थे। वह बहुत सुन्दर अक्षर लिखते थे।

३. **मेरे पिता में कविता के लिए आकर्षण**—मेरे पिता में कविता के लिए भी आकर्षण था और उन्होंने बहुत से दोहे और कवित्त आदि कंठस्थ किए हुए थे। वह कविता के कई ग्रन्थ भी अपने पास रखते थे, और उन्हें बीच २ में पढ़ते रहते थे।

४. **मेरे पिता में परिष्कारिता और परिपाटी विषयक बोध**—मेरे पिता में परिष्कारिता और परिपाटी विषयक भाव वर्तमान था। वह अपनी चीज़ों को बहुत साफ़ और परिपाटी के साथ रखते थे। मैंने घर छोड़ने के अनन्तर उन्हें जितनी चिट्ठियां लिखी थीं (जिनकी संख्या सैकड़ों की होगी) वह सब की सब उन्होंने अपने पास बहुत संभाल कर रक्खी हुई थीं, और मेरी प्रत्येक चिट्ठी वा उसके लिफ़ाफ़े पर उन्होंने उसके पहुंचने की तारीख़ आदि अपने हाथ से लिखी हुई थी। मुझे मालूम न था, कि यह सब चिट्ठियां उनके पास होंगी। उनके मरने के अनन्तर जब मैंने एक बार उनकी कोठड़ी में जाकर उनके एक

बस्ते को खोला, तब क्या देखता हूं, कि उसमें मेरी कुल चिट्ठियां सिलसिलेवार रक्खी हुई हैं। यह दृश्य देखकर मैं बहुत हैरान हो गया। इन चिट्ठियों में से कुछ चिट्ठियां अबतक मेरे पास हैं।

५. मेरे पिता में साहस—मेरे पिता अच्छे बलिष्ठ और साहसी थे। वह सिपाहियाना चुस्त पोशाक को बहुत पसन्द करते थे। वह सन् १८५७ ई० से पहले अपने पास तलवार और बन्दूक़ आदि की क़िसम से कई प्रकार के हथियार रखते थे, और उनका भलीभान्त व्यवहार कर सकते थे। उनकी साहस विषयक कई घटनाओं में से एक घटना यह है, कि वह एक बार जब दौलतपुर में थे, तब वहां से वह घोड़े पर सवार होकर तीन कोस के फ़ासले पर गंगा-स्नान के लिए गए हुए थे। वहां से वापिस होकर जब वह घर को आ रहे थे, तब एक यूरोपियन उनके सामने से अपनी बग्घी दौड़ाए हुए जा रहा था। वह जब इनके पास से गुज़रा, तब उसने अपनी दुष्टता से इनके एक चाबुक मारा, और अपने घोड़े को भगाकर आगे निकल गया। मेरे पिता ने फ़ौरन अपने घोड़े को मोड़कर और उसे ज़ोर से भगाकर उसका पीछा किया, और उसके समीप पहुंचकर अपनी तरफ़ से भी एक वा दो कोड़े उस पर लगा दिए, और फिर अपने घोड़े को दौड़ाकर घर को वापिस चले गए।

६. मेरे पिता में हितकर पशुओं के रखने का भाव—मेरे पिता को पशुओं के रखने का बहुत शौक़ था। वह दूध देने वाले पशुओं अर्थात् गाय और भैंस के भिन्न अपनी सवारी के लिए भी अकसर कोई घोड़ा वा घोड़ी रखते थे। घोड़े पर चढ़ने का उन्हें बहुत अभ्यास था, और वह बहुत अच्छे सवार थे।

७. मेरे पिता में पूजन पाठ और जप आदि साधन का भाव—मेरे पिता अपने घर में शालग्राम शिला और अन्य धातु निर्मित कई देवतों की छोटी २ मूर्तियां अपने घर में रखते थे, और उनकी प्रतिदिन पूजा करते थे। यह ठाकुरों की पूजा कहलाती थी। इस दैनिक पूजा के भिन्न मेरे पिता गुरु-मंत्र अथवा राम नाम का जप करते थे। तुलसी की माला रखते थे। एकादशी और कृष्ण जन्माष्टमी का व्रत करते थे। घर के एक छोटे से

आले में हनुमानजी की मूर्ति थी; उस पर जल आदि चढ़ाते थे और हनुमत स्तोत्र का पाठ करते थे। स्नान करते समय वह गंगा आदि के सम्बन्ध में कई प्रकार के स्तोत्र पढ़ा करते थे।

८. मेरे पिता में अपने पितरों के सम्बन्ध में तर्पण और श्राद्ध का भाव—मेरे पिता आश्विन के महीने में अपने मृत पूर्वजों के सम्बन्ध में हिन्दू विधि के अनुसार तर्पण और श्राद्ध के भिन्न पिण्ड दानादि भी करते थे।

९. **मेरे पिता में दान का भाव**—वह अनेक वार भाद्र मास में हनुमानजी के रोट के नाम से बहुत सा आटा, घी और गुड़ आदि ब्राह्मणों को दान करते थे।

१०. मेरे पिता में क्षमा का भाव—मुझे अपनी वस्ती के सरकारी स्कूल में भरती हुए थोड़े ही दिन हुए थे, कि सन् १८५७ ई० का स्मरणीय सिपाही विद्रोह अर्थात् ग़दर उत्पन्न हो गया। मेरठ की छावनी में पूरबियों की एक अंग्रेज़ी फ़ौज बाग़ी हो गई। इस ख़बर के निकलते ही कुछ पठान लोग, जिनकी उन्हीं गांव में ज़मींदारी थी कि जिनमें मेरे पिता की थी, और जो मेरे पिता से वैर भाव रखते थे, बहुत से आदमी लेकर और हथियार बांधकर जिस गांव के डेरे में मेरे पिता ने बहुत सा अनाज भरा हुआ था, और जहां वह अपने लेन देन के सम्बन्ध में कई क़िसम के काग़ज़ात भी रखते थे, उस पर चढ़ आए, और हमारा सैकड़ों मन अनाज और अन्य असबाब जो कुछ उनके हाथ आया, वह लूट कर ले गए।

प्राय: सात आठ महीने तक यह महाभयानक अराजकता जारी रही, और उस समय में किसी राज्य के न रहने से, सैकड़ों भलेमान्सों ने नाना प्रकार की हानियां उठाईं। इसके अनन्तर अंग्रेज़ी राज्य फिर स्थापित हुआ, और मेरी अपनी बस्ती में हि कितने हि बदमाशों को पकड़कर फांसी दी गई। जिन पठानों ने हमारे डेरे को लूटा था, उन्हें भी बहुत डर पैदा हुआ; इसलिए उन्होंने मेरे पिता के पास आकर और कुछ माल वापिस देकर उनसे अपने अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना की। मेरे पिता ने उनके

इस बड़े अपराध को माफ़ कर दिया।

११. मेरे पिता में संचय और मितव्यता का भाव—मेरे पिता में मितव्यता का भाव था ; अर्थात् वह बहुत किफ़ायत शुआर थे। वह अपनी सब चीज़ों को बहुत संभाल कर रखते थे, और किसी चीज़ के प्रति असावधान होकर उसे ख़राब होने नहीं देते थे। वह जहां तक सम्भव हो अपनी आमदनी की अपेक्षा अपना ख़र्च सदा कम रखते थे, और किसी विशेष आवश्यकता के भिन्न क़र्ज़ लेना कभी पसन्द न करते थे।

१२. मेरे पिता में मांसाहार और कई प्रकार के नशों से निवृत्ति का भाव—मेरे पिता अपने कई पूर्वजों की न्याई उद्भिद् भोजी थे, और हुक्क़े, शराब, गांजे और चर्स के सेवन से सर्वथा बचे हुए थे।

मेरी माता

मेरी माता एक अच्छे वंश की लड़की थीं। उनके माता पिता दौलतपुर के समीप मूसापुर नामक एक गांव में रहते थे। उनके ताया सरकारी फ़ौज में सूबेदार मेजर थे। उनके घर में खेती का काम होता था। उनके तीन भाई थे। सन् १८२१ ई० के लगभग मेरी माता का जन्म हुआ। वह बहुत मज़बूत और अच्छा डील डौल रखती थीं। वह लिखना पढ़ना कुछ नहीं जानती थीं। उनमें छूतछात का भाव अत्यन्त अधिक था। वह प्रतिदिन साधारण स्नान के भिन्न जब कभी और जितनी बार पाख़ाने जाती थीं, उतनी ही बार सिर से स्नान किया करती थीं। वह तुलसी आदि की प्रति दिन पूजा किया करती थीं। वह कार्तिक मास में विशेष रूप से तुलसी का पूजन करती थीं। वह कई प्रकार के व्रत भी रखती थीं। वह भाद्र वदि तीज के दिन अपने पति के मंगल के निमित्त पार्वती का व्रत करती थीं, और उसमें सारा दिन और सारी रात केवल यही नहीं, कि कुछ भोजन न करती थीं, किन्तु एक बूंद जल तक भी न पीती थीं, और अगले दिन भी स्नान और उद्यापन के अनन्तर आप भोजन बनाकर आहार करती थीं। इन व्रतों के भिन्न वह अपनी सास के मर जाने के अनन्तर, उनकी इच्छा और कुल की प्रथा के अनुसार वर्ष में दो बार अर्थात् चैत्र और आश्विन के

महीने में आठ दिन तक देवी का व्रत रखती थीं, और उसे मेरी दादी की न्याईं पूरा करती थीं।

वह प्रतिदिन स्नान करके तुलसी आदि का पूजन करने के भिन्न गुरुमंत्र का भी जाप किया करती थीं। मेरी मां में दृढ़ता का भाव बहुत प्रबल था। वह एक बार जिस बात को ठीक विश्वास कर के ग्रहण करतीं, उसे फिर कदापि त्याग न करतीं, और इस दशा में उन्हें चाहे कैसा ही कष्ट वा दुःख मिले, परन्तु वह अपने उस साधन से विमुख न होतीं।

वह अपनी वंशीय वा अन्य स्त्रियों से बहुत अधिक मेलजोल न रखतीं थीं। वह प्रायः अलग-थलग रहना पसन्द करती थीं।

मेरी माता अत्यन्त सादा स्वभाव रखती थीं। उनमें अपने बनाव सिंगार, सुन्दर वस्त्र और ज़ेवर आदि पहनने के लिए कोई विशेष आकर्षण न था।

मेरी माता भी उद्भिद् भोजी थीं, और वह सब प्रकार के नशों से भी विरत थीं।

मेरी माता ने मेरे देवजीवन के विकाश में अपनी ओर से कभी कोई रोक नहीं डाली। उन्होंने समय २ में मुझे उस काल की नाना प्रचलित कुप्रथाओं वा मिथ्या धर्म्म मतों को त्याग करता हुआ देखकर भी मेरे साथ, किसी प्रकार का कोई झगड़ा नहीं किया, और किसी प्रकार के कलह आदि के द्वारा मुझे कभी कोई कष्ट नहीं दिया।

मेरी माता अक्तूबर १८८५ ई० में अतिसार रोग से पीड़ित हुईं। उन्हें दस्त पर दस्त आते थे, परन्तु वह अपने दृढ़ संकल्प के अनुसार प्रत्येक दस्त के बाद लगातार स्नान करती थीं। उनका यह रोग बढ़ता गया, और वह लगातार दुर्बल होती गईं। इसी रोग के कारण उन्होंने प्रायः ६४ वर्ष की वयस में अपना स्थूल शरीर छोड़कर सूक्ष्म शरीर ग्रहण किया।

ऊपर मैंने अपने जिन पूर्वजों का हाल लिखा है, उनमें से मैंने अपने दादा वा पड़दादा आदि किसी पहले पूर्वज को नहीं देखा, क्योंकि वह सब मेरे जन्म लेने से पहले ही मर चुके थे। मैंने अपनी दादी को अवश्य कई वर्षों तक देखा था। उनके भिन्न मुझे अपने माता, पिता, ताया

और ताए के पुत्रों को भी वर्षों तक देखने का अवसर मिला था।

मुझे अपने पड़दादा, पड़दादी और उनसे ऊपर के पूर्वजों के आत्मिक जीवन वा उनके सत् वा असत् गुणों के विषय में कोई ज्ञान नहीं। मैं उनमें से किसी के विषय में किसी और से भी कोई ज्ञान लाभ नहीं कर सका। इसलिए उनमें से किस २ ने कहां २ तक मेरे आत्मा की गठन में किसी प्रकार का भाग लिया है, उसके विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता। किसी आत्मा की गठन में क्या उसकी मानसिक शक्तियों और क्या विविध प्रकार की भाव शक्तियों के प्रगट होने में उसके पहले पूर्वजों का कितना २ और किस २ प्रकार का भाग होता वा हो सकता है, इस महा तत्त्व के ज्ञान के सम्बन्ध में अब तक इस समय का विज्ञान भी कोई सर्वथा विवाद रहित और ठीक २ नियम बताने के योग्य नहीं हुआ। फिर भी मुझे अपने दादा, दादी, पिता, माता के आत्माओं के सम्बन्ध में जितनी कुछ अवगति मिली है, और इस विषय में विचार करने के लिए जहां तक मेरे लिए मार्ग खुला है, वहां तक विचार करने से मुझे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि

(१) मेरे आत्मा में अपनी सब प्रकार की वासनिक शक्तियों से ऊपर और उन सबसे बढ़कर **आत्म-हित** का जो **महाप्रबल** भाव प्रगट हुआ, और मेरे आत्मा में गृहस्थआश्रम और नाना प्रकार के अन्य सब सम्बन्धियों में रहकर, उनके साथ वासना विषयक सब प्रकार के हानिकारक बन्धनों से रहित होने की जो योग्यता आई,

(२) मेरे आत्मा में अर्चन, स्तोत्र पाठ, जप, प्रार्थना और व्रत आदि साधन विषयक जो २ भाव प्रगट हुए,

(३) मेरे आत्मा में सरल भाव, दया भाव, क्षमा भाव, परिष्कारिता भाव, परिपाटी भाव, संचय भाव, मितव्यता भाव, संयम भाव, सौन्दर्य और संगीत के प्रति आकर्षण भाव, बड़ों के प्रति सन्मान भाव, कई सात्विक गुणों के प्रति श्रद्धा भाव, और मांस और मादक द्रव्यों के प्रति विकर्षण भाव आदि की जो उत्पत्ति हुई,

(४) मुझे स्मृति, कल्पना, समझ, विचार और तर्क आदि विषयक जो २ मानसिक शक्तियां मिलीं,

(५) मुझे जिस डील डौल का और जिन २ और जिस २ प्रकार के नाना अंगों से संयुक्त स्थूल शरीर मिला,

(६) मेरे आत्मा में ईर्षा, द्वेष, घमंड आदि जिन महा हानिकारक निकृष्ट भावों का प्रकाश नहीं हुआ,

उन सब की उत्पत्ति और अनोत्पत्ति में अधिकांश रूप में मेरे दादा के आत्मा ने और उनके अनन्तर कुछ असाक्षात् रूप से मेरी दादी ने और उनसे बहुत अधिक साक्षात् रूप से मेरे पिता माता ने भाग लिया है।

परन्तु उपरोक्त सब प्रकार के हितकर भावों से ऊपर मेरे आत्मा में सत्य और हित विषयक सर्वांग अनुराग और मिथ्या और अहित विषयक सर्वांग विराग भावों से सम्पन्न जिन पूर्णतः निराली **देव-शक्तियों** का बीज रूप में प्रकाश हुआ, उनका नेचर के नियमानुसार मुझमें कैसे आविर्भाव हुआ, उसके विषय में मैं अब तक भी ठीक २ कुछ नहीं बता सकता। परन्तु नेचर के परिवर्तन विषयक अटल कार्य के सम्बन्ध में मैं इस तत्त्व को अवश्य जानता हूं, कि जब किसी नर के शरीर से एक विशेष जीवित "सेल" निकल कर किसी नारी के एक विशेष सेल में परस्पर के आकर्षण से प्रवेश करता है, तब उन दोनों के इस परस्पर मेल से नारी के गर्भाशय में एक पूर्णतः **नया सेल** बन जाता है, और उन दोनों के मेल से उनकी पहली दोनों जीवनी शक्तियां भी बदल कर **एक नई कार्यकारी जीवनीशक्ति** बन जाती है; और यही परिवर्तित परन्तु **एक जीवनीशक्ति** नारी के गर्भाशय में एक नए मनुष्य के अस्तित्व को विकशित करती है। नेचर के परिवर्तनकारी अटल नियम के अनुसार नारी के गर्भाशय में नर और नारी के दो अलग २ "सेलों" के सम्मिलन से जो **एक नई सेल** और उसमें **एक नई जीवनी** बनती है, उस जीवनी में उन दोनों की वासना, उत्तेजना और अहं आदि भाव शक्तियां और अन्य बुद्धि, स्मृति, कल्पना आदि मानसिक शक्तियां भी अपनी **पूर्ण वा अपूर्ण संख्या** और **अपने पूर्ण वा**

अपूर्ण गुणों वा बल के साथ वीज रूप में जन्म लेती हैं, और उनके भिन्न उसमें उनके किसी एक वा दूसरे पूर्वज की एक वा दूसरी शक्ति (जो मां बाप के अस्तित्व में गुप्त परन्तु अविकशित पड़ी रही हो) बीज रूप में प्रगट होती है, और कभी २ उपरोक्त शक्तियों के भिन्न उसके भीतर की एक वा दूसरी शक्ति के परस्पर आकर्षण और मेल से **कोई २ पूर्णतः नई शक्ति** भी वीज रूप में ही उत्पन्न हो जाती है; और वह नई शक्ति जब अपने उन्नत रूप में प्रगट होने का अवसर पाती है, तब उसके लक्षणों से साफ़ मालूम होता है, कि वह उससे पहले क्या उसके माता पिता में और क्या उसके किसी और पूर्वज में कभी प्रगट नहीं हुई थी। नेचर में उसके **परिवर्तनकारी अटल नियम** के अनुसार उसके प्रत्येक जगत् में प्रति महूर्त परिवर्तन विषयक जो २ कार्य हो रहा है, उसकी **विकाशकारी गतियों** में जैसे एक ओर अपेक्षाकृत कुछ श्रेष्ठ और फिर उससे कुछ अधिक श्रेष्ठ, और उससे भी कुछ अधिक श्रेष्ठ विकाश प्राप्त जीवों की उत्पत्ति का होना अनिवार्य रहा है, वैसे हि दूसरी ओर उसकी विनाशकारी गतियों में एक वा दूसरे प्रकार के अयोग्य जीवों का पहले की अपेक्षा कुछ अश्रेष्ठ और फिर उससे कुछ और अधिक अश्रेष्ठ और फिर उससे भी कुछ और अधिक अश्रेष्ठ बनना और इसी प्रकार पतन को प्राप्त होते २ अपने पहले आकार और गुणों के विचार से पूर्णतः मिट जाना वा नष्ट हो जाना भी अनिवार्य रहा है। नेचर में यह विकाश और विनाश का कार्य सदा होता रहता है।

नेचर के इसी अटल नियम को सन्मुख रखकर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है, कि मेरी माता के गर्भाशय में जब उनकी एक विशेष सेल के साथ मेरे पिता की एक विशेष सेल का सम्मिलन हुआ, और उस सम्मिलन से एक नई सेल और उसमें एक नए प्रकार की जीवनी बनी, तब इस नई जीवनी में जैसे मेरे पिता माता के भिन्न मेरे दादा की वह सब अति मूल्यवान् शक्तियां बीज रूप में आईं कि जिनका मैंने उपर उल्लेख किया है, वैसे ही मेरी इसी जीवनी में कुछ विशेष

परिवर्तन-प्राप्त उच्च शक्तियों के परस्पर आकर्षण और मेल से वह उपरोक्त **देव शक्तियां बीज रूप में उत्पन्न हो गईं**, कि जो मुझसे पहले केवल यही नहीं, कि मेरे किसी वंशीय पूर्वज किन्तु मनुष्य जगत् के किसी मनुष्य में उत्पन्न नहीं हुई थीं। क्योंकि मातृ गर्भ में एक सीमा तक बन चुकने के अनन्तर जब उससे बाहर आने पर मेरे अस्तित्व का और विकाश आरम्भ हुआ, तब समय के साथ २ मेरी इन बीज रूपी **देव शक्तियों** ने जिस प्रकार से विकाश लाभ किया, और धीरे २ विकशित होकर उन्होंने अपने **लक्षणों** की जो २ विशेषता दिखाई और उनके यथेष्ट विकाश के अनन्तर मेरे आत्मा में

(१) जो आत्मरूप प्रकाशक पूर्णतः नई और सर्वोच्च देवज्योति प्रगट हुई,

(२) उसके उत्पन्न हो जाने पर मैंने आत्मा और आत्मिक जीवन के सम्बन्ध में जो २ तत्त्व और सत्य देखे और प्रगट किए,

(३) पूर्णतः एक नए और सर्वोच्च देव तेज के उत्पन्न और उन्नत होने पर उसके द्वारा शत २ आत्माओं में जिस २ प्रकार का अति आश्चर्यजनक परिवर्तन उत्पन्न हुआ, और

(४) मैंने आत्मा और आत्मिक जीवन विषयक सत्य ज्ञान को लाभ करके, मनुष्य मात्र के लिए विज्ञान सम्मत जिस सत्य धर्म्म, सत्य मोक्ष, सत्य उपास्य, सत्य उपासना वा पूजा और विश्व के सब अजीवित और जीवित जगतों के सम्बन्ध में धर्म्म साधन की जो २ शिक्षा दी,

वह सब ऐसी विशेषताएं हैं, कि जिनका मनुष्य जगत् के इतिहास में किसी भी मनुष्यात्मा में कोई निशान नहीं मिलता। तब इस पृथिवी में क्या प्रारम्भिक जीवनीशक्ति और क्या उसके अनन्तर गठन प्राप्त परन्तु सबसे निम्न श्रेणी अर्थात् एक २ सेल के जीवित अस्तित्वों के प्रगट होने के काल से लेकर, नेचर के लाखों वर्षों के लगातार विकाश कार्य के अनन्तर जिस देश, जिस जाति, जिस वंश और जिस परिवार में उपरोक्त देव शक्तियों से सम्पन्न जिस **"देवात्मा"** का आविर्भाव

हुआ, उसकी और सब देशों, और सब जातियों, और सब वंशों और सब परिवारों की तुलना में जैसी कुछ महिमा और विशेषता है, उसका इस तत्त्व के समझने वाले विचारशील लोग अपनी २ योग्यता के अनुसार अनुमान कर सकते हैं।

जैसे काल में पीछे की ओर जाते २ हमें एक ऐसा काल मिलता है जब कि हमारी यह पृथिवी न थी; और उसका जन्म दाता, रक्षा और उन्नति कर्ता, भौतिक ज्योति और तेज का अति ऐश्वर्यवान भंडार **सूर्य्य** भी न था; और वह अपने इस रूप में विकशित होने से पहले "नेबुला" अर्थात् कुछ धूएं की सी शकल के जड़ रूप में वर्तमान था, और फिर वह उस रूप में लाखों वर्षों के लगातार परिवर्तन के अनन्तर एक विशेष काल में एक **ज्योतिर्मय और तेजोमय महान् सूर्य्य** के रूप में प्रगट हुआ, और उसके इस रूप में प्रगट होने का काल विश्व के परिवर्तन विषयक इतिहास में **एक विशेष काल था,** क्योंकि उसके प्रगट होने पर ही अन्य कई ग्रहों के भिन्न हमारी **पृथिवी का आविर्भाव** और फिर हमारी पृथिवी के प्रगट हो चुकने पर अनुकूल समय के आने पर उसमें **उद्भिद् और पशु नामधारी लाखों जीवों** और फिर उनके अनन्तर **मनुष्य नामधारी करोड़ों रूप के जीवों का** प्रगट होना निर्भर करता था; और उसके बिना इन सब का उत्पन्न वा प्रगट होना पूर्णतः असम्भव था, वैसे हि **भौतिक सूर्य्य** को प्रगट करने के अनन्तर नेचर का मनुष्य नामधारी करोड़ों जीवों में से जिस २ में जब और जहां तक विकाश सम्भव था, उसमें तब और वहां तक विकाश लाकर मनुष्य समूह के एक विशेष वंश और उस विशेष वंश के एक विशेष परिवार में मनुष्य जगत् के उस **विशेष भावी विकाश के निमित्त** कि जो केवल **देवात्मा की ही देव शक्तियों के द्वारा आ सकता** था, **देवात्मा को आविर्भूत करना,** मनुष्य जगत् के इतिहास में **निश्चय एक ऐसी विशेष और विचित्र घटना** है, कि जिसकी महिमा को मनुष्य जगत् के केवल वह लोग धीरे २ अल्पाधिक देखने और उपलब्ध करने के योग्य होंगे जो नेचर के विकाश क्रम में उन्नत होने पर उसके देखने के लिए आवश्यक ज्योति लाभ करेंगे।

छठा परिच्छेद

मेरे मिथ्या विश्वास और मुझ पर उनके प्रभाव

[१६ वर्ष की वयस तक]

इस पुस्तक के पहले परिच्छेद में, मैं हितअनुराग-मूलक उन नाना देव भावों का वर्णन कर चुका हूं, कि जो मुझ में १६ वर्ष की वयस तक विकशित हुए थे। उनके भिन्न यद्यपि सत्य के प्रति आकर्षण और मिथ्या के प्रति विकर्षण उत्पादक जिन और उन्नतशील देव भावों की मुझे अद्वितीय शक्तियां मिली थीं, वह वीज रूप में मेरे आत्मा में वर्तमान थीं; तथापि उनके प्रस्फुटित होने के लिए मुझे जिस प्रकार की अनुकूल वेष्ठणी के मिलने की आवश्यकता थी, वह मुझे अपने जन्म स्थान में न केवल १६ वर्ष की वयस तक, किन्तु उसके अनन्तर किसी अन्य स्थान में भी उसके कई वर्ष बाद तक भी प्राप्त नहीं हुई। इसलिए अकबरपुर में रहने के दिनों में मुझ में उपरोक्त प्रकार की देव-शक्तियां कुछ भी विकशित न हो सकीं। इसलिए मैं उस काल में और लाखों लड़कों की न्याईं निम्न बोध विषयक थोड़ी सी साधारण बातों को अपने आप ठीक अनुभव करने के भिन्न अन्य नाना प्रकार की ऐसी मिथ्या बातों पर धीरे २ विश्वास करने लगा था, कि जिन पर मेरे पिता माता आदि निकट के सम्बन्धी और मेरे चारों ओर के और लोग विश्वास करते थे, और जिन्हें वह सत्य कहकर मेरे सन्मुख वर्णन और उनमें से एक वा दूसरे ऐसे विश्वास के अनुसार मेरे सन्मुख अपनी एक वा दूसरी क्रिया भी करते थे। इस दशा में मेरे भीतर जिस २ प्रकार के मिथ्या विश्वास उत्पन्न हुए, उनके कुछ दृष्टान्त यह हैं :—

१. नाना देवी देवतों पर मिथ्या विश्वास—मैं इस काल में नाना देवी देवतों के अस्तित्व पर विश्वास करता था। देवतों में से विष्णु वा

ईश्वर नामक एक देवता को मैं सब से बड़ा और राम और कृष्ण आदि मनुष्यों को उस बड़े देवता का अवतार मानता था।

२. असम्भव बातों पर मिथ्या विश्वास—

(१) मैं उस काल में यह विश्वास करता था कि हनुमान नामक राम के एक भक्त बन्दर लंका को जाते हुए समुद्र को फलांग गए थे।

(२) हनुमानजी आकाश में उड़ सकते थे, और वह राम के भाई लक्ष्मण की दवाई के लिए सैकड़ों मील से एक ऐसे पहाड़ को उठाकर और उड़कर ले आए थे, कि जिसमें उस दवा की बूटी थी।

(३) किसी ऋषि के शाप से एक स्त्री शिला (पत्थर) बन गई थी; और वह रामचन्द्र के पद स्पर्श से फिर पहले की न्याईं स्त्री बन गई थी।

(४) लंका के राजा रावण के दस सिर थे और इसीलिए उसका "दशानन" नाम भी था।

(५) कृष्णजी ने एक बार गोवर्धन नामी एक पर्वत को उठाकर अपनी एक अंगुली पर धारण कर लिया था।

(६) कृष्णजी के पिता वसुदेवजी, जब उन्हें कंस के हाथ से मृत्यु से बचाने के लिए, रात के समय, अपनी गोद में लिये हुए मथुरा से गोकुल को जा रहे थे, तब रास्ते में यमुना नदी में से जाते हुए पहले पहल वह नदी कृष्णजी के पद स्पर्श करने के लिए ऊंची होती गई, और फिर उनके पद को स्पर्श करके इतनी नीची हो गई कि जिससे वसुदेवजी अनायास उससे पार हो गए।

(७) ब्राह्मण लोग पहले जिस पशु को वध करके उसका मांस खा लेते थे, उसी की हड्डियों को फिर इकट्ठा करके और कोई मंत्र पढ़कर जब उन पर पानी का एक छींटा मारते थे, तब उस मंत्र के बल से उन मुर्दा हड्डियों से

पहले की न्याईं वही जीवित पशु बना देते थे ।

(८) देवतों, ऋषियों और राक्षसों में ऐसी सामर्थ्य थी कि वह अपने अस्तित्व को जितना चाहें, छोटा वा बड़ा, हल्का वा भारी कर सकते थे, और जिस किसी मनुष्य वा पशु आदि के रूप में उसे बदल देने की इच्छा करते, उसी समय वह उसे उस रूप में बदल लेते थे; और ऋषि लोग किसी मनुष्य को अपना शाप देकर उसे किसी पशु वा वृक्ष वा पत्थर के रूप में भी बदल सकते थे।

३. सांसारिक कामनाओं को सिद्धि के विषय में मिथ्या विश्वास—राम नाम वा किसी अन्य मंत्र के जप वा किसी देवी देवता की भेंट वा पूजा से मनुष्य अपनी एक वा दूसरी कामना को सिद्ध कर सकता है, अर्थात् वह अपने किसी रोग से निवृत्ति, वा सन्तान वा धन वा अपने किसी विरोधी वा शत्रु पर जय आदि लाभ कर सकता है ।

४. पापों से मोक्ष के विषय में मिथ्या विश्वास—

(१) गंगा आदि कई नदियों और अन्य कुंडों आदि में स्नान अथवा नाना तीर्थ स्थानों में जाकर वहां के विविध देवी देवतों की मूर्तियों के दर्शन आदि करने से पाप नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् उनके बुरे फलों से मनुष्य को मोक्ष मिल जाती है ।

(२) राम नाम के जप से—यहां तक कि यदि भूल से भी किसी मुमूर्षु के मुंह से राम का शब्द निकल जाय—मनुष्य के सब पाप क्षमा हो जाते हैं, और उनके बुरे फलों से उसे मोक्ष मिल जाती है, और वह वैकुंठ वा स्वर्ग वा विष्णु वा गोलोक को चला जाता है ।

५. खान पान के विषय में मिथ्या विश्वास—कान्यकुब्ज ब्राह्मण यदि अपने वंश के विशेष सम्बन्धियों के भिन्न किसी और कान्यकुब्ज वा किसी और कुल के ब्राह्मण के हाथ की भी पकी हुई रोटी, दाल, भाजी वा पूरी, वा कचौरी वा उसकी बनाई हुई जलेबी वा उसका बनाया

हुआ बालूशाही वा बेसन आदि का कोई लड्डू खाले, तो वह धर्म्म से भ्रष्ट और इसीलिए पतित हो जाता है।

६. मिथ्या का आश्रय लेने के विषय में मिथ्या विश्वास—मनुष्य के लिए उचित है, कि वह अपनी किसी विपद वा हानि आदि से रक्षा पाने वा अपने किसी अन्य अभीष्ट की सिद्धि के लिए एक वा दूसरे समय मिथ्या का आश्रय ले, और किसी ऐसे समय में अपने किसी सम्बन्धी वा मित्र की भी मिथ्या के द्वारा सहाय करे।

उपरोक्त सब प्रकार के मिथ्या विश्वासों में पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें प्रकार के मिथ्या विश्वासों को रखकर उनके कारण से मेरे द्वारा किसी अन्य मनुष्य वा पशु आदि को कोई हानि नहीं पहुंची।

छठे प्रकार अर्थात् मिथ्या का आश्रय लेने के सम्बन्ध में भी इस विश्वास का मुझ पर नाम मात्र हानिकारक असर हुआ, क्योंकि मेरे हृदय में बाल्य काल से ही परहित विषयक जो २ भाव जाग चुके थे, उनके वर्तमान होने से मेरा किसी मिथ्या वा प्रवंचना मूलक क्रिया के द्वारा किसी को हानि पहुंचाकर अपना कोई अभीष्ट सिद्ध करना मेरे स्वभाव के ही विरुद्ध हो चुका था। परन्तु यह मुझे याद आता है, कि एक बार एक ऐसे अवसर पर कि जिसमें यद्यपि किसी और की कोई हानि न थी, तब भी मैंने अपने अभीष्ट के लिए अपनी उमर कुछ ग़लत बताई थी। यह वह अवसर था, जबकि मैं रुड़की कालेज की प्रवेशिका विषयक परीक्षा में पास होकर उसमें दाख़िल होने के लिए रुड़की गया था। मेरी उस समय प्रायः सोलह वर्ष की उमर थी; परन्तु वहां पर इस विषय में यद्यपि उन दिनों यह नियम था, कि उस कालेज में जो लड़के दाख़िल हों, उनकी उमर १८ से कम और शायद बाईस वा चौबीस साल से ज़्यादह न हो, तथापि उस पर साधारणतः कोई अमल नहीं होता था। इसीलिए जब मैं खुद उस कालेज में दाख़िल होने के लिए गया, तब उसी साल मेरे साथ जो और बहुत से लड़के दाख़िल हुए थे, उनमें से कितने ही लड़के आख़री नियत उमर से कई २ साल बड़ी

उमर के थे—यहां तक कि एक मुसलमान जवान तीस वर्ष की उमर से भी अधिक वयस का था। फिर वहां पर मेरी उमर के विषय में किसी डाक्टर के द्वारा कोई परीक्षा नहीं कराई गई, और न मुझ से कोई डाक्टरी सार्टीफ़िकेट मांगा गया—सिर्फ़ हेडमास्टर ने मुझ से मेरी उमर पूछी और वह मेरे बताने के अनुसार उसने अपने रजिस्टर में लिख ली, कि जो शायद मैंने उन्नीस साल की बताई थी। परन्तु मेरे पास होने के विषय में रुड़की कालेज के प्रिन्सीपल की ओर से मेरे ज़िले के स्कूलों के डिपटी इन्स्पेक्टर के पास जो सूचना भेजी गई थी, वह उसने मेरे पास नियत समय से कई हफ़्ते देरी करके भेजी। इसलिए मैं वहां पर प्रायः एक महीने की देरी करके पहुंचा था। इतनी देर के बाद मेरे वहां पहुंचने पर हेड मास्टर ने प्रिन्सीपल के पास जाकर उनसे इस विषय में हुकम लेने के लिए कि उन्हें मुझे ऐसी सूरत में कालेज में लेना चाहिए वा नहीं, जब मेरे पहुंचने की ख़बर की, और उसके साथ ही उन्होंने उनसे यह भी कहा कि देरी से आने के भिन्न यह लड़का उमर में भी छोटा मालूम होता है; इस पर जब प्रिन्सीपल ने उनसे यह पूछा कि क्या इतनी दूर के ज़िले से अब तक कोई और लड़का हमारे कालेज में दाखिल हुआ है, तब उन्होंने कहा, नहीं, यह पहला ही लड़का है जो इतनी दूर के ज़िले से यहां आया है; जिस पर उन्होंने आज्ञा दी कि तुम उस लड़के को दाख़िल करलो। वह अभी प्रायः दो साल तक यहां पढ़ेगा और तब तक जवान हो जाएगा। इस फ़ैसले के अनुसार हेड-मास्टर ने मुझे कालेज में दाख़िल कर लिया।

७. नशों के विषय में मिथ्या विश्वास—अपनी रुचि के अनुसार मेरे वंश के लोगों के भिन्न अन्य और लाखों जनों में भंग पीना, भंग की माजून खाना, अफ़ीम खाना, तम्बाकू चबाकर खाना अनुचित नहीं समझा जाता था, यहां तक कि विष्णु और शिव देवतों के मन्दिरों में भी उनके बहुत से पुजारी वा अन्य लोग भंग रगड़ कर केवल यही नहीं, कि आप पीते थे, किन्तु शिवजी के भक्त तो उसका पीना उनकी प्रसन्नता का कारण मानते थे; और शिवजी की मूर्ति पर भंग और धतूरे आदि

की भेंट चढ़ाते थे। मेरे वंश में यद्यपि तम्बाकू और शराब पीने का रिवाज न था, और उनका सेवन बुरा समझा जाता था; परन्तु मेरी बस्ती के और सैकड़ों जनों में उनका सेवन भी उचित समझा जाता था। मुझ में अपने वंश की प्रथा के अनुसार यद्यपि तम्बाकू और शराब के पीने के सम्बन्ध में घृणा वर्तमान थी तथापि भंग के सम्बन्ध में कोई घृणा न थी।

सातवें प्रकार के इस मिथ्या विश्वास का भी मुझ पर नाम मात्र असर हुआ; क्योंकि मेरे हृदय में किसी नशेदार चीज़ के लिए स्वभावतः कोई आकर्षण न था। फिर भी जहां तक मुझे स्मरण होता है, मैंने इस काल में शायद चार पांच बार भंग पी होगी, और शायद तीन चार बार भंग की कुछ माजून भी खाई होगी। एक बार जब मेरी उमर प्रायः छै साल की थी, तब मेरे घर में एक वैष्णव "साधु" ठहरा हुआ था। उसने एक दिन दूधिया भंग तैयार की। मैं उसके पास बैठा हुआ था। उसने उसमें से कुछ भंग मुझे भी पिला दी, जिसके नशे से मैं थोड़ी देर में ही बहुत बेहोश हो गया। मेरे पिता और ताया को इस बात की ख़बर हुई। मेरे ताया ने उस साधु को बुलाकर ख़ूब ताड़ा और कहा कि तुम ने इस छोटे से बच्चे को इतनी भंग पिला कर उसका कैसा बुरा हाल कर दिया, और यदि उसके नशे से यह बच्चा मर जाए, तो तुम्हारा क्या हाल हो ? इस प्रकार से उसे झाड़ कर उन्होंने घर से बाहर निकाल दिया। मैं कई घण्टे के बाद होश में आया और मेरी जान बच गई।

८. जुआ खेलने के विषय में मिथ्या विश्वास—कई प्रकार के और खेलों के भिन्न उस काल में कितने ही लोगों में जुआ खेलना भी अनुचित नहीं समझा जाता था; जैसा कि अब तक और देसी जनों को छोड़कर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के कितने ही बड़े २ अफ़सर तक इस देश में कई प्रकार का जुआ खेलते हैं, और एक वा दूसरे सूबे के गवर्नर तक किसी पब्लिक भलाई के काम के लिए "लाटरी" और "लकीबैग" आदि के नाम से जो वास्तव में जुआ है, रुपया इकट्ठा करते हैं। हिन्दुओं

में दिवाली का विशेष त्योहार तो अब तक जुआ खेलने का त्योहार बना हुआ है, और क्या उस दिन और क्या उससे कुछ दिन पहले और क्या उसके कुछ दिन बाद तक हमारे देश में अब भी प्रत्येक गांव और क़स्बे और शहर में जुए की भरमार रहती है।

जुए विषयक मिथ्या विश्वास का भी मुझ पर केवल नाम मात्र बुरा प्रभाव पड़ा। आपू टापू आदि कई खेलों की तरह, जिन में खेलने वालों में परस्पर की हार जीत का चस्का काम करता है, जुए के खेलने में हार जीत का चस्का भी मेरे बाल्य काल के दिल को आकृष्ट करता था। इसलिए और खेलों की न्याई उसे भी एक खेल समझ कर मैंने छोटी उमर में कई बार जुआ खेला था, कि जिसमें मैं कभी २ कुछ कौड़ियां और कभी २ कुछ पैसे हारा वा जीता था। ऐसे हि कुछ अवसरों पर मेरा ख़याल है, कि मैं अपने एक उस्ताद के कुछ पैसे हार गया था, कि जो शायद उनकी कुछ किताबों की बिक्री के मेरे पास जमा थे। मैं यह नहीं कह सकता कि यह मेरा ख़याल सही था वा ग़लत, परन्तु लाहौर में पहुंचकर कुछ वर्षों के बाद हठात् मेरे भीतर एक दिन इस प्रकार का ख़याल गुज़रा, और मैंने अपने इस नियम के अनुसार कि जब दिल में किसी के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई सन्देह तक भी उत्पन्न हो, तब उसका फ़ायदा उसीको देना चाहिए, मैंने उन पैसों से कई गुना पैसे अकबरपुर में अपने छोटे भाई के द्वारा उस उस्ताद के पास भेज दिए, और यद्यपि उन्होंने बार २ यह कहा कि उन्हें कोई ऐसी घटना याद नहीं, कि जिसमें उनके कोई पैसे मेरे पास रक्खे गए हों, वा रह गए हों, और इसीलिए वह मेरे पैसे आप लेना नहीं चाहते थे; तथापि मेरी आकांक्षा को मुख्य रखकर, उन्हों ने वह पैसे ग्रहण कर लिये।

सातवां परिच्छेद

नेचर में विकाशकारी शक्तियों के कार्य्य के अनुसार मेरा अकबरपुर को छोड़कर रुड़की में जाना और अपने आत्मा को अधिक विकशित करने का अवसर पाना

अकबरपुर में प्रायः १६ वर्ष की उमर तक रहकर मुझ में हित अनुराग विषयक जो २ भाव जहां तक प्रस्फुटित वा उन्नत हो सकते थे, और उनके वहां तक प्रस्फुटित और उन्नत होने से मेरा आत्मा जहां तक देव जीवन में विकशित हो सकता था, वहां तक वह उत्पन्न वा उन्नत हो गए; परन्तु उससे अधिक वह वहां और उन्नत नहीं हो सकते थे, क्योंकि वहां पर मैं जिस २ प्रकार के चौतरफ़ा सामानों (Environment) से घिरा हुआ था, उनमें रहकर मेरे लिए और अधिक विकाश लाभ करना, अथवा उच्च बनना केवल यही नहीं कि सम्भव ना था, किन्तु उसके अनन्तर उमर के बढ़ने के साथ २ वहां की एक वा दूसरी प्रतिकूल अवस्था में पड़कर मेरे पतित हो जाने की भी आशंका हो सकती थी। यह मेरे आत्मा के लिए बहुत संकट का समय था। मैं आप इस विषय में कोई ज्ञान वा बोध नहीं रखता था। जिस प्रकार अकबरपुर में अपने माता पिता के घर में जन्म लेकर और धीरे २ प्रायः १६ वर्ष की उमर तक पहुंचकर मुझे यह कुछ मालूम नहीं था, कि मुझ में देवजीवन विषयक कई ऐसी शक्तियां प्रगट हुई हैं कि जो अद्वितीय हैं, और जिनकी मुझ में बहुत बड़ी विशेषता है; उसी प्रकार मुझे उस समय यह कुछ मालूम नहीं था, कि मुझे अब उनकी रक्षा वा उन्नति के लिए अकबरपुर को छोड़कर किसी और स्थान अथवा और सामानों में जाने की आवश्यकता है। जैसे उस काल में मैं अपने शरीर

की बनावट के विषय में यह नहीं जानता था, कि मेरी छाती के भीतर कोई छिपा हुआ विशेष अंग है, कि जिसे हृदय पिंड कहते हैं, और जो मेरे शरीर में "पम्प" का काम करके मेरी खून की नलियों के द्वारा मेरे सारे शरीर में खून पहुंचाता है, और उसी छाती के भीतर दो और विशेष अंग हैं, कि जो फेफड़े कहलाते हैं, और जो अपने भीतर वायु मंडल से वायु खैंच कर उसमें से आक्सीजन गैस के द्वारा मेरे मैले खून को साफ़ करते रहते हैं, वैसे ही मैं यह नहीं जानता था, कि मुझ में कोई विशेष **देव शक्तियां** प्रगट हुई हैं, और वह मेरे आत्मा में अमुक २ प्रकार का परिवर्तन ला रही हैं। जैसे एक नन्हा सा बच्चा मां के दूध को पीकर और वायु में सांस लेकर और अपना मल मूत्र निकाल कर धीरे २ अपने शरीर की गठन में उन्नति और पुष्टि अवश्य लाभ करता है, परन्तु वह आप यह सब कुछ करके और अपने शरीर में दिनों दिन उन्नत होके यह नहीं जानता, कि अमुक २ वस्तुओं और क्रियाओं से मेरा शरीर पल रहा है, और वह दिनों दिन बड़ा और मज़बूत बन रहा है; वैसे हि मेरे आत्मा में पृथिवी के और सारे मनुष्यों की तुलना में जिन विचित्र **देव शक्तियों** का प्रकाश हुआ था, और उनके विकाश से मेरा आत्मा जिस अद्वितीय **देवजीवन** में विकाश पा रहा था, उस सब का मुझे भी उस समय में कोई ज्ञान न था। परन्तु जैसे किसी बाग़ में कोई आम का वृक्ष अपने आपको न जानकर भी किसी आक वा धतूरे की तुलना में अपने भीतर एक विशेष नमूने (Type) की जीवनीशक्ति के रखने के कारण नेचर के प्रबन्ध के अनुसार एक विशेष रूप में ढलता चला जाता है, और अपने आसपास के नाना आक और धतूरे के पौदों से एक पूर्णतः निराला रूप ग्रहण करता जाता है, वैसे हि मेरे आत्मा का हाल था—अर्थात् मैं जिन **देव शक्तियों** को बीज रूप में पाकर जन्मा था, और उनके कारण अपने आत्मा की गठन में पृथिवी के और सारे आत्माओं की गठन से जो **विशेषता** रखता था, उस विशेषता में नेचर के अपने परिवर्तन के क्रम में दिनों दिन ढलता और नए से नया रूप ग्रहण करता चला गया। प्रायः १६ वर्ष के बाद मेरे आगे के विकाश के

लिए जब मेरे आत्मा रूपी पौदे के लिए वहां के एक छोटे गमले में रहने की आवश्यकता न रही, और उसे अपनी भावी उन्नति के लिए उसमें से निकल कर अपेक्षाकृत किसी और स्थान के एक बड़े गमले में लगाए जाने की आवश्यकता हुई, तब मेरे आत्मा के सम्बन्ध में नेचर के अपने गुप्त प्रबन्ध के अनुसार एक विशेष घटना उत्पन्न हुई।

मैं अपने हृदय में विद्या विषयक बहुत गहरा अनुराग रखता था। अकबरपुर के सरकारी स्कूल में उस काल में जहां तक पढ़ाई होती थी, वह सब पढ़ाई मैं ख़तम कर चुका था। अकबरपुर में रहकर अब मेरी विद्या की उन्नति का रास्ता बिलकुल बन्द हो चुका था। मैं इन दिनों में अपने पिता की इच्छा के अनुसार वहां की मुन्सिफ़ी की कचहरी में काम करता था। इन्हीं दिनों में मुझे किसी ने यह कहा कि रुड़की नामक स्थान में एक कालेज है, जहां पर लड़कों को भरती करके पैमायश विद्या की शिक्षा दी जाती है, यदि तुम उसमें दाख़िल हो सको, तो तुम केवल यही नहीं, कि इस विद्या को सीख सकते हो, किन्तु उसे सीखकर कोई अच्छी सरकारी नौकरी भी पा सकते हो। उसकी इस बात को सुनकर मेरे हृदय का विद्या अनुराग भड़क उठा। मैंने उसमें दाख़िल होने के लिए वहां के अफ़सर के नाम एक पत्र लिखा। इस पत्र के उत्तर में उन्हों ने मुझे यह लिखा, कि थोड़े दिनों में कालेज में भरती होने के सम्बन्ध में लड़कों की प्रवेशिका विषयक परीक्षा ली जाएगी। तुम्हारी परीक्षा के लिए तुम्हारे ज़िले के स्कूलों के डिपटी इन्सपेक्टर के पास यहां से प्रश्न भेजे जाएंगे, तुम वहां जाकर परीक्षा दो, और यदि तुम उस परीक्षा में पास हो जाओगे, तो हम तुम्हें अपने कालेज में दाख़िल कर लेंगे। समय आने पर वह प्रश्न डिपटी इन्सपेक्टर के पास आए। उसने मुझे उनके पहुंचने की ख़बर दी। मैं उस ख़बर को पाकर कानपुर गया, और वहां परीक्षा देता रहा। मेरे परचे रुड़की कालेज में भेजे गए; वहां पर मुझे जो नम्बर मिले उनमें मैं पास हो गया। मेरे पास हो जाने पर कालेज की ओर से उसी डिप्टी इन्सपेक्टर को सूचना दी गई, कि तुम अमुक लड़के को ख़बर दे दो, कि वह पास

हो गया है और वह पहली नवम्बर को कालेज के सेशन के खुलने पर उसमें दाख़िल हो जाए। शोक कि यह सूचना विषयक पत्र डिपटी इन्सपेक्टर के पास बहुत दिनों तक पड़ा रहा, और उसने मुझे बहुत देरी के बाद अर्थात् नवम्बर महीने के प्रायः तीन सप्ताह व्यतीत हो जाने पर ख़बर दी। इसलिए मैं प्रायः एक महीने की देरी के बाद अर्थात् नवम्बर के आख़ीर में वहां जाने और दाख़िल होने के योग्य हुआ।

आठवां परिच्छेद

रुड़की कालेज में मेरा पहला "सेशन"

[अखीर नवम्बर सन् १८६६ ई० से अखीर अगस्त सन् १८६७ ई० तक]

(हरिद्वार में कुम्भ के मेले पर अपने हित भाव
से परिचालित होकर अपने माता पिता आदि सम्बन्धियों को स्मरण करके उनके
हित के लिए गंगाजी में डुबकियां लगाना)

अखीर नवम्बर सन् १८६६ ई० में मैं रुड़की कालेज में दाख़िल हुआ। मेजर मेडली साहब उस समय उस कालेज के प्रिन्सीपल थे। उस समय मेरी उमर प्रायः १६ वर्ष की थी। मेरे पिता जी मुझे अपने साथ लेकर रुड़की को गए। यह कालेज रुड़की शहर से प्रायः एक मील की दूरी पर खुले मैदान में बना हुआ था। इससे प्रायः एक मील की दूरी पर सरकारी फ़ौजों की छावनी थी। रुड़की की आबादी के पास ही एक बहुत बड़ी नहर बहती थी, कि जो हरिद्वार के पास से गंगा से काटकर लाई गई थी। इस नहर पर एक बड़ा पुल था, कि जिस पर से एक पक्की सड़क शहर की तरफ़ से कालेज की तरफ़ को आती थी। इस सड़क के भिन्न क्या छावनी और क्या सिविल स्टेशन में और भी बहुत सी पक्की सड़कें थीं, कि जिनके दोनों तरफ़ वृक्ष लगे हुए थे। रुड़की कालेज के आस पास इंजीनियर, अपर सबआर्डीनेट और लोवर सब-आर्डीनेट क्लास के शिक्षार्थियों के लिए बोर्डिंग के मकानात बने हुए थे। प्रिन्सीपल के रहने की कोठी भी इसी कालेज के बहुत पास थी। इस कोठी में एक बाग़ था, और उसके भिन्न अपर सबआर्डीनेट क्लास की बारकों के पास एक और अच्छा बाग़ था। मैं लोवर सबआर्डीनेट क्लास में दाख़िल हुआ। मेरे भिन्न उस क्लास में चौबीस लड़के और थे। कालेज में मेरी जमायत के पढ़ाने के लिए एक मास्टर थे, कि जो

प्रथम मास्टर कहलाते थे। वह इमारत, सड़क और नहर आदि के वनाने के विषय में कई कितावों से शिक्षा देते थे; परन्तु उन्हों ने इन विपयों में खुद कोई ट्रेनिंग नहीं पाई थी। दूसरे मास्टर मकानों और पुलों की चुनाई और उनके खर्च का तख़मीना लगाने आदि के विषय में शिक्षा देते थे; तीसरे मास्टर ज्यामिति और त्रिकोण मिति के भिन्न चेन प्रिज़मेटिक, थियोडोलाइट और लेवलिंग आदि के द्वारा कई प्रकार की पैमायशों की शिक्षा देते थे; और वह सर्वेइंग मास्टर कहलाते थे। इनके नीचे एक असिस्टेन्ट सर्वेइंग मास्टर भी काम करते थे। एक और मास्टर मकानों, पुलों, पहाड़ों और टीलों आदि के नक़शों के बनाने का काम सिखाते थे, और वह ड्राइंग मास्टर कहलाते थे। उनके नीचे भी एक असिस्टेन्ट ड्राइंग मास्टर काम करते थे। इन मास्टरों के भिन्न अपर और इंजनियरिंग क्लास के और वहुत से मास्टर थे कि जो प्रायः सव यूरोपियन थे। दस बजे दिन के समय से लेकर चार बजे तक कालेज में पढ़ाई होती थी; और सुबह और शाम के समय आवश्यकता के अनुसार लड़कों को पैमायश का काम सीखने वा सीखकर खुद काम करने के लिए कालेज से बाहर जाना पड़ता था। इस काम के सिवाय लड़कों को अपने २ घरों में पैमायश और ड्राइंग के नक़शे बनाने पड़ते थे; और कालेज के नाना विषयों की पढ़ाई के सम्बन्ध में जो २ पुस्तकें नियत थीं वह पढ़नी और याद करनी पड़ती थीं, और परिश्रमी लड़कों को रात के समय में सोने के लिए मुशकिल से काफ़ी घण्टे मिलते थे। काम वहुत ज़्यादह था, और वह बहुत ज़्यादह परिश्रम चाहता था।

अगस्त सन् १८६७ ई० में मेरी और मेरे साथी और लड़कों की पहली वार्षिक परीक्षा हुई, कि जिसमें मैं भली भांत पास हो गया। उसके बाद पहले साल का "सेशन" समाप्त हुआ, और कालेज में दो महीने की छुट्टियां हो गईं, और इन छुट्टियों में मैं अपने घर को चला गया।

इस साल मेरे उच्च विकाश के सम्बन्ध में खान पान विषयक एक मिथ्या विश्वास के दूर होने के भिन्न कोई और विशेष घटना उत्पन्न

नहीं हुई। खान पान के विषय में मेरा यह मिथ्या विश्वास किस प्रकार दूर हुआ, उसकी संक्षिप्त कथा मैं इस पुस्तक के पहले खण्ड में वर्णन कर चुका हूं।

रुड़की में जाने से पहले, मेरे आत्मा में हित अनुराग सम्बन्धी जो २ भाव जहां तक जाग्रत और उन्नत होगए थे, वह जैसे मेरे साथ रहे, वैसे ही कई विषयों के सम्बन्ध में जो २ मिथ्या संस्कार वा विश्वास मुझे मिल चुके थे, वह भी मुझ में वर्तमान थे। कालेज में दाख़िल होकर इंजनियरिंग के सम्बन्ध में जिन कई प्रकार के विषयों में शिक्षा लाभ करना मेरे लिए आवश्यक था, उन विषयों में मैं शिक्षा पाने लगा। कुछ महीनों के बाद हरिद्वार में कुम्भ का मेला हुआ। इस अवसर पर लाखों यात्री वहां पर गंगा स्नान के लिए एकत्र हुए। मेरे भीतर भी यह बहुत गहरा मिथ्या विश्वास बैठा हुआ था, कि किसी ऐसे विशेष अवसर पर हरिद्वार में जाकर गंगा स्नान करने से किसी हिन्दू मनुष्य को बहुत पुण्य मिलता है; इसलिए इस अवसर पर मैं भी कुछ और विद्यार्थियों के साथ हरिद्वार को गया। हरिद्वार रुड़की से प्रायः वीस मील के फ़ासले पर है। वहां पहुंच कर पहाड़ के पास एक मैदान में एक वृक्ष के नीचे हमें अपने ठहरने के लिए थोड़ी सी जगह मिली। पर्व के दिन से एक रात पहले बादल उठे, और रात में बारिश शुरू हुई—इस समय हमारा वुरा हाल हुआ। अगले दिन सुबह उठकर मैं सरकारी नियत सीमा से बाहर पाख़ाने के लिए गया, और जब मैं वहां से वापिस आ रहा था, तब गवर्नमेण्ट के प्रोग्राम के अनुसार उसी समय वैरागियों का एक बहुत बड़ा अखाड़ा कि जिसमें शायद छः सात हज़ार आदमी होंगे, पुलिस के साथ हरि की पौड़ियों पर स्नान करने के लिए जा रहा था। मैं इस समय दुर्भाग्य वशतः उन्हीं के बीच में आ गया, और उनके इस बहुत बड़े समूह के घमसान में ऐसा फंस गया कि मैं भी उनके साथ २ उसी रास्ते पर से हरि को पौड़ी की ओर चलने के लिए मजबूर हो गया। मैं उनमें ऐसा फंसा हुआ था और वह सब भी हज़ारों की संख्या में एक दूसरे से ऐसे जुड़े हुए थे, और हम सब पिछले आदमियों के धक्के के बल से ऐसे चल रहे

थे, कि कई वार हमें यह प्रतीत होता था कि हमारे पांव ज़मीन से नहीं लगते। मुझे कई वार यह भी प्रतीत होता कि मैं इस पीछे के धक्के से नीचे गिरकर और अपने पीछे आने वाले हज़ारों आदमियों के पांव के नीचे दब कर और कुचला जाकर मर जाऊंगा। मेरे लिए यह महा संकट का समय था। वह सब "साधु" कोपीन लगाए हुए अपने शेष सारे शरीर से बिलकुल नंगे थे। परन्तु मैं अपने बदन में कुर्ता, अंगरखा, चोग़ा, पाजामा और पगड़ी और पांव में जूता पहने हुए था, और इस पोशाक के भिन्न मेरे एक हाथ में लोटा और दूसरे हाथ में एक घड़ी भी थी। इसी दुर्दशा में कुछ दूर जाने पर मेरे साथ के कुछ साधुओं ने मुझे कहा कि यह सोटी और जूते फेंक दो, और वह बड़ी कठिनाई से मैंने चलते २ रास्ते में ही डाल दिए। हरि की पौड़ियों पर से गंगा में उतरने पर गंगा के भीतर भी इतने मनुष्य भर गए थे, कि मुशकिल से ग़ोता लगाने के लिए जगह मिलती थी। मैंने उसी हालत में हि अर्थात् उपरोक्त सारी पोशाक पहने हुए गंगा की धार में ग़ोता लगाया, **परन्तु केवल अपने "पुण्य" के लिए इस प्रकार का ग़ोता लगाकर मेरी तृप्ति नहीं हुई**, किन्तु उस **बहुत संकट** की दशा में भी मेरे हृदय के **परहित भाव** ने मेरे भीतर वार २ यह प्रेरणा की कि तुम इस विशेष अवसर पर कि जो जल्दी २ नहीं आता, अपने पिता माता आदि विशेष सम्बन्धियों के "हित" के लिए भी ग़ोते लगाओ; और मैंने अपने इस प्रकार के भाव से प्रेरित होकर उन्हें भी इस "पुण्य" में भागी बनाने के लिए हर एक को स्मरण करके उनके लिए डुबकियां लगाईं।

इस समय आकाश में बादल छाए हुए थे, और कुछ २ बूंदें पड़ रही थीं, और तेज़ हवा चल रही थी। ग़ोते लगाने के बाद मैं अपनी सारी भीगी हुई पोशाक के साथ पुलिस के इन्तज़ाम के अनुसार वहां से एक और रास्ते से बाहर निकला, और फिर एक और स्थान में आकर मैंने आश्रय लिया, और वहां पर मैंने अपने विश्वास के अनुसार अपने हाथ से कुछ भोजन बनाकर खाया और फिर उसके अनन्तर ही हम लोग रुड़की को वापिस हो पड़े, और कुशलपूर्वक वहां पहुंच गए। अगले

दिन से हरिद्वार में हैज़ा फूटा और हर रोज़ सैकड़ों आदमी मरने लगे। मेला जल्दी २ तोड़ दिया गया, और लाखों लोग अपने २ घरों को रवाना हुए। परन्तु हज़ारों आदमी रास्ते में ही और कितने ही अपने २ घरों में भी पहुंचकर हैज़े से मर गए। मेरी बारक में भी एक लड़के को हैज़ा हुआ; पन्रतु वह बच गया। मेरी भी उपरोक्त संकटमय अवस्था में जान बच गई।

नवां परिच्छेद

रुड़की कालेज में मेरा दूसरा "सेशन"

[नवम्बर सन् १८६७ ई० से अख़ीर अगस्त सन् १८६८ ई० तक]

मैं अपने स्वभाव से ही एकान्तप्रिय था; और किसी उचित आवश्यकता के भिन्न किसी जन के पास आप जाकर वा किसी जन को अपने पास बुलाकर मिलना जुलना, छेड़ छाड़ और हंसी मख़ौल और किसी की अप्रशंसा वा निन्दा करके ख़ुश होना, लड़ाई झगड़े, व्याह शादी, सम्पत्ति, भोग विलास आदि विविध विषयों को लेकर बातचीत करना वा गप्पें मारना मुझे प्रिय न था। इसलिए मैं वहां पर अपने विद्यानुराग के अनुसार अपने शिक्षा सम्बन्धी कामों में प्रेम और परिश्रम पूर्वक लगे रहने के भिन्न और ख़ाली समयों में प्रायः राम नाम का जप करता रहता था। उपरोक्त प्रकार के मेल जोल से विरत होने के कारण लोगों से अलग थलग रहना और प्रतिदिन जब कभी और जितना अवसर मिले, उसमें अपने उस समय के इस विश्वास के अनुसार कि राम नाम के जप से आत्मिक कल्याण होता है, राम नाम का दिल २ में जप करते रहना मुझे बहुत रसदायक बोध होता था। मेरे भीतर उन दिनों में यह भी विश्वास था कि किसी विपद वा कठिनाई के दूर करने वा किसी उचित कामना की सिद्धि के लिए राम नाम के जप से बहुत सहायता मिलती है। इसलिए कभी मैं अपने किसी कष्ट के दूर करने और कभी किसी विशेष परीक्षा में कृतकार्य होने के लिए अपने मन में यह प्रतिज्ञा किया करता था, कि मैं उसके लिए अमुक संख्या में राम नाम का जप करूंगा, और इस उद्देश्य से भी कई बार राम नाम का जप करता रहता था।

एक ओर धन, पदार्थ, नाम, बड़ाई, प्रशंसा, पद, प्रभुत्व और

शारीरिक सुख आदि विषयक प्रत्येक वासना के अधिकार से **मुक्त** और हिंसा, द्वेष, ईर्षा आदि महा हानिकारक उत्तेजनाओं से **रहित** होने के कारण, जब तक मुझे अपने किसी शारीरिक रोग वा किसी मनुष्य वा अन्य जीव के द्वारा कोई और कष्ट न मिलता, तब तक मैं अपने हृदय की इस उच्च अवस्था के विचार से बहुत शान्त और मधुर अवस्था में रहता था। मैं इसी अवस्था का आकांक्षी था। इससे बढ़कर मुझ में किसी और वासनिक सुख वा आराम वा हर्ष की प्राप्ति के लिए कोई लालसा न थी।

रुड़की कालेज में इन्हीं दिनों में एक असाधारण पुरुष पैमाइश सम्बन्धी औज़ारों की एक "डिपो" के क्यूरेटर के पद पर सरकारी नौकर थे। इस नौकरी के भिन्न वह मौसम के महकमे में भी कुछ देर तक नौकरी का काम करते थे। इन दोनों कामों से उन्हें एक सौ दस रुपए माहवार तनख्वाह मिलती थी। यह असाधारण पुरुष उच्च श्रेणी के साधु आत्मा थे; और गृहस्थाश्रम में रहकर भी एक उत्तम ऋषि का सा श्रेष्ठ और सुन्दर जीवन रखते थे। वह संसार में रहकर और सरकारी नौकर होकर भी धन सम्पत्ति, मान, यश, पद, प्रशंसा, शारीरिक सुख आदि किसी वासना के अधिकार में न थे, और उनमें से किसी की प्राप्ति को वह अपना **मुख्य लक्ष्य** नहीं अनुभव करते थे। वह पुरानी हिन्दू शिक्षा के अनुसार काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार के अधिकार से अपने आपको ऊपर रखने, जप और पाठ और यथावसर परोपकार विषयक एक वा दूसरा काम करके अपने हृदय में **उच्च शान्ति और आनन्द लाभ** करने के आकांक्षी थे, और इसी उद्देश्य को सन्मुख रखकर और इसी की सिद्धि के लिए अपने एकान्त साधन और अन्य कर्म्म करते थे। वह मुझसे उमर में तेरह वा चौदह साल बड़े थे।

अब नेचर के जिस विकाशकारी परिवर्तन वा गुप्त नियम के अनुसार मैं अकबरपुर को छोड़कर रुड़की में आया था, उसके उसी गुप्त प्रबन्ध से मेरे लिए इस महा पुरुष से परिचित होना और उनके द्वारा अपने विकाश के पथ में अति मूल्यवान सहाय पाना भी आवश्यक था।

नेचर ने मुझे रुड़की में पहुंचाने में मेरी कालेज की पढ़ाई को गौण, और अनुकूल समय पर उनके साथ मेरा आत्मिक सम्बन्ध उत्पन्न कर देना, मुख्य लक्ष्य रक्खा हुआ था। इस मुख्य लक्ष्य के पूरा होने के लिए अनुकूल समय आ गया। मार्च सन् १८६८ ई० का महीना और हिन्दुओं के "होली" नाम के वार्षिक त्योहार का दिन था। इस त्योहार के उपलक्ष्य में कालेज में छुट्टी थी। इस त्योहार के मनाने के लिए उस समय के दस्तूर के मवाफ़िक हिन्दू लड़कों ने आपस के चन्दे से बहुत सा रुपया इकट्ठा किया था। इस रुपए से उन्होंने रंग, गुलाल और अबीर आदि की बहुत बड़ी तैयारी के भिन्न खाना खाने की दावतें भी रक्खी थीं। इस दिन आपस में होली खेलने के भिन्न यह सब लड़के अपने हिन्दू उस्तादों के घरों पर जाकर होली खेलने के लिए रवाना हुए। इन उस्तादों में से एक कायस्थ उस्ताद थे, कि जो शहर में रहते थे। यह लड़के उनके साथ होली खेलने के लिए उनके घर पर पहुंचे। मैं भी उनके साथ था। वहां पर उन पर रंग डालने और गुलाल आदि मलने और छिड़कने के बाद एक गाने बजाने का जलसा हुआ। यद्यपि किसी की इच्छा के विरुद्ध उस पर रंग और गुलाल आदि डालना और इस प्रकार उसे दिक़ करके ख़ुश होना मुझे पसन्द न था, और मैं ऐसा नहीं करता था, तथापि इस त्योहार के मानने और वहां के दस्तूर के कारण मैं भी वहां के लड़कों के साथ उस उस्ताद के मकान पर गया था। इसी अवसर पर उपरोक्त ऋषि भी उनके मकान पर आए हुए थे। इसी जलसे में बैठे हुए हमने एक दूसरे को देखा। इधर हमने एक दूसरे को देखा और उधर हमारे हृदयों की विशेष अवस्था के कारण नेचर के नियमानुसार हम में एक दूसरे के प्रति तत्काल अति पवित्र और मधुर **सात्विक आकर्षण** उत्पन्न हो गया। नेचर के गुप्त कार्य्य की यह एक अति आश्चर्य घटना थी। नेचर ने ही अनुकूल समय में मेरे भावी आत्मिक कल्याण के लिए यह विशेष घटना उपस्थित कर दी। मुझे उस समय कुछ मालूम न था, कि इस विशेष घटना से मेरे आत्मिक विकाश में

कोई विशेष सहाय मिलेगी, और यदि मिलेगी तो क्या मिलेगी। परन्तु यह विशेष घटना मेरे आत्मिक भावी विकाश के लिए जैसे नेचर के अपने इन्तज़ाम से खुद बखुद पैदा हो गई, वैसे ही वह नेचर के नियमानुसार मेरे और मेरे साथ उनके भी आत्मिक कल्याण का हेतु प्रमाणित हुई।

दसवां परिच्छेद

मेरे गुरु

मेरे गुरु का नाम पण्डित शिवदयालसिंह था। वह अपने वंश के विचार से सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके बहुत पहले के पूर्वज पंजाब में रहते थे। परन्तु उनके पड़दादा युक्त प्रदेश अर्थात् हिन्दुस्तान में जा बसे थे। हिन्दुस्तान में रहकर उनकी सन्तान की भाषा धीरे २ हिन्दुस्तानी बन गई थी। सन् १८३६ ई० में मेरे गुरु का मेरठ में जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम श्रीयुत गुलाबसिंह था। वह ग़दर सन् १८५७ ई० से पहले भोगिनीपुर ज़िला कानपुर में थानेदार थे; उसके बाद वह हमीरपुर में तहसीलदार नियुक्त हुए थे। इसी स्थान में सन् १८५६ ई० में उनका देहान्त हुआ था।

मेरे गुरु का शरीर लम्बा था। रंगत गोरी थी। चेहरा सुन्दर था। जिस्म में ताक़त बहुत थी। वह दाढ़ी रखते थे। उनकी दाढ़ी बहुत घनी और लम्बी थी, जिसे वह चढ़ाकर रखते थे। वह सिर पर सारे बाल रखते थे, और उन्हें एक काले डोरे के साथ लपेटकर और पीछे की तरफ़ से चक्कर देकर इस तरह ऊपर को मोड़ देते थे, कि फिर वह कानों की लौ की ऊंचाई से अधिक नीचे न लटकते थे। उनकी मूछें बड़ी २ और घनी थीं। उनकी पोशाक हिन्दुस्तानी थी। वह नौकरी के घण्टों में साधारणतः पायजामा, कुर्ता और अंगरखा पहनते थे, परन्तु किसी २ मौक़े पर चोग़ा भी पहनते थे, वह सिर पर पगड़ी बांधते थे। परन्तु घर पर अनेक बार धोती और सिर पर टोपी पहनते थे। वह वा उनके बाप दादा आदि कोई सिक्ख न थे।

मेरे गुरु ने फ़ारसी भाषा के भिन्न अङ्कगणित, रेखागणित, बीज-गणित, भूगोल और इतिहास की भी आवश्यक शिक्षा लाभ की थी।

इन विषयों के भिन्न उन्होंने अंग्रेज़ी भी सीखी थी। अंग्रेज़ी ज़बान में वह दैनिक बातचीत अच्छी तरह कर सकते थे।

वह शायद बीस वा इक्कीस वर्ष की उमर में रुड़की कालेज में दाख़िल हुए थे। वहां से पास होकर वह उसी कालेज में नौकर हो गए थे। वह उस कालेज की सेण्ट्रल इण्स्ट्रूमेंट डिपो के क्यूरेटर और एकौण्टेण्ट थे, और इस काम के लिए अस्सी रुपया महीना वेतन पाते थे। इसके भिन्न वह रुड़की में हि संयुक्त प्रान्त के मौसम के महकमे के सब से आला अफ़सर के नीचे मिट्रालोजीकेल आबज़र्वर भी थे, जिसके लिए उन्हें तीस रुपए माहवार और अधिक मिलते थे, और इस प्रकार वह अपने दोनों कामों के लिए एकसौ दस रुपए माहवार वेतन पाते थे। वह अपने स्थूल शरीर के छोड़ने तक उसी कालेज में इन्हीं कामों पर नियुक्त रहे।

मेरे गुरु बहुत दयानतदार और परिश्रमी आदमी थे, इसीलिए उनके सब अफ़सर उनसे बहुत प्रसन्न रहते थे।

मेरे गुरु में कर्तव्य विषयक सात्विक बोध बहुत सुन्दर रूप में वर्तमान था। उस समय महकमे मौसम का जो यूरोपियन अफ़सर था, वह रुड़की कालेज में पदार्थ विज्ञान का प्रोफ़ेसर भी था। उसके नीचे मेरे गुरु के भिन्न दो और देसी जन काम करते थे। वहां पर उन दिनों तीन २ महीनों के अनन्तर अड़तालीस घण्टों तक प्रति घण्टे मौसम सम्बन्धी यंत्रों का अवलोकन होता था, और उनके अंक नोट किए जाते थे। देसियों में इनके भिन्न जो जन इस काम पर नियुक्त होते, वह रात में कई बार सोए पड़े रहते, और सचाई के साथ बैरोमीटर और थरमामीटर पढ़कर उनके पूर्णतः ठीक २ डिगरी विषयक अंक नहीं लिखते थे, किन्तु अनुमान से ठीक के लगभग कुछ अंक भर देते थे। इसीलिए उनकी इस बददयानती से अवगत होने पर मेरे गुरु अपने दैनिक और सब कामों के भिन्न रात के समय इस काम को भी अपने अफ़सर से आप मांगकर अपने ज़िम्मे लिया करते थे। वह रात में जागकर और प्रत्येक घण्टे ठीक समय पर पूर्वोक्त यंत्रों को पढ़कर पूरी दयानतदारी के साथ अपने

कर्तव्य को पालन करते थे।

एक बार सन् १८६८ ई० में ऐसे ही एक अवसर पर एक ऐसी घटना हुई, कि रात बहुत जा चुकी थी और मैं और वह बातें करते २ सो गए। कुछ देर में वह अपने कर्तव्य बोध के अनुसार घबरा कर उठ बैठें। परन्तु जहां पर वह यंत्र लगे हुए थे, वहां पर वह कुछ मिनट देरी से पहुंचे, और यद्यपि मौसम की अवस्था में कुछ भी विचार के योग्य अन्तर नहीं आया था, तो भी **कुछ मिनटों की देरी** हो जाने से उनके हृदय में बहुत बड़ा आघात लगा। वह उससे बहुत दुःखी हुए। उन्होंने उसी समय झुंझलाकर अपने सिर पर कई एक घूंसे मारे, और कई प्रकार से उसके लिए अपने दुःख और अपनी बेचैनी का प्रकाश किया।

मेरे गुरु को किसी का दिल दुखाना बहुत अप्रिय था। एक बार उन्होंने यह अनुभव करने पर कि उन्होंने अपने नीचे काम करने वाले एक जन के किसी अपराध पर उसे आवश्यकता से अधिक झिड़का है, अपने ऊपर आप कुछ रुपया जुरमाना किया और यह रुपया उस जन को देकर उसके दुखिया दिल को शान्त किया।

मेरे गुरु अपने अनुचित अहं को बहुत घृणा करते थे। वह बहुत दीनता प्रिय थे। वह बात २ में अपने अहं की परीक्षा करते रहते थे, और जिस किसी के सम्बन्ध में उन्हें अपनी घमंडमूलक किसी क्रिया का पता लग जाता, उसीके सम्बन्ध में वह उसे दमन करने की चेष्टा करते। वह दीनता की महिमा के विषय में कितने ही सुन्दर वचन कंठ रखते थे, और उन्हें अनुरागपूर्वक पढ़ा करते थे, और इस साधन के द्वारा भी अपने इस भाव को बढ़ाते रहते थे।

मेरे गुरु में धन के लिए कुछ अनुराग न था। वह केवल अपने और अपने बहुत से पारिवारिक जनों के शारीरिक पालन और अन्य अभावों के दूर करने के लिए ही धन कमाते थे। उन्हें जो कुछ तनख़्वाह मिलती थी, वह सब की सब अपने कुनबे के ख़र्च के लिए घर वालों को दे देते थे; और अपने पास एक पैसा तक न रखते थे। उनका कुनबा बहुत बड़ा था, और उसके भरण-पोषण का कुल बोझा उन्हीं के

सिर पर था । उनके परिवार में उस समय उनके और उनकी स्त्री के भिन्न उनके तीन बेटे थे, उनकी बेटी और विधवा माता थीं। निकट के सम्वन्धियों में से एक वृद्ध दादा, एक विधवा मामी और उसके दो वच्चे भी उन्हीं के घर में और उन्हीं के आश्रित रहते थे। पिछले दिनों में उनके वड़े वेटे की पत्नी भी उन्हीं के परिवार में रहती थी।

अत्यन्त खेद का विषय है, कि उनके वृद्ध दादा के भिन्न कि जो उन पर बहुत श्रद्धा रखते थे, उनके और पारिवारिक जनों में से उस समय कोई ऐसा जन न था, कि जो उनके इस उत्तम जीवन की कुछ भी महिमा अनुभव करता हो। उनके घर की स्त्रियों में परस्पर बहुत झगड़ा रहता था, और मेरे गुरु उनके इन झगड़ों से बहुत दुःखी रहते थे। वह घर के भीतर वहुत कम जाते थे, और अपनी बैठक के कमरे में ही रहा करते थे, और हर मौसम में उसी के भीतर रहते थे; यहां तक कि अत्यन्त गर्मी के मौसम में भी वह उसी में सोते थे।

मेरे गुरु सुस्वादु खान पान और सुन्दर वस्त्र आदि विषयक किसी वासना के दास न थे। उनके घर में प्रतिदिन जो कुछ खाना पकता, वही वह भी खा लेते थे। उनके वृद्ध दादा उनके लिए जो कपड़े बना देते, वही वह पहन लेते थे।

मेरे गुरु प्रायः चलते फिरते वा बैठे हुए—यहां तक कि काम करने के समय में भी—जहां तक हो, अपने मन को किसी उच्च चिन्ता वा जप आदि में नियुक्त रखते थे।

मेरे गुरु अपनी स्त्री के भिन्न प्रत्येक स्त्री को माता वा बहिन वा बेटी की दृष्टि से देखते थे। स्त्रियों के सम्बन्ध में उनका हृदय बहुत पवित्र था। वह काम वासना मूलक प्रत्येक प्रलोभन से ऊपर थे। एक बार एक जन ने उनकी इस विषय में परीक्षा करने के लिए एक सुन्दरी किन्तु कुलटा स्त्री को नियत किया। महीनों तक इस पतिता स्त्री ने उन्हें अपने जाल में फंसाने के लिए तरह २ के उपाय किए, और उन्हें कई प्रकार के प्रलोभन दिखाए, परन्तु उन्होंने अपने आत्मिक वल से उस पर और उसके सब प्रलोभनों पर पूर्ण जय लाभ की, और

उसके सारे यत्न निष्फल गए। तव से मेरे गुरु के प्रति क्या उसकी और क्या और नाना लोगों की और अधिक श्रद्धा वढ़ गई।

मेरे गुरु में **परोपकार** विषयक कई सात्विक भाव वर्तमान थे। वह किसी और के दु:ख वा किसी २ अभाव को वहुत अनुभव करते थे। वह जब अपने किसी मित्र की वीमारी वा अन्य किसी विपद वा दु:ख के विषय में कोई संवाद पाते, तव यथा सम्भव उसके पास पहुंच कर उसकी एक वा दूसरी सहायता वा शुश्रूषा किया करते थे। कितनी ही अवस्थाओं में उनकी यह सहानुभूति अपनी सीमा से बहुत आगे वढ़ जाती थी, और वह एक २ समय में किसी और से धन उधार लेकर भी किसी २ की सहायता किया करते थे।

मेरे गुरु अत्यन्त सहनशील थे। उनके सम्वन्ध में यदि कोई जन कोई अपराध वा पाप करके उन्हें कष्ट वा हानि पहुंचाता, तो वह जहां तक सम्भव हो, उसके सहने की कोशिश करते थे—यहां तक कि अपनी उचित रक्षा के लिए भी कुछ यत्न करना पसन्द नहीं करते थे। इस विषय में यहां पर एक विशेष घटना वर्णन करने के योग्य है। वह महकमे मौसम के जिस अफ़सर के नीचे काम करते थे, उसे अपने लिए एक अंग्रेज़ी क्लर्क की आवश्यकता हुई। इन्होंने एक मित्र की सिफ़ारिश पर उसके एक सम्वन्धी को उसके पास नौकर करा दिया। यह जन अच्छा न था। उसने नौकरी के समय में एक बड़ा अपराध किया, और इसलिए वह अपनी इस नौकरी से मौक़ूफ़ किया गया। उसके मौक़ूफ़ हो जाने पर उसके भाई ने इनके पास पहुंचकर फिर उसका दुखड़ा रोया, और कहा कि मेरा भाई नौकरी के चले जाने से बहुत दु:खी है, अगर आप कृपा करें, तो उसका यह दु:ख दूर हो सकता है। अब वह पहले की न्याई कोई अपराध न करेगा; और दयानतदारी के साथ अपना काम करेगा। मेरे गुरु का हृदय बहुत दयालु था, उनका दिल फिर पिघल गया। उन्होंने उस पर फिर कृपा की, और अपनी सिफ़ारिश करके उसे फिर वहीं नौकर करा दिया। अब यह सब कुछ तो उसके सम्बन्ध में इनका नेक सलूक था; परन्तु वह अपनी नीच प्रकृति के कारण उनके

लिए बहुत बड़ा कृतघ्न प्रमाणित हुआ। उसे जो कुछ तनख़्वाह मिलती थी, वह उससे अपना बहुत ज़्यादह ख़र्च रखता था। इसलिए एक बार उसने ३०० रुपए के स्थान में ६०० रुपए का एक जाली बिल बनाकर और उस पर अपनी ओर से अपने साहब के जाली दस्तख़त करके सरकारी ख़ज़ाने से वह रुपया मंगवा लिया। उसके अफ़सर को कितने दिनों तक उसकी इस दुष्टता का कुछ पता न लगा। परन्तु जब एकौण्टेण्ट जनरल की तरफ़ से हिसाब की पड़ताल होने पर अफ़सर ख़ज़ाने से इस विषय में दरयाफ़्त किया गया, और उन्होंने इस आदमी के अफ़सर से इस विषय में पूछा, तब मालूम हुआ, कि यह इसी क्लर्क की कारस्तानी थी। अब यह जन घबराया, और मेरे गुरु और अपने पूर्वोक्त उपकारी के पास पहुंचा और उनसे उसने पूछा, कि अब मैं क्या करूं? रुपया मैंने अवश्य मंगवाया था, और वह मैंने खर्च कर डाला। इन्होंने कहा, कि तुमने बहुत बड़ा अपराध किया है। अब तुम अपने बचाव के लिए केवल यह कर सकते हो, कि ३०० रुपए लेकर साहब के पास जाओ और उनके आगे हाथ बांधकर और अपने अपराध को स्वीकार करके क्षमा प्रार्थना करो। वह साहब के पास गया, और उसने क्षमा प्रार्थना भी की, परन्तु रुपया अपने साथ न ले गया और यह कहकर चला आया कि मैं धीरे २ कई क़िस्तों में रुपया अदा कर दूंगा। उसका भाई बहुत कुटिल था। उसने कहा कि तुम पर यह सब विपद पण्डित शिवदयालसिंहजी ने डाली है। उन्होंने साहब को बता दिया होगा, कि तुमने इस प्रकार रुपया उड़ाया है, नहीं तो साहब को तुम्हारे अपराध का पता क्योंकर लग सकता था? अब तुम भी उन्हें अपने साथ फांसो। हम अकेले क्यों रुपया भरें? उनपर भी तो कुछ चट्टी लगे। इस परामर्श के अनुसार अपराधी ने साहब के पास जाकर यह प्रगट किया, कि यह रुपया मुझ अकेले ने नहीं उड़ाया, किन्तु मेरे इस काम में पण्डित शिवदयालसिंह भी मेरे शरीक थे। कितनी बड़ी धूर्तता!! अपने इतने बड़े उपकारी पर कितना भयानक अभियोग!!! उपकार के बदले में कितनी महा कृतघ्नता!!! इस महा कृतघ्न की इस दुष्टता से मेरे

गुरु बहुत बड़ी विपद में पड़ गए। उनके कोमल हृदय पर बहुत गहरा आघात लगा। उनके क्लेश की सीमा न रही। उनके अफ़सर ने कहा, कि हम यद्यपि ख़ुद तो तुम्हारी सचाई पर विश्वास करते हैं, तथापि तुम्हें इस मिथ्या कलंक के दूर करने और उसके लगाने वाले को सज़ा दिलवाने के लिए अदालत में जाना चाहिए। इसलिए **आत्म रक्षा** के लिए उन्होंने **बहुत लाचार होकर** उस पर नालिश की, और फिर अपराधी के अपराध के प्रमाणित हो जाने पर मैजिस्ट्रेट ने उसे क़ैद की सज़ा दे दी। "धर्मोरक्षति धार्मिकम्" का वचन ठीक प्रमाणित हुआ।

मैं इस घटना से बहुत पहले उनका शिष्य बन चुका था; और जिन दिनों रुड़की में यह घटना हुई थी, उन दिनों मैं बहावलपुर की तरफ़ रेल पर नौकर था। मेरे गुरु ने इस कुल घटना का हाल अपनी एक चिट्ठी में लिखकर मेरे पास भेजा था। उस जन पर नालिश करके उसे क़ैद कराना उन्हें बिलकुल पसन्द न था, इसलिए उन्होंने इस विषय में अपनी चिट्ठी में मुझे यह शब्द लिखे थे :—

"मुझे इस मामले में कमाल तकलीफ़ पहुंची। अगर इस नौकरी के भिन्न मेरी और मेरे आश्रित जनों की गुज़रान का कोई और सहारा होता तो मैं बेशक नौकरी छोड़ देता और बाबू......पर हरगिज़ नालिश न करता; क्योंकि फ़क़ीर का काम सबर करने का है।"

मेरे गुरु अपने पारिवारिक जनों में से किसी के साथ **मोह बन्धन** में बंधे हुए न थे। वह इस प्रकार के मोह से पूर्णतः ऊपर थे। वह अपने वेदान्त मत के अनुसार इस जगत् और उसके सब पदार्थों को स्वप्नवत् मिथ्या और माया का खेल समझते थे; और उसमें अपनी किसी वासना के द्वारा लिप्त होना अपने लिए अत्यन्त हानिकारक अनुभव करते थे। वह संसार के किसी पदार्थ को अपने अस्तित्व का उद्देश्य नहीं समझते थे, और न उसकी आकांक्षा करते थे। वह संसार को असत्य और एकमात्र "ब्रह्म" को ही सत्य और सार और उसी की प्राप्ति वा उसमें लीन हो जाना अपने जीवन का लक्ष्य जानते थे। वह प्रति दिन इसी एक लक्ष्य के सम्बन्ध में विविध प्रकार के साधन करते थे।

मेरे गुरु भगवद्‌गीता का बहुत अध्ययन रखते थे। वह उसके वचनों पर विचार करते रहते थे।

मेरे गुरु प्रार्थनाशील थे। वह अपने उपरोक्त लक्ष्य की सिद्धि के प्रति अपने लिए इस "ब्रह्म" वा "त्रिलोकीनाथ" से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति और उसके प्रति अपने हृदय में प्रेम की उत्पत्ति आदि के लिए प्रार्थना किया करते थे, और जब से मैं और मेरी पत्नी उनके शिष्य बन गए थे, तब से वह हमारे दोनों के हित के लिए भी उससे प्रार्थना करते थे।

ग्यारहवां परिच्छेद

मेरे गुरु का वेदान्त मत पर विश्वास

मेरे गुरु वेदान्त मत के विश्वासी थे। वह उस मत को सत्य समझते थे। पुराने हिन्दुओं में वेदान्त मत हि सर्वोच्च मत समझा जाता है। पिछले दो ढाई हज़ार वर्षों से इस देश में इस मत का बहुत प्रचार रहा है—शंकराचार्य के समय से इस मत का प्रचार इस देश में विशेष कर बहुत अधिकता से हुआ है—यहां तक कि ऐसे सम्प्रदायों में भी कि जिनमें किसी को उपास्य देवता मानकर उसकी भक्ति का प्रचार हुआ है, वेदान्त मत घुसा हुआ है। इस मत का मूल विश्वास इस प्रकार है—

"ब्रह्म" नामक एक सनातन पुरुष है, कि जो सत्, चित्, और आनन्दरूप है। यही ब्रह्म सदा से था, और सदा रहता है। यही ब्रह्म "माया" आर्थात् भ्रम में फंसकर नाना प्रकार के जड़ और जीवित, अचेतन और चेतन, मूर्ख और ज्ञानी आदि भान्त २ के रूप ग्रहण कर लेता है। सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी और सब ग्रह और उपग्रह, घास, बूटी और वृक्ष, कीट, पतंग, सांप, बिच्छू, शेर, भेड़िया, बकरी, बकरा,गाए, बैल और मनुष्य आदि सब अस्तित्व एक उसी ब्रह्म का अलग २ रूप हैं। माया वा भ्रम के कारण मनुष्य को यह सब अस्तित्व सत्य दिखाई देते हैं; परन्तु वास्तव में यह सब अस्तित्व "ब्रह्म" हि हैं, और ब्रह्म के भिन्न कहीं भी कोई और अस्तित्व न पहले था, न अब है और न आगे हो सकता है। मनुष्य का जीव भी ब्रह्म हि है। माया से निकल कर अपने आपको ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप में उपलब्ध करने के योग्य बन जाना हि मनुष्य का परम पुरुषार्थ है।

इसी मत का मेरे गुरु भी मुझे उपदेश करते थे। सन् १८७२ ई० में उन्होंने अपने मुक़दमे के सम्बन्ध में मुझे जो ख़त लिखा था, उसमें

भी उन्होंने जगह २ इसी मत के अनुसार अपना भाव प्रकाश किया था। दृष्टान्त स्थल में उन्होंने उसके पहले पृष्ठ पर ही यह लिखा था :—

"हे ब्रह्म दास ! ब्रह्म में लीन होना चाहिए। त्याग नाम घर और बच्चों और पत्नी आदि के छोड़ देने का नहीं है, किन्तु त्याग नाम माया का है। मनुष्य को जो कुछ नज़र आता है, उसको वह ब्रह्म के सिवाय और कुछ न ससझे। जो कुछ है, सब को ब्रह्म ही जाने। भाई जान ! प्रभू की इच्छा में रहना और कभी शिकायत न करना।"

"शर्त इश्क़ अस्त कि अज़,
जौर शिकायत न कुनद;
लेकिन अज़ शौक़ हिकायत
बज़ुबां मी आयद।"[१]

"अपना काम दम मारने का नहीं है। हर समय उसी की इच्छा में राज़ी रहना मुनासिब है। यदि ऐसा न हो, तो अधैर्य्य में दुःख और विषाद के भिन्न और क्या मिल सकता है ? अपनी "मैं" को मार कर उसी की इच्छा के साथ एक हो जाना मुख्य साधन है।"

"हो फ़ना ज़ात में कि तू न रहे,
तेरी हस्ती की रंगो बू न रहे;
इस तरह डूब उसमें ऐ साबिर,
कि बजुज़ हू के ग़ैर हू न रहे।"

फिर २८वें पृष्ठ पर आप ने यह लिखा था :—

"आंख कान मुख मूंद के,
नाम निरंजन ले;
भीतर के पट तब खुलें,
जब बाहर के पट दे।"

---

[१] भावार्थ—प्रेम की शर्त यह है, कि प्रेमक अपने प्यारे के ज़ुलम की कभी भी शिकायत न करे—हां अगर अपने हाल की कहानी सुनाने के शौक़ से कोई उसका बयान करे तो मुज़ायक़ा नहीं है।

"जब कभी तुम को आंखों, कानों और नाक के बन्द करने पर कोई रूप चन्द्र का सा नज़र आवे, तो उसमें एक चेहरा अति सुन्दर अपने प्रियतम का भी दिखाई देगा। जब यह नज़र आ जाए, तो फिर उसकी सूरत का प्रेम रखना। और यह बहुत आवश्यक है, कि तुम मुझको हरगिज़ न भूलना। तुम्हें अपने आपको मुझ में लीन करना चाहिए। साधन यह है, कि पहले मेरी सूरत का ख़याल बांधना, फिर उसको अपने पास लाते २ अपने आपको भी वही समझना, जब यह बात होने लगेगी, तो कुछ और ही आनन्द अनुभव होगा।"

फिर आगे चलकर उन्होंने २६वें पृष्ठ पर यह लिखा था :—

"ईश्वर जानता है, कि जिस समय तुम्हारी जुदाई का ख़याल आ जाता है, तब उस समय दिल का अजीब हाल हो जाता है। अगरचे तुम बहुत दूर हो, परन्तु प्रेम के कारण मेरे हृदय में ही विराजमान हो।............यद्यपि मेरे और तुम्हारे वश में भी है, फिर वह कौनसी चीज़ है जो हमें मिलने नहीं देती ? माया।"

फिर उन्होंने अपनी उसी चिट्ठी में एक जगह यह लिखा था :—

"अपने आपको दास समझना हमारा कर्तव्य है। प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वह अपने आपको पापी समझे। और न केवल नियत समय पर किन्तु हर समय अपने मालिक के समीप सच्चे दिल और डबडबाती हुई आंखों के साथ यह विनय करे, कि मैं बहुत पापी हूं, तू मुझ पापी पर अपनी दया कर। हे त्रिलोकीनाथ ! शरण आए की लाज रख। मेरे हृदय को अपने ज्ञान से आलोकित कर। हे पूर्ण ब्रह्म ! मुझे सदा के लिए अपने चरणों का प्रेमक बना। क्या आश्चर्य है, कि उस महा प्रभु को रहम आजाए, और वह अपने चरणों की सेवा में ग्रहण करले।"

"मूकं करोति वाचलम्,
पंगु लंघयते गिरिम्;
यत्कृपात्व महं बंदे,
परमानन्द माधवम्।"

मैंने उनके पत्र में से ऊपर जो अवतरण दिए हैं, उनसे उनके विश्वास अथवा धर्म्म मत का भली भान्त पता मिलता है। वह अपने इस मत का आप कोई प्रचार न करते थे, उनके विश्वास के अनुसार किसी और के मत को चाहे वह कैसा ही बुरा हो, बुरा बतलाना उचित न था, और वह किसी के धर्म्म मत वा अपनी वा किसी की बिरादरी वा जन समाज की किसी बुराई वा किसी कुरीति आदि पर अपनी ओर से कभी कोई आक्रमण न करते थे, और ऐसी सब बातों को "**माया**" का खेल समझकर आप उन सबसे उपराम रहकर शान्ति वा आनन्द में रहना चाहते थे।

बारहवां परिच्छेद

मेरे गुरु के दैनिक आचार और साधन के सम्बन्ध में कुछ उपदेश

मेरे गुरु ने मुझे और मेरी पत्नी को अपना शिष्य बनाने से पहले हमें अपने दैनिक आचारों और साधनों के विषय में जो कई नियम लिखकर दिए थे, वह इस प्रकार के थे :—

१—ब्रह्म के सम्बन्ध में

अपने आपको सब में वर्तमान देखना और यह समझना कि हमारे शरीर अलग २ हैं, परन्तु हम सब में एक ही ब्रह्म है।

२—गुरु के सम्बन्ध में

अपने सत्गुरु पर विश्वास रखना और कोई काम उनकी (शुभ) आज्ञा के विरुद्ध न करना।

३—माता पिता के सम्बन्ध में

अपने माता पिता को पूजनीय जानकर उनकी सब प्रकार से सेवा करना।

४—औरों के सम्बन्ध में

झूठ कभी न बोलना, चाहे उससे कैसी ही तकलीफ़ और कैसा ही नुक़सान नज़र आवे।

फ़ालतू बातें, जिनसे कुछ फ़ायदा न हो, कभी किसी से न करना, और जिससे जो बातचीत करनी हो, वह नेक करना। आप किसी की निन्दा न करना, और अपने कानों से भी किसी की निन्दा न सुनना; अगर तुम्हारे पास कोई किसी की निन्दा करना चाहता हो, तो उसे रोक कर यह कहना चाहिए, कि तुम परमेश्वर के विषय में कोई ज़िकर करो।

५—किसी और से बुराई मिलने पर उसे सहने का अभ्यास करना

अगर तुम्हें कोई बुरा कहे वा गाली दे, तो चुपचाप सुन लेना, और उसका बुरा न चाहना, किन्तु भला चाहना; और जब नागवार गुज़रे, तो उसे यह कहना, कि ईश्वर तुम्हारा भला करे।

६—अपने निज के सम्बन्ध में

दुनिया में अपने आपको सबसे बुरा और अपने से सबको अच्छा समझना।

कभी रंज मत करना, जब रंज पैदा हो, तब उसे बुरा समझना, और उसकी तरफ़ से दिल को रोकना।

मौत को हर समय याद रखना, और यह शब्द अकसर स्मरण करते रहना :—

"देह मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है, जो कुछ दिखाई देता है सब अनित्य है।"

अपनी "मैं" को मारकर अपने आपको मट्टी कर देने का अभ्यास करना और यह कभी न सोचना, कि मेरे पास यह चीज़ हो, तो ख़ूब हो, और मेरी यह बीमारी चली जाए तो अच्छा हो; किन्तु हर घटना को ईश्वर की इच्छा समझ कर उसमें ख़ुश रहने की कोशिश करना।

इन नियमों के भिन्न मेरे गुरु ने मेरे शिष्य हो जाने के कुछ दिन बाद मुझे मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी की उर्दू में तरजुमा की हुई जो गीता की किताब उपहार में दी थी, और जो अब तक मेरे पास है, और मेरी यादगार की चीज़ों में रक्खी हुई है, उसकी जिल्द के पास के एक सफ़ेद सफ़े और उसके सरवरक़ पर भी उन्होंने अपनी क़लम से कुछ गद्य लिख देने के भिन्न कुछ पंक्तियां पद्य में भी उर्दू में ही लिख दी थीं, उन्हें भी मैं नीचे लिखता हूं :—

"दुनियाए दूनी को जो कि फ़ानी समझे,
और क़िस्सए उमर को कहानी समझे;
दरयाए हक़ीक़त को वही जाय पैर,
जो मिस्ल हबाब ज़िन्दगानी समझे।"

"ऐबस्त बज़ुर्गतर कशीदन ख़ुद रा,
वज़ जुमलए ख़लक़ बरगुज़ीदन ख़ुद रा;
अज़ मरमके दीदा बबायद आमोख़्त,
दीदन हमा कस रा व न दीदन ख़ुद रा।"

भावार्थ (अपनी तरफ़ से) क्या अपने बड़ों और क्या और सबसे घमंड के वशीभूत होकर परे २ रहना ऐब में दाख़िल है। मनुष्य को आंख की पुतली से शिक्षा लेनी चाहिए कि वह औरों को तो देखती है, पर अपने आपको नहीं देखती।

* * *

"आया जो वजूद में, सो मादूम हुआ,
बेफ़हमी थी सब, जो कुछ कि मफ़हूम हुआ;
समझे इतना कि कुछ न समझे अफ़सोस,
मालूम हुआ कि कुछ न मालूम हुआ।"

* * *

"दुनिया की फ़िक्र दिल में अगर सौ लगी रहे,
आसिफ़ यह शर्त है कि उधर लौ लगी रहे;
मिलने न मिलने के तो वह मुख़्तार आप हैं,
पर हम को चाहिए कि तगो दौ लगी रहे।"

* * *

"बहोश बाश कि आलम रवा रवी पर है,
क़ज़ा लगाए हुए घात हर किसी पर है।"

"भाई साहब यह बात याद रखने के क़ाबिल है, कि दुनिया मिसल ख़्वाब है, तालिब इसका हमेशा ख़राब है, मगर फिर भी इसको हक़ीक़त की सीढ़ी समझ कर जब उसपर चढ़ने का इरादा करे, तब पहले अपने दिल को ख़ाकसारी का लिबास पहना ले; क्योंकि बिदून फ़िरोतनी की सीढ़ी के उस आली मकान पर पहुंचना मुहाल है।"

"देखा तो ख़ाकसारी ही आली मुक़ाम है,
ज्यों २ बलन्द हम हुए पस्ती नज़र पड़ी।"

"ख़ाकसार शिवदयाल सिंह
१० अगस्त १८७१ ई०"

तेरहवां परिच्छेद

मेरी दीक्षा

यह बताने से पहले कि ऐसे महापुरुष की शिक्षा और सुसंगत के प्रभावों से मेरे आत्मा में क्या २ परिवर्तन उत्पन्न हुआ, और मेरे आत्मा के विकाश में क्या २ अति मूल्यवान और अति आवश्यक सहायता मिली, मैं यह वर्णन करना चाहता हूं, कि उनसे मैंने कब और किस विधि से शिष्य विषयक दीक्षा लाभ की।

मैंने अपनी धर्म्म पत्नी सहित ९ जुलाई सन् १८७१ ई० को रुड़की में हि उनसे शिष्य विषयक दीक्षा ली थी। दीक्षा का दिन नियत किए जाने पर मैं जिस मकान में रहता था, उसके कमरे का पक्का फ़र्श पानी से धोया गया; उस पर एक जगह होम करने के लिए एक वेदी बनाई गई, और उस पर फूल चुने गए; उसके पास होम की सामग्री के भिन्न तीन जोड़े गेरुवे रंग की धोतियों और चादरों के और दो माले रक्खे गए। इसके अनन्तर हम सबने स्नान किया, और गेरुवे वस्त्र पहने। फिर होम किया गया, जिसके अनन्तर हमारे गुरु ने हममें से हर एक के कान में एक २ मन्त्र सुनाया, और यह आज्ञा दी, कि हम अपना २ वह मन्त्र किसी और पर कभी ज़ाहर न करें। इसके बाद हम दोनों ने उनका चरणामृत लिया, और उन्हें प्रणाम करके उनका आशीर्वाद लाभ किया, और उसके अनन्तर यह अनुष्ठान समाप्त हुआ।

शिष्य हो चुकने के अनन्तर हम दोनों अपने गुरु की शिक्षा के अनुसार विविध प्रकार के साधन करने लगे। हम दोनों प्रतिदिन नियत समय में स्नान करके और आसन पर बैठकर और गेरुवी धोती और चादर पहन के और धूप जला के नियत संख्या में गुरु मन्त्र और गायत्री मन्त्र का जाप करते, कई एक स्तोत्र पाठ करते, काग़ज़ पर लाल चन्दन के

साथ नियत संख्या में राम नाम लिखते, गुरु के रूप का ध्यान करते, और परस्पर के सम्वन्ध में अनुराग की वृद्धि और मंगल के लिए प्रार्थना करते। इसके भिन्न मैं धूप में खड़ा होकर और अपने गुरु के बताए हुए एक मन्त्र को पढ़कर और अपनी छाया पर मन स्थिर करके और फिर धीरे २ आकाश की ओर आंख उठाकर उसमें अपने प्रतिरूप को देखता। मुझे यह बताया गया था, कि जब मेरी मृत्यु के चालीस दिन रह जाएंगे, तब फिर यह "छाया पुरुष" मुझे दिखाई न देगा।

शिष्य हो चुकने पर प्रायः दो महीने तक मुझे अपने गुरु के चरणों में रहने का अधिकार प्राप्त रहा, परन्तु इसके अनन्तर फिर हम सबको एक दूसरे से जुदा होना पड़ा। शिष्य होने से पहले हि मैं ओवरसियर की परीक्षा में उतीर्ण हो चुका था। इसलिए कालेज के नियमानुसार उसके प्रिन्सीपल ने मेरा नाम और कितने ही नामों के साथ गवर्नमेण्ट आफ़ इंडिया के पास भेज दिया था। गवर्नमेण्ट आफ़ इंडिया ने और कई जनों के साथ मुझको महकमे रेल की नौकरी पर नियुक्त किया; इसलिए सरकारी नौकरी रखकर मेरे लिए अब रुड़की में रहना असम्भव हो गया। मेरे गुरु की भी ऐसी इच्छा न थी कि मैं यह नौकरी छोड़ दूं; इसलिए लाचार होकर और हृदय में यह आशा रखकर कि शायद फिर कुछ दिनों के बाद मुझे रुड़की में हि किसी सरकारी नौकरी के मिलने का अवसर निकल आवे, मैं बहावलपुर की तरफ़ चला गया। मेरी पत्नी अकबरपुर चली गईं; और इस प्रकार हम तीनों एक दूसरे से जुदा हो गए।

मैं रेल पर काम करने लगा। मैं अपने कर्तव्य बोध के अनुसार बहुत सचाई और परिश्रम के साथ काम करता था। मेरे अफ़सर मुझ पर बहुत ख़ुश रहते थे। परन्तु वहां पर मैं अपने आप को एक क़ैदी की तरह अनुभव करता था। मैं वहां पर इस अवस्था में बहुत उदास रहता था, और बार २ यह कामना करता था, कि कब यहां से निकलूं और रुड़की में अपने सतगुरु के चरणों में पहुंचूं। मेरे गुरु भी हमारी जुदाई से उदास और दुःखी रहते थे। हमारी यह आकांक्षा बहुत प्रबल थी।

इसलिए हम तीनों हि फिर इस शुभ सम्मिलन के लिए प्रार्थनाएं किया करते थे। इस प्रार्थना के भिन्न मैंने अपनी ओर से इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए देवी* के एक मन्त्र का पच्चीस हज़ार बार जप भी किया था। कुछ महीनों के अनन्तर एक सुयोग उत्पन्न हुआ। रुड़की कालेज में हेड सर्वेइंग मास्टर की जगह ख़ाली हुई। मैंने उसके लिए आवेदन पत्र भेजा। कई महीनों के पत्र व्यवहार के बाद मुझे वह जगह मिल गई। मेरी तबदीली का गजट भी हो गया, और जुलाई सन् १८७२ ई० में मैं अपने काम का चार्ज देकर वहुत ख़ुशी २ रुड़की को रवाना हुआ और रास्ते की कई एक सख़्त तकलीफ़ें उठाकर मैं वहां पहुंच गया।

*यह जप मैंने उस काल के कल्पित विश्वास के अनुसार किया था।

चौदहवां परिच्छेद

मेरे गुरु की बीमारी और मृत्यु

रुड़की में पहुंचते हि मैं अपने गुरु महाराज के चरणों में उपस्थित हुआ। वहां जाकर क्या देखता हूं, कि वह सख़्त बीमार हैं, उन्हें ज़ोर का बुख़ार चढ़ा हुआ है, और वह चारपाई पर लेटे हुए हैं। मुझे देखते ही उनका हृदय उछल पड़ा। उनके भीतर एक नया उत्साह आ गया। वह स्नेह से भर कर खड़े हो गए। मैंने उनके चरणों को स्पर्श किया। उन्होंने मुझे गले से लगाया और फिर उनके मकान के समीप ही जो मकान मैंने अपने रहने के लिए लिया था, वहां तक वह मेरे बहुत कुछ मना करने पर भी मेरे साथ २ आए और वह यह कहते रहे, कि अब तुम आ गए हो, आशा है कि मेरी बीमारी भी चली जाएगी। कुछ मिनटों के बाद वह अपने घर को लौट गए।

उनकी बीमारी कम न हुई। तीन चार दिन के वाद अर्थात् २४ जुलाई सन् १८७२ ई० को उन्हें अधरंग हो गया, और उनके शरीर का सारा दाहना भाग मारा गया। २७ तारीख़ को वह प्रायः ६ घण्टे तक अचेतन रहे। कुछ दिन के बाद उनके शरीर के दूसरे भाग पर भी फ़ालिज गिरा, और अब उनके शरीर का वह भाग भी रद्दी हो गया।

डाक्टर टामसन साहब जो रुड़की कालेज के प्रोफ़ेसर होने के भिन्न महकमे मौसम के हेड अफ़सर भी थे, इनके सच्चरित्र पर बहुत श्रद्धा रखते थे। उनका बयान था, कि देशी जनों में उन्होंने ऐसा आदमी अपनी ज़िन्दगी भर में कभी कहीं नहीं देखा, इसलिए वह इनके प्रति बहुत स्नेह रखते थे। और यद्यपि वह चिकित्सा का व्यवसाय न करते थे तथापि वह इन पर श्रद्धा रखने के कारण, इनके अफ़सर होकर भी ख़ुशी २ से इनके घर पर जाकर उन्हें देखा करते थे, और औषधियों

की व्यवस्था करते थे। कुछ दिन के लिए हमने उनके निवास घर को भी बदल दिया, और उन्हें कालेज के समीप हि एक बारक में ले जाकर रक्खा; परन्तु इस स्थान परिवर्तन से भी कुछ उपकार न हुआ, इसलिए उन्हें फिर घर वापिस ले आए। घर पहुंच कर उनकी हालत ज़्यादा नाज़ुक हो गई। एक दिन डाक्टर टामसन ने उनका चेहरा देखा और उनका हृदय भर आया। और उन्होंने अपनी डबडबाती हुई आंखों को रुमाल से पोंछ कर यह शब्द मुंह से निकाले "Poor Shiv Dayal Singh ! He is dying now ! !" अर्थात् "आह ! बेचारे शिवदयालसिंह ! अब मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं ! !" निदान उनकी मृत्यु का समय आ पहुंचा, और उन्होंने ३६ वर्ष की उमर में अपना स्थूल शरीर छोड़ दिया। मुझे और मेरी पत्नी को उनकी मृत्यु से जो कितना दुःख हुआ, उसका मैं कुछ वर्णन नहीं कर सकता।

मेरे गुरु के वृद्ध दादा भी उन पर बहुत श्रद्धा रखते थे। वह उनकी महिमा को कुछ न कुछ उपलब्ध करते थे, और इसलिए वह यह कहा करते थे, कि हमारे वंश में यह "वली" पैदा हुआ है। उन्होंने इसी श्रद्धा भाव से परिचालित होकर यह प्रण किया था, कि वह उनकी बीमारी में पाख़ाना साफ़ करने का काम किया करेंगे। मेरे गुरु मंझे पर लेटे २ पाट पर कई २ बार पाख़ाने होते थे, और उनके बूढ़े दादा बहुत ख़ुशी २ उनके नीचे यह पाट रखते, और उनके मल स्थान को ख़ुद ही पानी से साफ़ करते थे। बीमारी के दिनों में अभी जब कि वह अचेतन नहीं हुए थे, तब उन्होंने एक बार मेरी ओर देखकर कहा था, कि "तुम पर तो सिर मुंडाते हि ओले पड़े।" शोक! अत्यन्त शोक!! कि ऐसा सुन्दर और परोपकारी अस्तित्व इस क़दर शीघ्र इस पृथिवी से उठ गया!!!

पन्द्रहवां परिच्छेद

मेरे गुरु के उच्च प्रभावों के द्वारा मेरा आत्मिक विकाश

इससे पहले मैं यह बता चुका हूं, कि नेचर में मेरे आविर्भाव के अनन्तर मुझमें अपने जन्म-स्थान अर्थात् अकबरपुर में रहकर देवजीवन सम्वन्धी हित अनुराग विषयक विविध भाव जहां तक विकशित हो सकते थे, उनके वहां तक विकशित हो चुकने पर उसके अपने कार्यक्रम में यह आवश्यक था, कि मैं वहां से किसी विधि से निकल कर किसी ऐसे स्थान में जाऊं, जहां पर मुझे अपने आगे के विकाश के लिए अनुकूल अवस्था प्राप्त हो; इसीलिए मेरी प्रायः सोलह वर्ष की उमर में ऐसी घटनाएं उत्पन्न हुईं, कि जिनके कारण मैं अकबरपुर से निकल कर रुड़की में पहुंच गया। फिर रुड़की में पहुंचने पर एक वर्ष के बाद अर्थात् मार्च सन् १८६८ ई० में एक ऐसी घटना उत्पन्न हुई, कि मैं और मेरे गुरु किसी कारण से एक ही दिन और एक हि समय किसी एक ही स्थान में एकत्र हो गए, और हमें एक दूसरे के देखने वा एक दूसरे से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। यद्यपि उस स्थान में और बहुत से लोग भी वर्तमान थे, तथापि हम दोनों के हृदय अपनी **उच्च सादृश्यता** के कारण उसी समय एक दूसरे के प्रति लोहे और चौम्बक की न्याई **आकृष्ट** हो गए। उस समय नेचर के गुप्त प्रबन्ध के अनुसार हम दोनों ने हि एक दूसरे के प्रति एक आश्चर्य रसमय वा मधुमय आकर्षण अनुभव किया, और उसी समय से हम दोनों एक दूसरे के साथ **सात्विक अनुराग सूत्र से बंध गए,** और हमारे हृदयों में उसी समय से एक दूसरे से मिलने और एक दूसरे के निकट होने की आकांक्षा जाग्रत हुई। यह घटना हम दोनों को ही बहुत विस्मयजनक और निराली बोध

हुई, और सचमुच वह निराली हि थी, क्योंकि उससे पहले कम से कम मैंने अपने हृदय में इस प्रकार का **उच्च आकर्षण** किसी के सम्बन्ध में अनुभव नहीं किया था।

मेरे आत्मिक विकाश के लिए जैसे मेरे हृदय में मेरे गुरु के प्रति अनुराग का उत्पन्न होना आवश्यक था, वैसे हि मेरे आत्मिक हित के लिए उनके भीतर आकांक्षा उत्पन्न करने के निमित्त उनके हृदय में भी मेरे प्रति इस अनुराग का उत्पन्न होना आवश्यक था। इस अनुराग के बिना जैसे मैं उनके आत्मा के साथ जीवन्त और हितकर सम्बन्ध उत्पन्न करके उनके उच्च प्रभावों को लाभ नहीं कर सकता था, वैसे हि वह आप भी मेरे आत्मिक हित के लिए अपनी ओर से कोई यत्न वा सहाय नहीं कर सकते थे। इसलिए **नेचर के उच्च परिवर्तनकारी नियम के अनुसार अनुकूल समय के आने पर, हन दोनों के हृदयों में परस्पर के प्रति उपरोक्त हितकर आकर्षण उत्पन्न हो गया।** तब से मैंने उनसे और उन्होंने मुझसे मिलने की आकांक्षा अनुभव की, कि जो आकांक्षा दिनों दिन अधिक से अधिक उन्नत और मधुर होती गई। जिस समय हम दोनों के हृदयों में इस **सात्विक अनुराग** की जाग्रति हुई, उस समय मैं कालेज में विद्यार्थी था; इसलिए अपनी पढ़ाई और अन्य आवश्यक कामों को पूरा करने के अनन्तर बीच २ में मुझे जब कभी कुछ अवकाश मिलता, तब मैं उतने समय में उनसे मिलता, और वह भी इसी प्रकार मुझसे मिलते। इन्हीं मिलने जुलने के समयों में उन्होंने एक दिन मुझे भगवद्गीता की पुस्तक पढ़ने के लिए दी। यह पुस्तक लुधियाने के विख्यात वेदान्ती मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी ने फ़ारसी से उर्दू में तर्जुमा करके अपने नोटों के साथ छापी थी। इस पुस्तक को मैंने एक वा दूसरे समय में विचार पूर्वक पढ़ना आरम्भ किया। उसके कुल विषय हि मेरे लिए पूर्णतः नए थे। उसमें अलखधारी जी के दीबाचे और विविध नोटों और प्रकृत विषय के पाठ से मुझे यह प्रतीत हुआ, कि मैं अपनी वासनाओं और सांसारिक सब प्रकार के सुखों से ऊपर जिस आत्म-कल्याण के लिए अपने हृदय में **प्रबल भाव** रखता हूं, वह

आत्मिक कल्याण ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हि है। और इसी ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए मुझे प्रत्येक प्रकार का त्याग और साधन करना आवश्यक है। फिर अपने गुरु की संगत और वातचीत और उनकी अपनी साधन प्रणाली और उनके उच्च जीवन के देखने से जो प्रभाव मुझ तक पहुंचे, उन्होंने मेरी इस आकांक्षा के वढ़ाने में वहुत वड़ी सहायता की।

इसके अनन्तर प्राय: छ: सात महीने तक मैं रुड़की में विद्यार्थी रहा; जिसके वाद मैं नहर आगरा पर नौकर होकर मथुरा की ओर चला गया। परन्तु इस थोड़े से काल में हि मेरे भीतर अपने भावी गुरु के लिए इतना आकर्षण वढ़ चुका था, और मैं उनके पास और उनकी संगत में रहने का इतना लालसी वन चुका था, कि फिर उनसे दूर रह-कर मेरे लिए नौकरी करना बहुत कठिन और दूभर हो गया। मैं उनकी संगत से दूर रहकर **उनसे अपनी जुदाई के कारण कई बार** बहुत विलग २ कर रोया करता। मुझे वहां पर उनसे वढ़कर और कोई चीज़ आकृष्ट न करती और न ऐसी प्रतीत होती कि जिसके लिए मैं उनसे दूर पड़ा रहूं। मैंने बहुत व्याकुलता से उनके चरणों में पहुंचने के लिए "ईश्वर" से प्रार्थनाएं करनी आरम्भ कीं, और आख़िरकार नेचर के कार्यक्रम में मेरी यह शुभ कामना सुफल हुई। मुझे नहर पर नौकरी करते हुए सात-आठ महीने हि हुए थे, कि इतने में कालेज में असिस्टेण्ट सर्वेइंग मास्टर की एक जगह ख़ाली हुई। मैंने उसके लिए दरख़्वास्त की, और मेरी वह दरख़्वास्त मंजूर हो गई, और मैं जून सन् १८६६ ई० में पैंसठ रुपए महीने की नौकरी छोड़कर चालीस रुपए महीने की नौकरी पर फिर रुड़की चला गया। वहां पहुंच कर प्राय: सवा दो वर्ष तक मैं उनके चरणों में रहा। इस काल में उनकी संगत वा उनके प्रभावों से मुझमें जिस २ प्रकार का परिवर्तन उत्पन्न हुआ, वह यह था :—

१. माया से मोक्ष और ब्रह्मानन्द विषयक लक्ष्य की धारणा— इस काल से उनकी संगत से मेरे हृदय में ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए दिनों दिन आकांक्षा गाढ़ होती गई, और अब वह मेरे

आत्मा का एकमात्र लक्ष्य बन गई। उनकी संगत में आने से पहले यद्यपि मेरा हृदय सांसारिक नाना सुखों से ऊपर किसी और वस्तु की प्राप्ति का प्रबल आकांक्षी बन चुका था, तथापि मुझे यह कुछ ज्ञान न था, कि वह ऊपर की वस्तु क्या है; यहां पर अपने गुरु की संगत से यह ज्ञात हुआ, कि सब सांसारिक सुखों से ऊपर एक और उच्च आत्मिक आनन्द है, कि जो ब्रह्मज्ञान अर्थात् जीव और ब्रह्म के अभेद ज्ञान और माया विषयक सब असार बन्धनों के टूटने से लाभ होता है। इसी ज्ञान से पुनर्जन्म के कष्टों से भी मोक्ष मिलती है, और इसी परम पद का लाभ करना अधिकारी मनुष्य का परम पुरुषार्थ और परम लक्ष्य है।

२. **वैराग्य भाव की उन्नति**—मेरे गुरु जिस प्रकार के वैराग्य की शिक्षा देते थे, और अपने जीवन से उसका प्रकाश करते थे, वह वैराग्य वह न था, कि जिसमें **गृहस्थाश्रम का त्याग** वा किसी **उपवास** आदि किसी शारीरिक साधन की आवश्यकता हो। मेरे गुरु आप गृहस्थी थे; वह अपनी पत्नी और सन्तान के भिन्न और कई सम्बन्धियों सहित बहुत बड़ा परिवार रखते थे; वह नौकरी करके अपना और अपने पारिवारिक सब जनों का भरण पोषण आदि करते थे; वह गृहस्थ त्याग करके भीख मांगना और औरों की कमाई से पेट भरना वा सुस्वादु भोजन करना, नशे पीना, तीर्थ स्थानों के दर्शन और स्नान आदि के लिए वृथा भ्रमण और औरों के सम्बन्ध में अपने आवश्यक कर्तव्य कर्म्मों को छोड़कर वृथा समय नष्ट करना, वा कुछ देर किसी मंत्र वा स्तोत्र वा पुस्तक आदि का पाठ कर लेना, और इस प्रकार संन्यासी वा साधु कहलाना अत्यन्त गर्हित काम समझते थे। वह किसी ऐसी क्रिया को वैराग्य नहीं समझते थे। उनका वैराग्य इस प्रकार का न था। फिर उनका वैराग्य क्या था? उनका वैराग्य यह था, कि मनुष्य अपनी जिन नाना प्रकार की वासनाओं यथा सुस्वादु आहार, मादक द्रव्यों के सेवन, धन सम्पत्ति, मान बड़ाई, काम प्रवृत्ति और सन्तान आदि विषयक नाना सांसारिक सुखों के दासत्व में फंसकर और ईर्षा द्वेष आदि भावों के वशीभूत होकर विविध प्रकार के हार्दिक और शारीरिक कष्ट पाता और भोगता है,

और भ्रम वशतः जिन जनों वा पदार्थों को प्रिय समझ कर उनके **मोह** में लिप्त होता है, और उनके **वियोग** से विविध प्रकार का अनावश्यक **कष्ट** पाता है और एक २ बार इतना भयानक कष्ट पाता है, कि उसे अपने लिए **असह्य** पाकर **आत्मघात** तक करने के लिए तैयार हो जाता है, वह इस "दासत्व" वा "मोह" के सम्वन्ध में यथार्थ बोध लाभ करने पर उनसे **वैराग्य** वा **विरक्ति** लाभ करे, अर्थात् वह उनके सम्वन्ध में अपने दासत्व वा "मोह" विषयक नाना वन्धनों को काटने वाले **वैराग्य वा विकर्षण भाव के लाभ करने के योग्य बने, क्योंकि उन बन्धनों के सम्बन्ध में यथेष्ट विकर्षण वा वैराग्य भाव के उत्पन्न होने पर हि कोई मनुष्य उनसे मोक्ष पा सकता है, उसके बिना कदापि नहीं।** इसलिए इस महान् **वैराग्य भाव** को प्राप्त होकर एक जन गृहस्थी होकर भी वैरागी हो सकता है, और उससे शून्य रहकर घरबार छोड़कर और दंड कमंडल लेकर और गेरुवे वस्त्र पहन कर और संन्यासी वा साधु नाम रखकर भी कोई जन सच्चा वैरागी नहीं हो सकता, और वह विविध रूप से विषयासक्त हि रहता है।

इस दासत्व वा मोह के भिन्न किसी जन की ओर से अपने प्रति किसी मिथ्या कलंक के लगाने, अशिष्ट वर्ताव के करने वा किसी सम्ब्रन्धी के विश्वासघाती वा कृतघ्न आदि वन जाने, धनादि के अभाव से किसी वस्तु के न मिलने आदि से जो अन्य विविध प्रकार के कष्ट मनुष्य को मिलते हैं, उन्हें साधक **माया** का खेल समझ कर **उपेक्षा** करने का अभ्यास करे, और किसी की ओर से किसी शुश्रूषा, सेवा वा प्रशंसा आदि मूलक किसी सुख का आकांक्षी न बने, और इस प्रकार के **सब दुःखों और सुखों को बराबर** समझने की चेष्टा करे। और उन्हें असार क्षण भंगुर वा ईश्वर की इच्छा जान कर उनसे अपने हृदय को **उपराम** करने का अभ्यास करे। इसी प्रकार के वैराग्य भाव से परि-चालित होकर उन्होंने अपनी आख़री चिट्ठी में मुझे यह लिखा था :—

"हे ब्रह्मदास ब्रह्म में लीन होना चाहिए। त्याग नाम घर और बच्चों और पत्नी आदि के छोड़ देने का नहीं है, किन्तु त्याग नाम माया

का है।"

"भाई जान प्रभू की इच्छा में प्रसन्न रहना और कभा शिकायत न करना।"

"अपना काम दम मारने का नहीं है। हर समय उसकी (ईश्वर की) इच्छा में राज़ी रहना मुनासिब है। यदि ऐसा न हो, तो अधैर्य्य से दु:ख और विषाद के भिन्न और क्या मिल सकता है ?"

"अपनी "मैं" को मार कर उसी की इच्छा के साथ एक हो जाना मुख्य साधन है।"

"हो फ़ना ज़ात में कि तू न रहे,
तेरी हस्ती की रंगो बू न रहे"

मेरे गुरु की इस शिक्षा में जहां तक उपरोक्त "दासत्व" वा "मोह" के बन्धनों से **मोक्ष** पाने की आवश्यकता की शिक्षा का सम्बन्ध है, वह निश्चय **ठीक** थी; परन्तु अन्य कई प्रकार के दु:खों और सुखों को बराबर समझने और कई प्रकार के दु:खों के विषय में कोई शिकायत और उनके दूर करने के निमित्त कोई यत्न वा चेष्टा न करने और उन्हें प्रभू वा परमेश्वर की इच्छा जानकर उनके केवल सहने का अभ्यास करने की जो शिक्षा थी, वह **ठीक न थी**। इसी प्रकार "ब्रह्म" वा "ईश्वर" नामक किसी अस्तित्व वा उसमें लीन हो जाने के सम्बन्ध में भी उनका विश्वास सत्य न था। और यद्यपि मैं अपनी उस काल की मानसिक और हार्दिक योग्यता के अनुसार उनकी इसी शिक्षा वा उनके बताए हुए इसी लक्ष्य को ग्रहण कर सकता था, और इसीलिए उस समय मैंने उसे ग्रहण किया, तथापि उसके ग्रहण करने से जहां तक मेरे **वैराग्य भाव** का सम्बन्ध था, उसमें मुझे **पुष्टि** और उसकी **उन्नति** में मुझे बहुत बड़ी सहायता मिली कि जो **उन्नति मेरे आत्मिक विकाश के लिए अत्यन्त आवश्यक** थी, कि जिस आवश्यकता को नेचर ने मुझे रुड़की में पहुंचाकर और उनके साथ सात्विक सम्बन्ध से जोड़कर पूरा किया। क्योंकि, इस **वैराग्य भाव के यथेष्ट रूप से उन्नत होने के बिना** यह पूर्णत: सम्भव था, कि मैं अपनी युवा अवस्था में युवा काल

सम्वन्धी एक वा दूसरी प्रवृति के सिर निकालने और धन और पद आदि के मिलने पर किसी एक वा दूसरे प्रकार के प्रलोभन में पड़कर अपने उच्च विकाश सम्वन्धी पथ से भ्रष्ट हो जाता। इसीलिए मुझमें वासना-मूलक नाना प्रलोभनों से सदा ऊपर रहने के लिए **वैराग्य विषयक जितने प्रबल भाव की बहुत बड़ी आवश्यकता थी,** उसकी उन्नति का नेचर के द्वारा हि सारा प्रबन्ध हो गया। युवा अवस्था के आरम्भ में हि मेरे गुरु का यह अमूल्य दान मेरे लिए जिस प्रकार नितान्त आवश्यक था, उसी प्रकार वह मुझे नाना पतनकारी प्रलोभनों से सुरक्षित रखने और मेरे भावी देवजीवन के विकाश के लिए अत्यन्त कल्याणकारी प्रमाणित हुआ।

इस वैराग्य भाव में उन्नत होकर जब मेरा आत्मा क्या अपनी पत्नी, क्या सन्तान, क्या धन सम्पत्ति, क्या मान, क्या यश, क्या प्रशंसा, क्या बड़ाई, क्या पद, क्या प्रभुत्व, क्या सुस्वादु खान पान, क्या काम प्रवृत्ति और क्या अन्य शरीर सम्बन्धी सुखों वा विषयों की **अनुरक्ति वा आसक्ति** से ऊपर हो गया, और उनमें से किसी के प्राप्त होने पर जो कुछ और जहां तक मेरे आत्मा और उसके साथी और यंत्र स्वरूप भौतिक शरीर के लिए अहितकर हो, उसके लिए मुझमें **विकर्षण भाव** उत्पन्न हो गया, और ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मानन्द लाभ करना मेरा मुख्य लक्ष्य बन गया; तब इस मुख्य लक्ष्य के सम्बन्ध में मुझे सब प्रकार के विचार वा पाठ वा उच्च चिन्ता वा ध्यान आदि के लिए जिस प्रकार के मोह रहित अनुकूल हृदय की आवश्यकता थी, उस प्रकार का अनुकूल हृदय मुझे प्राप्त हो गया।

उपरोक्त सब प्रकार की वासनाओं के अधिकार से रहित और ईर्षा द्वेष आदि उत्तेजनाओं से शून्य हृदय को प्राप्त होकर, मुझमें आत्मा के सम्बन्ध में पाठ, विचार, बात चीत और एक वा दूसरे प्रकार का ध्यान वा जप आदि साधन इतना प्रिय और रस दायक हो गया, कि फिर उससे बढ़कर और कुछ प्रिय वा रसदायक न रहा। यह निम्न प्रकार का आत्म बोध था, कि जो मुझमें उस समय जाग्रत हुआ।

इस बोध के जाग्रत हो जाने पर मैं अलखधारी की तरजुमा की हुई उपरोक्त उर्दू गीता और उन्हीं की ओर से प्रकाशित योग वाशिष्ठ और अन्य वेदान्त की पुस्तकों का बहुत अनुराग पूर्वक पाठ करता था। फिर उन्हीं दिनों में उन्होंने एक मासिक उर्दू पत्र निकालना आरम्भ किया था, उसका भी मैं खरीदार बनकर उसे बड़े प्रेम से पढ़ा करता था, और अपने गुरु का ध्यान करके उनके साथ आत्मिक योग के द्वारा सात्विक रस लाभ करता था। मैं अपनी धर्म्म पत्नी को उपरोक्त प्रकार की पुस्तकें सुनाया करता था, और इस हित भाव से परिचालित होकर कि वह अपने आप उनका पाठ करने के योग्य बन जायं, उन्हें उर्दू पढ़ाता था, और ब्रह्म के सम्बन्ध में मेरे गुरु ने मुझे जो मन्त्र बताया था, उसका खाली समय में अकसर जप किया करता था, और अपनी धर्म्म पत्नी के साथ आत्मिक योग के द्वारा उच्च रस की प्राप्ति के भिन्न आत्मा के सम्बन्ध में विविध प्रकार की बातचीत किया करता था, और यह बात चीत हम दोनों को हि बहुत हृदयग्राही अनुभव होती थी, और हम दोनों एक दूसरे के साथ शरीर से ऊपर आत्मिक अनुराग मूलक सात्त्विक सम्बन्ध के रस को आस्वादन करते थे।

शारीरिक भरण पोषण आदि के लिए नौकरी के द्वारा मुझे धन उपार्जन करने की जितनी देर काम करने की आवश्यकता होती थी, उसमें कई बार उस नौकरी के समय में भी अवसर पाकर और उसके भिन्न और समयों में मुझे जितना अवकाश मिलता था, उसमें मैं इसी प्रकार के साधनों में रत रहता था। मुझे अपने गुरु और अपनी पत्नी के भिन्न वहां अपने चारों ओर कोई ऐसा जन दिखाई नहीं देता था, कि जो सांसारिक विषयों से ऊपर आत्म-ज्ञान वा आत्म-सम्बन्धी किसी सात्विक रस का आकांक्षी हो। इसीलिए इस आकांक्षा से विहीन और विषयासक्त लोगों के प्रति मेरे हृदय में कोई आकर्षण न था। और किसी आवश्यक काम काज के भिन्न मुझे उन लोगों की संगत पसन्द न थी, और जैसे शराब, अफ़ीम वा भंग आदि नशों का अनुरागी उन लोगों की हि संगत को अधिक पसन्द करता है, कि जो उसकी न्याईं इन नशों के

अनुरागी हों, और वह उनके पास बैठना और उनके साथ मिलकर एक वा दूसरे नशे का सेवन करना, उसकी प्रशंसा सुनना और सुनाना पसन्द करता है, और जो उनका सेवन न करते हों, वा उन्हें बुरा समझते हों, उनसे अपनी इस प्रकार की तृप्ति न पाकर उनसे दूर रहना चाहता है; वैसा हि मेरा हाल था। मुझे किसी आवश्यकता के भिन्न ऐसे जनों से मिलना जुलना प्रिय न था, कि जो **आत्म बोधी** न हों, और जिनके साथ **आत्मा** के सम्बन्ध में मेरी कोई बातचीत न चल सकती हो, और उसके द्वारा कोई **सात्विक रस** न मिल सकता हो। जिस प्रकार किसी युवा पुरुष वा स्त्री में काम वासना की जाग्रति के हो जाने पर, वह काम वासना मूलक प्रेम की कहानियां पढ़ना वा सुनना, वा उसके सम्बन्ध में गीत आदि गाना वा सुनना वा बातचीत करना वा किसी विशेष स्त्री वा पुरुष का ध्यान वा चिन्तन करना प्रिय बोध करता है, और ऐसे जनों की संगत में सुख और तृप्ति अनुभव करता है, और उसका लालसी रहता है, उसी प्रकार **आत्म बोधी** होकर **मैं आत्मा** के सम्बन्ध में बातचीत, पाठ और विचार और जप आदि साधनों, और आत्मिक योग विषयक रस वा आनन्द का लालसी बनकर आत्म बोध विहीन और विषयासक्त लोगों के लिए कोई आकर्षण वा उनके साथ अपना कोई **आत्मिक सम्बन्ध** अनुभव नहीं करता था; और इसलिए किसी आवश्यक काम काज के भिन्न उनसे और कोई सम्बन्ध न रखता था, और इस प्रकार उन से अलग थलग रहकर उनके बुरे प्रभावों से भी बचा रहता था।

वेदान्त फ़िलासफ़ी के अनुसार दुःखों से अतिशय मोक्ष और अपने आत्मा को पाप पुण्य के विचार से निर्लेप और सब अस्तित्वों में वर्तमान और सत्य और नित्य पुरुष उपलब्ध करना मनुष्य का परम पुरुषार्थ समझा गया है। इसी का नाम परमार्थ और इसी का नाम निर्वाण पद है। इसी का नाम ब्रह्म में लीन होना वा ब्रह्म-साक्षात्कार है। सांख्य-दर्शन में कपिल मुनि की शिक्षा के अनुसार दो वस्तुएं सदा से थीं, और सदा रहती हैं, और उन्हीं दो के मेल से सब प्रकार के अजीवित और जीवित अस्तित्व प्रगट होते हैं। उनमें से एक का नाम उन्होंने "पुरुष"

और दूसरी का नाम "प्रकृति" रक्खा है। "प्रकृति" का हि दूसरा नाम माया भी है। आधुनिक सायंस वा विज्ञान विषयक सत्य ज्ञान का जिस प्राचीन काल में प्रचार नहीं हुआ था, उस काल में इस देश में कपिल आदि कई दर्शनकारों के लिए विश्व तत्त्व के उद्घाटन के निमित्त कल्पना और एक सीमा तक तर्क बुद्धि के परिचालन के भिन्न **परीक्षा-मूलक** सत्य की प्राप्ति के लिए कोई भाव न था। इसलिए यद्यपि उस काल में उन्होंने विश्व विषयक रहस्य के खोलने के सम्वन्ध में जो चेष्टा की थी, वह चेष्टा अवश्य बहुत प्रशंसनीय थी; परन्तु उनकी और उन जैसे अन्य सब चिन्ताशील पुरुषों की यह चेष्टा उसी प्रकार की थी, कि जिस प्रकार परीक्षा मूलक रसायन (Chemistry) सम्बन्धी सच्चे विज्ञान से पहले कितने हि जनों ने पारे को चांदी और तांबे को सोना बनाने की चेष्टा की थी, कि जो यद्यपि वह आप सत्य उद्घाटक न थी, और नहीं हो सकती थी, तथापि वह नेचर के विकाशकारी नियम के अनुसार भावी सत्य के उद्घाटन में सहायक होने के लिए निश्चय आवश्यक थी।

इस समय के नाना चिन्ताशील विद्वानों की न्याईं वेदान्त फ़िलासफ़ी के प्रारंभिक काल के चिन्ताशील विद्वान् भी केवल इतना बोध रखते थे, कि उन्हें और उन्हीं की न्याईं और लाखों मनुष्यों को दुःख की अवस्था प्रिय नहीं है, और सुख की अवस्था प्रिय है; इसलिए **मनुष्य दुःख से स्वभावतः निवृत्ति वा मोक्ष और सुख की प्राप्ति चाहता है।** फिर मनुष्य को जो दुःख वा कष्ट अनुभव होते हैं, वह दो प्रकार के हैं :—(१) हार्दिक, (२) शारीरिक। हार्दिक दुःख वह हैं, कि जो किसी प्रिय सम्बन्धी वा वस्तु के वियोग से मिलते हैं और इनके भिन्न किसी जन की ओर से अप्रशंसा करने वा मिथ्या कलंक लगाने वा गालियां देने वा किसी और प्रकार से अपमान वा तिरस्कार आदि से मिलते हैं। और शारीरिक कष्ट वह हैं, कि जो किसी रोग के उत्पन्न होने वा सर्दी वा गर्मी के लगने, भूख प्यास के समय अन्न जल के न मिलने और किसी दंशक वा विषधर कीड़े वा अन्य पशु के काटने वा लात मारने वा

किसी मनुष्य की ओर से मारने पीटने आदि से मिलते हैं।

इन दुःखों में से वह दुःख जो किसी सम्वन्धी मनुष्य अर्थात् पति वा पत्नी, पुत्र वा पुत्री, वा भाई वा वहिन आदि में से किसी के वियोग वा धन सम्पत्ति आदि किसी प्रिय पदार्थ के चले जाने वा नष्ट हो जाने से मिलते हैं, वह इसलिए मिलते हैं, कि मनुष्य उनके साथ **मोह बन्धन** में बंध जाता है। इसलिए यदि वह वैराग्य भाव को प्राप्त होकर उनके मोह विषयक बन्धनों से मुक्त हो जाय, अर्थात् उनके साथ वह "मेरा" "मेरी" को लेकर जो सम्बन्ध रखता है, उस "मेरा" "मेरी" के भाव को नष्ट करके और किसी की ओर से अप्रशंसा वा निन्दा वा गालियां वा किसी अन्य अपमान आदि मूलक क्रिया से जो हार्दिक कष्ट मिलता है, उसके **सहने** का अभ्यास करे और उसके रोकने के लिए कोई उपाय न करे; और गर्मी, सर्दी, वृष्टि, झड़ आदि से जब कभी कष्ट मिले उसे भी सहने का अभ्यास करे, और बीमारी के आने पर उसका इलाज करने पर भी यदि वह दूर न हो, तब उसे और इसी प्रकार किसी और अनिवार्य कष्ट को **ईश्वर को इच्छा जानकर** उसके सहने का अभ्यास करे; तो वह इन सब साधनों से एक ओर बहुत से कष्टों से मोक्ष वा उसके सहने की शक्ति लाभ कर सकता है, और मोहमूलक चिन्ता से अपने हृदय को धीरे २ मुक्त करके और उसे किसी कल्पित वा सत्य परन्तु उच्च अस्तित्व की चिन्ता वा उसके ध्यान वा उसके जप साधन में प्रयोग करके ऐसी शान्ति वा उच्च रस वा आनन्द लाभ कर सकता है, कि जिसके चले जाने वा नष्ट हो जाने की उसे कोई आशंका नहीं हो सकती।

इसके भिन्न ऐसा साधक यदि अपने नाना कामों को इस प्रकार से करने का अभ्यास करे, कि उनमें से किसी काम के सम्बन्ध में उसके भले वा बुरे फल की प्राप्ति की आकांक्षा वा आशा न रखे, तो उसे अपने भले वा बुरे कर्म्मों के फल भोगने के लिए उसे जो इस पृथिवी में फिर किसी मनुष्य वा पशु वा वृक्ष आदि के रूप में जन्म लेना पड़ता है, और कई प्रकार का फिर कष्ट सहना पड़ता है, उस पुनर्जन्म के कष्टों से भी वह मुक्त हो जाता है।

यह वह वेदान्त फ़िलासफ़ी है, कि जिसका अल्पाधिक एक वा दूसरे रूप में इस देश के भिन्न और कई देशों में भी प्रचार हुआ है। और इस देश में हिन्दुओं के भिन्न मुसलमानों में भी इसका प्रभाव पड़ा है, और उनमें से जो इस फ़िलासफ़ी को मानते हैं, वह सूफ़ी कहलाते हैं। यह कुल फ़िलासफ़ी इस मूल तत्त्व को लेकर सोची गई है, कि जब कि मनुष्य अपने स्वभाव से हि **सुख के लिए आकर्षण वा अनुराग** और उसके विरुद्ध **दुःख के लिए विकर्षण वा विराग भाव** रखता है, इसीलिए जहां तक सम्भव हो, **दुःख से मोक्ष पाना** और **सुख लाभ करना** मनुष्य का उद्देश्य होना चाहिए। फिर मनुष्य को जिस २ प्रकार के **हार्दिक दुःख** मिलते हैं, उनमें से **मोह मूलक दुःख वैराग्य भाव** की उत्पत्ति से दूर हो सकते हैं; और शेष जो पूर्णतः दूर नहीं हो सकते, उनके सहने का अभ्यास करने से उनकी अनुभूति अल्पाधिक सीमा तक अवश्य घटाई जा सकती है। और यदि वासनिक विषयों से ऊपर आत्म बोधी हो जाने पर मनुष्य किसी सत्य वा कल्पित उच्च अस्तित्व का ध्यान करके और आत्मा के सम्बन्ध में किसी प्रकार का पाठ, विचार वा गान करके वा किसी चर्चा में प्रवृत्त रहे, तो वह सात्विक सुख भी पा सकता है; और इस विधि से वह अपने उपरोक्त उद्देश्य को सिद्ध कर सकता है।

इस फ़िलासफ़ी की शिक्षा में जहां तक **मोह के बन्धनों से मोक्ष** और उसके लिए **वैराग्य भाव की उत्पत्ति** की आवश्यकता का सम्बन्ध है, वहां तक वह निस्सन्देह ठीक है, परन्तु आत्मा के

(१) सुख वा आनन्द विषयक लक्ष्य,

(२) आत्मा के अजन्मा, अमर, और पाप पुण्य विषयक कर्म्मों के विकारों से निर्लेप मानने; की जितनी शिक्षा है, वह सर्वथा मिथ्या है।

इसके भिन्न इसमें मनुष्य के सम्बन्ध में मरने के अनन्तर अपने भले वा बुरे कर्म्मों के फलों के भोगने के लिए इस पृथिवी में फिर किसी मनुष्य वा पशु वा वृक्ष वा जल वा पत्थर आदि का रूप ग्रहण करके पुनर्जन्म लेने की जो शिक्षा है, वह भी पूर्णतः मिथ्या है। फिर किसी

मनुष्य के वेदान्ती बन जाने पर उसे अपने भले और बुरे कर्म्मों के फलों से मोक्ष पाने के लिए जो यह् विधि बताई गई है, कि यदि कोई मनुष्य अपने कर्म्मों के फलों की कोई आकांक्षा न करे, तो फिर उनका फल उसे न मिलेगा, वह भी पूर्णतः मिथ्या है। क्योंकि हमारे किसी भी कर्म्म का, चाहे वह भला हो वा बुरा, फलीभूत होना हमारे अपने मन २ में उसके चाहने वा न चाहने पर निर्भर नहीं करता, किन्तु नेचर के अटल नियम के अनुसार हमारे प्रत्येक कर्म्म का फल **अनिवार्य है,** यथा हम रोटी खाकर चाहे सौ बार भी अपने मन २ में यह चाहें, कि उसके द्वारा हमारे शरीर में कुछ भी ख़ून न वने, वा हमारे शरीर के किसी अंग में कोई परिवर्तन न आवे, तो भी उससे हमारे शरीर की कार्य्य प्रणाली के अनुसार ख़ून वनेगा और वह हमारे शरीर के अंगों में पहुंच कर उनमें परिवर्तन लाकर अपना फल उत्पन्न करेगा; इसी प्रकार यदि हम संखिया खावें और अपने मन २ में यह आकांक्षा करें, कि उसका विष हमारे शरीर में अपना कोई फल उत्पन्न न करे, तो भी वह हमारे शरीर में प्रवेश करने के अनन्तर अपने विष का फल उत्पन्न करेगा। और किसी देश और किसी जाति का कोई मनुष्य नेचर के इस अटल नियम के विरुद्ध जाकर मन २ में अपने कर्म्मों का फल न चाह कर उनके फलों से बच नहीं सकता, और इसीलिए इस कल्पित विधि के द्वारा अपने आप कर्म्मों के फलों से भी वह कभी मोक्ष लाभ नहीं कर सकता; और न उपरोक्त कल्पना द्वारा अपने किसी भले कर्म्म के फल की प्राप्ति से हि अपने आपको बचा सकता है। इसलिए इस तत्त्व के विचार से भी वेदान्त की मन २ में फल-त्याग सम्बन्धी शिक्षा पूर्णतः मिथ्या है।

नेचर हि एकमात्र **सत्य** है, वह पहले भी सदा **सत्य** थी, अब भी **सत्य** है, और आगे भी सदा **सत्य** रहेगी। इस सत्य नेचर के विषय में (जिसमें मनुष्य का सारा अस्तित्व भी संयुक्त है) सत्य ज्ञान लाभ करने की वर्तमान **विज्ञान संगत** विधि को छोड़कर कि जिसके अनुसार जो कोई बात परीक्षा की कसौटी पर परखी जा सकती हो, वह बात **परीक्षा** के द्वारा **ठीक प्रमाणित होने पर हि** ठीक वा सत्य मानी जानी

चाहिए, और कोई फ़िलासफ़ी ठीक नहीं हो सकती। और इस विज्ञान सम्मत विधि को छोड़कर जितने प्रकार की कोई और फ़िलासफ़ी है, वह सब रद्दी है। और वह किसी भी सच्चे वैज्ञानिक की दृष्टि में कभी भी ग्रहण करने के योग्य नहीं हो सकती।

मैं जिस काल में अपने उपरोक्त गुरु का शिष्य बना था, उस काल में इस वेदान्त फ़िलासफ़ी के मिथ्या तत्त्व के देखने के लिए मुझ में जहां तक उन्नत मानसिक शक्तियों की आवश्यकता थी, वहां तक वह विकशित नहीं हुई थीं, इसलिए उस काल में मैंने उसे ग्रहण किया था; परन्तु उसके अनन्तर अपने देवजीवन के विकाश के द्वारा उसके मिथ्यापन के देखने के योग्य हो जाने पर, मैंने उसे सर्वथा त्याग दिया था। परन्तु अपने गुरु के जीवन के दर्शन और उनकी संगत के उच्च प्रभावों से मुझ में जिस **वैराग्य भाव की उन्नति** हुई, और आत्मा के विषय में जो थोड़ा सा बोध जाग्रत हुआ, वह अत्यन्त मूल्यवान लाभ था और उसकी मुझे उस काल में अपने देव जीवन के विकाश के पथ में **नितान्त आवश्यकता** थी, कि जो नेचर की अपनी कार्य्य प्रणाली के द्वारा पूरी हुई। और यदि मेरे इस विकाश के पथ में मुझे उस काल में उनकी यह अत्यन्त आवश्यक और हितकर सहाय न मिलती और मेरा **वैराग्य भाव यथेष्ट रूप से उन्नति लाभ न कर सकता**, तो मेरे आत्मा के लिए बहुत बड़ी हानि की आशंका हो सकती थी। इसलिए क्या उस सात्विक आकर्षण के विचार से कि जो मेरे हृदय में उनके प्रति उत्पन्न हुआ था, और क्या उनके इस अति मूल्यवान उपकार के लिए कृतज्ञ भाव अनुभव करने के विचार से मैं उनके साथ जिस आत्मिक उच्च सम्बन्ध सूत्र से जुड़ा था, वह उच्च, पवित्र, सुन्दर और हितकर सम्बन्ध जैसे अब तक मेरे आत्मा को उनके साथ बांधे हुए है, और इस सम्बन्ध के कारण मैं प्रति दिन अपने निज के साधन में उन्हें स्मरण करके उनके लिए मंगल कामना करता हूं, वैसे हि आगे के लिए भी मैं उनके द्वारा उनके साथ बंधे रहने की आशा करता हूं।

"अहं" वा "मैं" का त्याग—वेदान्त की फ़िलासफ़ी के अनुसार

मेरे गुरुजी ने "अहं" वा "मैं" के त्याग के सम्बन्ध में मुझे जो शिक्षा दी थी, वह भी दुःख की निवृत्ति वा सुख की प्राप्ति के उद्देश्य को लेकर थी। इस विषय में उनका जो उपदेश था, वह प्रायः उन्हींके शब्दों में इस प्रकार का था :—

"अपने आपको मट्टी कर देना चाहिए, और यह न सोचना चाहिए कि मेरे पास यह चीज़ हो तो ख़ूब हो, और मेरी यह बीमारी चली जाय तो बेहतर हो। हमेशा ईश्वर की इच्छा में प्रसन्न रहना चाहिए।"

"अपनी "मैं" को मार उसी की (ईश्वर की) इच्छा के साथ एक हो जाना मुख्य साधन है।"

"यदि तुम्हें कोई बुरा कहे या गाली दे, तो तुम सुन लो, और जब उसका ऐसा करना तुम्हें कष्ट दायक मालूम हो, तब उसे कहो कि ईश्वर तुम्हारा भला करे।"

अर्थात् तुम्हें जो कुछ और जहां कहीं किसी मनुष्य वा किसी और के द्वारा कोई कष्ट मिले, वा हानि पहुंचे, उससे **अपने बचाव के लिए तुम साधारणतः कोई चेष्टा वा यत्न मत करो** और इस प्रकार के प्रत्येक कष्ट और ऐसी प्रत्येक हानि को "ईश्वर" नामक किसी पुरुष की "इच्छा" समझ कर उसे न केवल चुपचाप किन्तु "प्रसन्नता के साथ" सहने का अभ्यास करो, और यदि तुम्हारी "मैं" ऐसा करने वा मानने में रोक बनती हो, तो उसके **मारने** का अभ्यास करो, यहां तक कि अपनी इस "मैं" वा अपने इस "अहं" भाव को मारते २ अपने आपको मट्टी कर दो, अर्थात् उसे जड़ **के अबोधी रूप में पहुंचा दो।** मेरे गुरु की यह शिक्षा भी सत्य न थी। परन्तु उनकी इस शिक्षा से मेरे "अहं" में किसी विचार के योग्य कोई अन्तर नहीं आया, और न मुझे कभी यह मालूम हुआ कि उस "ईश्वर" नामक पुरुष की ऐसी इच्छाएं कौन २ सी और कितनी हैं, कि जिनका किसी मनुष्य के लिए विश्व के विविध अस्तित्वों के सम्बन्ध में पूरा करना आवश्यक है, और न यही कभी मालूम हुआ, कि इस "ईश्वर" नामक पुरुष की इच्छाएं क्योंकर जानी जा सकती हैं, और यह क्योंकर पता लग सकता है कि अमुक इच्छा "ईश्वर" की हि

है, और उसके भिन्न किसी और की नहीं।

फिर भी मेरे हृदय में अपने गुरु के प्रति गाढ़ आकर्षण और श्रद्धा के जाग्रत हो जाने से मैं इस आत्मिक अवस्था में पहुंच चुका था, कि वह आप जिस किसी सुख दायक परन्तु **वास्तव** में बुरी क्रिया से बचे हुए थे, उस बुरी क्रिया को मैं भी उनकी न्याईं **बुरे और घृणित रूप में अनुभव करने लगा,** और वह अपने हृदय में जो २ वास्तविक उच्च भाव रखते थे, उनके द्वारा मेरे हृदय में उसी २ प्रकार के उच्च भावों की जाग्रति हुई वा उनको पुष्टि मिली। यथा :—

(१) वह किसी सांसारिक लाभ की प्राप्ति वा किसी सांसारिक हानि से बचने के निमित्त **झूठ बोलना** घृणित बोध करते थे, उनके द्वारा यह घृणा भाव मेरे हृदय में भी जाग्रत हो गया।

(२) वह **व्यभिचार** के सम्बन्ध में बहुत बड़ी घृणा रखते थे, उनके द्वारा मेरे हृदय में भी उसके लिए बहुत घृणा उत्पन्न हो गई।

(३) वह अपने हृदय में धन सम्पत्ति के उपार्जन करने के सम्बन्ध में **बददयानती** के लिए बहुत बड़ी घृणा रखते थे, उनके द्वारा यह घृणा मेरे हृदय में भी बहुत शीघ्र जाग्रत हो गई।

(४) उनमें औरों के सम्बन्ध में अपनी **सत्य प्रतिज्ञा** के पालन का भाव वर्तमान था, उससे मेरे हृदय में भी इस भाव की जाग्रति हो गई।

(५) उनमें **दया** विषयक भाव वर्तमान था, उससे मेरे दया भाव को पुष्टि मिली।

(६) उनमें **कर्तव्य** विषयक भाव वर्तमान था, उससे मेरे कर्तव्य भाव को पुष्टि मिली।

(७) उनमें **सहानुभूति** का भाव वर्तमान था, और वह किसी के किसी २ अभाव के सम्बन्ध में इस भाव से परिचालित होकर उसकी एक वा दूसरे प्रकार की सहाय करते थे, उससे

मेरे भी इस भाव को पुष्टि मिली ।

(८) उनमें **बाध्यता** विषयक भाव वर्तमान था, उसके द्वारा मेरे भी इसी प्रकार के भाव को पुष्टि मिली ।

(९) उनमें अपने उपकारियों के प्रति **कृतज्ञ भाव** वर्तमान था, उनके इस भाव से मेरे कृतज्ञ भाव को भी पुष्टि मिली ।

(१०) उनमें पाठ, विचार, जप और प्रार्थना आदि विषयक अपने **एकान्त दैनिक साधनों** के पूरा करने का प्रबल भाव वर्तमान था, उससे मेरे अपने इसी प्रकार के साधन विषयक भाव को पुष्टि मिली ।

और मुझ में इन सारे भावों की जाग्रति वा पुष्टि के लाभ करने में जैसे उनके प्रति मेरा **अडोल अनुराग और श्रद्धा भाव** सहायक बना, वैसे हि यह कुल लाभ मेरे आत्मिक विकाश के लिए बहुत आवश्यक प्रमाणित हुआ। यदि उनके प्रति मेरे हृदय में इस **अडोल अनुराग और श्रद्धा भाव** की उत्पत्ति न हुई होती, तो मैं उन से इस प्रकार का कोई अमूल्य लाभ नहीं पा सकता था ; क्योंकि उसका पाना नेचर के अटल नियम के विरुद्ध था ।

सोलहवां परिच्छेद

रुड़की में मुझ पर मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी के प्रभाव

मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी अपने समय के एक विख्यात वेदान्ती गृहस्थी थे। वह आगरे के एक रईस और धनाढय दीवान धर्म्मदास के चार पुत्रों में से एक पुत्र थे। वह अपने वंश में कई बातों के विचार से पूर्णतः निराली प्रकृति लेकर जन्मे थे। वह वैश्य कुल में उत्पन्न हुए थे। वह अंग्रेजी नहीं जानते थे, परन्तु फ़ारसी बहुत अच्छी जानते थे। वह चिन्ता शील थे, और अपनी **स्वाधीन चिन्ता** के अनुसार जिस बात को ठीक समझते उसी को ठीक मानते थे, और किसी ब्राह्मण वा पंडित वा पुस्तक की जो २ बात उन्हें ठीक मालूम न हो, उसे नहीं मानते थे। वह किसी सम्बन्धी वा मित्र वा किसी अन्य जन के डर से अपने किसी मत को छिपाकर वा कुछ का कुछ बताकर **कपटता** का घृणित आचरण प्रदर्शन नहीं करते थे। वह बहुत अध्ययनशील थे। उन्हें मज़हब और फ़िलासफ़ी की पुस्तकों का पढ़ना विशेष रूप से प्रिय था। वह बड़े २ सम्प्रदायों के धर्म्म मतों को जानते थे। ऐसा कहा गया है, कि उनके पिता पांच लाख रुपए की सम्पत्ति छोड़कर मरे थे; परन्तु उन्होंने उसमें से अपना कोई हिस्सा न लिया, और उसे अपने भाइयों को हि दे दिया। वह बहुत दयानतदार आदमी थे। वह नौकरी करके अपना निर्वाह करते थे। वह सरिश्तेदारी और तहसीलदारी के पदों के भिन्न, कुछ काल तक मालेरकोटला की रियासत के सुपरिण्टेण्डेण्ट भी रहे थे। उनमें अध्ययन के साथ २ नई पुस्तकों के लिखने और पुरानी पुस्तकों के तरजुमे करने और छापने का भी प्रबल अनुराग था। वह खानपान आदि विषयक हिन्दुओं की "ज़ात" सम्बन्धी किसी बुरी प्रथा को नहीं मानते थे। वह

ब्राह्मणों की जारी की हुई **"भयानक"** और **"रोचक"** विषयक सब कहलाने वाली धर्म्म शिक्षाओं और क्रियाओं यथा "तीर्थ" स्थानों में किसी मूर्ति के दर्शन, किसी नदी वा कुंड वा सरोवर में स्नान, उपवास, व्रत, पितरों का श्राद्ध और तर्पण, देवी देवताओं की पूजा और उनकी कथा आदि सुनने को मिथ्या जानते और प्रगट करते थे; और वह आप इस प्रकार की कोई क्रिया नहीं करते थे; वह सफ़ाई को बहुत प्यार करते थे, और मेज़ पर खाना खाते थे। वह अपनी दाढ़ी मूछों और भौवों तक को मुंडा कर रखते थे। वह धन सम्पत्ति आदि के **मोह** से ऊपर थे। उनके विपरीत उनकी पत्नी कुसंस्कार-ग्रस्त पूरी हिन्दू थी। उनके कोई सन्तान न थी। वह जैसी कि आशा हो सकती थी, पुरानी फ़िलासफ़ी के अध्ययन से वेदान्त फ़िलासफ़ी को अपनी अवस्था के अनुकूल पाकर उसी के विश्वासी थे; और उसी का अपनी पुस्तकों वा अपने लेखों के द्वारा प्रचार करते थे। मेरे गुरु ने मुझे पहले पहल जो पुस्तक पढ़ने के लिए दी थी, वह इन्हीं अलखधारी की उर्दू में तर-जुमा की हुई भगवद् गीता की पुस्तक थी। उसके बाद मैंने उनकी और पुस्तकें भी पढ़ी थीं। उपरोक्त गीता में उन्होंने ब्राह्मणों की प्रचलित की हुई कितनी ही मिथ्या प्रथाओं आदि के सम्बन्ध में जो अपने नोट दिए हुए थे, उन्हें पढ़कर मेरे भीतर उन मिथ्या बातों के प्रति घृणा के जाग्रत होने में मुझे बहुत सहाय मिली थी, जिसके लिए मैं उनका बहुत कृतज्ञ हूं, और इसी कृतज्ञता के प्रकाश में मैंने उनका यहां पर यह संक्षिप्त वृतान्त लिखा है।

उपरोक्त गीता में उनके नोटों में से कुछ अवतरण मैं नीचे देता हूं, और उनके सम्बन्ध में मैं यहां पर अपनी ओर से भी कुछ नोट देना आवश्यक समझता हूं।

उन्होंने लिखा है कि "ब्रह्म से जब माया यानी अविद्या वस्ल् हुई, जीवात्मा हो गया; ज्ञान होने से परमात्मा हो जाता है। विज्ञान से फ़क़त आत्मा रह जाता है, जो फ़िल असल था।"।

मेरा नोट—यह सारी फ़िलासफ़ी केवल मिथ्यामूलक कल्पना है।

ब्रह्म और माया सब मिथ्यामूलक कल्पित अस्तित्व हैं। इस मिथ्या-मूलक विश्वास के अनुसार **जिस समय में** कन्हैयालाल के शरीर में उनका वर्तमान ब्रह्म अपने आपको **ज्ञानी** अनुभव करता था, **ठीक उसी समय में** वही ब्रह्म कन्हैयालाल की पत्नी वा उनके किसी नौकर के शरीर में अपने आपको **अज्ञानी** अनुभव करता था। यह दोनों बातें पूर्णतः विरोधी हैं, और इसीलिए तर्क विद्या के अनुसार उपरोक्त विश्वास पूर्णतः मिथ्या है।

बात यह है, कि यद्यपि वेदान्ती लोग शरीर के साथ २ आत्मा के अस्तित्व को भी मानते हैं, तथापि वह आत्मा की **गठन** और उसके **जीवन विषवक तत्त्वों** के सम्बन्ध में कोई **सत्य ज्ञान नहीं रखते**; क्योंकि वह ज्ञान **देवात्मा की जिस देवज्योति** के द्वारा प्राप्त होता है, वह उस ज्योति से शून्य थे। इसीलिए कन्हैयालाल ने इस विषय में अपनी इस अज्ञानता को एक और जगह साफ़ शब्दों में स्वीकार किया है। उन्होंने अपनी इस अज्ञानता के विषय में जो कुछ लिखा है, वह यह है :—

"मैं साबित नहीं कर सकता हूं, कि मैं क्या हूँ।.........क्या करता हूं.........और क्या नतीजा मेरे फ़ेल का होगा.........जिस्म क्या है और जान क्या है और हरकत देने वाला और उनको मिलाने और मुतफ़र्रिक़ करने वाला कौन है और कहां है?.........साबित करना दर किनार मुतलक़ अपनी हस्ती से बेइल्म हूं।"

अब जब तुम अपने इस इक़रार के मुवाफ़िक़ "अपनी हस्ती" अर्थात् अपने अस्तित्व के विषय में कोई सत्य ज्ञान नहीं रखते, और न यह जानते हो कि तुम्हारा यह शरीर क्या है, और उसे कौन हिलाता-जुलाता है, और इस हरकत देने वाले का तुम्हारे शरीर के साथ क्या और किस प्रकार का सम्बन्ध है, तब तुम अपने आपको **आत्मज्ञानी** क्यों कहते और क्यों मानते हो? और क्या इस विषय में पूर्णतः अज्ञानी रहकर तुम्हारा वेदान्त नामक किसी कल्पित मत पर विश्वास करना उसी प्रकार का **अन्धविश्वास** नहीं, जिस प्रकार का अन्य नाना

सम्प्रदायों के लोगों में अपने २ मतों के सम्बन्ध में पाया जाता है ? निश्चय अन्य मतों के अन्ध विश्वासियों की न्याईं तुम्हारा यह विश्वास भी **केवल अन्धविश्वास** है, कि जो लगातार अभ्यास के कारण यद्यपि तुम्हारी प्रकृति में रच गया है, और इसलिए तुम्हें प्रिय मालूम होता है, परन्तु वह मिथ्या अवश्य है ।

इसी अन्धविश्वास के प्रिय बन जाने पर उन्होंने अपने विषय में एक जगह यह लिखा है :—

"फ़क़ीर को वेदान्त से वह निसबत है, जो भूख को तआम से और दीवाने को जनून से"………

"गो कि किसी के ख़याल में मेरा (यह) ख़याल सरापा ग़लत हो, मैं मिसल मजनूं के अना लैला और मिसल मन्सूर के अनलहक़ कहता हूं ।"

कहा करो; आपकी न्याईं परन्तु आपके मत के विरोधी और अन्ध-विश्वासी भी तो अपने २ मत को अपने लिए प्रिय अनुभव करने पर इसी प्रकार कहते हैं। परन्तु जैसे इस प्रकार कहने से वह आपकी दृष्टि में ठीक नहीं, वैसे हि इस प्रकार के कहने से आप भी किसी सत्य ज्ञानी की दृष्टि में ठीक माने वा समझे नहीं जा सकते ।

इसके भिन्न वेदान्त मत अपने अनुयाइयों को भले और बुरे कर्म्मों के सम्बन्ध में भी पूर्ण अन्धकार की अवस्था में रखता है, क्योंकि एक ओर वह मत भले और बुरे दोनों प्रकार के कर्म्मों को किसी के "ब्रह्म-ज्ञानी" बनने से पहले उसके आत्मा के लिए **बन्धन** मानता है, और इसीलिए उनसे **मुक्ति** पाने की आवश्यकता बताता है, और दूसरी ओर यह शिक्षा देता है, कि "ब्रह्मज्ञानी" हो जाने पर चाहे कोई मनुष्य भले कर्म्म करे और चाहे बुरे कर्म्म करे, वह दोनों से ही **निर्लिप्त** रहता है, अर्थात् फिर उस पर उसके किसी भले वा बुरे कर्म्म का कोई असर नहीं होता, और वह उनका कोई फल नहीं पाता, कि जो शिक्षा केवल यही नहीं, कि **पूर्णतः मिथ्या** है; किन्तु वह किसी ऐसे ब्रह्मज्ञानी के लिए जो किसी सुख से आकृष्ट होकर कोई बुरा कर्म्म करना चाहता हो, उसे

ऐसे बुरे कर्म्म की ओर ले जाने में सहायक बन जाती है—सहायक बन जाती है इसीलिए कितने ही वेदान्ती शाक्त संन्यासी और वाम मार्गी मद्य, मांस और मैथुन आदि विषयक सुखों की ओर आकृष्ट होकर धर्म्म साधन के नाम से **भयानक पाप करके** अपना और अपने साथ औरों का बहुत अनिष्ट करते हैं। इसलिए इस प्रकार की शिक्षा न केवल मिथ्या किन्तु बहुत अनिष्टकारी व हानिजनक है, कि

"जो अपने कर्म्म के फल की इच्छा नहीं रखता है, वह कोई कर्म्म करे हिसाब से खारिज है......जिस तरह आग लकड़ी को जला देती है, उसी तरह ब्रह्मज्ञान नेक और बद सब कर्म्मों को जला देता है।"

इसी मिथ्या और अति हानिजनक शिक्षा का यह फल हुआ है, कि इस देश में लाखों जन साधु कहलाने वाले वेदान्ती **पूर्ण स्वार्थ परायण बने हुए हैं,** और अपने देश वासियों के किसी **सच्चे भले** के लिए कोई काम नहीं करते, वरन अपने भरण पोषण और नशे आदि के खर्च का उन पर **अनुचित बोझा** डालने के भिन्न, अपने नाना नीच और पाप कर्म्मों के द्वारा भी उनका बहुत अनिष्ट करते हैं। यद्यपि कन्हैयालाल अलखधारी अपनी जन्मजात अच्छी प्रकृति के कारण बहुत भले आदमी थे, और वह हिन्दुओं के नाना प्रचलित कुसंस्कारों में लिप्त न थे और अन्य कई बातों के सम्बन्ध में युक्ति-संगत विचार करने की अच्छी शक्ति भी रखते थे, और इसीलिए उनकी पुस्तकों और उनके लेखों के पाठ से मुझे भी बहुत लाभ पहुंचा; तथापि उनका वेदान्त मत पूर्णतः मिथ्या था।

सत्रहवां परिच्छेद

यूरोपियन लोगों के कई सद्गुणों की उपलब्धि और उनके प्रति मुझ में सन्मान भाव की उत्पत्ति

रुड़की में रहने के दिनों में मुझे वहां पर कितने हि यूरोपियन लोगोंकी चाल ढाल और उनकी रहन सहन के देखने का अवसर मिला, और उनमें से कितनों के कई सद्गुणों को उपलब्ध करके मुझ पर उनके बहुत अच्छे प्रभाव पड़े। तब से मेरे हृदय में उनके इन गुणों के प्रति सदा के लिए सन्मान का भाव उत्पन्न हो गया। यथा :—

(१) **कर्तव्य भाव**—मैंने उपलब्ध किया, कि कितने हि यूरोपियनों में यह अति मूल्यवान भाव वर्तमान है, कि जिससे परिचालित होकर वह अपने ज़िम्मे के किसी काम को बहुत वफ़ादारी और परिश्रम के साथ पूरा करते हैं; और उसके पूरा करने में प्रत्येक कष्ट और रुकावट और कठिनता आदि का साहस पूर्वक मुक़ाबिला करते हैं; और उसके साधन में अपने किसी आराम और सुख वा सम्बन्धी की परवाह नहीं करते हैं; और अपने आपको उस कर्तव्य कर्म्म के सम्बन्ध में **विश्वस्त जन** प्रमाणित करते हैं। मुझे अपने देश वासियों में इस आवश्यक भाव का बहुत बड़ा अभाव नज़र आया।

(२) **सुनियमता**—मैंने उपलब्ध किया, कि कितने हि यूरोपियन अपने नाना दैनिक कामों को **किसी विधि वा प्रणाली** के अनुसार पूरा करते हैं और उनके सम्बन्ध में अनाप शनाप नहीं चलते। मुझे अपने देश वासियों में **इसका** भी बहुत अभाव दिखाई दिया।

(३) **समय विषयक बाध्यता**—मैंने उपलब्ध किया, कि बहुत से यूरोपियन किसी से मिलने जुलने वा किसी सभा स्थान में पहुंचने

आदि के विषय में जो समय नियत करते हैं, उनमें उसके सम्बन्ध में **ठीक** रहने का भाव वर्तमान है। मुझे अपने देश वासियों में इस भाव की भी बहुत बड़ी कमी नज़र आई।

(४) **आज्ञा पालन विषयक बाध्यता**—मैंने उपलब्ध किया कि प्रायः सभी यूरोपियन ऐसे प्रत्येक काम के सम्बन्ध में कि जिसे वह किसी शासन कर्ता के अधीन रह कर और उसकी इच्छा के अनुसार पूरा करने के लिए बाध्य हों, **अपनी प्रत्येक रुचि और अपने प्रत्येक अभ्यास को त्याग करके** अपने शासन कर्ता की **आज्ञा पालन** करने का बहुत प्रशंसनीय भाव रखते हैं, और इस प्रकार से अपने शासन कर्ताओं के सम्बन्ध में अपने आपको **विश्वस्त जन** प्रमाणित करते हैं। मुझे अपने देश वासियों में इस भाव की बहुत कमी अनुभव हुई।

इन सद्गुणों के भिन्न उनकी चुस्ती, फुरती और परिष्कारिता और परिपाटी और सौन्दर्य के प्यार के प्रति भी मेरे हृदय में सन्मान का भाव उत्पन्न हुआ।

यूरोपियन लोगों के यह उपरोक्त सद्गुण मैंने उस काल में उपलब्ध किए थे, जब कि मेरी उमर तेईस वर्ष से अधिक न थी। उसके अनन्तर जब मेरी उमर और उसके साथ २ मेरे ज्ञान और उच्च भावों में और उन्नति हुई, तब मैंने इन गुणों के भिन्न उनके और कई सद्गुण भी देखे और उपलब्ध किए, कि जिनका यहां पर उल्लेख नहीं किया जा सकता।

अठारहवां परिच्छेद

तेईस साल की उमर तक मेरा अपने मुख्य लक्ष्य के विषय में ज्ञान, और उसकी सिद्धि के सम्बन्ध में मेरे साधन

मेरी २३ वर्ष की उमर तक मेरे श्रद्धेय पिताजी इस पृथिवी में वर्तमान थे। मैं प्रायः १६ वर्ष की वयस से घर से बाहर रहता था। मैंने बाहर रहकर इन सात सालों में उन्हें नाना स्थानों से नाना विषयों पर बहुत सी चिट्ठियां लिखी थीं। मेरी वह सब चिट्ठियां उन्होंने सुरक्षित रक्खी थीं, कि जो उनके स्थूल देह के त्याग के पश्चात् मुझे मिल गई थीं। इन चिट्ठियों में और बातों के भिन्न मैंने अपने मुख्य लक्ष्य विषयक ज्ञान और उसके सम्बन्ध में अपने साधनों के विषय में एक वा दूसरी चिट्ठी में जो कुछ लिखा था, उनके लिख कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं :—

१. **अपने मुख्य लक्ष्य के सम्बन्ध में**—सन् १८७३ ई० में मेरी लगातार बीमारी का हाल जानकर जब मेरे पिताजी ने मुझे यह लिखा कि मैं उसकी निवृत्ति के लिए कोई पूजा पाठ कराऊं, तब मैंने उसके उत्तर में अपनी चिट्ठी में उन्हें यह लिखा था :—

"रुड़की,

३१ मार्च १८७३ ई०

"जब तक शरीर है, तब तक बीमारी भी हो सकती है। मैं अपनी बीमारी के दूर करने के लिए किसी पूजा पाठ की ज़रूरत नहीं समझता। धर्म्म अनुरागी का काम संसार के सब सुखों और दुःखों से उपराम होना है।.........यह शरीर नाशवान् है। **मनुष्य के लिए धर्म्म जीवन हि सार और मुख्य चीज़ है।**"

२. अपने उपरोक्त मुख्य लक्ष्य विषयक साधनों के सम्बन्ध में धन सम्पत्ति आदि पार्थिव पदार्थों से उपरति—जब मैं नहर के महकमे में नौकर था, तब मेरे पास एक रिश्तेदार खाना बनाने पर नौकर थे। उन्होंने कुछ दिनों में मेरे बक्स से १२३) चुराकर अपने घर भेज दिए, और उसके कुछ दिन बाद वह कुछ बहाना बनाकर ख़ुद भी अपने घर चले गए। उनके घर पहुंच जाने पर जब मेरे पिताजी को उनकी इस क्रिया का कुछ पता लगा, तब उन्होंने मुझे इस विषय में एक चिट्ठी लिखी, और मुझ से इस विषय में सारा हाल जानना चाहा। उनकी इस चिट्ठी के उत्तर में मैंने अपनी चिट्ठी में जो कुछ लिखा, वह यह था:—

"कोसी,
१३ मार्च सन् १८६९ ई०

"आपने लिखा है, कि उस जन का **पाप** वहां पर ज़ाहर हो गया है। मैंने अपनी तरफ़ से आपको उसकी चोरी के विषय में इसलिए कुछ नहीं लिखा था, कि वह यह कहकर मुझे ख़ाहमख़ाह बदनाम करेगा, कि मैं तो अपने घर से उनकी सेवा के लिए गया था, और उन्होंने मुझ पर चोरी का इलज़ाम लगाया। **इस रुपए के चले जाने से मुझे कोई सदमा नहीं पहुंचा, क्योंकि मैंने अपने आपको दुनियवी चीज़ों का ग़ुलाम नहीं बनाया।"**

मेरे पिताजी ने जब यह जानकर कि मैंने नहर के महकमे की पैंसठ रुपए महीने की नौकरी छोड़कर रुड़की कालेज में चालीस रुपए महीने की मास्टरी स्वीकार की है, मुझ से उसका कारण पूछा, तब मैंने उन्हें यह लिखा था:—

"रुड़की,
१४ अगस्त सन् १८६९ ई०

"मैं यहां की धन-सम्पत्ति या यहां की अन्य असार चीज़ों अथवा यहां के तुच्छ सुखों को लाभ करना अपनी ज़िन्दगी का मक़सद नहीं जानता, मेरा लक्ष्य धर्म्म जीवन है; इसलिए मैंने नहर वाली पैंसठ रुपए

माहवार की नौकरी को छोड़कर यहां कालेज में ४०) माहवार की मास्टरी इसलिए क़वूल कर ली है, कि यहां पर मैं अपने श्रद्धेय हितकर्ता की उच्च संगत में रह सकूंगा, और मैं अव यहां आकर उनकी उच्च संगत में वहुत खुश रहता हूं ।"

३. **मान अपमान से उपरति**—एक वार मेरे पिताजी ने जव मुझे अपने एक पत्र में यह लिखा कि कई लोग मेरी अनोखी चाल को पसन्द नहीं करते, तब मैंने उसके उत्तर में उन्हें जो कुछ लिखा, वह यह था :—

" रुड़की,

१३ नवम्वर सन् १८६९ ई०

"आप मुझे जानते हैं कि मैं **दुनिया में रहकर भी फ़क़ीरी की ज़िन्दगी** पसन्द करता हूं। इस फ़क़ीरी का एक साधन यह भी है, कि ऐसे साधक को चाहे कोई वुरा कहे और चाहे भला कहे, वह दोनों से अपने आपको उपराम और ऊपर रक्खे ।"

४. **सुख दुःख से उपरति**—कुछ काल के वाद इसी विषय में मैंने उन्हें जो कुछ और लिखा था, वह यह था :—

" रुड़की,

१८ नवम्बर सन् १८७२ ई०

"जब मुझे कोई ठीक रूप में नहीं देखता अथवा मुझे कुछ का कुछ समझता और प्रगट करता है, तब उससे मुझे जितना सदमा लगता है, उसका मैं बयान नहीं कर सकता। मगर फिर यह समझ कर कि इस दुनिया में बहुत लोग इसी तरह के हैं, मैं अपने दुःख के कड़वे घूंट पी २ कर चुप हो जाता हूं, और उसे बरदाश्त करने की कोशिश करता हूं; क्योंकि धर्म्म अनुरागी के लिए जहां तक हो सके, **सुख दुःख से उपराम होना हि उचित है।** धर्म्म अनुरागी का काम यही है, कि उस पर अपने धर्म्म साधन में **जितनी मुसीबतें और तकलीफें आवें, उन्हें धैर्य के साथ**

बरदाश्त करे।''

५. मृत्यु से उपरति—अपने पिता से अपने पहले पुत्र की मृत्यु की ख़बर पाकर मैंने उन्हें इस विषय में यह लिखा था :—

" रुड़की,

जनवरी १८७१ ई०

"आपकी चिट्ठी से बच्चे की अकाल मृत्यु का हाल मालूम हुआ। पहले या पीछे सब को हि यह दुनिया छोड़नी है। इसलिए इस विषय में दुःखी होने से क्या हासिल ! आपको और माताजी को इस दुर्घटना से अवश्य बहुत दुःख हुआ होगा; परन्तु अब धैर्य्य करना ही उचित है। आशा है आप खुद भी धैर्य्य रक्खेंगे और माताजी को भी धैर्य्य देने की कोशिश करेंगे।''

उन्नीसवां परिच्छेद

रुड़की में मेरी विद्या विषयक उन्नति

मुझ में बाल्यकाल से हि विद्या विषयक जो अनुराग प्रगट हुआ था, वह मेरी उमर के बढ़ने के साथ २ बराबर उन्नत होता रहा। रुड़की कालेज में दाख़िल होकर मैंने इंजिनियरिंग सम्बन्धी नाना विषयों को जिस परिश्रम से सीखा और उनकी अंतिम परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ, उसका परिचय मेरे उस सर्टीफ़िकेट से मिल सकता है, कि जिसकी नक़ल मैं नीचे दर्ज करता हूं :—

Thomson College of Civil Engineering.

"Certified that Sheo Narain is qualified for the grade of First Class Sub-Overseer and Sub-Surveyor in the Public Works Department, having passed the Examination with Great Credit.

Roorkee,
August 31st, 1868.

J. G. MEDLEY Major. R. E.,
Principal."

QUALIFICATIONS.

	Full Marks.	Number gained.
Mathematics	475	275
Civil Engineering	425	355
Surveying	225	190
Drawing	275	224
Languages	150	117
Experimental Science	50	24
Total	1600	1185

College Prize for Civil Engineering.
Passed second of his Term.

(हिन्दी अनुवाद)

"टामसन कालेज सिविल इंजिनियरिंग"

"तसदीक़ की जाती है कि शिवनारायण पबलिक वर्क्स डिपार्टमेंट में प्रथम श्रेणी के सब-ओवरसियर और सब-सर्वेयर के दर्जे की योग्यता रखते हैं, और उन्होंने उसकी परीक्षा बहुत प्रशंसनीय रूप में पास की है।

रुड़की,
३१ अगस्त सन् १८६८ ई०

जे० जी० मेडली, मेजर आर० ई०,
प्रिन्सीपल।"

योग्यताएं

	पूरे नम्बर	जो नम्बर प्राप्त किए
गणित विद्या के लिए	४७५	२७५
सिविल इंजिनियरिंग के लिए	४२५	३५५
पैमायश के लिए	२२५	१९०
नक़शे के काम के लिए	२७५	२२४
भाषाओं के लिए	१५०	११७
परीक्षामूलक विज्ञान के लिए	५०	२४
कुल जोड़	१६००	११८५

कालेज की ओर से सिविल इंजिनियरिंग के लिए इनाम दिया गया।

अपनी क्लास में दूसरे नम्बर पर रहे।"

इस सर्टीफ़िकेट से ज्ञात हो सकता है, कि उपरोक्त विषयों की परीक्षा के सम्बन्ध में जो सोलह सौ नम्बर नियत किए गए थे, उनमें से मैंने ग्यारह सौ पच्चासी अर्थात् तीन चौथाई के लगभग नम्बर लाभ किए थे; इसलिए मैं सब ओवरसियर पद की प्रथम श्रेणी में "बहुत प्रशंसा के साथ" पास हुआ था। इसके भिन्न अपनी सारी क्लास में सिविल इंजिनियरिंग के विषय में सबसे प्रथम रहने के कारण मुझे कालेज की

ओर से उसके सम्बन्ध में इनाम भी मिला था। उसके अनन्तर उसी कालेज में असिस्टेण्ट मास्टर के पद पर नियुक्त होने पर मैंने अंग्रेज़ी भाषा में उन्नति करने के निमित्त अपने निज के प्रवन्ध से दो जनों से कुछ २ काल तक अंग्रेज़ी पढ़ी। फिर मैंने अपने कालेज के प्रिन्सीपल की सेवा में निवेदन किया, कि जिस दशा में मैं उन सव विषयों को सीखकर उनकी परीक्षा में पास हो चुका हूं, कि जो विषय क्या ओवर-सियर और क्या सब-ओवरसियर दोनों क्लासों के लिए एक हि थे, और दोनों में केवल इस बात का अन्तर था, कि ओवरसियर क्लास के विद्यार्थियों ने उनके सम्वन्ध में प्रश्नों के उत्तर अंग्रेज़ी भाषा में लिखे थे, और मैंने उर्दू में; इसलिए अव मेरी अंग्रेज़ी भाषा में परीक्षा लेकर उसमें पास होने पर मुझे ओवरसियर पद का सर्टीफ़िकेट दिया जाए। मेरे इस आवेदन को उन्होंने स्वीकार कर लिया। इस पर मेरी अंग्रेज़ी भाषा में परीक्षा ली गई, और मैं उसमें पास हो गया, और मुझे ओवर-सियर के पद का सर्टीफ़िकेट मिल गया।

फिर उसी कालेज में हेड सर्वेइंग मास्टर नियुक्त होने पर यद्यपि एक ओर मेरे पास काम बहुत अधिक था, और दूसरी ओर मेरी स्वास्थ्य भी बहुत ख़राब रहती थी, तथापि मेरा विद्या अनुराग मुझे अध्ययन के लिए बराबर बाध्य करता था। इन प्रतिकूल हालात में भी मैंने वहां एक पण्डित से निज के प्रबन्ध से संस्कृत पढ़नी आरम्भ की थी। मैंने वहां से ३ अगस्त सन् १८७३ ई० को अपने पिताजी के नाम जो चिट्ठी लिखी थी, उसमें और बातों के भिन्न इस पढ़ाई के विषय में मैंने उन्हें यह लिखा था :—

"इस साल मैं अकसर बीमार रहा हूं। यहां काम बहुत है। फ़ुरसत नहीं मिलती। फिर भी जो कुछ समय मिलता है, उसे मैं संस्कृत के पढ़ने में ख़र्च करता हूं।"

इन्हीं दिनों में एक संन्यासी रुड़की में आए। वह उसी पण्डित से कि जिन से मैं संस्कृत पढ़ता था, पंचदशी नामक वेदान्त के एक ग्रन्थ का पढ़ना अभीष्ट रखते थे; और वहां पर एक जन के एक एकांत

स्थान में ठहरे हुए थे। एक विशेष घटना के द्वारा मुझे भी उनके दर्शन करने का अवसर मिला। मैं उससे पहले गृहस्थ और विविध कर्तव्य कर्म्म त्यागी "साधु" वा "संन्यासी" कहलाने वाले जनों के लिए कोई बहुत सन्मान का भाव नहीं रखता था; परन्तु जब मैं उनके पास पहुंचा, तब कई बातों के सम्बन्ध में उनकी अच्छी प्रकृति के मुझ पर बहुत आकृष्टकारी प्रभाव पड़े, और मेरे हृदय में उनके प्रति श्रद्धा का भाव उदय हो गया। मेरी प्रकृति का भी उन पर बहुत श्रेष्ठ प्रभाव पड़ा, और उनके हृदय में भी मेरे लिए सन्मान का भाव जाग्रत हो गया। उसके बाद से मैं अपनी नौकरी आदि सम्बन्धी नाना कामों से प्रायः नौ बजे रात को फ़ुरसत पाने पर रात के समय हि उनसे मिलने के लिए अकेला उनके पास जाता था। वह उस समय अपनी वेदान्त विधि के अनुसार अकसर ध्यान योग की अवस्था में होते थे; परन्तु मेरे पहुंचने पर झट आंखें खोल देते और मुझ से बातचीत करने के लिए प्रस्तुत हो जाते। उनके साथ मेरी कुल बात चीत प्रायः वेदान्त की शिक्षा को लेकर होती और वह हम दोनों को हि बहुत मधुर प्रतीत होती थी। इसी बातचीत में, शायद मेरे पूछने पर, उन्होंने कुछ अपना हाल भी बताया, जिससे मुझे मालूम हुआ, कि वह कशमीरी ब्राह्मणों के वंश में से हैं। फ़ारसी अच्छी जानते हैं, और उसके भिन्न हिन्दी और कुछ संस्कृत भी जानते हैं। वह पहले सरकारी नौकरी करते थे, और अवध में एक ज़िले के डिपटी कमिश्नर के सरिश्तेदार थे। वह बहुत दयानतदार आदमी थे। वह "साधुओं" की संगत के बहुत अभिलाषी रहते थे। उनकी संगत से उन्हें वेदान्त मत की शिक्षा मिली। वह गीता भी पढ़ते थे। और कृष्ण के प्रति बहुत हार्दिक अनुराग रखते थे। उन्हें कृष्ण नाम इतना प्यारा था, कि एक बार जब वह कचहरी में किसी गवाह स्त्री के इज़हार लिख रहे थे, तब उसके मुंह से कृष्ण वा कृष्ण सम्बन्धी किसी और शब्द को सुनकर उसी समय उनका हृदय भर आया और वह रो पड़े। उनका चित्त संसार से उपराम होता जाता था। वह ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के बहुत बड़े इच्छुक बन गए थे। ऐसी दशा

में उनके भीतर वार २ यह प्रेरणा होती थी, कि वह सव कुछ छोड़ छाड़ कर संन्यासी वन जाएं। परन्तु यह देखकर कि उनकी बूढ़ी माता की सेवा करने के लिए उनके घर में कोई और जन नहीं, वह संन्यास ग्रहण करने से रुके रहे। फिर जव उनकी माता का देहान्त हो गया, तव उन्होंने सब घर बार और काम काज छोड़कर "संन्यास" आश्रम ग्रहण कर लिया। जहां तक मुझे याद पड़ता है, उन्होंने बताया था, कि वह विवाहित नहीं थे। उनका नाम "व्रह्मानन्द स्वामी" था। वह वनावटी वा साधारण "संन्यासी" न थे। वह अपने मत पर बहुत गहरा (यद्यपि भ्रान्त) विश्वास रखते थे। और अपने विश्वास के अनुसार हि अपनी दैनिक यात्रा के निर्वाह करने की चेष्टा करते थे। उन्होंने चाहा कि मैं उनसे वेदान्त मत पर शंकराचार्य रचित "तत्त्व वोध" नामक एक छोटी सी पुस्तक पढ़ूं। मैंने अपने उसी पंडित से उसकी एक हस्त लिखित लिपि प्राप्त की और उसे रात के समयों में नक़ल किया और फिर उनसे वह पुस्तक पढ़ी। मेरे हाथ की वह लिखी हुई पुस्तक अब तक भी मेरे पास है।

एक दिन मैंने उन्हें अपने घर पर ले जाकर भोजन भी खिलाया, कि जो उन्होंने बहुत मुश्किल से स्वीकार किया; क्योंकि ऐसा करना संन्यास के साधारण नियमों के विरुद्ध था।

कुछ दिन के बाद जब वह रुड़की से पधारने लगे, तब मैंने उनसे निवेदन किया, कि क्या आप मुझे बता सकते हैं कि अब आप कहां जाएंगे और कहां रहेंगे, कि जिससे अवगत होकर मैं कभी वहां पहुंच कर आपका दर्शन करूं। इसके उत्तर में उन्होंने कहा, कि मैं इस विषय में तुम्हें कुछ बताना नहीं चाहता, क्योंकि ऐसा करना मेरे संन्यास के नियम के विरुद्ध है। मैं संन्यासी होकर किसी मनुष्य के साथ किसी सम्बन्ध में बंधना नहीं चाहता; इसीलिए न मैं अब तुम्हें अपना कुछ पता देना चाहता हूं, और न आयन्दा कभी दूंगा। यदि किसी के साथ मेरे लिए सम्बन्ध जोड़ना उचित होता, तो मैं अपने घर और मित्रों आदि का हि क्यों त्याग करता?"

वेदान्त मत के अनुसार उनका यह उत्तर ठीक था। परन्तु कुछ दिनों के बाद मुझे यह पता लगा, कि वह हरिद्वार में हैं। इसीलिए इतवार की छुट्टी के दिन मैंने एक यक्का किराए किया, और हरिद्वार को रवाना हुआ। हरिद्वार रुड़की से प्रायः बीस मील के फ़ासले पर है। वहां पहुंचकर मैंने उनका पता लगाना आरम्भ किया। ढूंढ़ते २ मैं एक मन्दिर में (जहां वह ठहरे हुए थे) उनसे जा मिला। मुझे देखकर वह हैरान हो गए। परन्तु अपने सद्भाव के साथ उन्होंने पहले की न्याईं मुझे फिर अपने सत्संग का अवसर दिया। उसके बाद से मुझे उनका कभी कोई पता नहीं मिला, और मैं फिर उनसे कभी नहीं मिल सका। उनसे मैंने "तत्त्व बोध" पढ़ा था, और उसके पढ़ाने में उन्होंने मेरे लिए जितना परिश्रम किया था उसके लिए उनका मैं बहुत २ कृतज्ञ हूं। मैंने उन्हें स्मरण करके उनके शुभ के लिए कई बार कामनाएं की हैं।

इसी साल अर्थात् १८७३ ई० के नवम्बर मास में मेरे रुड़की के छोड़ने पर मेरे कालेज के प्रिन्सीपल ने मुझे अपना जो सर्टीफ़िकेट दिया था, उसमें उन्होंने और बातों के भिन्न मेरी विद्या की उन्नति के विषय में यह लिखा था :—

"उन्होंने यहां रहकर क्या अंग्रेज़ी भाषा और क्या विद्या सम्बन्धी अन्य नाना विषयों में लगातार उन्नति की है।"

बीसवां परिच्छेद

मुझ में कर्तव्य विषयक भाव की अधिक उन्नति और उसका विविध सम्बन्धों में कार्य्यगत प्रकाश

मुझ में **हित अनुराग मूलक जो कर्तव्य भाव** बाल्य काल से ही प्रगट हुआ था, वह भाव रुड़की में पहुंचकर बहुत अधिक उन्नत हो गया। इस भाव के अनुसार मैं जब और जिस किसी मनुष्य वा पशु आदि के सम्बन्ध में जिस किसी कार्य्य के पूरा कर देने के लिए अपने आपको बाध्य अनुभव करता, उसे मैं समय से पहले और उत्तम रूप से पूरा करके हि **तृप्ति वा आराम पाता,** उसके बिना कदापि नहीं। इसीलिए मैं इस महान् भाव के कारण अपने प्रत्येक कर्तव्य कर्म्म को,

१—सदा स्मरण रखने का अभ्यास रखता और उसे कभी और किसी दशा में भुला देना पसन्द न करता,

२—समय से पहले पूरा कर देना चाहता,

३—उत्तम रूप से पूरा करना चाहता,

४—पूरे परिश्रम से पूरा करता, और उसके पूरा करने में अपने किसी आलस्य वा किसी और सुख आदि का साथ न देता,

और इस प्रकार उसे पूरा करके और **समय से पहले** पूरा करके और **उत्तम रूप** से पूरा करके अपने हृदय में उच्च सुख वा शान्ति लाभ करता था। यही कारण था कि जब मैं विद्यार्थी था, तब अपनी पढ़ाई के सम्बन्ध में अपने कर्तव्य कर्म्मों को **उत्तम रूप** से पूरा करके अपने शिक्षकों को बहुत प्रसन्न रखता था, और उसके बाद रुड़की कालेज से पास होने पर सरकारी नौकरी करने पर भी अपनी नौकरी के सम्बन्ध में अपने सारे कर्तव्य कर्म्मों को भली भान्त पूरा करके अपने अफ़सरों को

बहुत ख़ुश रखता था। नौकरी के दिनों में जहां मैं उसके सम्बन्ध में प्रत्येक कर्म्म को भली भांत पूरा करता था, वहां उसके विषय में जब और जो कुछ मेरे किसी अफ़सर की उचित आज्ञा होती थी, उसके पूरा करने के लिए—चाहे वह मेरी किसी रुचि वा अभ्यास वा आराम के विरुद्ध भी हो—अपने आपको बाध्य अनुभव करता था। इस सब का फल यह होता था, कि मेरे सब अफ़सर मुझ से बहुत ख़ुश रहते थे, और मेरे लिए अपने हृदय में बहुत सन्मान का भाव रखते थे।

मैं रुड़की कालेज से पास होकर प्रायः १८ वर्ष की आयु में पहले पहल आगरे की नहर पर नौकर हुआ, और मथुरा के ज़िले में काम करता था। फिर सात महीने के बाद वहां से पूर्वोक्त कालेज में हि असिस्टेण्ट सर्वेइंग मास्टर नियुक्त होकर चला गया। प्रायः सवा दो साल तक मैं उस पद पर रहा, फिर उससे ऊंचे दर्जे की परीक्षा देकर और उसमें पास होकर मैं सरकारी रेल के महकमे में प्रायः दस महीने तक नौकर रहा; जिसके अनन्तर मैं फिर रुड़की कालेज में हेड सर्वेइंग मास्टर होकर वापिस गया, और वहां डेढ़ वर्ष के लगभग उस ओहदे का काम करता रहा। इन तीनों स्थानों में मैंने अपने ज़िम्मे के कुल कामों को जिस कर्तव्य और बाध्यतामूलक भावों के द्वारा पूरा किया, और मेरी ऐसी सेवा से मेरे अफ़सरों पर जो कुछ अच्छे प्रभाव पड़े, उनका उन प्रशंसा पत्रों से परिचय मिल सकता है कि जो उन्होंने विविध समयों में मुझे दिए थे। मैं इन तीनों स्थानों से प्राप्त अपने ऐसे प्रशंसा पत्रों में से आवश्यक अंश नीचे नक़ल करता हूं :—

1—While serving on Agra Canal in the U. P.

"He has given satisfaction in the performance of his duties."

Mathra,
2nd April 1869.

F. HOME, Lt. R. E.,
Executive Engineer,
2nd Dn. Agra Canal.

(हिन्दी अनुवाद)

१—जब कि मैं नहर आगरे पर काम करता था :—

"उन्होंने अपने कर्तव्य विषयक कामों को पूरा करके मुझे खुश रक्खा है।"

एफ० होम, लेफ़्टिनेन्ट आर० ई०
एकज़ेक्यूटिव इन्जिनियर दूसरा विभाग,
नहर आगरा।

2—While serving in T. C. E. College Roorkee.

"He has been very favourably reported on by his superiors. He is a man of considerable ability and great energy and application."

Roorkee,
5th Septr, 1871

A. M. LANG, Capt. R. E.,
Principal,
T. C. E. College.

Extract from the Report of the Principal Thomson Civil Engineering College Roorkee for 1872-73 :—

Para 41

"Shiv Narayan, who succeeded Lala Shambhoo Dass, in charge of this class, has exerted himself *canamore* to carry out my wishes in this respect, and to extract the maximum amount of work from his class."

Para 78

"......and Shiv Narayan, the Surveying Master, have given me entire satisfaction, the latter specially has shown great zeal and energy (despite after failing health) in extracting from these classes an increased amount and variety of surveying as reported in the section of my report treating of the "course of study."

"I have already given him a certificate expressing my high opinion of his zeal and abilities. Since then he has returned to this College and for the 1½ year he......haskept up his character for intelligence and energy; has continued to improve himself in English and various branches of learning. He has youth, energy and good abilities in his favour and promises to

become a man of mark if he continues to improve. I can strongly recommend him to his new superiors."

Roorkee, 26th Nov. 1873

A. M. LANG, Major R. E.,
Principal,
T. C. E. College.

(हिन्दी अनुवाद)

२—जब कि मैं रुड़की कालेज में नौकर था :—

"उनके अफ़सरों ने उनके काम की बहुत अच्छी रिपोर्ट की है। वह बहुत सुयोग्य, बड़े उत्साही और परिश्रमो पुरुष हैं।"

५ सितम्बर १८७१ ई०

ए० एम० लैंग, कैप्टेन आर० ई०
प्रिन्सीपल
टी० सी० ई० कालेज रुड़की।

प्रिन्सीपल साहिब टामसन सिविल इन्जिनियरिंग कालेज रुड़की की रिपोर्ट बाबत सन् १८७२–७३ में से उद्धृत :—

पैरा ४१

"लाला शम्भूदास के बाद शिवनारायण ने इस जमायत का चार्ज लिया, उन्होंने उसके सम्बन्ध में मेरी आकांक्षाओं के पूरा करने में पूरे दिल से संग्राम किया है; और अपनी इस जमायत से वह जितना अधिक से अधिक काम निकाल सकते थे, उतना उससे उन्होंने अधिक से अधिक काम निकाला है।"

पैरा ७८

"......और शिवनारायण सर्वेइंग मास्टर ने मुझे अपने २ काम से पूर्ण रूप से सन्तुष्ट रक्खा है। विशेष कर पिछले जन (शिवनारायण) ने अपनी शारीरिक स्वास्थ्य के अकसर ख़राब रहने पर भी अपनी जमायतों से पैमायश सम्बन्धी विविध प्रकार का काम बहुत बड़ी मात्रा में निकालने में विशेष उत्साह और परिश्रम प्रदर्शन किया है, जिसका मैंने अपनी रिपोर्ट के "शिक्षा प्रणाली" शीर्षक अंश में भी उल्लेख किया है।

"मैं इससे पहले उन्हें एक सर्टीफ़िकेट दे चुका हूं, और उसमें उनकी सरगर्मी और लियाक़तों के विषय में अपनी आला राय ज़ाहर कर चुका हूं। उसके वाद जव से वह फिर इस कालेज में आए हैं, तब से इस डेढ़ वर्ष के काल में उन्होंने लगातार अपनी उसी बुद्धिमत्ता और पुरुषार्थ को प्रदर्शन किया है, और उन्होंने यहां रहकर क्या अंग्रेज़ी भाषा और क्या विद्या सम्वन्धी अन्य नाना विषयों में बरावर उन्नति की है।"

"जवानी की उमर, सरगर्मी, और अन्य अच्छी योग्यताएं उनके पक्ष में हैं, और यदि वह इसी प्रकार उन्नति करते चले गए, तो उनके एक विख्यात पुरुष वन जाने की पूर्ण आशा है। मैं वड़े ज़ोर से उनके नए अफ़सरों को उनकी सिफ़ारिश करता हूं।"

रुड़की,
२६ नवम्वर १८७३ ई०

ए० एम० लैंग, मेजर आर० ई०,
प्रिन्सीपल
टी० सी० ई० कालेज रुड़की।

3—While serving on I. V. S. Railway.

"I have always found him an active, energetic and intelligent man and well up to superintending work."

8th July 1872.

L. H. C. ARMSTRONG,
Executive Engineer,
Bahawalpore Dn. I. V. S. Ry."

(हिन्दी अनुवाद)

३—जब कि मैं रेल के महकमे में नौकर था

"मैंने उन्हें हमेशा चुस्त, सरगर्म और बहुत समझदार और काम की देख भाल के लिए बहुत लायक़ आदमी पाया है।"

एल० एच० सी० आर्मस्ट्रांग,
एकज़ेक्यूटिव इंजिनियर

८ जुलाई १८७२ ई०

बहावलपुर विभाग,
आई० वी० एस० रेलवे।

इक्कीसवां परिच्छेद

मुझ में हत-अनुराग-मूलक शासन भाव का विकाश और कार्य्य

सरकारी नौकरी के ग्रहण करने पर जब मुझे अपने पद के अनुसार नाना जनों पर शासन करने का अधिकार प्राप्त हुआ, तब एक ओर जैसे मैं अपने हित-अनुराग-मूलक कर्तव्य भाव के अनुसार अपने काम के सम्बन्ध में अपने अफ़सरों की प्रत्येक हितकर आज्ञा उत्तम रूप से पूरा करने के लिए अपने आप को बाध्य समझता था, और इसीलिए मैं उनके सम्बन्ध में आप बहुत अच्छा "मातहत" था, वैसे हि मैं उसी उच्च भाव से परिचालित होकर अपने "मातहतों" को भी अपनी आज्ञा के अनुसार चलाने के लिए अपने आप को बाध्य अनुभव करता था; क्योंकि इस बाध्यता के पूरा होने के बिना किसी ऐसे सम्बन्ध में एक ओर जहां हित की पूर्ण उत्पत्ति नहीं हो सकती, वहां दूसरी ओर अल्प वा अधिक अहित की अवश्य उत्पत्ति होती है। और मैं जब कि अपने स्वभावजात हित अनुराग के कारण ऐसे किसी अहित का साथ नहीं दे सकता था, इसलिए एक ओर जहां मेरे लिए अपने अफ़सरों के सम्बन्ध में अपने कर्तव्य कर्म्मों को सचाई और परिश्रम के साथ भली भान्त पूरा करना और उनके लिए अपने आपको बाध्य अनुभव करना स्वाभाविक था, वहां अपने "मातहतों" को भी उनके अपने २ कर्तव्य कर्म्मों के सम्बन्ध में अपने आत्मिक बल के द्वारा शासन करके उन्हें बाध्य रखना भी स्वाभाविक था। और मेरे इस शासन विषयक बल को न केवल मेरे मातहत किन्तु अन्य जन भी अनुभव करते थे।

यहां इस प्रकार की शासन विषयक और घटनाओं को छोड़कर जब मैं रेलवे की नौकरी छोड़कर रुड़की कालेज में हेड सर्वेइंग मास्टर

नियुक्त हुआ, तब मुझे यह ख़बर मिली कि मेरे जिन दो असिस्टैण्टों ने मेरे इसी पद के पाने के लिए जो यत्न किया था, उसमें विफल काम होकर वह मुझे अपने पद से उखाड़ देने के लिए अपनी ओर से कई प्रकार के विघ्न उत्पन्न करना चाहते हैं। तब मैंने उन्हें भली भान्त क़ाबू करने के लिए एक ऐसी तरकीब सोची, कि जिससे वह मेरे शासन के अनुसार चलने के लिए बाध्य हों। वह तरकीब यह थी :—

मैंने एक "आर्डर बुक" बनाई, और मैं अपने सम्बन्ध में उनके कर्तव्य कर्म्मों के विषय में जो २ हुक्म देना चाहता, वह ज़वानी न देता, किन्तु उन्हें उस किताव में लिखकर उनके पास भेज देता और उनसे सूचित होने के विषय में उनसे उस पर दस्तख़त करा लेता। इस विधि से चलने में मेरा अभिप्राय यह था, कि यदि वह मेरी किसी आज्ञा को पालन न करेंगे, वा उसे भली भान्त पूरा न करेंगे, तो मैं अपने कालेज के हेड अर्थात् प्रिन्सीपल को उनके अपराध के विषय में सूचित करके उन्हें उचित दण्ड दिलवाने में अपेक्षाकृत बहुत सुगमता से सफल काम हूंगा; और वह मेरी आज्ञा की अवगति के विषय में कोई मिथ्या बात न बना सकेंगे। थोड़े दिनों में हि मैं अपने इस शुभ अभिप्राय में कृतकार्य्य हो गया, और मेरे वह मातहत जो मुझ से उमर में बड़े थे, मेरे अधीन रहकर मेरी आज्ञा के अनुसार चलने लगे, और फिर उन पर शासन करने में मुझे कोई दिक़्कत न हुई। मेरे इसी शासन भाव के विषय में उन्हीं दिनों की कुछ और विशेष घटनाएं यह थीं :—

एक बार वहां के लड़कों की एक श्रेणी की मासिक परीक्षा होने वाली थी। उस श्रेणी में कुछ लड़के बहुत दुष्ट थे। वह परीक्षा के समय एक वा दूसरी गुप्त विधि से एक दूसरे से एक वा दूसरे प्रश्न के उत्तर पूछ लिया करते थे। मेरे विषय में कालेज के और उस्ताद यह जानते थे, कि मैं बहुत अच्छा शासन कर्ता होने के भिन्न अपने प्रबल कर्तव्य बोध के कारण बहुत अच्छी देख भाल रखने वाला भी हूं। इसीलिए वहां के फ़र्स्ट मास्टर ने परीक्षा के समय पूर्ण चौकसी रखने के लिए वह जमायत मेरे पास भेज दी। उसके लड़के जब मेरे कमरे में अपनी २ जगह पर

बैठ गए, तब मैंने उन्हें अपने प्रबल कर्तव्य भाव के अनुसार अपनी ज़ोरदार आवाज़ में कहा, कि एक ओर मैं तुम्हारी बुरी चालों को भली-भान्त जानता हूं, और दूसरी ओर अपने कर्तव्य भाव के अनुसार तुम्हारी पूरी २ देख भाल करने के लिए तैयार हूं। ऐसी दशा में यदि तुम में से किसी ने किसी और से कुछ पूंछ पांछ की कोशिश की, तो वह मेरी रिपोर्ट पर कालेज से फ़ौरन निकाला जाएगा, और उसका यहां दाख़िल होना पूर्णत: निष्फल जाएगा। मेरे इन बलिष्ट शब्दों ने बख़ूबी काम किया, और फिर उनमें से किसी ने उपरोक्त प्रकार की कोई बुरी क्रिया नहीं की।

उन्हीं दिनों वहां पर साधारण विद्यार्थियों के सिवाय कुछ फ़ौजी लोग भी शिक्षा पाते थे। यह लोग कालेज के नियमानुसार अपनी २ फ़ौज से परीक्षा देकर वहां दख़िल होते थे। उनकी यह क्लास "सिपाही क्लास" कहलाती थी। यह लोग यद्यपि कुछ पढ़े लिखे तो होते थे, परन्तु जैसी कि आशा करनी चाहिए, कितने हि जन उनमें से बहुत अनघड़ और उजड्ड होते थे; और यह अपने इसी उजड्डपन को अपनी वीरता वा बहादुरी समझते थे। कालेज में उस समय यह नियम था, कि जो विद्यार्थी पैमायश का काम सीखते थे, उन्हें एक साल तक पैमायश के लिए ख़लासी (क़ुली) नहीं दिए जाते थे, और वह लोग ख़ुद हि पैमायश सम्बन्धी सब औज़ार उठाकर बाहर ले जाते थे, और ख़ुद हि अपने हाथों से झंडियां लगाते थे, और ख़ुद हि जरीब फैलाकर फ़ासले नापते थे। यह नियम इसलिए था कि सीखने वालों को इस प्रकार के कामों का तजरुबा हो जाए। परन्तु यह सिपाही लोग, कि जो थोड़े काल से हि इस कालेज में काम सीखने के लिए आने लगे थे, यह नहीं चाहते थे, कि वह अपने सिविल विद्यार्थी साथियों की तरह अपने हाथों से हि पैमायश सम्बन्धी सब काम पूरे करें। मुझ से पहले के हेड सर्वेइंग मास्टर भी एक वा दूसरे कारण से उनकी ऐसी अनुचित कामना को न मानने के स्थान में उसे मान कर उन्हें ख़लासी दे दिया करते थे। परन्तु जब मुझे इस मामले की ख़बर हुई, तब मैंने यह अनुभव करके कि और विद्यार्थियों

को शिक्षा के लिए जैसे एक साल तक खलासियों का न देना और सब काम उन्हीं से करवाना एक बहुत हितकर और आवश्यक नियम है, वैसे हि सिपाही विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए भी वह नियम नितान्त आवश्यक है, इन सिपाहियों को खलासी देने से इनकार किया। खलासी देने के विषय में मेरे इनकार करने पर वह लोग मुझ से बहुत खिझे। उन्होंने साहब प्रिन्सीपल तक पहुंच कर उसके विषय में ज़ोर लगाने का इरादा किया। परन्तु मैंने उससे पहले ही साहब प्रिन्सीपल को एक चिट्ठी लिखकर उनसे इस अन्यायमूलक प्रथा के दूर करने की मंज़री ले ली थी, और इसलिए फिर उनकी कोई पेश न गई, और वह अपना मुंह लेकर रह गए।

इसके अनन्तर उन्होंने मुझ से यह आवेदन किया, कि हम बाहर जाकर तो पैमायश के सम्बन्ध में खलासियों का काम खुद ही करेंगे, परन्तु हमें यह आज्ञा मिल जाए कि हम पैमायश के सब औज़ार अपने २ घरों में से पैमायश के स्थान तक अपने नौकरों से उठवाकर ले जाया करें। मैंने उनके इस आवेदन को भी स्वीकार न किया, और कहा कि मेरी न्याय दृष्टि में सब विद्यार्थी बराबर हैं। जब सिविल विद्यार्थी अपने औज़ार आप उठाकर ले जाते हैं, तब कोई कारण नहीं कि तुम खुद भी उन्हीं की न्याईं अपने २ औज़ार उठाकर क्यों न ले जाओ। वह इस उत्तर से चुप हो गए, और आखिरकार सिविल विद्यार्थियों की तरह वह भी पैमायश सम्बन्धी सारा काम आप करने लगे। इस अवसर पर मैंने जो कुछ उचित और **न्यायमूलक** था, उसका साथ दिया, और वहां पर जो **अन्याय-मूलक** प्रथा पहले से प्रचलित थी उसका केवल यही नहीं कि आप साथ नहीं दिया, किन्तु अपनी शक्ति से उसे बिल्कुल दूर कर दिया।

फिर एक बार जब मेरे प्रोग्राम के अनुसार इन्हीं मिलीटेरी लोगों में से कुछ जनों की एक पार्टी पैमायश के लिए रुड़की के बाहर किसी और स्थान में जाने के लिए तैयार हुई, और उनके भिन्न कुछ और सिविल पार्टियां भी इसी काम के लिए बाहर जाने लगीं, और वह मेरे

पास पैमायश के औज़ार लेने के लिए आई, तब मैंने अपने दस्तूर के मुवाफ़िक़ कालेज के पुराने और नए कुल औज़ार एक लायन में लगाकर रख दिए, और उन्हें कहा कि वह जिस तरफ से चाहें बारी २ से अपने लिए औज़ार उठालें, और इस विधि से जो २ पुराना वा अपेक्षाकृत नया औज़ार जिस किसी के हिस्से में आ जाए उसे ले लें, और उसके द्वारा अपना २ काम करें। इस पर जब इत्तफ़ाक़ से इस मिलीटेरी पार्टी को कुछ औज़ार ऐसे मिले, कि जो अपेक्षाकृत पुराने थे, और कुछ औरों को वह औज़ार हाथ आए कि जो अपेक्षाकृत नए थे, तब उससे वह लोग फिर नाराज़ हो गए, और उन्होंने उनके लेने से इन्कार किया; और यद्यपि मैंने उन्हें पहले बहुत नरमी से अच्छी तरह समझाने की कोशिश की, कि उनका यह इन्कार ठीक नहीं, और **शासन और बाध्यता विषयक नियम के विरुद्ध है**, तथापि उन्होंने मेरे समझाने की कुछ परवाह न की। यहां तक कि उनमें से एक जन ने जो दफ़ादार था, मुझे कहा कि "हम फ़ौजी आदमी हैं, और किसी को मार देने वा आप मर जाने से नहीं डरते।" उसका यह कहना था, कि मैंने अपने आत्मिक बल से परिचालित होकर और अपनी तेज़ आवाज़ के साथ उससे पूछा कि क्या तुम्हारे इस कहने का यह मतलब है कि मैं जो तुम्हारा शिक्षक हूं, तुम मुझ से अपनी किसी अनुचित कामना के पूरा न होने पर मुझे मार देने की धमकी देते हो ? इस पर उसने कहा कि आप जो चाहें समझें। मैंने उसका यह उत्तर पाते हि कालेज के जमादार को बुलाया और उसे हुक्म दिया कि इस पार्टी को बाहर जाने के लिए ख़ेमे आदि का देना अभी मुलतवी रहे। मैं कल इस आदमी की अपमानमूलक क्रिया के सम्बन्ध में साहब प्रिन्सीपल को रिपोर्ट करूंगा, और जब तक वह इस विषय में अपना फ़ैसला न दें, तब तक यह लोग पैमायश के लिए यहां से रवाना न हों।

इस समय शाम के चार बज चुके थे और साहब प्रिन्सीपल अपने दफ़्तर के कमरे से उठकर अपनी कोठी पर चले गए थे। साहब प्रिन्सीपल का नाम मेजर लैंग था। वह कालेज के प्रिन्सीपल होने के भिन्न

जितने देशी वा योरोपियन मिलीटेरी सिपाही वा अफ़सर वहां शिक्षा पाते, वा उनके मातहत प्रोफ़ेसर के पदों पर काम करते थे, उनके "कमांडिग अफ़सर" भी थे। अगले दिन जब वह दस बजे अपने दफ़्तर में आए, तब मैंने उनके पास जाकर उस दफ़ादार की शिकायत की; जिस पर उन्होंने उसे अपने पास बुलाया और उसे मेरी शिकायत का हाल बताकर उससे जवाब चाहा। इस पर उसने कहा, कि मैं इतने वर्षों से फ़ौज में रहा हूं और वहां पर कभी मेरी किसी क्रिया के विषय में कोई शिकायत नहीं हुई; और इसी विषय में मेरे पास मेरे अफ़सरों के बहुत से सर्टीफ़िकेट मौजूद हैं। तब मेजर लैंग ने उसका यह बयान सुनकर और शायद उसके सर्टीफ़िकेट भी पढ़कर उसे यह हुक्म दिया, कि तुम अपने मास्टर के सम्बन्ध में ज़रूर अपराधी हो; परन्तु मैं इस दफ़ा तुम्हें माफ़ करता हूं। अगर आगे को कभी इन्होंने तुम्हारी फिर कोई शिकायत की, तो मैं तुम्हे कालेज से निकाल दूंगा, और तुम्हें तुम्हारी फ़ौज में फिर वापिस भेज दूंगा। उनके इस तिरस्कार का उस पर इतना प्रभाव पड़ा, कि फिर क्या उसने और क्या उसके किसी और फ़ौजी साथी ने मेरे सामने कभी कोई अपमान वा कोई अबाध्यता सूचक क्रिया नहीं की।

बाईसवां परिच्छेद

मुझ में दया वा सहानुभूति का भाव और उसकी प्रकाशक एक विशेष घटना

मुझ में दया विषयक जो भाव बाल्य काल से हि विकशित हुआ था, वह मेरे रुड़की के निवास के दिनों में और भी अधिक उन्नत हुआ; और मैं यथावसर उससे परिचालित होकर एक वा दूसरे प्रकार का दयामूलक काम किया करता था। ऐसी कितनी हि छोटी २ क्रियाओं को छोड़कर जो मुझे इस समय याद भी नहीं, इसी भाव की सूचक वहां पर जो एक विशेष घटना उत्पन्न हुई थी, उसका मैं यहां उल्लेख करता हूं :—

सन् १८७३ ई० में मैं गरमी के मौसम में एक दिन शाम को वहां के बाज़ार में से जा रहा था। मैंने देखा कि वहां पर एक जगह एक जवान गौ नीलाम हो रही है। मुझ से किसी ने कहा, कि एक क़साई इस गौ को खरीदना चाहता है, यदि आप अपनी बोली देकर उसे छुड़ा लें, तो उसकी जान बच सकती है। इस बात को सुन कर मैंने उसके प्राण बचाने के लिए उस पर अपनी बोली देनी शुरू की, और आख़िरकार मैंने वह गौ ख़रीद ली। कई महीनों तक वह गाय मेरे पास रही, फिर कालेज की छुट्टियों में जब मैं घर जाने लगा, तब मैंने वह गाय एक ऐसे पण्डित को दे देनी चाही, कि जिससे मैंने कुछ दिनों तक संस्कृत पढ़ी थी। उस पण्डित ने अपना एक शिष्य मेरे पास भेज दिया और मैंने बड़ी प्रसन्नता के साथ वह गाय उनकी इच्छा के अनुसार उनके इस शिष्य को अर्पण कर दी। इसे अर्पण करने से पहले मैंने अपने पिताजी की सेवा में जो पत्र भेजा था, उसमें मैंने इस गौ के सम्बन्ध में इस प्रकार

लिखा था :—

"मैं यह गौ उन्हें इसलिए नहीं दूंगा, कि मुझे अगले जन्म में वह गौ फिर प्राप्त हो, किन्तु केवल निष्काम भाव* से उन्हें अर्पण करूंगा।"

---

* अर्थात् अपने कृतज्ञ भाव से।

तेईसवां परिच्छेद

मुझ में हित-अनुराग-मूलक न्याय भाव का विकाश और कार्य्य

मेरे हृदय में हित अनुराग की उत्पत्ति और उन्नति के साथ २ जैसे **कर्तव्य** और **शासन** आदि विषयक नाना भावों का विकाश हुआ था, वैसे हि **न्याय भाव** का भी। न्याय भाव क्या ? किसी के सम्बन्ध में हृदय में **पक्षपात** का न होना, और उसके सम्बन्ध में पक्षपात रहित होकर कोई क्रिया करना। रुड़की में जिस प्रकार मेरे हृदय में अपने मातहत उस्तादों और विद्यार्थियों के सम्बन्ध में **शासन भाव** का विकाश हुआ था, उसी प्रकार उनके और अन्य जनों के सम्बन्ध में **न्याय भाव** भी उन्नत हुआ था। इस महान् भाव के विकशित होने पर मैं क्या अपने मातहतों और क्या अन्य जनों के स्वत्व (हक़ूक़) के सम्बन्ध में अपने ज्ञान के अनुसार अपने हृदय में अपने आपको सदा **सच्चा** रखने के लिए **बाध्य** अनुभव करता था, और किसी के सम्बन्ध में किसी प्रकार का **पक्षपात** नहीं करता था। मैं नीचे कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख करता हूं, जिनसे उस काल में मेरे इस भाव के विकाश और कार्य्य का परिचय मिल सकता है :—

(१) मैं अपने विद्यार्थियों की आप परीक्षा लेकर उन्हें जो नम्बर देता था, वह पूर्णतः पक्षपात रहित होकर देता था। इसी प्रकार जब मुझे इन्हीं लड़कों के वह उत्तर विषयक परचे देखने और नम्बर लगाने के लिए दिए जाते, कि जिनके प्रश्न और परीक्षकों की ओर से होते थे; तब भी मैं उन्हें नम्बर देने में बहुत सावधानता के साथ और पक्ष-पात रहित होकर नम्बर देता था—यहां तक कि एक बार अपने कालेज के लड़कों की अन्तिम परीक्षा के समय जब मुझे उनके परचे देखने के

लिए दिए गए, तब पहले मैंने उन दो लड़कों के परचे अलग २ निकाल कर अपनी मेज़ पर रक्खे, कि जो कालेज की विविध परीक्षाओं में कभी प्रथम और कभी द्वितीय रहा करते थे। और इस उद्देश्य से परिचालित होकर कि उनमें से प्रत्येक के प्रति मैं **पूरा २ न्याय कर सकूं,** मैं उनमें से जिस समय एक लड़के के जिस किसी प्रश्न का उत्तर पढ़ता था, उसी समय दूसरे लड़के के उसी प्रश्न के उत्तर को भी पढ़ता था, और एक हि समय में दोनों की तुलना करके उन्हें अलग २ नम्बर देता था। मैंने इस प्रकार वहां पर कभी किसी और को करते नहीं देखा, और नहीं सुना था।

(२) जिन दिनों में मैं वहां पर अस्सिटेण्ट मास्टर और तीसरी जमायत के लड़कों के वोर्डिंग का साधारण सुपरिण्टेण्डेण्ट था, उन्हीं दिनों मुझे ख़बर मिली कि उनमें से एक जवान लड़के ने जो कुछ दिन की छुट्टी लेकर घर जाने वाला था, अपने जाने वाले दिन किसी और लड़के के सन्दूक़ से कुछ क़ीमती कपड़े चुराए हैं, और जब वह उन्हें अपनी वग़ल के नीचे दबाए हुए बोर्डिंग से कुछ हि दूर गया था, कि वह पकड़ा गया। मैंने उसकी प्रिन्सीपल साहब को रिपोर्ट की। उन्होंने इस विषय में तहक़ीक़ात के लिए मेरे साथ एक और उस्ताद को भी नियुक्त किया। तहक़ीक़ात के बाद हम दोनों को यह मालूम हुआ, कि वह अवश्य अपराधी है; इसलिए हमारी सम्मिलित रिपोर्ट पर प्रिन्सीपल ने उसे कालेज से निकाल दिया, और उसका नाम कालेज के रजिस्टर से ख़ारिज कर दिया। वह आदमी बहुत चालाक था। कालेज से निकाले जाने के बाद उसने कुछ और चालाक जनों से परामर्श करके अपने ऊपर मिथ्या अभियोग लगाए जाने के अपराध पर वहां की छावनी के मजिस्ट्रेट की कचहरी में नालिश की। इस पर औरों के भिन्न हम दोनों भी कचहरी में घसीटे गए। मेरी उमर में यह सब से पहला अवसर था, जब कि मुझे किसी मजिस्ट्रेट की अदालत में जाने की आवश्यकता हुई थी। जिस समय मैं मजिस्ट्रेट के सन्मुख खड़ा हुआ अपना सच्चा बयान दे रहा था, और मेरा सचाई से पूर्ण कुल बयान उस विद्यार्थी के विरुद्ध

जा रहा था, तब उसने अपनी चालाकी से ऐसी धीमी आवाज़ में कि जिसे मजिस्ट्रेट सुन सके, मेरी ओर मुंह उठाकर मुझे यह कहा "यहां अदालत में आकर तो सच बोलो" और इस चाल से उसने मजिस्ट्रेट पर यह असर डालने की कोशिश की, कि मैं जो कुछ साक्षी दे रहा हूं, वह सच नहीं हैं। उसके इन शब्दों के सुनते हि मुझ पर इतना आघात लगा, और मेरी सचाई और मेरे न्याय का भाव इस ज़ोर से जोश में आया, कि मैंने उसे वहीं और उसी समय ललकार कर कहा कि मैं जो कुछ सच है, वही कह रहा हूं, और वही कहूंगा। इन शब्दों के निकालते समय मैं इतने ज़ोर से बोला कि यद्यपि मजिस्ट्रेट ने कि जो एक यूरोपियन फ़ौजी अफ़सर था, मुझे इतने ज़ोर से बोलने से मना किया; तथापि ऐसा मालूम होता था कि उसने मेरी सचाई की ताक़त को भी भली भान्त अनुभव किया। इसलिए कुल साक्षियों के हो चुकने पर मजिस्ट्रेट ने उसका दावा ख़ारिज कर दिया।

(३) एक बार कालेज की इंजनियरिंग क्लास के विद्यार्थियों में से कई "पार्टियां" लेविल सम्बन्धी पैमायश करने के लिए बाहर भेजी गईं। उनमें से एक पार्टी यूरोपियन मिलीटेरी अफ़सरों की थी, और एक देशी लड़कों की। इन दोनों ने एक हि स्थान के एक विशेष नियत चिह्न से काम शुरू करके, परन्तु अलग २ स्थानों में से गुज़र कर, एक हि स्थान के एक और विशेष नियत चिह्न पर अपना काम ख़तम किया। इन दोनों पार्टियों के काम का फल जब प्रिन्सीपल साहब के सामने गया, तब उन्होंने देखा, कि उन दोनों में मेल नहीं है, और यदि उनमें से किसी एक को ठीक माना जावे, तो दूसरा ठीक नहीं रहता। इन दोनों पार्टियों के आदमी अपने २ काम को हि ठीक बताते थे। इस पर प्रिन्सीपल ने मुझे आज्ञा दी, कि मैं उन दोनों चिह्नित स्थानों के बीच के फ़ासले की लेविल के द्वारा पैमायश करूं। उन दोनों के बीच में १६ मील का फ़ासला था। मैंने बहुत परिश्रम से यह कुल पैमायश दो दिनों में पूरी की, और उसका फल प्रिन्सीपल साहब के पास भेज दिया। मेरा यह नतीजा देशी विद्यार्थियों के नतीजे के साथ ठीक मिलता था;

इसलिए प्रिन्सीपल साहब जो यूरोपियन थे, कुछ उलझन में पड़ गए। इस पर मैंने उन्हें यह बताया कि यदि आप मुझे अपने इस कुल काम को एक बार फिर से पड़तालने का अवसर दें; तो उसके बाद मैं **दावे** से कह सकूंगा, कि मेरा यह नतीजा पूर्णतः ठीक है, वा नहीं। उन्होंने मुझे ऐसा करने के लिए फिर आज्ञा दी। मैंने फिर दोबारा वही पैमायश की। और जब इस पूरी पड़तालके बाद भी मेरा अपना पहला नतीजा ठीक प्रमाणित हुआ, तब मैंने उन्हें पूरे दावे के साथ यह कहा, कि मेरा नतीजा पूर्णतः और निस्सन्देह ठीक है। उन्होंने मेरे इस **पक्षपात् रहित** नतीजे पर पूरा विश्वास किया, और मेरे इस नतीजे को ठीक मान कर उसके अनुसार उन्होंने प्रत्येक पार्टी को उचित नम्बर दिए।

(४) एक बार जब १८७२ ई० में मैं रुड़की कालेज में हेड सर्वेइंग मास्टर था, और अपने परिवार सहित शहर के एक मकान में रहता था, तब एक दिन शाम को जब मैं बाहर से अपने घर को वापिस आया तब मेरी धर्म्म पत्नी ने मुझे कहा, कि कालेज का एक मुसलमान विद्यार्थी जो अपना अमुक नाम बतला गया है, आपके लिए कुछ टोपियां दे गया है। मैं यह बात सुनकर अचम्भे में चला गया, और समझ न सका, कि वह विद्यार्थी क्यों मेरे लिए यह टोपियां दे गया है। सोचते २ मुझे मालूम हुआ कि यह टोपियां वह मेरे लिए शायद इस नीयत से दे गया है, कि मैं उन्हें ग्रहण करके उसके प्रति खुश हो जाऊं, और उसके पास होने में उसके प्रति कुछ रियायत कर सकूं। अगले दिन मैंने उस विद्यार्थी से पूछा, कि तुम मेरे घर में कुछ टोपियां क्यों छोड़ आए थे ? उसने उत्तर दिया कि मैं अमुक शहर में अपने घर गया था, वहां टोपियां बहुत अच्छी बनती हैं, मैं यह समझ कर कि आप मेरे उस्ताद हैं और मैंने आपसे कई प्रकार का हित पाया है, अपनी कृतज्ञता के प्रकाश में कुछ टोपियां ख़रीद करके आपके घर दे आया था; आप कृपा करके उन्हें ग्रहण कर लें। उसके इस उत्तर को सुनकर मैंने कहा कि शुक्रगुज़ारी बेशक बहुत अच्छी चीज़ है, पर उसके प्रकाश करने का तुम्हारे लिए अभी समय नहीं आया। पहले तुम अपना इम्तहान पास

करके नौकरी हासिल करो; फिर अपनी तनख़्वाह के रुपयों में से बहुत सी टोपियां ख़रीद करके पार्सल के द्वारा मेरे पास भेज देना, और तब मैं उन टोपियों को तुम्हारी कृतज्ञता का चिह्न समझ कर बहुत ख़ुशी से क़बूल करूंगा; परन्तु अभी मैं उन्हें किसी प्रकार क़बूल नहीं कर सकता। इस उत्तर के बाद मैंने वह कुल टोपियां उसे वापिस दे दीं। कुछ महीनों के बाद वह नौजवान पास हो गया, और नौकरी पाकर वहां से चला गया, और तब से आज तक फिर उसकी तरफ़ से कभी और किसी चीज़ का कोई पार्सल मेरे पास नहीं पहुंचा। अपने किसी **स्वार्थ** वा किसी मतलब के लिए किसी को उपहार के नाम से कुछ देना और बात है, और किसी सच्चे उपकारी के उपकारों के लिए अपने भीतर **सच्ची कृतज्ञता** के भाव से परिचालित होकर उसके आगे कुछ **भेंट धरना वा उसकी कोई शुश्रूषा और सेवा करना कुछ और बात है।**

चौबीसवां परिच्छेद

औरों के सम्बन्ध में मेरे उच्च भाव मूलक सेवा के कार्य्यगत साधन

१—अपने उपकारी माता पिता के सम्बन्ध में

हित अनुराग मूलक कई उच्च भावों के विकशित हो जाने पर, मैं उनसे परिचालित होकर अपनी प्रायः सोलह वर्ष की वयस तक अपने घर में रहकर अपने शरीर के द्वारा क्या अपने उपकारी माता पिता और क्या अपने मुख्य शिक्षक और क्या कई अन्य सम्बन्धियों की जो २ कुछ सेवा करने के योग्य हुआ था, उसका इससे पहले उल्लेख कर चुका हूं। उसके अनन्तर रुड़की कालेज से पास होकर नौकर हो जाने पर मुझे अपने कृतज्ञ भाव से परिचालित होकर अपने उपकारी माता पिता की तन मन के भिन्न धन के द्वारा भी जिस और सेवा का अधिकार मिला, उसका कुछ २ परिचय मेरे उन पत्रों के निम्नलिखित अवतरणों से मिल सकता है, कि जो मैंने उनसे दूर रहने पर उन्हें लिखे थे और जिनमें इस प्रकार की सेवा और सहानुभूति आदि का ज़िकर मौजूद है। मैं अपनी नौकरी के काल में **पांच वर्ष** तक जितना धन कमाता रहा, उसमें से मैं जितना बचा सकता था, वह सबका सब अपने पिता के पास भेज देता था, और उन्हीं की मारफ़त अपनी माता आदि के लिए भी भेजा करता था। मेरे उन पत्रों के अवतरण यह हैं :—

[१—अपने पिता माता की धन से सेवा]

"रुड़की,

२४ एप्रेल १८७२ ई०

"मैं आपकी सेवा में बराबर रुपया भेजता रहता हूं। इस महीने में ......रुपए आपके पास भेजना चाहता था, परन्तु कई और खर्चों के आ

पड़ने से उनसे दस रुपए कम भेजता हूं ।......मेरा हाल आपको बख़ूबी मालूम है । **मैं अब तक जो कुछ बचा सका हूं, वह सब का सब आपके अथवा घर के अन्य सम्बन्धियों की नज़र करता रहा हूं । मैं अपना केवल निर्वाह मात्र करता रहा हूं ।"**

"रुड़की,
६ सितम्बर १८७२ ई०

"आपको जिस किसी का जो कुछ रुपया देना बाक़ी है, वह फ़ौरन अदा कर दीजिए । मैं आपके पास...रुपया भेजता हूं, जिसमें से आधा आप अपने पास रख लें, और आधे में सारा देना निबटा कर आप उनसे रसीद ले लें । अपने किसी कर्ज़े का जहां तक सम्भव हो, शीघ्र से शीघ्र अदा करना मनुष्य का बहुत बड़ा आवश्यक कर्तव्य है । इस विषय में आप कुछ भी देरी न करें ।"

"रुड़की,
२८ नवम्बर १८७२ ई०

"मैं आपके पास......रुपए के तीन नोट रजिस्टरी कराके भेजता हूं; कृपा करके ग्रहण करें, और उनकी रसीद भेज दें ।"

फिर सन् १८७३ ई० के अन्तिम दिनों में अपने पिताजी के परलोक गमन कर जाने पर, मैं अपनी माता और अपने छोटे भाई की धन से सेवा करता था । इस विषय में भी दो पत्रों में से दो अवतरण नीचे दिए जाते हैं :—

"लाहौर,
१३ दिसम्बर १८७५ ई०

"माताजी ! मैं इस चिट्ठी के साथ इसी के लिफ़ाफ़े में......रुपए का एक नोट बन्द करके आपकी सेवा में भेजता हूं । उसे आप अपने काम में लावें । मैं इस बात से बहुत ख़ुश हूं, कि आप मुझ से सब प्रकार से सन्तुष्ट और प्रसन्न हैं । मैं चाहता हूं, कि मुझे आपकी अधिक से अधिक प्रसन्नता लाभ हो......आप मुझे सदा अपना सेवाकारी पुत्र समझें । आप अपने दिल में मुझ से कोई संकोच न करें । जो कुछ आपकी ज़रूरत

हो, उसे आप दिल खोलकर मुझ पर प्रगट किया करें। मैं उसे उचित समझने पर यथा साध्य अवश्य पूरा करूंगा।

उम्मीद है, मैं हर महीने......रुपए का नोट आपके पास भेजता रहूंगा।"

[२—अपने पिता माता की बीमारी में]

"रुड़की,
१ जून १८७० ई०

"पिताजी ! मैंने अपनी २१ मई की चिट्ठी में आपकी बवासीर के लिए जो दवा लिखकर भेजी थी, उसका आप ने अब तक कोई जवाब नहीं दिया। मुझे आपकी बीमारी से बहुत फ़िकर रहता है। आप जब तक बीमार हैं, तब तक आप कृपा करके मुझे हर दूसरे या तीसरे दिन अपने हालात की ख़बर देते रहें।"

"रुड़की,
१६ जुलाई १८७१ ई०

"मुझे बहुत शोक है, कि आपकी बवासीर की तकलीफ़ अभी तक दूर नहीं हुई। मैं इसके साथ एक हकीम का नुसख़ा भेजता हूं, उसे आप कृपा करके बनवा लें। उससे उम्मीद है, आपको फ़ायदा होगा।"

"रियासत बहावलपुर,
३ मार्च १८७२ ई०

"आज आपकी चिट्ठी पहुंची। आपकी बीमारी के बढ़ जाने का हाल पढ़कर मुझे बहुत शोक हुआ है। आपको अगर सूखी खाज की शिकायत है, तो आप कुछ सरसों पीसकर और उन्हें दही में मिलाकर सारे बदन में उनकी मालिश किया करें; और फिर कुछ देर बाद ठण्डे पानी से नहा लिया करें। उम्मीद है इससे फ़ायदा होगा, और अगर तर ख़ारिश हो, तो नीचे का नुसख़ा तैयार करके उसे काम में लावें :—

(यहां एक नुसख़े के बनाने की तरकीब लिखी हुई थी)

खाने में गुड़ और खटाई से परहेज़ रक्खें। आपका जो हाथ सूज गया है, उसपर शायद पुलटिस बांधना ठीक होगा। आप किसी

अनजान की कोई दवा न करें। मुझे अपने हालात की जल्द २ ख़बर देते रहें, ताकि मेरा फ़िकर न बढ़े।"

"रुड़की,
२० अगस्त १८७२ ई०

"आपकी बीमारी से बहुत दुःख रहता है। मैं चाहता हूं कि अब की बार घर पहुंच कर आपको अपने साथ यहां ले आऊं, और यहीं के डाक्टर से आपका इलाज कराऊं। यहां पर एक यूरोपियन डाक्टर रहते हैं, और अपने काम में बहुत होशियार समझे जाते हैं। उम्मीद है, उनके इलाज से आपको ज़रूर फ़ायदा होगा।"

"रुड़की,
२२ अगस्त १८७२ ई०

"आपकी बवासीर की बीमारी बेशक बहुत तकलीफ़देह है। आप उससे बहुत कमज़ोर हो गए हैं। मैं चाहता हूं, कि मैं यहां के एक यूरोपियन डाक्टर से आपका इलाज कराऊं। मैं इस दफ़ा आपको और माताजी को अक्तूबर के महीने में यहां लाना चाहता हूं। आप तैयार रहें।"

"लाहौर,
दिसम्बर १८७३ ई०

"प्रिय लीलावती !

तुम को चाहिए कि परदे की रसम छोड़ दो, और मेरे पिता से परदा न करो, और उनकी बीमारी में ख़ुद उनके पास जाकर उनका हाल पूछो और सब तरह से उनकी शुश्रूषा करो। यह तुम्हारा पवित्र कर्तव्य है।"

"लाहौर,
१६ दिसम्बर १८७३ ई०

"प्रिय लीलावती !

मैं जब से यहां आया हूं, तब से मैं यद्यपि पिताजी की सेवा में कई चिट्ठियां भेज चुका हूं, तथापि मुझे उनके हाथ की लिखी हुई अब तक

कोई चिट्ठी नहीं मिली। मुझे डर है, कि वह कहीं वीमार न हों। मैं उनकी वीमारी से वहुत फ़िकर में पड़ जाता हूं।"

"रुड़की,
२६ अक्तूबर १८७० ई०

"प्रिय लीलावती !

मुझे वहुत शोक है कि माताजी वीमार हैं। तुम्हें चाहिए कि पूरे दिल से उनकी सेवा करो, और उन्हें अपनी सेवा से प्रसन्न रक्खो। माताजी के चरणों में मेरी ओर से बहुत २ पालागन कहने के बाद निवेदन करना, कि मुझे उनकी बीमारी से वहुत दुःख है, और मैं उनसे वहुत दूर होने के कारण इस समय अपने तन के द्वारा उनकी कोई सेवा नहीं कर सकता।"

२—अपने छोटे भाई के सम्बन्ध में

मैं अपने माता पिता का सब से बड़ा बेटा था। मेरी उमर से प्रायः दस वर्ष छोटा मेरा एक और भाई था, जिसका नाम रामनारायण था। मेरे हृदय में अपने इस छोटे भाई के हित के लिए बहुत गहरा भाव वर्तमान था। जब वह कभी बीमार होता, तब मुझे उसकी बीमारी से कष्ट होता, और मेरा हृदय चाहा करता, कि मैं उसके रोग की निवृत्ति के लिए जो कुछ कर सकता हूं, वह करूं, और वह किसी प्रकार आरोग्यता लाभ करे, और मैं उसे सुस्थ, सबल और हृष्ट पुष्ट अवस्था में देखूं। जब वह बहुत छोटा था, तब मैं उसे गोद में लेकर खिलाया करता था, और उसे हंसाने और ख़ुश करने के लिए कई प्रकार के यत्न किया करता था। अभी वह प्रायः छः साल का था, जब कि मैं प्रायः १६ वर्ष की उमर में रुड़की कालेज में दाख़िल हुआ था। रुड़की में पहुंच कर वहां पर क्या अपनी पढ़ाई के दिनों में और क्या उसी कालेज में अपनी नौकरी के दिनों में, मैंने अपने उन पत्रों में जो मैंने अपने पिताजी के नाम समय २ में लिखे थे, उसकी पढ़ाई और बीमारी आदि के विषयों में जो कुछ लिखा था, उनमें से कितने हि अवतरण नीचे दर्ज करता हूं,

जिनके पाठ से उसके सम्वन्ध में मेरे उपरोक्त भावों की वर्तमानता का परिचय मिल सकता है।

[१—उसकी पढ़ाई के सम्वन्ध में]

"रुड़की,
१८ जनवरी १८६७ ई०

"आप रामनारायण को मदरसे में ज़रूर दाख़िल कर दें। वहां पर उसे पहले हिन्दी सिखानी चाहिए। फिर उसके बाद उसे फ़ारसी और अंग्रेज़ी पढ़ानी चाहिए। उसके पढ़ाने में देरी न करें।"

"रुड़की,
१४ मार्च १८६८ ई०

"रामनारायण की पढ़ाई में आप अच्छी तरह कोशिश करते रहें, क्योंकि विद्या वहुत क़दर की चीज़ है। वह आप अभी विद्या की कुछ क़दर नहीं कर सकता। परन्तु यदि आप अपना दबाव डालकर उसे पढ़ा देंगे तो वह पीछे से आपको धन्यवाद देगा। आप उसकी पढ़ाई में कोई कमी न करें। वह जब मेरे पास आकर रहेगा, तब मैं ख़ुद बड़ी ख़ुशी से उसकी पढ़ाई के लिए सब तरह की कोशिश करूंगा।"

"रुड़की,
१५ जून १८६८ ई०

"आप रामनारायण के पढ़ाने में बहुत कोशिश करें। खेल कूद में उसकी उमर बरबाद न हो जाए; नहीं तो पीछे पछताना पड़ेगा।"

"रुड़की,
१४ अक्तूबर १८६८ ई०

"आप रामनारायण की पढ़ाई का बख़ूबी ख़याल रक्खें। उसे शायद अब फ़ारसी पढ़ाना मुनासिब होगा।......मेरा अपना तो यहां तक जी चाहता है, कि मैं नौकरी न करूं, और किसी कालेज में भरती होकर अंग्रेज़ी की तालीम हासिल करूं।"

"रुड़की,

१२ जुलाई १८६९ ई०

"मैं अपनी कई चिट्ठियों में आपसे रामनारायण की पढ़ाई की बाबत पूछता रहा हूं, लेकिन आपने अब तक उसके विषय में कोई जवाब नहीं दिया।"

"रुड़की,

६ मार्च १८७१ ई०

"रामनारायण के अपने हाथ की लिखी हुई चिट्ठी पाकर मुझे बहुत ख़ुशी हुई। मैं अपनी इस ख़ुशी में उसे कोई चीज़ उपहार देना चाहता हूं। आप यदि उसके अंगरखे और पाजामे की नाप भेज दें, तो मैं उसके वास्ते एक जोड़ा कपड़ों का तैयार कराके अपने साथ लेता आऊं।"

सन् १८७२ ई० में मैंने अपने इसी भाई को पढ़ाने के लिए अपने पास रक्खा था। उस काल में मैंने उसके विषय में अपने पिताजी को जो कुछ लिखा था, वह यह था :—

"रुड़की,

२० मार्च १८७३ ई०

"मैं यहां रामनारायण को ख़ुद पढ़ाया करता हूं; परन्तु वह लिखने पढ़ने में कुछ ध्यान नहीं देता। मैं उसे हर तरह से ख़ुश रखने और उसकी तालीम के लिए कोशिश करता हूं। परन्तु शोक कि उसका पढ़ाई में जी नहीं लगता और उस पर मेरा बहुत सा परिश्रम निष्फल जाता है।"

"रुड़की,

१० नवम्बर १८७३ ई०

"मैंने यहां पर रामनारायण की पढ़ाई का इन्तज़ाम कर दिया है। ......उसे खेलने का जितना शौक़ है, उतना पढ़ाई का नहीं है, इसीलिए वह पढ़ाई में काफ़ी जी नहीं लगाता।"

[२—उसकी बीमारी के सम्बन्ध में]

"रुड़की,

२ अप्रैल १८६९ ई०

"आपकी चिट्ठी से रामनारायण की बीमारी का हाल जान कर बहुत शोक हुआ; आप उसके इलाज का भली भांत ख़याल रक्खें।"

"रुड़की,

७ अगस्त १८७० ई०

"रामनारायण की बीमारी का हाल जानकर दिल को बहुत रंज पहुंचा। आप कृपा करके जल्द उसके हाल से मुफ़स्सिल इत्तलाअ दीजिए। आप लिखें कि उसे यह बुख़ार सर्दी से चढ़ता है या यूं हि ? उसे क्या दवा दी जाती है ? अब तक कोई दस्तावर दवा दी गई है या नहीं ? चिट्ठी के पाते हि कुल हालात की ख़बर दीजिए। मैं फ़िकर में हूं। अगर ज़्यादह बीमार हो, तो उसे कानपुर ले जाकर किसी डाक्टर को दिखाना चाहिए। हालात जानने पर मैं भी यहां से किसी दवा के भेजने का इन्तज़ाम कर सकता हूं।"

"रुड़की,

१८ अगस्त १८७० ई०

"आपने अपनी चिट्ठी में रामनारायण की बीमारी का जो हाल लिखा था, उसे पढ़ते हि मैंने एक चिट्ठी आपके नाम इस मज़मून की रवाना की थी, कि आप मेरी चिट्ठी के पाते हि उसकी बीमारी का मुफ़स्सिल हाल लिख भेजें, ताकि मैं उसके लिए यहां से हि कोई दवा रवाना करूं, लेकिन आपने अब तक उसका कुछ जवाब नहीं दिया, मुझे बहुत फ़िकर है।"

३—अपने गुरु के सम्बन्ध में

मेरे हृदय में अपने गुरु के प्रति जो सात्विक अनुराग था, वही उनके साथ मेरे उच्च और **जीवन्त सम्बन्ध** का **मूल हेतु** था। मैं उनके प्रति अपने अनुराग भाव के कारण केवल यही नहीं, कि उनके प्रत्येक सुख दुःख, उनकी प्रत्येक बीमारी और विपद और कठिनता आदि के सम्बन्ध

में **विशेष रूप से सहानुभूति अनुभव करता था;** किन्तु जहां तक सम्भव हो, उनके समीप हि रहना चाहता था। अभी जब कि मैं उनका शिष्य नहीं बना था, परन्तु मेरे हृदय में उनके प्रति आकर्षण जाग चुका था, और मैं रुड़की कालेज से पास हो जाने पर पहले पहल नहर आगरे पर नौकर हुआ था, तब भी शरीर के विचार से उनसे जुदा हो जाने पर मेरा वहां जी नहीं लगता था, और **मैं उनकी जुदाई से कई बार व्याकुल होकर रोया करता था,** और मैं यह बार २ आकांक्षा करता था, कि किसी तरह कोई ऐसी घटना पैदा हो, कि मुझे उनके चरणों में रहने का अवसर मिले। मेरे हृदय में **रुपए के लालच का कोई अधिकार न था,** और मैं केवल अपने और अपने पारिवारिक सम्बन्धियों के **शारीरिक निर्वाह** के लिए नौकरी करता था; इसलिए जब सात आठ महीने के बाद मेरी आन्तरिक गाढ़ आकांक्षा के अनुसार रुड़की कालेज में हि चालीस रुपए माहवार की एक असिस्टेण्ट मास्टरी की जगह ख़ाली हुई, तब मैंने उसके लिए झट दरख़ास्त भेज दी, और उसके मंजूर हो जाने पर, नहर की पैंसठ रुपए महीने की नौकरी छोड़कर, मैं खुशी २ चालीस रुपए महीने की नौकरी पर चला गया।

इसी प्रकार जुलाई सन् १८७१ ई० में शिष्य हो चुकने पर दो महीने के बाद हि जब मैं उस समय की इन्डस वैली स्टेट रेलवे (अब नार्थ वैसटर्न रेलवे) पर उसके बहावलपुर डिवीज़न में ओवरसियर नियुक्त हुआ, तब भी मैं उनकी **जुदाई** से बहुत उदास रहता था; और वहां भी मैं बार २ यही आकांक्षा करता था, कि मुझे किसी तरह उनके चरणों में रहने का अवसर प्राप्त हो। और जब नहर आगरे की तरह वहां पर भी मेरी इस गाढ़ आकांक्षा के पूर्ण होने का अवसर उत्पन्न हो गया, अर्थात् रुड़की कालेज में हि उन्हीं दिनों हेड सर्वेइंग मास्टर की जगह ख़ाली हुई, और दरख़ास्त करने पर मुझे वह जगह मिल गई, तब मैंने रेलवे की अपनी भत्ते समेत प्राय: एक सौ पांच रुपए महीने की नौकरी छोड़कर वहां की साठ रुपये महीने की नौकरी बहुत ख़ुशी के साथ स्वीकार कर ली।

रुड़की की ओर रवाना होने पर रास्ते में आदम वाहन के पास सतलज से किश्ती के द्वारा पार होते हि पहले पहल एक बड़े तूफ़ान के आने पर और फिर फ़िल्लौर के पास उसी सतलज दरया पर रेलवे का जो पुल था, उसके टूट जाने से और दरया के बहुत चढ़ाव की हालत में होने से मुझे रुड़की तक पहुंचने में न केवल कई प्रकार की विपदों और बहुत कष्टों किन्तु एक बार अकाल मृत्यु की आशंका में से भी गुज़रना पड़ा। फिर भी इन कुल विघ्नों और कष्टों में से गुज़रते समय मेरे हृदय में अपने गुरु के चरणों में पहुंचने की जो ज़ोरदार अभिलाषा वर्तमान थी, वह मेरे धैर्य्य में बहुत बड़ी सहायक थी। सतलज नदी के पुल के टूट जाने और उसके कारण मेरे रास्ते में कई विघ्नों के उत्पन्न हो जाने से, जब मैं अपने पहले प्रोग्राम के अनुसार रुड़की में न पहुंच सका, तब मेरे गुरु जी को मेरे विषय में बहुत फ़िकर उत्पन्न हुआ। इस दशा में उन्होंने मेरे पिताजी के नाम अकबरपुर में जो पत्र भेजा था, उसमें उन्होंने यह लिखा था:—

"इस वक़्त तक मुझको अज़ीज़ शिवनारायण का कुछ हाल मालूम नहीं हुआ, और उनके हाल के न मालूम होने से मुझे ऐसी तकलीफ़ है कि ईश्वर को मालूम है। अगर आपको कुछ हाल मालूम हो, तो जल्दी इतलाअ फ़रमाइये। आज मैंने इसी समय उनके साहब को बहावलपुर के पते पर एक तार भेजा है, वहां से कोई ख़बर मिलने पर, मैं आपको भी ख़बर दूंगा। १३ जुलाई सन् १८७२ ई०।"

उनका यह कष्ट और फ़िकर इस बात का सूचक है, कि वह मेरे लिए अपने हृदय में कैसा गहरा स्नेह भाव रखते थे।

अन्त में मैं कुशल पूर्वक रुड़की पहुंच गया।

मैं उन्हें भेंट देने के लिए अमृतसर से एक लोई और शायद उसके साथ कोई और चीज़ वा चीज़ें ख़रीद कर ले गया था। वहां पहुंचकर जब मैं उनके दर्शनों के लिए उनके चरणों में उपस्थित हुआ, तब क्या देखता हूं कि वह सख़त बीमार हैं; उन्हें ज़ोर का बुख़ार चढ़ा हुआ है, और वह अपने कमरे में अपनी चारपाई पर पड़े हुए हैं। मुझे देखते

हि उनका हृदय उछल पड़ा। उनके भीतर एक नया उत्साह आ गया। वह स्नेह से भरकर खड़े हो गए। मैंने उनके चरणों को स्पर्श किया, उन्होंने मुझे गले से लगा लिया। फिर उनके मकान के समीप जो मकान मैंने अपने रहने के लिए लिया था, वहां तक वह मेरे साथ २ चले गए; और मेरे बहुत कुछ आवेदन करने पर भी, वह रास्ते से वापिस न हुए और यह कहते रहे, कि अब तुम आ गए हो, आशा है मेरी बीमारी भी चली जाएगी। कुछ मिनटों के बाद वह अपने घर को लौट गए। उनकी बीमारी कम न हुई। तीन चार दिन के बाद अर्थात् २४ जुलाई सन् १८७२ ई० को उन्हें अधरंग हो गया और उनके शरीर का सारा दाहना भाग मारा गया। कुछ दिन बाद उनके शरीर के दूसरे भाग पर भी फ़ालिज गिरा, और उनके शरीर का वह भाग भी रद्दी हो गया।

मैं उन दिनों छः घण्टे तक कालेज में काम करता था, और अपने काम के सिवाय अपने गुरु जी की बीमारी के कारण वहां पर उनकी नौकरी का भी आवश्यक काम करता था। उसके अनन्तर जितना समय बाक़ी रहता था, उसे मैं केवल उनके चरणों में हि रहकर, उन्हीं की सेवा और शुश्रूषा में व्यतीत करता था। उनके घर के सम्बन्धियों के भिन्न उनके कुछ और मित्र और श्रद्धालु भी उनकी सेवा करते थे। मैं अपने गुरु की शुश्रूषा के विविध कामों में **एक २ बार इतना लीन हो जाता था, कि मुझे अपनी कोई सुध न रहती थी।** इसीलिए मेरी अपनी शारीरिक आवश्यकताएं भी ठीक तरह से पूरी न होती थीं। एक दिन आधी रात के बाद उनके लिए बर्फ़ की ज़रूरत हुई। मैं बर्फ़ लेने के लिए चला; परन्तु मुझे अपना जूता न मिला। मुझे उसकी कुछ परवाह न हुई। मैं नंगे पांव हि भागा। रात को अंधेरे में ठोकरें खाता हुआ उस मकान पर पहुंचा, कि जहां बर्फ़ तैयार होती थी, और बर्फ़ ले आया।

मेरे गुरु क्या अपने प्रति मेरे हितकर विश्वास और अनुराग और क्या अपने और क्या अन्य सम्बन्धों में मेरी नाना क्रियाओं से बहुत सन्तुष्ट रहते थे। उन्होंने मेरे रेल की नौकरी के दिनों में मेरे पास अपनी

जो लम्बी चिट्ठी भेजी थी, उसमें और बहुत सी बातों के भिन्न मेरे प्रति अपनी प्रसन्नता के विषय में उन्होंने यह शब्द लिखे थे :—

"भाई जान! तुम्हारे विश्वास, तुम्हारे वचन और तुम्हारे कार्य्य से मुझे पूरी आशा है, कि तुम निश्चय अपने उद्देश्य में सफल काम होगे।"

४—एक व्यभिचारी जन के उद्धार के सम्बन्ध में

अभी मेरी उमर प्राय: २२ साल की थी, जब कि मैं रेल के काम पर ओवरसियर था। उन दिनों एक "ब्राह्मण" सब-ओवरसियर मेरे नीचे काम करता था। उसका स्वभाव दुष्ट था। उसका चाल चलन अच्छा न था। वह विवाहित था; परन्तु अपनी पत्नी को अपने पास नहीं रखता था। उसकी पत्नी वहां से सैकड़ों मील की दूरी पर अपनी सुसराल में रहती थी, और उसने वहां पर एक बदचलन स्त्री अपने घर में बसाई हुई थी। इन हालात के मालूम होने पर मुझ पर क्या उसकी पत्नी की असहाय और दुखिया अवस्था और क्या उसकी इस महा पाप मूलक घृणित क्रिया ने बहुत कष्टकर प्रभाव डाले। मेरे हृदय में उसके उद्धार के लिए ज़ोरदार प्रेरणाएं उठने लगीं। मैंने उसे पहले इस बात के लिए तैयार किया, कि वह मुझ से अंग्रेज़ी पढ़ा करे। फिर जब वह मुझ से अंग्रेज़ी पढ़ने लगा, तब मैंने उसे अलखधारी की तर्जुमा की हुई उर्दू गीता पढ़ने के लिए दी। उसके पाठ से उसके भीतर मेरे लिए सन्मान का भाव कुछ और अधिक बढ़ गया। फिर उसका उपरोक्त हाल जानने पर मैंने उसके हृदय में उसकी पत्नी के सम्बन्ध में विश्वास घातकता और व्यभिचार विषयक पाप के सम्बन्ध में घृणा उत्पन्न करने के लिए संग्राम आरम्भ किया, जिसमें मुझे सफलता हुई। मेरे उपदेशों से उसका हृदय बदल गया, और वह इस डाली हुई कुलटा स्त्री के छोड़ने और अपनी विवहिता पत्नी को अपने पास बसाने के लिए तैयार हो गया। एक अच्छी तरकीब निकल आई, कि जिसके पूरा होने पर आख़िरकार वह बदकार औरत उसके घर से निकल गई, और उसकी विवहिता स्त्री उसके पास पहुंच गई, और फिर प्रसन्नता पूर्वक उसके पास रहने लगी।

पच्चीसवां परिच्छेद

मेरे अपने और अन्य जनों के सम्बन्ध में विविध प्रकार के उच्च भाव विषयक साधन

अपने गुरु जी के स्थूल शरीर के छोड़ देने के अनन्तर कुछ दिनों में कालेज की वार्षिक छुट्टियों में मैं अकबरपुर को चला गया। वहां पर पहले पहल मैंने अपने दूसरे पुत्र को देखा कि जो चार पांच महीने का था। वहां से कानपुर जाकर मैंने एक विद्वान् पण्डित से "संध्या" पढ़ी और उसकी विधि सीखी, और तब से उसका साधन भी करने लगा। छुट्टियों के बाद, मैं अपनी पत्नी और अपने बच्चे और एक सम्बन्धी और एक नौकर समेत फिर रुड़की को वापिस आया। अपने गुरु जी की संगत से वंचित होकर मैं यहां पर बहुत उदास और अपने आप को पूर्णतः अकेला और असहाय अनुभव करता था। अब वहां पर केवल दो हि जन ऐसे थे, कि जिनके साथ वेदान्तमूलक वैराग्य और अन्य साधनों के सम्बन्ध में मेरी बातचीत चल सकती थी। उनमें से एक जन हिन्दू थे कि जो एक मुसलमान मौलवी के असरों से मुसलमान होने वाले थे, परन्तु जिनको मेरे गुरु ने बचाया था, और जो इसलिए मेरे गुरु के बहुत श्रद्धालु थे; और दूसरे जन एक सूफ़ी मुसलमान थे; जो वहीं रहते थे। इन लोगों से कभी २ मिलने के भिन्न, मैं साधारणतः और किसी से मिलता जुलता न था। मैं इन दिनों मूंग की दाल और रोटी और दूध के भिन्न प्रायः और चीज़ें नहीं खाता था, वा बहुत कम खाता था। मैं स्वाद वासना के अधिकार से ऊपर होने के कारण किसी खाने की वस्तु के प्रति उसके स्वाद को मुख्य रखकर कोई आकर्षण नहीं अनुभव करता था। और इसीलिए कई बार खाना खाते समय सब वस्तुओं को मिलाकर और गड्ड मड्ड करके खाया करता था। मेरे पास

नौकरी सम्बन्धी काम बहुत ज़्यादह था, इसलिए दिन में अध्ययन के लिए, मुझे बहुत कम समय मिलता था; फिर भी मैं रात को सोने से पहले अलखधारी के तर्जुमा किए हुए उर्दू उपनिषदों का अकसर पाठ करता था; और अनेक बार चारपाई को छोड़कर भूमि पर हि सोया करता था। इन दिनों में संध्या, पाठ, जप, प्रार्थना और विचार आदि के भिन्न, मैंने अन्य जनों के सम्बन्ध में अपने आचार सम्बन्धी विविध प्रकार के जो २ उच्च नियम लिखकर अपने पास रक्खे थे, वह यह थे :—

१—निर्जन वास

(१) जहां तक हो, निर्जन में रहना और निर्जन वास को सजन वास की अपेक्षा श्रेष्ठ और प्रिय जानना।

२—अच्छी संगत और बातचीत

(२) जब सजन रहना आवश्यक हो, तब सदा अच्छी संगत में रहना, और मूर्खों और बुरे जनों से सदा दूर रहना।

(३) बातचीत कम करना और अधिकतर चुप रहना।

(४) जब तक कोई विशेष आवश्यकता न हो, तब तक किसी के पाप वा दोष को प्रगट न करना।

(५) दूसरे के सद्गुणों को यथावश्यक **श्रद्धा** पूर्वक वर्णन करना।

(६) वृथा बातचीत न करना; अर्थात् किसी से ऐसी बातचीत न करना कि जिससे अपना वा उसका कुछ हित न हो।

३—सत्य भाषण

(७) सर्वदा सच बोलना, और झूठ कभी न बोलना।

(८) कोई बात ऐसे ढंग से न करना, कि जिससे कोई जन असल बात को न समझ कर धोखे में पड़ जाए।

४—सत् प्रतिज्ञा पालन

(९) अपनी सत् प्रतिज्ञा के पालन के लिए इतना प्रबल यत्न करना जितना एक पुत्रार्थी पुत्र की प्राप्ति के लिए, रोगी

रोग के दूर करने के लिए, और दरिद्री धन की प्राप्ति के लिए करता है।

५—दीन भाव

(१०) आत्म-हित की तुलना में संसार की सब चीज़ों को गौण और असार जानना, और अपनी किसी शक्ति के लिए घमंड न करना।

(११) यथावश्यक दूसरे के सन्मुख अपने किसी दोष वा अपनी किसी हीनता को स्वीकार करने में कोई झिझक वा भय न मालूम करना।

६—आत्म-सन्मान

(१२) जहां तक सम्भव हो, किसी से मामूली ज़रूरत के लिए भी कोई चीज़ न मांगना।

(१३) बिना उचित कारण के किसी से कोई चीज़ ग्रहण न करना।

७—पर हानि से बचना

(१४) बिना उचित कारण के किसी के दिल को न दुखाना।

८—परोपकार करना

(१५) जहां तक सम्भव हो, दूसरों के किसी अभाव को दूर करना।

(१६) दूसरों को सत् उपदेश देना।

छब्बीसवां परिच्छेद

रुड़की का त्याग

मुझे अपने आत्मा में जिस अद्वितीय हित अनुराग का वीज जन्म काल से हि प्राप्त हुआ था, वह बहुत प्रबल था। मेरे बाल्य काल से हि वह प्रस्फुटित होकर दिनों दिन विकशित होने लगा था। इसलिए मुझे अपनी आयु के बढ़ने के साथ २ जव और जो बात हितकर प्रतीत होती उसकी ओर तत्काल मेरा हृदय आकृष्ट होता, और मैं उसे ग्रहण करके उसी समय से उसका साथ देने के लिए प्रस्तुत हो जाता। इधर मुझे यह हित अनुराग बहुत प्रबल रूप से मिला था, उधर यह जानने के लिए कि मेरे आत्मा का हित किस २ विधि वा साधन से हो सकता है, उसका अधिक से अधिक ज्ञान हित अनुराग की उन्नति के भिन्न मेरी समझ और विद्या की अधिक से अधिक उन्नति पर भी निर्भर करता था।

यह उन्नति काल सापेक्ष थी; अर्थात् ऐसी उन्नति किसी एक महीने वा एक साल वा कई सालों में समाप्त होने वाली न थी; वरन समय के साथ २ लगातार चली चलने के लिए थी। फिर उसके लिए इस बात की भी आवश्यकता थी, कि एक ओर मुझ में अपनी समझ और विचार शक्ति के बढ़ने के निमित्त विद्या अनुराग का प्रबल भाव वर्तमान हो; और दूसरी ओर जो कुछ मैं एक वा दूसरी विधि से सीखूं वा जानूं, उसमें जो कुछ मिथ्या अथवा जो कुछ सत्य हो, उन दोनों को अलग २ देखने और पहचानने के लिए मुझे जिस **ज्योति** की आवश्यकता थी, और वह ज्योति जिस सत्य विपयक अनुराग और मिथ्या विपयक विराग भावों के विकाश से उत्पन्न हो सकती थी, वह दोनों भाव भी मुझ में वर्तमान हों; क्योंकि सत्य विषयक अनुराग और मिथ्या विपयक विराग भावों के बिना मुझ में पूर्णांग देवजीवन विकशित हो नहीं

सकता था; और मैं विश्व के क्या अजीवित और क्या जीवित विभागों के लिए एक ओर अहित रहित और दूसरी ओर उन्नतशील हितकर्ता और अपनी ओर से उनके साथ **उच्चगति-मूलक एकता वा मेल स्थापन कर्ता** वन नहीं सकता था।

अब मेरी इन देव शक्तियों के लगातार विकाश के लिए मुझे जिस २ अनुकूल अवस्था के मिलने की आवश्यकता थी, वह मुझे जैसे अपनी प्रायः सोलह वर्ष की उमर में पहुंच जाने पर अकवरपुर में नहीं मिल सकती थी, और इसीलिए नेचर को अपनी गति के क्रम में ऐसी घटनाएं उत्पन्न हुईं, कि जिससे मैं अपने देवजीवन के भावी विकाश के लिए अकबरपुर को छोड़ने और वहां से रुड़की में जाने के लिए वाध्य हुआ; वैसे हि रुड़की में रहकर भी जब मेरे अपने इसी देव-जीवन के अधिक विकाश के लिए कोई अनुकूल अवस्था न रही, तब नेचर की हि अपनी गति के अनुसार फिर ऐसी घटनाएं उत्पन्न हुईं, कि जिनके उत्पन्न होने से मेरे लिए रुड़की का त्याग करना और वहां से निकल कर लाहौर में पहुंचना और रहना अवश्यम्भावी हो गया। वह घटनाएं जिस प्रकार उत्पन्न हुईं, उनकी कथा यह है :—

मैं रेल की नौकरी को छोड़कर जब जुलाई सन् १८७२ ई० में रुड़की में पहुंचा, तब मैंने अपने गुरु को (जिनकी उच्च संगत पाने के निमित्त हि मैंने वह नौकरी छोड़ी थी) बीमार पाया। उनकी यह बीमारी दूर न हुई, और अन्त में उनके स्थूल शरीर की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु से मुझ पर वहुत आघात लगा और जिनके लिए मैं आवश्यक त्याग करके रुड़की में गया था, जब वही वहां न रहे, तब मेरा हृदय वहां से बिलकुल उचाट हो गया। इस दशा में भी मैं वहां पर अपनी नौकरी का काम अपने प्रबल कर्तव्य भाव के अनुसार बहुत ज़िम्मेवारी और परिश्रम के साथ पूरा करता रहा। मेरे लिए यह काम बहुत अधिक था, और मैं वहां पर अकसर बीमार रहता था। इन्हीं दिनों में, मैंने पंजाब गवर्नमेण्ट गज़ट में यह पढ़ा, कि पंजाब के शिक्षा विभाग में वहां के पांच सरकारी हाई स्कूलों में पांच ड्राइंग मास्टरों के

नियुक्त करने की तजवीज़ है, और यह कि वहां के शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर ने रुड़की कालेज के प्रिन्सीपल को लिखा है, कि वह इस अभिप्राय के लिए उन्हें ऐसे पांच आदमी दें। इन नौकरियों का प्रारम्भिक वेतन सौ रुपया महीना था, और दस २ रुपए साल की तरक्क़ी देकर पांच सालों में डेढ़ सौ रुपए माहवार तक तनख़ाह देने का इक़रार था। मेरा दिल रुड़की से पहले हि उखड़ा हुआ था। मैंने यह ख़बर पढ़कर अपने प्रिन्सीपल साहब की सेवा में एक आवेदन पत्र भेजा; जिसमें मैंने उनसे यह प्रार्थना की, कि इन नई नौकरियों में से वह एक नौकरी मुझे दें। इस पर उनके साथ कई महीने तक पत्र व्यवहार होता रहा। वह बहुत अच्छे दिल के आदमी थे। वह एक ओर जहां मेरी भलाई के पथ में कभी रोक बनना पसन्द न करते थे, वहां दूसरी ओर यह भी नहीं चाहते थे, कि उनके कालेज स्टाफ में से एक लायक़ आदमी चला जाए; और जिस कालेज की रक्षा और उन्नति के लिए वह दायी हैं, उसे किसी प्रकार की हानि पहुंचे। इसलिए उन्होंने पहले यह समझ कर कि शायद मैं अधिक वेतन पाने के लिए लालच से उनके कालेज को छोड़ना चाहता हूं, मुझे कहा कि यद्यपि वह मेरी कालेज के पद की उस तनख़्वाह में जो गवर्नमेण्ट की तरफ़ से नियत हो चुकी है, अपने आप कुछ घटाने वा बढ़ाने का अधिकार नहीं रखते; तथापि उन्हें कालेज के विविध ख़र्चों के लिए प्रति महीने जो रुपया सरकार से मिलता है, उसमें से वह मेरी तनख़्वाह के भिन्न पन्दरह रुपए माहवार मुझे और अधिक देने के लिए तैयार हैं। परन्तु जब इसके उत्तर में मैंने उन पर अपना यह भाव प्रगट किया, कि मुझमें रुपए के लालच का कुछ भी अधिकार नहीं है, और मैं रुपए के लालच से इस कालेज को नहीं छोड़ता और उसके प्रमाण में मैंने उनसे निवेदन किया, कि जिस तनख़्वाह पर मैं यहां कालेज में काम करता हूं, उसी तनख़्वाह पर मैं यहां से बाहर जाकर भी काम करने के लिए तैयार हूं, तब उन्होंने मेरी बात पर पूर्ण विश्वास करके यह फ़ैसला किया, कि यदि मैं अपनी जगह के भरने के लिए किसी योग्य जन की सिफ़ारिश कर सकूं, तो वह मेरे

आवेदन को मंजूर कर लेंगे। इस पर बहुत कुछ सोच विचार के बाद, उन्होंने मेरे एक असिस्टेण्ट को मेरी जगह नियुक्त करना स्वीकार करके मुझे कालेज के छोड़ने की आज्ञा दे दी। इतने में कालेज की वार्षिक छुट्टियों का समय आ गया, और उन्होंने मुझे कहा कि इन छुट्टियों के बाद अर्थात् नवम्बर के महीने में मैं कुछ सप्ताह के लिए फिर वहां जाऊं और रहूं, और उन दिनों में अपने असिस्टेण्ट को सारा काम अच्छी तरह समझा कर उसके काम को चलता कर दूं, फिर मुझे वह मेरी नई नौकरी पर भेज देंगे। मैंने छुट्टियों के बाद वहां पहुंचकर उनकी इच्छा के अनुसार जब सारा काम चलता कर दिया, तब उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा के पूरा करने के लिए मुझसे यह कहा, कि पांच स्थानों में से देहली की जगह पर तो एक आदमी पहले से नियुक्त हो चुका है, और अब गुजरात, लाहौर, अमृतसर और होशियारपुर की चार जगहों में से तुम जिस जगह जाना पसन्द करो, मैं तुम्हें उसी जगह पर भेज सकता हूं। उनके इस प्रश्न को सुनकर मैं हठात बड़ी कठिनाई में पड़ गया। परन्तु उसी समय मेरे हृदय में एक प्रेरणा उत्पन्न हुई, और उससे परि-चालित होकर मैंने उन्हें उत्तर दिया, कि मैं इस विषय में आप कोई फ़ैसला नहीं कर सकता—आप ख़ुद मेरे भले को सन्मुख रखकर जहां कहीं मेरा जाना उचित समझते हों, वहां भेज दें। इस पर उन्होंने कहा, कि मेरी राय में तुम जैसे उन्नतशील जन के लिए लाहौर का स्थान सब से बढ़कर ठीक बैठेगा; क्योंकि वह पंजाब गवर्नमेण्ट की राजधानी है, और वहां पर पंजाब के और सब स्थानों की तुलना में तुम्हें अपनी उन्नति के लिए बेहतर हालात मिल सकेंगे। मैंने अपने इस भाव के अनुसार कि मेरी अपेक्षा जो जन जिस किसी विषय में अधिक अवगति और अभिज्ञता रखते हों, उस विषय में अपनी रुचि को छोड़कर उनकी हि राय पर चलना सदा अधिक लाभदायक होता है, उसी समय उनसे निवेदन किया, कि फिर आप मुझको लाहौर में हि भेज दें। उन्होंने उसी समय पंजाब के डाइरेक्टर के नाम मेरी तक़र्रुरी का एक डाकट लिखकर और अपने दस्तख़त करके मुझे दे दिया, और मैं वहां से

रवाना होकर लाहौर पहुंच गया। लाहौर में पहुंचकर मैं पहले डाइरेक्टर साहब से मिला। उन्होंने लाहौर के सरकारी हाई स्कूल के हेड मास्टर के नाम मुझे एक चिट्ठी दी। यह चिट्ठी लेकर मैं हेड मास्टर से मिला; और उन्होंने मुझे अपने स्कूल में काम दे दिया। तब से मैं उस स्कूल में काम करने लगा।

लाहौर में आकर मेरे देवजीवन के विकाश का जिस प्रकार नया क्रम आरम्भ और उन्नत हुआ; उसका अवसर पाने पर मैं इस पुस्तक के तीसरे खण्ड में उल्लेख करने की आकांक्षा रखता हूं।